ISSN 2277-4351

वैदिक-ज्योतिः

Vaidika-Jyotih

An International Refereed Research Journal on Vedic Studies

Vol. 1
खण्डम् 1

July-Dec. 2011
जुलाई-दिसम्बर 2011

No.1
प्रथमः अङ्कः

सम्पादक
दिनेशचन्द्र शास्त्री

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404 (Uttarakhand), India
http://www.gkvharidwar.org

ISSN 2277-
Vol. 1, July-Dec. 201

'वैदिक–ज्योतिः' 'Vaidika-Jyotih'

An International Half Yearly Refereed Research Journal on Vedic S

Annual Subscription

Rs. 150.00, US $ 9, Single Copy: Rs. 75.00
Payment Mode :
D.D. in favour of Registrar G.K.V. Haridwar (U.K

Published by

Prof. A.K. Chopra
Registrar, GKV, Haridwar - 249404 (Uttarakhar

Printed at

Kiran Offset Printing Press, Kankhal, Haridwar
(U.K.) India, Tel: +91- 9837007222, 01334 -24

Vaidika-Jyotih is a half yearly peer-re International Vedic Journal of Gurukul Vishwavidyalaya, Haridwar . Manuscripts be submitted to the Editor both in Electron and in Hard Copy (Typed in double spacin size paper)

ISSN 2277-4351
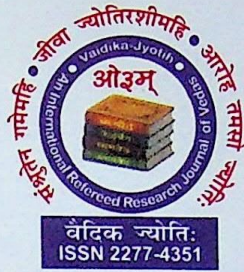
वैदिक-ज्योतिः

Vaidika-Jyotih

International Half Yearly Refereed Research Journal On Vedic studies

July-Dec. 2011
जुलाई-दिसम्बर 2011

No.1
प्रथमः अङ्कः

सम्पादक

प्रो० दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249404(Uttarakhand), India
http://www.gkvharidwar.org

Vol. 1, July-Dec. 2011, No.1

'वैदिक-ज्योतिः' 'Vaidika-Jyotih'

An International Half Yearly Refereed Research Journal on Vedic Studies

विषयानुक्रमणिका (Contents)

Printed at : Kiran Offset Printing Press, Kankhal, Haridwar # 9837007222

Contact for :-

Submission of Manuscript
Chief Editor **'वैदिक-ज्योतिः' 'Vaidika-Jyotih'**
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar - 249404
Uttarakhand, INDIA

Email - dineshcshastri@gmail.com
Tel : +91- 9410192541
http:/www.gkvharidwar.org

For further Information Mail to :
Prof. Dinesh Chandra Shastri
Chief Editor (dineshcshastri@gmail.com)

ISSN 2277-4351
Vol. 1, Jan.-June 2012, No.2

'वैदिक-ज्योतिः' 'Vaidika-Jyotih'

An International Half Yearly Refereed Research Journal on Vedic Studies

विषयानुक्रमणिका (Contents)

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रैस, कनखल, हरिद्वार फोन : 9837007222

Contact for :-

Submission of Manuscript

Chief Editor **'वैदिक-ज्योतिः' 'Vaidika-Jyotih'**

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar - 249 404
Uttarakhand, INDIA

Email - dineshcshastri@gmail.com
Tel : +91- 9410192541
http:/www.gkvharidwar.org

For further Information Mail to :
Prof. Dinesh Chandra Shastri
Chief Editor (dineshcshastri@gmail.com)

आचार्य (डॉ0) रामनाथवेदालंकार
विद्यामार्तण्ड

वेद मन्दिर, ज्वालापुर-249407
हरिद्वार, उत्तराखण्ड

शुभाशंसा

'सर्वज्ञानमयो हि सः'- वेद सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार है, मनुप्रोक्त इस कथन की सार्थकता तभी है जब वेदों में निहित ज्ञान विज्ञान पर उच्चस्तरीय शोध कार्य किया जाये और शोध से प्राप्त निष्कर्षों को आगे चिंतन-मनन के लिये विद्वानों एवं शोधार्थियों तक सम्प्रेषित किया जाये। इस सम्प्रेषण का प्रमुख माध्यम प्रकाशित शोध प्रबन्ध और शोध-पत्रिकाएं हैं। देश में वेद विषयक मन्थन को प्रकाश में लाने वाली कुछेक पत्रिकाएं तो हैं, परन्तु ऐसे 'रिसर्च जर्नल्स' बहुत कम हैं, जिनमें विशुद्ध रूप से वैदिक विषयों पर किये जा रहे शोध पर आधारित शोध-पत्र प्रकाशित होते हों। इस अभाव को कई वर्षों से अनुभव किया जा रहा था। हर्ष का विषय है कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का वेद-विभाग इस दिशा में पहल कर रहा है और प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री तथा सहयोगियों की संकल्पना को साकार रूप देते हुए विश्वविद्यालय द्वारा 'वैदिक ज्योतिः' नाम से एक बृहत्काय षाणमासिक शोध-पत्रिका प्रकाशित की जा रही है, जिसका प्रथम अंक आपके हाथों में है।

जैसा मुझे बताया गया है, इस पत्रिका के प्रकाशन के प्रमुख उद्देश्य समय-समय पर वेदों के विषय में लगाये जा रहे आक्षेपों का सार्थक समाधान प्रस्तुत करना, वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान को प्रकाश में लाना, महर्षि दयानन्द सरस्वती सम्मत वैदिक विचारधारा को गति देना आदि हैं। एतदर्थ इसमें प्राचीन एवं अर्वाचीन वेदज्ञ विद्वानों की एतद्विषयक शोधपूर्ण रचनाओं का समावेश किया जायेगा।

मैं सम्पादक-मण्डल को साधुवाद एवं शुभकामनाएं देते हुए इस श्लाघनीय प्रयोग की सफलता चाहता हूं।

(रामनाथ वेदालंकार)
1-3-2012

(रामनाथ वेदालंकार)
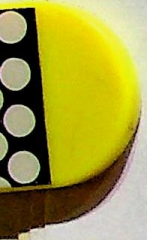
प्रो० (डॉ०) भवानीलाल भारतीय
सेवानिवृत प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
दयानन्द शोध पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय
सदस्य : परोपकारिणी सभा
संस्थापक अध्यक्षः आर्य लेखक परिषद्

संदेश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का वेद विभाग वेद के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालने वाला रिसर्च जर्नल 'वैदिक-ज्योतिः' के नाम से प्रकाशित कर रहा है। वस्तुतः दयानन्द सरस्वती वर्तमान युग के प्रथम वैदिक विद्वान् थे जिन्होंने वेदों के सार्वजनीन स्वरूप, उसके सर्वविद्यामयत्व को सिद्ध किया तथा मानव जीवन को समुन्नत बनाने वाली शिक्षाओं का आगार प्रतिपादित किया।

वस्तुस्थिति तो यह थी कि वेदों को मात्र याज्ञिक कर्मकाण्ड का नियोजक माना जाता था। उधर पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण भी पूर्णतया पूर्वाग्रह युक्त था। नवीन भाषा विज्ञान तथा तुलनात्मक देवगाथावाद का सहारा लेकर वे वेदों की एकांगी व्याख्या करते थे। इस विषम स्थिति ने दयानन्द को वेदों के प्रति स्वस्थ एवं रचनात्मक दृष्टि दी। उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया कि वेदों में समस्त ज्ञान विज्ञान अपने बीज रूप में है। योगी अरविन्द ने स्वामी दयानन्द के वेद भाष्य का अनुशीलन करने के पश्चात् जो निष्कर्ष निकाला वह यही था कि सायण की वेदार्थ प्रणाली एकांगी है जबकि दयानन्द ने वेद को ज्ञान का पर्याय माना है।

आशा है वेद विभाग का यह शोध जर्नल वेदार्थ को सही परिप्रेक्ष्य में समझने में सहायक होगा।

(डॉ०) भवानीलाल भारतीय

डॉ० भवानीलाल भारतीय
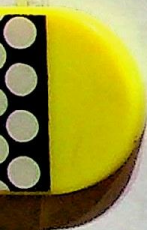
प्रो० स्वतन्त्र कुमार
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार, उत्तराखण्ड

शुभकामना संदेश

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई है कि देवभूमि उत्तराखण्ड के तपःपूत वातावरण में परमश्रद्धेय अमरहुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के कर कमलों से संस्थापित गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के वेद विभाग द्वारा अन्तर्राष्ट्रिय षाणमासिक शोध पत्र **वैदिक ज्योतिः** ISSN 2277-4351 का प्रकाशन किया जा रहा है। निश्चय ही यह सत्प्रयत्न वैदिक मूल्यों के संरक्षण एवं संवर्धन की दिशा में उत्तम पाथेय सिद्ध होगा।

यह सर्वजनविदित है कि वेद भारतीयता के प्राणसर्वस्व हैं। वैदिक धर्म तथा भारतीय संस्कृति व सभ्यता का विशुद्धता से अवगमन करने के लिये वेदाध्ययन अपरिहार्य है। अपौरुषेय यह वेदविद्या वर्तमान में भी साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों की समुत्कट साधना से सम्पन्न अद्यापि यथार्थस्वरूप में हम सब मरणधर्मा मनुष्यों को हिताहित का अवबोधन करा रही है।

पश्चिमापश्चिम के अनेक प्रज्ञावान् मनीषियों ने यथाकाल वेदों पर अनेकविध आक्षेपों का आरोपण किया है। इन आरोपों ने वेदों के गौरव को कलुषित करने का प्रयास किया है। मुझे आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि 'वैदिक ज्योतिः' निश्चित ही इन आक्षेपों का क्षय कर श्रुति शास्त्रों के आगम को अक्षय संसिद्ध करेगी।

मैं अत्यन्त विश्वासान्वित हूं कि 'वैदिक ज्योतिः' वेदों की प्राचीन ज्ञाननिधि को सुरक्षित रखते हुए जहाँ वैदिक मूल्यों को परवर्ती परम्परा में संक्रमित करने का सफल प्रयास करेगी वहीं वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान को अखिल विश्व के सम्मुख उपस्थित कर अवश्यमेव वेदगौरव का वर्धन करेगी।

मैं इस अन्तर्राष्ट्रिय रिसर्च जर्नल की सफलता के लिए परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करता हूं और प्रो० दिनेशचन्द्र शास्त्री (अध्यक्ष, वेद विभाग) को भी साधुवाद देता हूं, जिन्होंने इस कार्य का शुभारम्भ किया। वस्तुतः यह विचार विलम्ब से आया है। इस कार्य का शुभारम्भ तो पहले ही हो जाना चाहिए था। इस अवसर पर समस्त वेद विभाग को मेरी हार्दिक शुभकामनाएं।

(प्रो० स्वतन्त्र कुमार)

प्रो० महावीर
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
उपाध्यक्ष, उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी

शुभाशंसनम्

परमात्मनः निःश्वासभूतेषु नित्यसत्येषु चतुर्षु वेदेषु विश्वस्याखिलं ज्ञानविज्ञानं वरीवर्ति नास्त्यत्र मनागपि सन्देहावसरः। अज्ञानान्धकारावृते संसारे वेदालोकेनैव पुनरपि सर्वमालोकितं भवेदित्यस्ति अस्माकं विश्वासः। आसृष्टिकालाद् ऋषयः, महर्षयः, मनीषिणः वेदाध्ययनं कुर्वन्तः तदनुकूलं चाचरन्तः स्वं जीवनं धन्यमकार्षुः। अमर हुतात्मानः स्वामिश्रद्धानन्दवर्याः वेदविद्यां संवर्द्धयितुं भगवत्याः भागीरथ्याः सुपावने तटे गुरुकुलं स्थापितवन्तः। अत्रत्याः विद्वत्तल्लजाः आचार्यश्रेष्ठाः निखिलेऽपि जीवने भगवतीं श्रुतिमेव सिषेविरे। शताधिकं संवत्सराणि व्यतीतानि परं साम्प्रतमपि सैव वेदमन्दाकिनी सततं प्रवहति विश्वविश्रुते ऽस्मिन् गुरुकुले।

अनुपमया तया वेदप्रभया जगदालोकयितुम् अथ च महर्षिदयानन्दप्रतिपादितां वैदिक चिन्तनपद्धतिं समुन्नेतुं वेदविभागाध्यक्षस्य वेदविद्याराधनरतस्य डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्रिणः सम्पादकत्वे 'वैदिक ज्योतिः' प्रकाश्यत इति महान् प्रमोदावसरः। साम्प्रतिके ज्ञान-विज्ञानमण्डिते ऽस्मिन् युगे वैदिकं विज्ञानं कथं जन-कल्याणकरं भवेदिति वेदविदुषां निबन्धैः प्रतिपादयिष्यते।

शोधपत्रिकायाः प्रथमाङ्कप्रकाशनावसरे स्नेहसिक्तेन चेतसा शारदातनयं डॉ० दिनेशचन्द्रं सर्वांश्चापि सहयोगिनः शुभाशयाः समर्पयामि।

मन्ये **वैदिक ज्योति**रियं सर्वदा देदीप्यमाना सती कृत्स्नमपि तमः अपाकुर्यात्। पुनरपि सम्पादक मण्डलस्य कृते भूयांसि वर्धापनानि।

महावीर —
(प्रो० महावीर)

प्रो० ए०के० चोपड़ा
कुलसचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार, उत्तराखण्ड

शुभकामना संदेश

मुझे यह जानकर अपार हर्ष हो रहा है कि वेद विभाग एक अन्तर्राष्ट्रिय षाण्मासिक मूल्यांकित शोध पत्रिका (An International Half yearly Refereed Research Journal on Vedic Studies) का 'वैदिक ज्योतिः' के नाम से प्रकाशन करने जा रहा है।

गुरुकुल विश्वविद्यालय का वेदविभाग सम्पूर्ण विश्व में वेद-विज्ञान के प्रकाशन के लिए प्रतिष्ठित है। इस विभाग के पूर्व आचार्यों ने वेदभाष्य, वैदिक ज्ञान-विज्ञान से युक्त पुस्तकों व प्रवचनों के माध्यम से समाज का मार्गदर्शन किया है।

'वैदिक ज्योतिः' में विद्वानों के शोधलेखों के माध्यम से वेद पर किये जाने वाले आक्षेपों का उचित समाधान प्रस्तुत करना व सब सत्य विद्याओं को प्रकाशित करना इस जर्नल का उद्देश्य है। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' उपनिषद् वाक्य हमें अंधकार से ज्योति (वेद-ज्ञान के प्रकाश) की ओर ले जाने की कामना अभिव्यक्त करता है, जिसे हम कुलवासी इस ज्ञानयज्ञ रूपी पत्रिका के माध्यम से पूर्ण होता हुआ देखना चाहते हैं। **भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।**

मैं कामना करता हूं कि 'वैदिक ज्योतिः' शोध-पत्रिका शोध के क्षेत्र में जहां गुरुकुल कांगड़ी की प्रतिष्ठा-वृद्धि में नया इतिहास रचेगी वहीं वैदिकजगत् में नये कीर्तिमान् भी स्थापित करेगी। 'वैदिक ज्योतिः' के प्रकाशन के अवसर पर मैं इसके सम्पादक डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री और विभाग के समस्त उपाध्यायों को हार्दिक शुभकामनाएं देता हूं। परमात्मा की कृपा से इसका प्रकाशन निर्बाद्ध गति से होता रहे। यही कामना है।

शुभकामनाओं के साथ।

प्रो० ए.के. चोपड़ा

आर0के0 मिश्रा
वित्ताधिकारी
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार, उत्तराखण्ड

सन्देश

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि वेद विभाग के अध्यक्ष प्रो0 दिनेशचन्द्र शास्त्री के सम्पादकत्व में वेद विभाग एक अन्तर्राष्ट्रिय षाण्मासिक मूल्यांकित शोध पत्रिका 'वैदिक ज्योतिः' के नाम से प्रकाशित कर रहा है। परमपिता परमात्मा द्वारा प्रदत्त जो ज्ञान वैदिक संहिताओं में निहित है उसका प्रकटन आज की मानवता के लिये अत्यन्त आवश्यक है। आज चारों तरफ हिंसा और अशान्ति का वातावरण बना हुआ है, जिसको केवल वैदिक ज्ञान ही ठीक कर सकता है। अतएव गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के वेद विभाग द्वारा प्रारम्भ किये गये इस सारस्वत यज्ञ का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। इस सारस्वत यज्ञ में मैं भी अपनी शुभकामनाओं के माध्यम से आहुति डालकर जहां अपने को कृतकृत्य मानता हूं वहीं इस पत्रिका के सम्पादक एवं विभाग के समस्त प्राध्यापकवृंद को साधुवाद भी देता हूं। मुझे आशा है कि इस रिसर्च जर्नल द्वारा जहां वेदों पर लग रहे नाना प्रकार के आक्षेपों का समाधान होगा वहीं वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान का उद्घाटन भी होगा।

इस जर्नल की सफलता के लिये मैं परमात्मा से कामना करता हूं-

ओं स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु (सामवेद, 1875)

(आर0के0 मिश्रा)

प्रो० विजयपाल शास्त्री
संकायाध्यक्ष, प्राच्य विद्या संकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार, उत्तराखण्ड

शुभकामना

वैदिक ज्ञान के आलोक को जन सामान्य सुलभ बनाने के लिये भारतवर्ष के जो वेद मनीषी पत्रिका प्रकाशन के माध्यम से महनीय प्रयास कर रहे हैं वे वास्तव में प्रशंसा के पात्र हैं। यूं तो 'वैदिक पाथ' नाम से एक स्वतन्त्र पत्रिका गुरुकुल विश्वविद्यालय की ओर से वर्षों से प्रकाशित की जा रही है किन्तु वेद विभाग की ओर से कोई पत्रिका अभी तक नहीं निकल रही थी। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की पहचान विश्व पटल पर वेद विभाग की शिक्षा के आधार पर होती रही है। इस विभाग की ओर से एक स्वतन्त्र पत्रिका का प्रकाशन आवश्यक था। यह बड़े गौरव का विषय है कि वेद विभाग के वर्तमान अध्यक्ष डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री ने इस गुरुतर कार्यभार का वहन करते हुए 'वैदिक ज्योतिः' का प्रकाशन आरम्भ करने का निश्चय किया है। पत्रिका का प्रथम संस्करण प्रकाशित हो रहा है- यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है।

मैं डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री को इस स्तुत्य प्रयास के लिये साधुवाद देता हूं तथा 'वैदिक ज्योतिः' का प्रकाशन अविच्छिन्न रूप से निरन्तर चलता रहे ऐसी शुभकामनाएं प्रेषित करता हूं।

(प्रो० विजयपाल शास्त्री)

श्रुति-सुधा

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद्भद्रं तन्न आ सुव॥1॥ (यजु. 30/3)

भाष्यम् - हे सच्चिदानन्दस्वरूप! हे परमकारुणिक! हे अनन्तविद्य! हे विद्याविज्ञानप्रद! (**देव**) ! हे सूर्यादिसर्वजगद्विद्याप्रकाशक! हे सर्वानन्दप्रद! (**सवितः**) हे सकलजगदुत्पादक! (**नः**) अस्माकम् (**विश्वानि**) सर्वाणि (दुरितानि) दुःखानि सर्वान्दुष्टगुणांश्च (**परासुव**) दूरे गमय, (**यद्भद्रं**) यत्कल्याणं सर्वदुःखरहितं सत्यविद्याप्राप्त्याऽभ्युदयनिःश्रेयससुखकरं भद्रमस्ति (**तन्नः**) अस्मभ्यं (**आसुव**) आ समन्तादुत्पादय कृपया प्रापय।

अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय, यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादिभद्रमस्तितत्स्वकृपाकटाक्षेण हे परब्रह्मन् ! नोऽस्मभ्यं प्रापय, भवत्कृपाकटाक्षसुसहायप्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवद्रचितानां वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधीमहि। तदिदं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया भवेत् । अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयाऽत्यन्ता प्रीतिर्यथा स्यात् तथैव भवता कार्यमित्यो३म् ॥

श्रीमद्दयानन्दसरस्वती, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ईश्वरप्रार्थनाविषयः

समर्पण

आधुनिक युग में वैदिक ज्योति को सर्वप्रथम प्रज्ज्वलित करने वाले महर्षि दयानन्द सरस्वती (1825-1883) के चरणों में सादर ...

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम् (ऋ.10.170. 3)

प्रो० स्वतन्त्र कुमार
कुलपति

सम्पादकीय ....

ज्योतिषां ज्योतिरेकं (यजु. 34.1) वैदिकज्योतिः समुज्झृम्भताम्

जिस समय भारत वर्ष पर अंग्रेजी राज्य के साथ-साथ पाश्चात्त्य सभ्यता का जाल भी पूरी तरह छा गया था। उस समय अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासियों में अपने देश की सब पुरानी वस्तुओं को रद्दी और दकियानूसी समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई थी। ये लोग कुछ पाश्चात्त्य लेखकों के मत को पूर्ण सत्य मान कर वेदों को गड़रियों के गीत और उपनिषदों को बैठे ठालों की कल्पना मानने में गौरव का अनुभव करने लगे थे। उनकी प्रवृत्ति यह थी कि वेदों के भारतीय पण्डितों द्वारा किये गये भाष्यों की अपेक्षा पश्चिम के विद्वानों की अटकल से की गई व्याख्याओं को अधिक प्रामाणिक मानते थे और भारतीय भाष्यों में से भी जो व्याख्या उन्हें भ्रांतिमूलक प्रतीत होती थी। उसे स्वीकार करने को तैयार रहते थे। ताकि उसके आधार पर वेदों का मजाक उड़ाया जा सके। महर्षि दयानन्द ने पुराने ऋषियों और यास्काचार्य की पद्धति का अनुसरण करते हुए वेदार्थ करने का यौगिक मार्ग दिखलाकर विद्वानों की आँखें खोलने का यत्न किया। यद्यपि वे चारों वेदों का भाष्य पूरा न कर सके तो भी उनके अपूर्ण वेद भाष्य ने रूढ़ि मार्ग की अनुपादेयता और यौगिक मार्ग की श्रेष्ठता दिखलाकर वेदों के गौरव को पक्षपातहीन विद्वानों के हृदयों में फिर से स्थापित कर दिया। भारत और पश्चिम के अनेक विद्वानों ने महर्षि की पद्धति को स्वीकार करके वेद के अभिप्राय को समझने का प्रयत्न किया तो उनकी वेदों के सम्बन्ध में सम्मति ही बदल गयी। श्री अरविन्द जैसे विचारक विद्वान् ने महर्षि की पद्धति की शतमुख से प्रशंसा की और उसका अनुसरण करते हुए वेद की अनेक ऋचाओं की विशद व्याख्या की।

इस प्रकार वेद और वेदार्थ के सम्बन्ध में पुरानी भ्रांतियों के दूर हो जाने पर भी यह देख कर आश्चर्य होता है कि अभी तक भारत के कुछ शिक्षाप्राप्त विद्वानों की आस्था पुराने निर्मूल विचारों पर विद्यमान है। जिन निर्मूल आस्थाओं, जो कि वेदों पर आक्षेपपरक हैं, का वर्णन पण्डित शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ ने अपने कालजयी ग्रन्थ **वैदिक इतिहासार्थ निर्णय** (पृष्ठ 90 से 95, 2009 में सत्यार्थ प्रकाशन न्यास, कुरुक्षेत्र से प्रकाशित संस्करण) में किया है। ये लगभग 29 आक्षेप हैं, जो कि इस प्रकार हैं-

1. वसिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, अङ्गिरा, भृगु, कश्यप, जमदग्नि, कण्व, कुशिक, दीर्घतमा, वामदेव, कक्षीवान्, शुनःशेप, च्यवन, अत्रि, अथर्वा, दधीचि, सोभरि इत्यादि-इत्यादि जितने सुप्रसिद्ध ऋषि हुए हैं- जिनके चरित्रों के गान से ऐतरेय, शतपथ, ताण्ड्य (महाब्राह्मण), गोपथ, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि ग्रन्थों से लेकर आज तक के ग्रन्थ पूर्ण हैं। इनके नाम वेदों में पाये जाते हैं। फिर आप कैसे कहते हैं कि किसी व्यक्ति विशेष का नाम वेदों में नहीं है।
2. केवल नाम ही नहीं किन्तु सम्बन्ध वाचक शब्द भी इनमें विद्यमान हैं। जैसे मैत्रावरुण वसिष्ठ अर्थात् मित्र और वरुण के पुत्र वसिष्ठ। इसी प्रकार कौशिक विश्वामित्र,

औचथ्य और मामतेय दीर्घतमा, आथर्वण दध्यङ्, औशिज कक्षीवान्, आर्ष्टिषेण शन्तनु इत्यादि शब्दों से सिद्ध है कि इन ऋषियों के माता पिता की भी चर्चा आती है।

3. पुनः ऋषियों की माता, पत्नी, पुत्री आदिकों की कहीं-कहीं वृत्तान्त सहित चर्चा देखते हैं। जैसे वशिष्ठ की माता उर्वशी, अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा, आसंग की स्त्री शश्वती, कक्षीवान् की कन्या घोषा, अत्रि कन्या अपाला एवं रोमशा, शशीयसी, श्रद्धा आदि अनेक ब्रह्मवादिनियों के चरित्र का समाचार वेदों में पाया जाता है।

4. केवल ऋषियों तथा ऋषिकाओं के ही नहीं किन्तु सुप्रख्यात महाराजाओं के इतिहासकीर्तन से भी वेद शून्य नहीं हैं। महाराज मनु-इक्ष्वाकु से लेकर महाराज परीक्षित जनमेजय तक के सुयश को वेद गाते हैं।

5. पुनः ऋषियों को मिले हुए दानों का वर्णन, इनके विवाहों के प्रसङ्ग, इनके सुख दुखों का निरूपण, इनके साथ राक्षसों का महासंग्राम आदि के भी इतस्ततः वर्णन अच्छे प्रकार पाये जाते हैं। पुनः आप कैसे कहते हैं कि वेदों में व्यक्ति विशेष के सुचरित्र का गान नहीं।

6. पुनः इस देश की विशेष-विशेष नदियों के भी नाम ऋग्वेद में आते हैं। गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी, मरुद्वृधा, आर्जीकीया, असिक्नी, वितस्ता, सुषोमो, सरयू, गोमती, विपाशा इत्यादि। पुनः इस देश की सीमा पर की जो सुप्रसिद्ध नदी सिन्धु है इसके सुयश और उपकार को वेद पुनःपुनः गाते हैं।

7. अन्यान्य देशों की नदियों के भी नाम हैं। तृष्टामा, सुसर्तू, रसा श्वेती, कुभा, मेहत्नी (मेहली) इत्यादि।

8. मनुष्यकृत पदार्थों के नाम हैं। जैसे बाण, धनुष, कशा (चाबुक), अभीशु (लगाम), कूप, वस्त्र इत्यादि। ये सब सिद्ध करते हैं कि वेद मनुष्य कृत हैं। अतः व्यक्ति विशेष की चर्चा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

9. पुनः वेदों की कई एक ऋचाओं से सिद्ध है कि वेद ऋषियों के रचित हैं। ऋषिगण स्वयं कहते हैं कि मैने ऋचा बनाई है। हे इन्द्र! वरुण! हे बृहस्पते! इसको ग्रहण कीजिये। पुनः ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ वेदों के प्रमाण देते हैं वहाँ कहते हैं। **'ऋषि ने ऐसा कहा है-**

तदेतदृषिः पश्यन्नवोचद् आथर्वणायाश्विना.................... इत्यादि शतपथ ब्रा०। इससे विस्पष्ट सिद्ध है कि वेद ऋषिकृत हैं।

10. आप प्रयत्न करते हैं कि वेदों में अनित्य इतिहासों की सिद्धि न हो। परन्तु इससे क्या? वेदों की उच्चता वा श्रेष्ठता वा अनादित्व अथवा ईश्वर प्रदत्तत्व की इससे प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि वेद एक प्रकार से प्रार्थनामय अथवा स्तुतिमय ग्रन्थ हैं। इनमें इतिहास की आवश्यकता नहीं होती। महिम्नः स्तोत्र, विष्णु स्तोत्र, जगन्नाथाष्टक, गङ्गाष्टक, गङ्गालहरी इत्यादि स्तोत्र समूहों में कोई इतिहास नहीं पाया जाता, परन्तु इतने से इनका अनादित्व सिद्ध नहीं होता और न इनकी इससे कोई उच्चता ही झलकती, किन्तु इनके विषयों के

पाण्डित्यपूर्ण वर्णन से महत्त्व प्रतीत होता। लोक इन स्तोत्रों के विचार पर दृष्टि देते हैं और इसी से इनकी साधुता, असाधुता की परीक्षा करते हैं। इसी प्रकार वेद भी ऋषिकृत स्तोत्र समूह हैं। यज्ञों में समय-समय पर पढ़ने के लिये ऋषियों ने रचे हैं। इतिहास इनमें न भी हो तो भी क्या? हमको इनकी उच्चता और महत्त्व दिखलावें। यदि इनमें लाभकारी बातें होंगी तो स्वत: कल्याणाभिलाषी जन इनको स्वीकार करेंगे। क्या आज मनुष्यकृत ग्रन्थों का लोग आदर नहीं करते हैं, क्या आज व्याकरण, न्याय, वेदान्त आदि मनुष्यकृत ग्रन्थों का समादर देश में नहीं है।

हम देखते हैं कि श्री तुलसीदासजी का जो आधुनिक भाषा रामायण है उसका भी लोग अत्यादर कर रहे हैं। क्योंकि इसमें हितोपदेश है। फिर वेदों को ईश्वरीय सिद्ध करने की चेष्टा क्यों करते हैं? इनके वर्णित विषय प्रकट किये जायें। यदि वे लाभदायक होंगे तो स्वत: सब कोई स्वीकार कर लेवेंगे। यदि आपने वेदों को ईश्वर प्रदत्त सिद्ध कर दिया तो भी क्या? यदि इनसे लाभदायी वस्तु न निकली तो इनको लेके हम क्या करेंगे। कीट, पतङ्ग, सर्प, वृश्चिक, व्याघ्र, सिंह, घास, पात सहस्त्रश: ईश्वर प्रदत्त पदार्थ हैं, इनसे हमें कुछ प्रयोजन नहीं।

11. वेदों के ईश्वरीय सिद्ध होने पर भी हमारा कार्य सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि हम मनुष्य बुद्धि से ही वेदों को विचारेंगे। बुद्धि विरुद्ध होने से त्याज्य समझेंगे। अत: वेद अन्ततोगत्वा हमारी बुद्धि के आधीन ही ठहरेंगे। अत: इनका अनादित्व सिद्ध करना व्यर्थ है।

12. आज कल वैदिक धर्म का प्रचार करना भी सर्वथा अनुचित और समय के प्रतिकूल है क्योंकि-

(क) वेदों में अश्लील, बीभत्स, अवाच्य, अश्राव्य विषय बहुत पाए जाते हैं। जैसे रोमशा की वार्त्ता, अपाला की आख्यायिका, शश्वतीकृत निज पति का वर्णन, प्रजापति और दुहिता का आख्यान, उर्वशी और पुरुरवा के कई एक सम्वाद, वसिष्ठ और अगस्त्य की जन्मकथा आदि-आदि ऐसी घृणित और अवाच्य कथायें हैं कि आजकल के ग्रामीण जन भी सुनना पसन्द न करेंगे।

(ख) पुन: वेद नरहत्या, अश्वहत्या, गोहत्या, अजहत्या आदि अनेक हत्याओं से पूर्ण हैं। इन्हीं हत्याओं के लिये नरमेध, अश्वमेध, वाजपेय, राजसूय आदि याग रचे जाते थे। पितरों को मांस पिण्ड देने की भी बातें बहुत पाई जाती हैं इत्यादि वैदिक सहस्त्रश: विषय समयानुकूल नहीं। विद्वान् जन इन पर हँसते हैं। इनको अज्ञानी, जङ्गली जनों का कर्तव्य समझते हैं।

(ग) इसके सिवाय यज्ञ में दिल्लगी, मश्करी की बातें आती हैं। राजा के साथ शतश: अनुचरियाँ होती हैं। यजमान-पत्नी और अश्व का घृणित दृश्य दिखलाया जाता है। ऐसे वेदों के प्रचार के क्या लाभ होंगे। प्रत्युत निन्दा ही होगी और अज्ञानी जन इसमें फंस के भ्रष्ट हो जायेंगे।

13. पुन: वेदों में पाँचों महापातकों की विधि है और इनको पुण्य जनक समझा है। ब्रह्महत्या, सुरापान, स्तेय, गर्वङ्गना-गमन

और इन चारों के साथ संसर्ग, इनको स्मृतियाँ पञ्च महापातक कहती हैं। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' इत्यादि से ब्रह्महत्या की विधि विस्पष्ट है और शुनः शेप के उदाहरण से दृढ़ किया गया है। सौत्रामणि याग में सुरापान प्रसिद्ध है। यजुर्वेद में तो इनके अनेक मन्त्र हैं। वसिष्ठ और कुत्ते का उदाहरण दिखलाता है कि चौर्यवृत्ति का भी वेद सहायक है। तारा और चन्द्र की कथा भी ब्राह्मणों में प्रसिद्ध है।

14. इतना ही नहीं किन्तु जो गोहत्या और गोमांस भोजन महाअनुचित समझा जाता है। वेद इससे भी शून्य नहीं? फिर ऐसे वेद के प्रचार से आप क्या लाभ समझते हैं।

15. वेदों में वर्णन करने की रीति भी घृणित और ग्राम्य है। जैसे -पिता दुहितुर्गर्भमाधात्' पुनः सम्बन्ध का वर्णन भी अनुचित रूप से है। कहीं तो उषा देवी सूर्य की पत्नी कही गई है। कहीं स्वसा (बहन), कहीं माता, कहीं पुत्री। पुनः दक्ष की माता अदिति है। कहीं दक्ष की कन्या अदिति है।

16. पुनः वेद अनेक विवाह प्रतिपादक है। जैसे सोभरि ऋषि ने 50 कन्याओं से एक ही दिन विवाह किया था। कक्षीवान् ऋषि को स्वनय राजा ने विवाहार्थ दश कन्याएँ दी थीं। ऐतरेय ब्राह्मण में प्रसिद्ध है कि राजा हरिश्चन्द्र की 100 (एक सौ) रानियाँ थीं। सुप्रसिद्ध ऋषि विश्वामित्र भी बहुभार्या थे। राजाओं की तो अवश्य ही कम से कम चार स्त्रियाँ होती थीं और इनके ये नाम होते थे। महिषी, वावाता, परिवृक्ता और पालागली। स्त्री को निरपराध त्याग कर देते थे, जैसे घोषा को पति ने त्याग दिया था। स्त्री को चुरा लाते थे, जैसे अश्विद्वय ने विमद को एक स्त्री चुरा कर दी थी। पुत्र के लिये जितना आदर है उतना कन्या के लिये नहीं। इत्यादि अनेक स्त्री सम्बन्धी विषय अयोग्य हैं।

17. वेदों में अविद्या की बहुत सी बातें हैं-

(क) यन्त्र, तन्त्र, मन्त्र को वेद सत्य मानते हैं। भयङ्कर बीमारी, राजयक्ष्मा, महामारी, कृत्तिका, ज्वर आदि के उतारने के लिये वेदों में मन्त्र लिखे हुए हैं।

(ख) पुनः विषधर सर्प के विष उतारने के भी मन्त्र हैं।

(ग) कई ओषधियों के बाँधने से जादू, टोने से बचना बतलाया गया है।

(घ) मारण, मोहन उच्चाटन आदि अभिचार क्रियाएँ भी वेद में हैं।

(ड) किसी पक्षी को शुभ, किसी को अमङ्गल मानते हैं। इस प्रकार शकुन की बातें भी वेद में आती हैं।

(च) विश्वामित्र और नदियों का सम्वाद, अगस्त्य और इन्द्र का सम्वाद, सूर्य के रथ में 7 (सात) अश्व, पूषा का वाहन अज। अश्विद्वय का वाहन अश्वतर, समुद्र से घोड़े की उत्पति। इत्यादि शतशः अविद्याओं की बातें हैं।

18. कहीं बालकवत् वेद वर्णन करते हैं जैसे सरमा की कथा। अश्विद्वय को अश्वसिर से युक्त, दधीचि से विद्याध्ययन करना। जल के फेन से राक्षस को मारना। हड्डी से वृत्र को परास्त करना।

19. बहुत सी इनमें पहेलियाँ हैं, जिनका अर्थ

अभी तक किसी ने उचित रीति से न किया।

20. अनावस्था बहुत है। कहीं 33 देव, कहीं 3339 देव, कहीं तीन, कहीं एक। कहीं शम्बर के 99 नगर, कहीं 9 कहीं 100। कहीं शुन:शेप तीन यूपों में बद्ध है, कहीं सहस्र यूपों में। कहीं एक रुद्र, कहीं सहस्रों रुद्र, कहीं इन्द्र अशत्रु, कहीं शत्रु से युद्ध।

21. असम्भव बातें- अग्नि से भृगु की उत्पत्ति। अंगारों से अंगिरा की। वामदेव का मातृ पेट से बोलना। सुबन्धु का मर कर पुनः जीवित होना। पशु, पक्षी, मत्स्य, सर्प आदिकों का मन्त्र द्रष्टृत्व। नदी, वायु आदि का बोलना।

22. जड़, सूर्य, पृथिवी, जल आदिकों को भी चेतन मानना।

23. वेद अनेक देवोपासक। सूर्य से लेकर समुद्र तक के समस्त जड़ चेतनों की उपासना वेद गाता है।

24. वेदों में कोई विद्या की बात नहीं, जिसके मनन से मन शान्त हो, न न्याय, न सांख्य, न साइन्स, न लाजिक, न ज्योतिष।

25. वेदों में अनुक्त बातें भी पाई जाती हैं। 33 देवों के नाम नहीं देखते। एवं द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र, अष्ट वसुओं के भी नाम नहीं।

26. वेद एक प्रकार से दु:खित और पीड़ित ऋषियों के शाप, शपथ, शोक, चिन्ता, पश्चात्ताप, रोने-पीटने आदि की गाथाओं का समूह प्रतीत होता है।

जब राजा हरिश्चन्द्र शुनः शेप को यूप (खूँट) में बँधवा खड्ग से शिर कटवाना चाहता था तब इसने जो अपनी विपत्ति वरुण से सुनाई है वह एक गाथा है। ऋषि त्रित को इसके भाई कूप में गिरा चल दिये। इस आपत्ति में इसने जो स्तुति देवों से सुनाई वह द्वितीय गाथा है। ऋषि दीर्घतमा को उसकी पत्नी ने जब पुत्रों से बँधवा नदी में डलवा दिया तब इसने जो देवगीत गाया उसे तृतीय गाथा समझिये।

विश्वामित्र को चोर सता रहे हैं। वसिष्ठ को राक्षस सोने नहीं देते। अत्रि को असुर अग्नि कुण्ड में जला रहे हैं। ऋज्राश्व को पिता अन्धा बना रहा है। सप्तवध्रि को पेटिका में बन्द रखता है। इस प्रकार प्रायः सारे ऋषि एक न एक दु:ख से दु:खी हो रहे हैं। इनके ही दु:खमय चरित्र से वेद भरे पड़े हुए हैं।

27. पुनः वेद संग्राम का ग्रन्थ है, धर्म का नहीं। ऋग्वेद के अधिक भाग इन्द्र और वृत्र आदिकों के युद्ध का ही वर्णन करते हैं। इन्द्र के प्रधान शत्रु ये हैं- वृत्र शम्बर, नमुचि, पिप्रु, कुयव, धुनि, चुमुरि आदि।

28. ईश्वर निमित्त कारण नहीं। ईश्वर का निवास तृतीय लोक में, जीवात्मा अणु वा विभु इसका निरूपण नहीं। वेद में यज्ञोपवीत नहीं। चार आश्रम नहीं। पुनः मन्त्रों की सिद्धि इत्यादि अनेक विषय आर्यमत के अनुकूल नहीं है।

29. अन्त में यह प्रश्न है कि वेद का क्या सिद्धान्त है, आज तक किसी को मालूम हुआ? प्रथम तो तीन या चार वेद हैं, इस पर महा-संग्राम है, पुनः शतपथ आदिक वेद हैं या नहीं इस पर भी सदा युद्ध होता रहता है। पुनः वेदों के अर्थ का भी अभी

तक पता नहीं लगा, इसकी भाषा भी अति कठिन है। ऐसे वेदों से क्या प्रयोजन। दयानन्दीय विचारधारा भविष्यत् सन्तानों का खून करना चाहती है। बहुत दिनों से वेदों को कण्ठस्थ करते-करते भारत सन्तानों की विचार और विवेक शक्ति जाती रही थी। बीच में इन से लोगों से छुटकारा मिला था। पुनः ऐसे वेदों के प्रचार से अवश्य भारत का नाश होगा। अन्त में निवेदन यह है कि यदि वेदों को छोड़ना नहीं चाहते हैं तो बहुत से विद्वान् मिल कर इनको सरल भाषा में कर दें और उसी भाषा में प्रार्थना और संस्कार आदि करें। जिससे कि मुनष्यमात्र वैदिक क्लिष्ट आयाससाध्य भाषा के पढ़ने से बच जाये।''

इसी श्रृंखला में इधर कुछ वर्षों से अपने को स्वामी दयानन्द की वैदिक विचारधारा का अनुयायी मानने वाले कतिपय विद्वानों ने भी उपर्युक्त आक्षेपों की तरह ही बहुत से आक्षेप वेदों पर लगाए हैं। जिनमें से 'अथर्ववेद आतंकवादी वेद है' और 'मनुस्मृति के समय वेद केवल तीन ही थे' आदि कुछ आक्षेप प्रमुख हैं। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के माननीय अधिकारियों द्वारा वेद विभाग के अन्तर्गत एक षाण्मासिक मूल्यांकित रिसर्च जर्नल को **वैदिक ज्योतिः** के नाम से प्रकाशित करना सुनिश्चित किया गया है। जिसके निम्नलिखित उद्देश्य होंगे-

1. विद्वानों द्वारा किये गये और सम्प्रति किये जा रहे वेद से सम्बन्धित भ्रमपूर्ण विचारों की शास्त्रीय प्रमाणों एवं तर्क तथा युक्ति के आधार पर समालोचना तथा तत्सम्बन्धी समाधान करना।
2. वेदों में निहित ज्ञान-विज्ञान के विविध पक्षों को उद्घाटित करना।
3. वेद तथा वैदिक साहित्य से सम्बन्धित मौलिक अन्वेषणात्मक लेखों का प्रकाशन करना।
4. वैदिक सिद्धान्तों पर विस्तृत विवेचनात्मक विशेषांक तैयार करना। जिनमें पूर्व लिखित एवं प्रकाशित तत्सम्बन्धी लेखों/ग्रन्थों का भी उपयोग किया जायेगा।
5. वेद विषयक भ्रांतियों को दूर करने से सम्बन्धित स्वामी दयानन्द की विचारधारा को गति देना।
6. वेदविषयक ग्रन्थों की समीक्षा एवं अप्रकाशित अनुपलब्ध वैदिक ग्रन्थों के मूलपाठ का प्रकाशन करना।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की ओर से ऐसे एक साहित्यिक प्रकाशन की आवश्यकता चिरकाल से अनुभव हो रही थी। **वैदिक ज्योतिः** साधारण अर्थों में सामाजिक पत्र नहीं होगा। उसमें मनोरंजकता लाने के लिए कहानियों का या चुटकुलों का समावेश न होगा। यत्न किया जायेगा कि उसका प्रत्येक अंक वेद तथा अन्य वेद सम्बन्धी आर्षसाहित्य के लेखों का मूल्यवान् समुच्चय हो। विशेषांकों की यह विशेषता होगी कि प्रत्येक विशेषांक किसी एक विशेष महत्त्वपूर्ण विषय पर यथा-सम्भव विस्तृत जानकारी से पूर्ण होने के कारण स्वयं एक पुस्तिका का काम देगा।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से कई रिसर्च जर्नल्स प्रकाशित होते हैं। उन द्वारा भी साहित्यिक सेवा हो रही है, परन्तु फिर भी एक ऐसे प्रकाशन की न्यूनता खटकती रही है, जिसमें वेदों पर लिखे गये गम्भीर मौलिक लेखों का समावेश हुआ करे, और जिसमें वेदों पर लगाये उन आक्षेपों तथा प्रश्नों का भी

युक्तियुक्त समाधान प्रकाशित होता रहे, जो कि अन्यत्र होते रहते हैं, और जिन्हें करना आजकल भारत में प्रगतिशीलता का चिन्ह समझा जाता है।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति तभी सम्भव है जब हमें वैदिक विद्वानों का सहयोग प्राप्त हो। **वैदिक ज्योतिः** के प्रथम अंक में जहाँ उपरि निर्दिष्ट वेदों पर लगाये कतिपय आक्षेपों का समाधान पक्ष पढ़ने को मिलेगा। वहीं वेदों के कई अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों पर भी लिखे गये निबन्ध पाठकों का ज्ञानवर्धन करेंगे।

मुझे पूर्ण विश्वास है विद्वज्जन इसका सम्मान करेंगे और अपने सकारात्मक अमूल्य सुझावों से भी अवश्य ही उपकृत करेंगे।

इस सारस्वत यज्ञ के अनुष्ठान में वेद, संस्कृत के प्रति अहेतुकी कृपा रखने वाले गुरुकुल विश्वविद्यालय के वित्ताधिकारी **श्री आर.के. मिश्रा जी** एवं लेखा विभाग में अनुभाग अधिकारी प्रियवर **श्री शशिकान्त शर्मा** एवं प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्वविभाग के प्रो0 प्रिय **डॉ० प्रभात कुमार** का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है। अतः उक्त महानुभावों का मैं हृदय से आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। यह अनुष्ठान पूरा न हो पाता यदि विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति **श्री प्रो० स्वतन्त्र कुमार जी**, यशस्वी कुलसचिव **प्रो० ए.के. चोपडा जी,** उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी के उपाध्यक्ष **प्रो० महावीर जी** एवं श्रद्धानन्द वैदिक शोध केन्द्र में गहनशोधरत **प्रो० ज्ञानप्रकाश शास्त्री जी** का आशीर्वाद न मिलता। इस सारस्वत अनुष्ठान में दिल्ली विश्वविद्यालय की प्रो0 डॉ0 शशितिवारी जी, गोरखपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत एवं प्राकृत भाषा विभाग के अध्यक्ष प्रो0 कपिलदेव शुक्ल जी, पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ में महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसंधान पीठ के पूर्वचेयरमैन प्रो0 विक्रम कुमार विवेकी जी एवं स्वामी श्रद्धानन्द से सम्बन्धित साहित्य के अधिकारी विद्वान् डॉ. विनोदचन्द्र विद्यालंकार जी का आशीर्वाद कई रूपों में हमें प्राप्त हुआ है।

म.द.वि.वि. रोहतक में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष आचार्य बलवीर जी एवं वैदिक साहित्य में विशेष रूप से मीमांसा आदि शास्त्रों में कृतभूरिश्रम आचार्यप्रवर सत्यजित् जी (परोपकारिणी सभा, अजमेर) का आशीर्वाद भी हमें प्राप्त हुआ है। एतदर्थ इन सभी का धन्यवाद ज्ञापित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। इस सारस्वत अनुष्ठान की पूर्ति में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान दिल्ली में कार्यरत डा0 अपर्णा धीर ने इस शोध जर्नल को उत्तम बनाने में अनेक प्रकार का सहयोग दिया है। मैं परम पिता परमात्मा से कामना करता हूँ कि परमात्मा उनके ज्ञान में निरन्तर वृद्धि करता रहे। जिससे वे उन्नति के सोपानों पर आरोहण करती रहें। विभागीय उपाध्यायों के सहयोग के बिना यह सारस्वत अनुष्ठान कभी पूरा नहीं हो पाता। अतः उन सबको किस रूप में धन्यवाद करुं, समझ नहीं आता। मैं तो यही मानता हूँ कि ये सब ही इस यज्ञ के होता, अध्वर्यु, उद्‌गाता और ब्रह्मा हैं। अन्त में मैं इस सारस्वत अनुष्ठान की परिणति को परमपिता परमात्मा के चरणों में अर्पित करता हुआ उन सभी लेखकों को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने इस जर्नल में अपने निबन्धों के माध्यम से योगदान किया है।

उन पुराने जर्नल्स का भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिनसे हमने शोध सामग्री को लेकर इस जर्नल में उपयोग किया है।

प्रो० दिनेशचन्द्र शास्त्री

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (1-11) July-Dec. 2011

वेदों पर किये गये कुछ आक्षेप व उनकी समीक्षा

आचार्य (डॉ०) सत्यजित् आर्य
आचार्य महर्षि दयानन्द आर्ष गुरुकुल, ऋषि उद्यान, पुष्कर मार्ग अजमेर (राजस्थान) भारत
Email : styajita@yahoo.com

वेदों पर आक्षेप पहले भी किये गये, आज भी किये जा रहें हैं। इनका समाधान भी तभी से किया जाता रहा है। इसी क्रम में पुस्तक **'चतुर्वेदविद्: आमने-सामने'** में संपादक -आदित्यमुनि वानप्रस्थ व पं. उपेन्द्रराव के अनेक प्रश्न व टिप्पणियाँ आक्षेप रूप में दिये गये हैं। उनमें से कुछ की समीक्षा व उत्तर इस लेख में दिया जा रहा है। चूंकि ये दोनों चार वेद-संहिताओं व तर्क-युक्ति के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं मानते, किसी अन्य शास्त्र का प्रमाण उन्हें मान्य नहीं है, अत: उनका यह आग्रह अनुचित मानते हुए भी इस लेख में समीक्षा व उत्तर, बिना अन्य शास्त्रों (शब्द प्रमाण) के, मात्र तर्क-युक्ति व मूल चार वेदों के आधार पर ही दिये गये हैं।

1. **प्रश्न/आक्षेप** - क्या मन्त्रद्रष्टा नारायण ऋषि को दृष्टिदोष था?

ऋग्वैदिक पुरुषसूक्त (10.10.1-16) का ऋषि नारायण है। यजुर्वैदिक (तदनुसार) मन्त्रों (31.1-16) का ऋषि भी नारायण है। सामवेद (617-621) में भी वही ऋषि है। और अथर्ववेद (19.6.1-16) में भी।

जब नारायण ऋषि ने प्रथम ऋग्वैदिक मन्त्रों का 'दर्शन' कर लिया था, तब यजुर्वैदिक मन्त्रों को, सामवैदिक मन्त्रों को एवं अथर्ववैदिक मन्त्रों को उलट-पुलट क्रम में कैसे देखा? इन मन्त्रों में हुए पाठभेदादि परिवर्तनों की ओर उसने ध्यान क्यों नहीं दिया? अथर्ववेद ने ऋग्वेद के 16वें मन्त्र को न लेकर उसे हटा दिया था, इस पर नारायण ऋषि ने आपत्ति क्यों नहीं की? तथा अ0 19.6.16 वाले मन्त्र को क्यों 'देखा'? (पृष्ठ 18)

'यह प्रश्न उन विद्वानों के लिए है, जो वेदमन्त्रों के लिए निर्दिष्ट ऋषिनामों को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं तथा, उनके विश्वास के अनुसार, इन ऋषियों को मन्त्र का दर्शन हुआ, अत: वे 'मन्त्रद्रष्टा' कहलाए। (पृष्ठ 21)

समीक्षा - इस प्रश्न में प्रथम मुख्य आक्षेप **'दृष्टिदोष'** विषयक है - क्या मन्त्रद्रष्टा नारायण ऋषि को दृष्टिदोष था?। दृष्टिदोष शब्द के दो तात्पर्य हो सकते हैं **पहला**- बुद्धि/ज्ञान/जानने का दोष, **दूसरा**- नेत्र का दोष। आक्षेपकर्त्ता को नारायण ऋषि में दृष्टिदोष = नेत्रदोष दिख रहा है।

यदि कुछ देर के लिये मान भी लें कि नारायण ऋषि को दृष्टिदोष = नेत्रदोष था, तो इससे महर्षि दयानन्द की किस मान्यता पर प्रश्न उठेगा? महर्षि दयानन्द ऐसा तो नहीं मानते कि ऋषि उसे कहते हैं जो नेत्र से अच्छा देखता हो। वे तो 'यथार्थ-द्रष्टा' अर्थात् यथार्थ-ज्ञाता को ऋषि कहते हैं। जिसने मन्त्रार्थ का प्रकाश किया, मन्त्र का प्रचार किया वह ऋषि होता है। अत: यदि ऋषि को नेत्रदोष हो, तो भी वह ऋषि होता है। अत: यदि ऋषि को नेत्रदोष हो,

तो भी वह ऋषि तो कहला ही सकता है। मन्त्र को कानों से सुनकर व मन से चिंतन कर भी मन्त्रार्थ जाना जा सकता है व बोलकर उसका प्रचार भी किया जा सकता है।

आक्षेपकर्त्ता उलट-पुलट क्रम व पाठभेद आदि को देख कर नारायण ऋषि को 'दृष्टिदोष= नेत्रदोष युक्त' मान रहा है। साथ ही उसका ऐसा तर्क है कि 'यदि नारायण ऋषि को दृष्टिदोष = नेत्रदोष नहीं होता तो **वे उलट-पुलट व पाठभेद को ठीक कर देते,** पर चूंकि आज भी ये मन्त्र उलट-पुलट क्रम व पाठभेद से युक्त मिल रहे हैं अतः यह सिद्ध हो जाता है कि नारायण ऋषि को दृष्टिदोष = नेत्रदोष रहा होगा।' अब यह आक्षेपकर्त्ता का कौन सा दोष माना जाये कि उन्हें यह ज्ञात नहीं हुआ कि नारायण ऋषि को भले ही नेत्रदोष होता तो भी वे यदि उलट-पुलट व पाठभेद को दोष जानना चाहते तो जान सकते थे, क्योंकि नारायण ऋषि में श्रवण दोष = श्रुतिदोष तो था नहीं।

आक्षेपकर्त्ता की दृष्टिदोष = नेत्ररोग विषयक बात मानें तो उनके अनुसार नारायण ऋषि को ऋग्वेद के मन्त्रों का भी दर्शन नहीं होना चाहिये था। **मन्त्र-क्रमों व पाठों को न बदलना** किसी 'दृष्टिदोष' का निर्णायक नहीं हो सकता। हो सकता है नारायण ऋषि के नेत्र ठीक हों, वे भी वेद मन्त्रों का वही क्रम व पाठ देख रहे हों जो आज हम देख रहे हैं, और वेद-मन्त्रों के इस क्रम को वे ठीक ही मानते हों जैसा महर्षि दयानन्द मानते हैं। नारायण ऋषि के दृष्टिदोष = नेत्रदोष को सिद्ध करने के लिए आक्षेपकर्त्ता को उचित प्रमाण देने होंगे।

'ऋषि मन्त्रार्थ द्रष्टा-प्रकाशक-प्रचारक होते हैं', यह महर्षि दयानन्द का निश्चय है। इसको खण्डित करने के लिए आक्षेपकर्त्ता ने कुछ नहीं कहा। नारायण ऋषि को यदि दृष्टि-दोष = बुद्धि/ज्ञान दोष था तो उसे बताया जाना चाहिए था। दोष बताये बिना दोषारोपण करना आक्षेपकर्त्ता के 'दृष्टिदोष' का परिचायक है।

जिसे उलट-पुलट क्रम का या पाठभेद का दोष कहा, यह दोष कैसे है? इस विषय में कुछ नहीं कहा। मन्त्रों में क्रमभेद या शब्दभेद का होना किसी दोष का परिचायक नहीं। लेखक, वक्ता आदि अपने वाक्यों व शब्दों का अनेकत्र पुनः पुनः प्रयोग करते हैं। व उनके क्रम में भेद भी नहीं हो सकता है। मात्र क्रम के भेद से दोष नहीं माना जाता। क्रम के भेद से यदि अर्थ में दोष आ रहा हो, विरोधी बात कही जा रही हो, असम्बद्ध व न समझने वाली बात कही जा रही हो तो दोष माना जा सकता है। किन्तु ऐसा कुछ तो पं() उपेन्द्रराव जी ने बताया नहीं है। फिर नारायण ऋषि में 'दृष्टिदोष' को मानना या उसकी आशंका रखना व्यर्थ है।

नारायण ऋषि 'ऋषि' होने से यथार्थ-द्रष्टा थे, अतः उन्हें क्रम-भिन्नता व पाठभेद में कोई दोष दिखाई नहीं दिया होगा, इसलिये उन्होंने इस पर कोई आपत्ति नहीं की। 'नारायण ऋषि ने इन पर ध्यान नहीं दिया', ऐसा आक्षेप कैसे कर सकते हैं? हाँ उनका ध्यान का प्रकार अलग था।

आक्षेपकर्त्ता ने जिस तरह के मन्त्र द्रष्टा ऋषि की परिकल्पना मन में रखकर प्रश्न किया है, वह ऋषि वेद-मन्त्रों के क्रम व पाठ

में बदलाव करने वाला है। जबकि महर्षि दयानन्द मन्त्र द्रष्टा ऋषि का ऐसा स्वरूप मानते ही नहीं है। अत: यह प्रश्न महर्षि दयानन्द से करना व्यर्थ है। महर्षि दयानन्द मानते हैं कि ये मन्त्र जिस वेद में जिस क्रम व पाठ से हैं, वैसे ही उसमें हैं। इसमें कोई प्रमाण आक्षेपकर्त्ता नहीं दे पाये हैं कि किसी ने एक वेद से मन्त्र लेकर कुछ परिवर्तन कर उन्हें दूसरे वेद में संकलित कर दिया, चाहे वह क्रम का परिवर्तन हो या शब्दों का।

आक्षेपकर्त्ता ने यह प्रश्न इसलिए भी करना चाहा है क्योंकि महर्षि दयानन्द वेद मन्त्रों के ऋषिनामों को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं। किन्तु इस प्रश्न में उठाये 'दृष्टिदोष' आदि आक्षेपों से यह कैसे सिद्ध हुआ कि ये ऋषिनाम ऐतिहासिक व्यक्तियों के नहीं हैं? कोई तर्क-युक्ति-बुद्धि-विवेक प्रकट तो किया जाना चाहिए था, जिससे बात सिद्ध हो सकती व अन्य भी तर्कादि को कसौटी पर कस कर देख पाते।

2. **प्रश्न/आक्षेप** - ''क्या ऋषि लोगों ने अग्नि से बात नहीं का थी? दो ऋषि, दो देवता, प्रार्थना एक-सी क्यों? ऋ0 10-115 वाले सूक्त का ऋषि वार्ष्टिहव्य उपस्तुत एवं देवता अग्नि है। ऋ0 10.115.8 वाले मन्त्र के अनुसार वृष्टिहव्य के पुत्र स्तुति करने वाले ऋषि लोग बोले थे। ऋ0 10.115.8 वाले मन्त्र का उत्तरार्ध, ऋ0 1.53.11 के उत्तरार्ध की प्रतिलिपि है। वहाँ ऋषि सव्य आङ्गिरस एवं देवता इन्द्र है। ऋ0 1.53.11 वाला मन्त्र अ0 20.21.11 में भी उद्धृत है। एक ऋषि ने पहले इन्द्रसे जिस प्रकार की, आयुवृद्धि के साथ, स्तुति-सम्बन्धी बात की थी, वैसी ही बात अन्य ऋषि ने भी अग्नि से की।'' (पृष्ठ 61-62)

''ऋ0 (10.115.8) के कथन के पश्चात् ऋ0 (10.115.9) में **इति त्वाग्ने वृष्टिहव्यस्य पुत्रा उपस्तुतास ऋषयोऽवोचन्'** आने से प्रश्न बना कि क्या ऋषि लोगों ने अग्नि से प्रत्यक्षत: बात नहीं की थी? ऋग्वेदसंहिता प्रार्थनाओं का संग्रह होने से, उसमें कोई सीमा-मर्यादा नहीं रखी गयी कि किससे, किसके लिए, कितनी प्रार्थनाएँ उपयुक्त होतीं।'' (पृष्ठ 63)

समीक्षा - महर्षि दयानन्द की वेद के ऋषि सम्बन्धी ऐसी कौन सी मान्यता है जिस पर यह प्रश्न लागू होता है? ऋ. 10.115.9 में आये **'वृष्टिहव्यस्य पुत्रा उपस्तुतास ऋषयोऽवोचन्'** इस अंश में जिन ऋषियों की अग्नि से बात करने का लिखा है वे ही ऋषि 'मन्त्रद्रष्टा ऋषि' थे, यह कैसे सिद्ध हो पा रहा है? मन्त्र में जिन ऋषियों का उल्लेख है वे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों से भिन्न हैं। क्योंकि मन्त्र पहले है फिर 'मन्त्रद्रष्टा ऋषि' है। मन्त्र में जो शब्द है, उन्हीं शब्दों से 'मन्त्रद्रष्टा ऋषि' का भी नाम प्रसिद्ध हो सकता है, अत: यह तो सिद्ध नहीं होता कि इस मन्त्र में 'मन्त्रद्रष्टा ऋषि' लोगों के अग्नि से प्रत्यक्षत: बात करने का वर्णन है।

विचित्र प्रश्न है - 'दो ऋषि, दो देवता, प्रार्थना एक सी क्यों?' इस प्रश्न में यह आक्षेप है कि भिन्न-भिन्न ऋषि भिन्न-भिन्न देवताओं

से एक सी प्रार्थना कैसे कर सकते हैं? इस प्रश्न पर प्रश्न उठता है कि क्यों नहीं कर सकते? यदि भिन्न-भिन्न ऋषि भिन्न-भिन्न देवता से एक प्रार्थना कर भी रहें हैं तो यह प्रश्न महर्षि दयानन्द की किस मान्यता को लक्षित कर किया जा रहा है? उनकी किस मान्यता की परीक्षा की जा रही है?

''ऋग्वेद में कोई सीमा-मर्यादा नहीं रखी गयी कि किससे, किसके लिए, कितनी प्रार्थनाएं उपयुक्त होतीं।'' इस आक्षेपात्मक वाक्य पर प्रश्न है कि इन मन्त्रों में किस सीमा-मर्यादा का उल्लंघन हो रहा है? प्रार्थना की अनुपयुक्त कैसे है?

महर्षि दयानन्द ने ऐसा कहीं नहीं कहा कि- 'ऋषि लोग अग्नि (ईश्वर) से बात नहीं कर सकते' और यह भी कभी नहीं कर सकते' तो फिर यह आक्षेप महर्षि दयानन्द पर कैसे लागू हो सकता है?

3. **प्रश्न/आक्षेप** - यदि ऋग्वेद (1/164/48) के निम्न मन्त्र को देखा जाए-

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत। तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥

तो पता चलेगा कि इस मन्त्र में वर्ष में 360 दिन होने का स्पष्ट उल्लेख है, जबकि आजकल जो पञ्चाङ्ग बन रहे हैं, उनमें वर्षमान 365.2422408 दिन लिया जा रहा है, जो वर्षमान किसी भी वेदमन्त्र में उल्लिखित नहीं है।

जब 11 मार्च, 2011 को जापान में भयङ्कर भूकम्प और सुनामी आया, तो वैज्ञानिकों ने पाया कि धरती अपने केन्द्र से करीब 6.5 इंच खिसक गई है। दूसरे शब्दों में वर्षमान बढ़ गया है। उनकी एक अन्य गणना के अनुसार प्रत्येक लगभग 800 वर्षों में वर्षमान 3 सेकेण्ड तक बढ़ जाता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो 5.2422408x24x60x60सेकेण्ड का अन्तर पड़ने में 5.2422408x24x60x60x800/3 वर्ष का समय लगा होना चाहिए। इस प्रकार यह समय कुल 12,07,82,228 वर्ष होता है, जो लगभग उतना ही समय है, जितना कि प्रचलित वैवस्वत मन्वन्तर के 12,05,2111 वर्ष अब तक व्यतीत हो चुके हैं। अतः उक्त वेदमन्त्र को बने हुए भी अधिकतम इतने ही वर्ष हुए होंगे। ऋग्वेद के अन्य मन्त्रों की रचना भी इसके आसपास के काल में ही हुई होगी जिसमें प्रश्नकर्त्ता द्वारा इङ्गित मन्त्र भी सम्मिलित हैं। कोई भी मानवकङ्काल (fossil) इससे पूर्व का अब तक भी कहीं नहीं मिला है।'' (पृष्ठ 37-38 आदित्यमुनि)

समीक्षा-प्रथम तो आक्षेपकर्त्ता ने मन्त्र का अर्थ स्पष्ट किये बिना घोषणा कर दी कि इस मन्त्र में वर्ष के 360 दिन होने का स्पष्ट उल्लेख है। पहले वे यह सिद्ध करें कि इसमें 360 दिन का कहाँ उल्लेख है वह उसकी पूरे मन्त्र से संगति कैसे है?

दूसरा - आजकल 360 दिन का वर्ष भी प्रचलन में है, न कि मात्र 364.24 दिन का। ऐसे में पहले यह स्पष्ट करना होगा कि यदि वेद के इस मन्त्र में 360 दिन के वर्ष का कथन है भी तो वह सूर्य पर आधारित वर्ष है या चन्द्र पर आधारित वर्ष?

तीसरा - आक्षेपकर्त्ता ने वैज्ञानिकों के

उन आंकड़ों के अनुसार निर्णय निकालने का प्रयास किया है जिन आंकड़ो के आधार पर वैज्ञानिक भी अभी पूर्ण निर्णय देने की स्थिति में नहीं हैं, वे एक परिकल्पना-संभावना मात्र बताने की स्थिति में है। धरती का अपने केन्द्र से खिसकना अभी कुछ वर्षों से जानना संभव हो पाया है, अभी इस पर बहुत परीक्षण होने हैं, वर्षों तक आंकड़े इकट्ठे होने हैं, तब जाकर कुछ निश्चयात्मक कहा जा सकता है। अत: इन प्रारंभिक आंकड़ों के आधार पर निश्चय करना शीघ्रता होगी।

चौथा - यद्यपि वेद संहिताओं से भिन्न किसी प्रमाण को देने का आक्षेपकर्त्ता अन्यों को मना करते हैं, तो फिर अब वैज्ञानिकों का प्रमाण क्यों दे रहे हैं? यदि उन्हें वैज्ञानिकों का प्रमाण स्वीकार्य है तो स्पष्ट स्वीकार करें व दूसरों द्वारा भी वैज्ञानिकों का प्रमाण देने पर उसे स्वीकारने की सदाशयता दिखावे। अब जब आक्षेपकर्त्ता ने वैज्ञानिकों का प्रमाण दिया है तो वे कृपया उस ग्रन्थ आदि का नाम भी बता देते, अन्यथा उनके कथन की प्रमाणिकता क्या रहेगी?

पांचवा - आक्षेपकर्त्ता ने लिखा कि 'जापानी भूकंप/ सुनामी से धरती अपने केन्द्र से खिसक गई फलत: दिन की अवधि कम हो गई, फलत: वर्षमान बढ़ गया।' इसका अर्थ यह हुआ कि दिन के मान में कमी होने से वर्ष के दिनों के मान में वृद्धि हो गई, किन्तु एक दिन में सेकण्ड कम हो गये। दूसरी ओर आक्षेपकर्त्ता कहता है '८०० वर्षों में ३ सेकिण्ड बढ़ जाते हैं। उनकी इन दोनों बातों में क्या सम्बन्ध है, इसे स्पष्ट नहीं किया। मुट्ठी बंद।

वैज्ञानिकों की प्रथम गणना के आधार पर आक्षेपकर्त्ता जिस वर्षमान की वृद्धि मान रहा है, वह वर्ष के दिनों की संख्या में वृद्धि है, न कि वर्ष के सेकिण्ड की संख्या में वृद्धि, जबकि वैज्ञानिकों की जिस दूसरी गणना का वे आधार ले रहे हैं उसके अनुसार वर्षमान की वृद्धि सेकिण्ड में मान रहे हैं, दिनों में नहीं। यह अन्तर्विरोध है।

यदि आक्षेपकर्त्ता वैज्ञानिकों के आंकड़ो पर निर्णय करना चाहता है तो विकीपीडिया में दिये इस आंकलन को भी ध्यान में रख लें। इस आकलन के अनुसार 30 करोड़ वर्ष पूर्व 400 दिन का वर्ष होता था, जबकि आज 365. 24 दिन का वर्ष होता है। वैज्ञानिकों की इस गणना के अनुसार तो प्राचीन काल में वर्ष अधिक दिन का होता था व अब कम दिन का होता जा रहा है, जबकि आक्षेपकर्त्ता की परिकल्पना के अनुसार पहले वर्ष कम दिन का होता था, अब अधिक दिन का होता है। क्या आक्षेपकर्त्ता अपनी बात को सिद्ध करने के लिए तोड़-मरोड़ कर वैज्ञानिकों के आकलन के एक अंश का सहारा लेना चाहेगा? यदि हां तो वैज्ञानिकों के आकलन से ही खण्डित भी हो जायेगा। किसी भूकम्प या सुनामी में यदि दिन का मान छोटा होकर वर्ष में दिन बढ़ सकते हैं, तो दूसरे भूकम्प आदि में विपरीत भी हो सकता है - दिन का मान बढ़कर, वर्ष के दिन घट जायें। वैज्ञानिकों की जानकारी भी अभी इस विषय में प्रारंभिक ही है। उसके आधार पर निर्णय निकालना बुद्धिमानी नहीं।

4. **प्रश्न/आक्षेप** -वेदों की रचना सर्वत्र

बुद्धिपूर्वक भी नहीं हुई है, इसके लिए दो प्रमाण यहाँ प्रस्तुत हैं -

1. अथर्ववेद के निम्न दो मन्त्र देखिए -

शतस्य धमनीनां के निम्न सहस्रस्य हिराणाम्।
अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत।।

(अ0 1/17/3)

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत।
नासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम्।।

(अ0 7/36/2)।

पहले मन्त्र में सौ धमनियों और हजार सिराओं बात की गई है जबकि इसके विपरीत दूसरे मन्त्र में सौ सिराओं और हजार धमनियों की बात कही गई है। तब क्या ऐसे मन्त्रों की रचना को बुद्धिपूर्वक की गई रचना कहा जा सकता है? और क्या ऐसा काम वह ईश्वर कर सकता है, जो सर्वज्ञ माना जाता है?

2. अब एक दूसरा मन्त्र देखिए -

इन्द्रो विश्वस्य राजति। शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।। य0 36/8, सा0 456 (पूर्वार्धमात्र)

इस मन्त्र के पूर्वार्ध की उत्तरार्ध के साथ कोई संङ्गति नहीं है। इसीलिए सामवेद में उसका मात्र पूर्वार्ध भाग एक ही स्वतन्त्र मन्त्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। क्या ऐसी मन्त्र रचना बुद्धिपूर्वक की गई रचना कही जा सकती है? और क्या ऐसा असम्बद्ध प्रलाप वह सर्वज्ञ परमात्मा कर सकता है जिसे अपने मन्त्रों में ही संशोधन करना पड़ता हो?"

समीक्षा - आक्षेपकर्त्ता वेद के **शत** व **सहस्र** शब्दों का अर्थ मात्र 100 या 1000 ही मान रहा है, इसलिए उसे विरोध प्रतीत हुआ। 'शत' व 'सहस्र' शब्द क्रमशः 100 व 1000 के वाचक भी होते हें, इसमें कोई दो राय नहीं, किन्तु ये मात्र 100 व 1000 के वचक होते हैं, यह मानना ठीक नहीं। शत व सहस्र शब्द बहुत्व/अनेकत्व/अधिकत्व के भी वाचक होते हैं। यह लोक प्रचलित भाषा में भी स्वीकार्य होता है। कई बार (5-7 या अधिक बार) समझाने पर भी किसी को समझ में न आये तो कह उठते हैं - सैकड़ों/हजारों बार समझा जा चुका, पर समझ नहीं आ रही।' अर्थात् यहाँ सौ (शत) व हजार (सहस्र) शब्द 100 व 1000 संख्या का वाचक नहीं है, बल्कि 'बहुत बार' अर्थ को बताने वाला है। शब्द शक्ति, भाषा विज्ञान और व्यवहार का ज्ञान भी काम में लेना चाहिए, मात्र शब्द को पकड़ कर प्रकरण रहित अर्थ करने से अनेक बार अनर्थ हो जाता है। यहां वेद मन्त्र अबुद्धिपूर्वक सिद्ध नहीं हुए, बल्कि प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न अबुद्धिपूर्वक सिद्ध हुए हैं।

शरीर में बड़ी-छोटी धमनियों व शिराओं की संख्या बहुत अधिक है। उनकी संख्या का निर्धारण अंकशः नहीं किया जा सकता। यदि किया भी जाये तो उस संख्या का व्यवहार करना सदा आवश्यक नहीं होता। वक्ता धमनियों व शिराओं की अधिकता को बताना चाहता है। वह अधिकता **'शत'** शब्द से भी उसी प्रकार ज्ञात होती है जैसे **'सहस्र'** शब्द से। बहुत्व अर्थ को बताने के संदर्भ में **'शत'** व **'सहस्र'** शब्द के पर्यायवाची हैं। बहुत्व को बताने के लिए दोनों में से किसी का भी प्रयोग कहीं भी किया जा सकता है। इसमें कोई अबुद्धिपूर्वकता नहीं है, वरन् यह प्रयोग बुद्धिपूर्वक है।

वेद धमनियों व शिराओं के बहुत्व को कहना चाहता है। वैसे भी 100 से 1000 दस गुना अधिक होता है, पर धमनी व शिरा की संख्या में इतना गुना भेद नहीं होता, वे लगभग समान होती हैं। अत: दोनों स्थानों पर बहुत्व अर्थ ग्राह्य है।

दूसरे प्रमाण में आक्षेपकर्त्ता ने वेद मन्त्र की प्रथम पंक्ति व दूसरी पंक्ति में सङ्गति क्यों नहीं है, असङ्गति क्या है, इसे स्पष्ट नहीं किया। फिर मुट्ठी बंद रखी। दोनों वाक्यों में सङ्गति यह है कि जो इन्द्र पूरे संसार में प्रकाशित होता है, व्याप्त होता है, शासन करता है उससे दोपायों चौपायों के सुख-कल्याण की प्रार्थना की जा सकती है। प्रार्थना समर्थ से की ही जाती है, समर्थ प्रार्थना को पूरा कर सकता है। अत: मन्त्र की दोनों पंक्तियाँ परस्पर संगत हैं। यदि असमर्थ-दुर्बल-अप्रकाशित से प्रार्थना की जाती तो असङ्गति कही जा सकती थी, पर यहां तो ऐसा नहीं है।

इस प्रकार आक्षेपकर्त्ता के दो मूर्धाभिषिक्त तथाकथित प्रमाण वेद की बुद्धिपूर्वकता को खण्डित नहीं कर पाते हैं। इन मन्त्रों पर जिस आधार से प्रश्न/आक्षेप उठाया गया, उससे आक्षेपकर्त्ता की बुद्धिमता खण्डित होती है।

5. **प्रश्न/आक्षेप** - शाखा संहिताओं से बहुत सारी गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं, यह निम्न उदाहरण से सिद्ध है-

अथर्ववेद की दो शाखाएँ (शौनक और पैप्पलाद) आज उपलब्ध हैं। इनमें एक मन्त्र निम्न प्रकार से है -

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः। अथर्ववेद (शौनक) (10/7/20)

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। छन्दांसि यस्य लोमानि स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।। अथर्ववेद (पैप्पलाद) (17/9/11)

उपर्युक्त दोनों मन्त्रों को देखने से पता चलता है कि 'सामानि' के स्थान पर दूसरे मन्त्र में 'छन्दांसि' पद का प्रयोग किया गया है, जबकि अनेक विद्वान् 'छन्दांसि' से अथर्ववेद का ही आशय ग्रहण करते हैं। इसलिए उनकी यह बात प्राचीन ऋषियों को स्वीकार नहीं होती। (आदित्यमुनि)

समीक्षा - आक्षेपकर्त्ता के अनुसार 'सामानि' व 'छन्दांसि' एक ही है। किन्तु ध्यान देने की बात है कि यजुर्वेद 31.7, ऋग्वेद 10.90.9 मन्त्र में 'सामानि' भी अलग से लिखा है व 'छन्दांसि' भी अलग से, दोनों के साथ क्रिया पद 'जज्ञिरे' भी पृथक् लिखा है-

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः **सामानि जज्ञिरे।**
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।

इस वेद मन्त्र को ध्यान में न रखते हुए आक्षेपकर्त्ता शाखा-ग्रन्थ के आधार पर **'छन्दांसि' शब्द 'अथर्ववेद' का वाचक नहीं'** यह सिद्ध करने के आवेग में कह बैठे 'सामानि व छन्दांसि एक ही हैं'। जबकि उद्धृत मन्त्र में सामानि व छन्दांसि शब्द पृथक्-पृथक् पढ़े गये हैं। यदि ये दोनों शब्द एक ही अर्थ वाले होते, तो एक ही मन्त्र में समान क्रिया 'जज्ञिरे' के साथ पृथक् पृथक्

नहीं पढ़े गये होते।

यदि शाखा संहिता से गुत्थी सुलझाने का तथाकथित विवेक-ज्ञान ठीक है, तो कृपया बतावें कि प्रश्न में उद्धृत मन्त्र में दोनों शब्दों को पृथक् पढ़े जाने का क्या कारण है?

6. **प्रश्न/आक्षेप** - पुरुषसूक्तगत मन्त्रानुक्रम का अन्य वेदों ने भङ्ग क्यों किया?

ऋग्वेद - 10.60.1-16

यजुर्वेद - 31.1-5, 14, 9, 6-8, 10-13, 15, 16

सामवेद - 617, 619 (पू.) 620 (उ.), 620 (पू.) 619 (उ.), 618, 621

अथर्ववेद - 19.6.1, 4, 3, 2, 9-11, 14, 13, 12, 5-8, 15 (पृष्ठ 1)

प्रश्नकर्त्ता पं० उपेन्द्रराव की टिप्पणी - परमात्मा के कर्तृत्व (?) का हवाला देकर कोई वकील अपने पक्षग्राही-आरोपी को आरोप से बचा नहीं सकता।

प्रश्न के साथ दी गई मन्त्र सन्दर्भ-तालिकाओं को देखकर एक बच्चा भी कह देगा कि क्रमभङ्ग हुआ है। इससे इन्कार करके, इस कार्य को परमात्मा के सिर पर थोपकर, पुनः उसके सामर्थ्यों का प्रशस्तिगान करना असमीचीन है। वस्तुस्थिति को स्वीकारने से सर्वत्र इन्कार करना कौन-सा हठ है? (पृष्ठ 9)

सम्पादक आदित्यमुनि का निष्कर्ष - किसी भाषा का एक सामान्य कवि तक अपनी किसी रचना में उसे विभिन्न अवसरों और स्थानों पर प्रस्तुत करते हुए भी कोई परिर्वतन नहीं करता। ऐसा कार्य केवल सम्पादकगण ही करते हैं। इसलिए वर्तमान चारों वेद एक परमेश्वर की रचना नहीं हो सकते। अवश्य ही उनके सम्पादकगण अलग-अलग हैं। इसीलिए वे उनके नाम से अब भी स्मरण किये जाते हैं। यथा-शाकल ऋग्वेद, माध्यन्दिन यजुर्वेद, कौथुमीय सामवेद एवं शौनकीय अथर्ववेद। (पृष्ठ 9, आदित्यमुनि)

समीक्षा- (क) ऊपर प्रश्न में ऋग्वेद पुरुषसूक्त के 16 मन्त्रों के क्रम को आधार मान कर, शेष तीन वेदों के मन्त्रों के क्रम की उससे तुलना की गई है। चूंकि ऋग्वेद के क्रम की उससे तुलना की गई है। चूंकि ऋग्वेद के क्रम से शेष तीन वेदों के मन्त्रक्रम में भेद है, अतः उसे 'क्रम-भङ्ग' मान कर उसका कारण पूछा गया है। प्रश्न में यह क्रम-भेद जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, उससे यह प्रतीति कराई गई है कि क्रमभङ्ग/उलटफेर बहुत हुआ है, और यह दोष है। क्रम-भेद स्पष्ट है, उसे कोई अस्वीकार कैसे कर सकता है? दोष है या नहीं? यह स्पष्ट होना आवश्यक है।

ऋग्वेद के क्रम को आधार मान कर ही तुलना करते हैं। ऋग्वेद में उस-उस मन्त्र की जो संख्या है, उसे ही तीनों वेदों के उस-उस मन्त्र की संख्या रखते हुए क्रम इस प्रकार बना है-

यजुर्वेद में क्रम है - 1,2,3,4,5,8,9,10,7,11,12,13,14,6,15,16 यहाँ वस्तुतः मात्र दो मन्त्रों का क्रम बदला गया है। प्रश्न में की गई प्रस्तुति से लगता है कि 9 मन्त्रों का क्रम बदला गया है। यजुर्वेद में मात्र छठे व सातवें मन्त्र को चौदहवें व पन्द्रहवें के मध्य में रखा; सातवें मन्त्र को दसवें व

ग्यारहवें के मध्य में रखा। शेष मन्त्रों का सही क्रम वही है, जो ऋग्वेद में है।

सामवेद में क्रम है- 1,4,2 प्रथम पंक्ति + 3 दूसरी पंक्ति, 3 प्रथम पंक्ति+2दूसरी पंक्ति, 5। यहां एक तो मन्त्र 4 का क्रम बदला है, उसे 1 व 2 के बीच में रखा गया है। दूसरा मन्त्र दो व तीन की दूसरी पंक्तियों का अदल-बदल किया गया है।

अथर्ववेद में क्रम है- 1,4,3,2,11,12,13,14,5,6,7,10,9,8,15 यहां तीन परिवर्तन किये गये हैं। **पहला** - 2 व 4 में अदल-बदल, **दूसरा** - 8 व 10 में अदल-बदल , **तीसरा**- 11,12,13,14, को 5 से पूर्व लाना।

तीनों वेदों के क्रम को रेखाचित्र से सहज ही

यजुर्वेद	सामवेद	अथर्ववेद
१	१	१
२	४	४
३	२ की प्रथमपंक्ति	३
४	+	२
५	३ की द्वितीयपंक्ति,	११
८	३ की प्रथमपंक्ति	१२
९	+	१३
१०	२ की द्वितीयपंक्ति,	१४
७	५	५
११		६
१२		७
१३		१०
१४		९
६		८
१५		१५
१६		
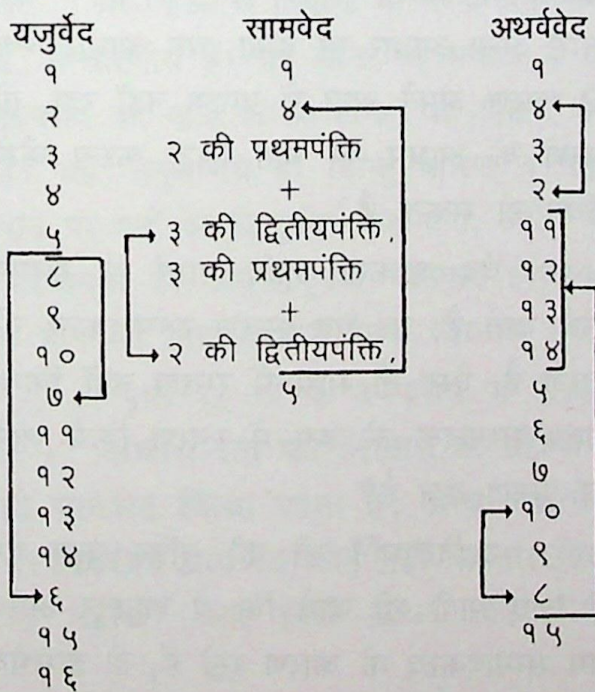
जान सकते हैं -

इस प्रकार **प्रथम कथ्य** पूरा हुआ कि तीन वेदों में ऋग्वेद की अपेक्षा क्या व कितना क्रमभेद है। यह इतना अधिक नहीं है जैसा प्रश्न में दी गई प्रस्तुति से प्रतीत कराया गया। **दूसरा कथ्य** है- प्रश्नकर्त्ता ने इसे दोष के रूप में प्रस्तुत किया है, इसकी पुष्टि उनकी टिप्पणी से होती है - 'आरोपी को आरोप से बचा नहीं सकता'। अब विचारणीय यह है कि इस क्रमभेद-क्रमपरिवर्तन, उलट-पुलट को दोष माना जाये या नहीं?

प्रश्नकर्त्ता ने यह स्पष्ट नहीं किया कि क्रमभेद दोष क्यों है? लेखक, कवि, वक्ता आदि अपने वाक्यों व शब्दों का अनेकत्र पुनः पुनः प्रयोग करते हैं व उनके क्रम में भेद हो भी सकता है। किन्तु मात्र क्रम के भेद से दोष नहीं माना जाता। क्रम के भेद से यदि अर्थ में दोष आ रहा हो, विरोधी बात कही जा रही हो, तो दोष माना जा सकता है। किन्तु ऐसा कुछ तो पं. उपेन्द्रराव जी व आदित्यमुनि जी ने बताया नहीं। अतः बिना पुष्ट व सिद्ध किये मात्र आरोप लगा देना उचित नहीं। कोई लेखक/कवि अपनी रचना में आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर सकता है, यह उसका अधिकार है। चारों वेद भिन्न-भिन्न पुस्तकें हैं, उनमें मन्त्रक्रम में समानता हो, यह आवश्यक नहीं।

(ख) इस मन्त्रानुक्रम भेद से महर्षि दयानन्द की किस मान्यता/अवधारणा को कसौटी पर कसा जा रहा है? इस मन्त्रानुक्रम भेद से इनकी किस मान्यता-अवधारणा का खण्डन होता है व कैसे? यह पं. उपेन्द्रराव जी द्वारा बताया जाना आवश्यक है। महर्षि दयानन्द ने कहां लिखा है कि चारों वेदों में पुनरावृत्ति होने

पर मन्त्रों का क्रम एक ही रहता है?

आदित्यमुनि जी ने सम्पादकीय निष्कर्ष में इसे बताने का प्रयास किया है- 'इसलिए वर्तमान चारों वेद एक परमेश्वर की रचना नहीं हो सकते'। अर्थात् महर्षि दयानन्द की मान्यता - चारों वेद एक परमेश्वर की रचना हैं, को वे कसौटी पर कस रहें हैं व उसका खण्डन कर रहें हैं। इसके लिए उन्होंने दो युक्तियां दी हैं।

पहली- किसी भाषा का एक सामान्य कवि तक अपनी किसी रचना में उसे विभिन्न अवसरों और स्थानों पर प्रस्तुत करते हुए भी कोई परिवर्तन नहीं करता। ऐसा कार्य केवल सम्पादकगण ही करते हैं। **दूसरी**- अवश्य ही उनके सम्पादकगण अलग-अलग हैं। इसीलिए वे उनके नाम से अब तक भी स्मरण किये जाते हैं। यथा - शाकल ऋग्वेद, माध्यन्दिन यजुर्वेद, कौथुमीय सामवेद, शौनकीय अथर्ववेद।

प्रथम युक्ति पर प्रश्न उठते हैं -

1. ऐसा नियम उन्होंने कैसे बना लिया, जबकि सामान्य ही नहीं विशेष कवि भी अपनी रचना में परिवर्तन करते देखे जाते हैं?

2. कवि की स्वीकृति के बिना सम्पादक द्वारा उसमें परिवर्तन किया जाना सम्पादकों द्वारा भी मान्य नहीं है। कौन से ऐसे सम्पादक हैं जो ऐसा करते हैं? कोई उदाहरण? क्या आदित्यमुनि जी ऐसा करते हैं? यदि कोई स्वच्छन्द सम्पादक ऐसा मिल भी जाये तो इस व्यवहार को सम्पादक-गण पर लागू कर देना व इसे शिष्ट मानना कहां तक उचित है? कभी नहीं। यदि सम्पादक किसी कवि या लेखक की रचना में क्रमभेद करता भी है, तो इससे वह रचना सम्पादक की नहीं कही जा सकती। उसका रचयिता सम्पादक को नहीं माना जाता। रचयिता तो कवि या लेखक ही कहलाता है।

अत: इस प्रथम युक्ति से यह सिद्ध नहीं होता है कि चारों वेद एक परमेश्वर की रचना नहीं हैं। यह भी खण्डित नहीं होता कि चारों वेद एक परमेश्वर की रचना हैं।

द्वितीय युक्ति पर भी प्रश्न उठते हैं-

1. क्या आजकल अन्य कोई ऐसा ग्रन्थ देखने में आता है, जिसका नाम उसके सम्पादकों के आधार पर रखा गया हो?

2. स्मरण किये जाने को आदित्यमुनि जी ने प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया। यह कौन सा प्रमाण है? वेदों का स्मरण तो अपौरुषेय रूप में भी किया जाता है। वेदों का फिर किसी स्मरण को मानना, किसी स्मरण को न मानना यह किसी अन्य आधार पर होगा, वह आधार क्या है? स्मरण अपने आप में प्रमाण नहीं रहा, तो स्मरण के आधार पर बात सिद्ध करना कैसे उचित हो सकता है?

3. वेद शाकल आदि नामों से स्मरण किये जाते हैं, पर यह स्मरण सम्पादकत्व के कारण है, ऐसा तो साथ में स्मरण नहीं किया जाता। सम्पादक के रूप में स्मरण किये जाने का प्रमाण क्या है?

4. आदित्यमुनि जी की युक्ति कुछ देर के लिए मानी भी जाये कि ये शाकल आदि नाम सम्पादकत्व के कारण रखे हैं, तो क्रमभेद का दोष पं. उपेन्द्रराव जी ने मात्र 3 वेदों पर लगाया है। ऋग्वेद के क्रम को तो उन्होंने क्रमभेद (भङ्ग) नहीं कहा था। जब ऋग्वेद में

क्रमभेद नहीं माना, तो सम्पादक का नाम 'शाकल' भी उसके साथ नहीं जुड़ना चाहिए था। यह परस्पर विरुद्ध बात हुई। एक ओर तो ऋग्वेद में क्रमभेद न होने से सम्पादकत्व नहीं है, दूसरी ओर शाकल नाम से ऋग्वेद का सम्पादकत्व बताया जा रहा है। इससे तो उलटा यह सिद्ध होता है कि 'शाकल' आदि नाम का स्मरण सम्पादकत्व के कारण नहीं है।

(ग) तीन वेदों में ऋग्वेद के पुरुषसूक्तगत मन्त्रानुक्रम की भिन्नता है। यह भिन्नता क्यों है? इसका उत्तर देना महर्षि दयानन्द की मान्यता को मानने वाले विद्वानों का ही कर्त्तव्य है, यह कैसे? यह प्रश्न तो उन पर भी लागू होता है, जो वेद को ईश्वरकृत नहीं मानते।

यह व ऐसे अनेक प्रश्न हैं जो सभी वेद - अध्येताओं व विद्वानों के लिये अनुसन्धेय हैं, विचारणीय हैं। यह माना जा सकता है कि क्रमभेद का कोई कारण होगा, वह कारण क्या है? यह अनुसन्धेय है। किन्तु कारण न खोज पाने पर इन्हें अबुद्धिपूर्वक कह देना, अधैर्य का परिचायक है। अबुद्धिपूर्वक मानकर ईश्वरकृत न होने का निश्चय कर बैठना निराधार है।

पृष्ठ 42 पर पं. उपेन्द्रराव जी लिखते हें -'' **अर्थभिन्नता को दिखाने के उद्देश्य से ही पाठभेद किया जाता है, अन्य वेद/वेदों में। निरुद्देश्य पाठभेद कोई नहीं करता। ईश्वर भी नहीं॥**'' अब इनके कथनों की परस्पर असंगति विचारणीय है। यदि अर्थभिन्नता को दिखाने के उद्देश्य से ही पाठभेद किया जाता है, तो मन्त्रक्रम में भेद को भी अर्थभिन्नता दिखाने के उद्देश्य से ही किया गया मानना चाहिए। छोटा परिवर्तन भी सोद्देश्य है, तो बड़ा परिवर्तन भी सोद्देश्य ही होगा। यदि मन्त्रक्रम का भेद भी सोद्देश्य है, अर्थभिन्नता दिखाने के लिए है, तो इसे अबुद्धिपूर्वक क्यों मान रहे हैं? यदि अबुद्धिपूर्वक मान भी रहे हैं, तो बताना चाहिए कि इस मन्त्रक्रम भेद से अर्थभेद होने पर क्या दोष आया?

इसके लिए पं. उपेन्द्रराव जी व इनके अनुयायियों को अर्थ पर भी विचार करना होगा, मात्र संख्या-क्रम देखकर वे अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं कर सकते। स्वयं तो संख्या-क्रम देखने मात्र से अपने को कृतार्थ समझ रहे हैं व महर्षि दयानन्द की मान्यता को मानने वाले विद्वानों से क्रमभेद का कारण पूछ रहे हैं। संख्या-क्रम को देखकर उसे प्रस्तुत करना तो बालक या सामान्य लिपिक भी कर सकता है। विद्वत्ता तो इसी में थी कि अर्थानुसारी संगति या असंगति सिद्ध की जाती। भले ही, वे अपने को वेदसमर्थक न मानें व संगति न बतावें, पर वेदविरोधी का भी कर्तव्य है कि वह अपने आक्षेप-आरोप को रखे तो आधारपूर्वक रखे। उसे बताना चाहिये कि यहां क्या असंगति है?

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (13-21) July-Dec. 2011

यजुर्वेद में पुनरुक्त मन्त्रों का तात्पर्यार्थ - चिन्तन

प्रो० दिनेशचन्द्र शास्त्री

अध्यक्ष, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) भारत

Email : dineshcshastri@gmail.com

पहले कही हुई बात को विशिष्ट अभिप्राय के बिना कहना पुनरुक्ति है जो कि दोषावह है। वह शब्द और अर्थभेद से दो प्रकार की होती है। जब किन्हीं शब्दों को बार-बार कहा जाता है तब वह शब्द पुनरुक्त कहाता है। जब भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा एक ही अर्थ को बार-बार कहा जाता है तब वह शब्द पुनरुक्त कहाता है। वेदों के परिप्रेक्ष्य में पुनरुक्ति पद, पाद, अर्धर्च, मन्त्र और सूक्त भेद से पाँच प्रकार की होती है।

यजुर्वेद की वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता में पुनरुक्ति के लगभग ये सभी भेद बहुतायत में प्राप्त होते हैं। पुनरुक्ति- दोष वक्ता के प्रमाद को प्रमाणित करता है। वेदों पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि वेदों में पुनरुक्त-दोष है।[1] पुनरुक्त- दोष होने से न तो 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' को स्वीकार किया जा सकता है और न उसके रचयिता को भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से मुक्त कहा जा सकता है। ऐसी अवस्था में वेद के प्रमाण्य का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी विप्रतिपत्ति होने पर वेदों की निर्दुष्टता को कैसे सिद्ध किया जाए, यह एक प्रश्न मन में उठता है। ऋग्वेद को आधार बनाकर ब्लूमफील्ड ने 'Rigveda Repetition' नामक ग्रन्थ का निर्माण कर ऋग्वेद के उन सभी सहस्रों स्थलों को अपने इस ग्रन्थ में जगह दी जो कि एक से अधिक बार पुनरावृत्त हुए हैं। हालैण्ड के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् J. Gonda ने भी शैली-विज्ञान की दृष्टि से वेदों की पुनरुक्तियों पर 'Stylistic Repetition in the Veda' नामक ग्रन्थ में विचार किया है।

वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता शुक्लयजुर्वेद का आधिकारिक ग्रन्थ है। एक अनुमान के अनुसार[2] इसमें 130 ऐसे मन्त्र हैं जो कि पुनरुक्त हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं जो कि दो या दो से अधिक बार प्रयुक्त हैं। इनमें से एक **'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्'** तो सोलह बार पुनरुक्त हुआ है। यजुर्वेद के 37वें अध्याय में संख्या 3 से 11 तक के मन्त्र पुनरुक्ति के विषय में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। **'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो०'** आदि मन्त्र जो गायत्री मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है वह यजुर्वेद में तीन बार (3.35, 22.9, 30,2) प्रयुक्त हुआ है। प्रारम्भ में 'भूर्भुवः स्वः' व्याहृतियों के साथ पठित यह मन्त्र यजुर्वेद (36.3) में एक बार और भी आया है। -**अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः'** मन्त्र यजुर्वेद में तीन बार (3.12, 13.14, 30. 2) प्रयुक्त हुआ है। **'अग्ने नय सुपथा०'** बड़ा प्रसिद्ध मन्त्र है। स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र का विनियोग 'ईश्वरस्तुति प्रार्थनोपासना' के प्रकरण में किया है। यह मन्त्र भी 5. 36; 7.43 और 40.16 में तीन बार आया है। **'अश्वत्थे वो**

निषदनं०' 12.79 और 35.4 में दो बार प्रयुक्त है। **'आ कृष्णेन रजसा०'** मन्त्र भी दो बार 33.43 और 34.31 में पुनरावृत्त है। 'वैदिक संध्या' के उपस्थान मन्त्रों में विनियुक्त **'उद्वयन्तमसस्परि०', 'उदुत्यं जातवेदसं०'** और **'चित्रं देवानामुदगादनीकं०'** मन्त्र क्रमशः चार, तीन, और दो बार पुनरुक्त है। **'देव सवितः प्रसुव०'** मन्त्र 9.1; 11.7 और 30.1 में तीन बार प्रयुक्त हुआ है। 'ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना' प्रकरण में विनियुक्त **'प्रजापते न त्वदेता०', 'यः प्राणतो निमिषतो०'** और **'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे०'** मन्त्र क्रमशः दो, दो और तीन बार प्रयुक्त हुए हैं।[3] इसी तरह **'सुमित्रिया न आपः'** मन्त्र का भी 35.12, 36.23 और 38. 23 में तीन बार प्रयोग हुआ है। अन्य भी बहुत से मन्त्र हैं जो कि यजुर्वेद में पुनरुक्त हैं।

भारतीय ऋषियों की वैदिक परम्परा ने उक्त प्रकार से पुनरुक्ति होने पर भी वेद में दोष नहीं माना है। क्योंकि यह ऋषि- परम्परा वेद को मानवी रचना नहीं मानती है। वेद को मनुष्य की रचना स्वीकार करने पर ही उसमें उक्त प्रकार से दोषों की सम्भावना हो सकती है, परन्तु उसे सर्वज्ञ परमेश्वर का निःश्वसित ज्ञान मानने पर उसमें दोषदर्शन से अपनी ही अल्पज्ञता प्रमाणित होती है। शास्त्रानुसार कोई भी बुद्धिमान् पुरुष प्रयोजन के बिना किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता।[4] फिर परमेश्वर तो मनीषी (यजु0 40.8) है। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों की उसमें कल्पना नहीं की जा सकती। अतः इसकी कोई भी क्रिया निरुद्देश्य अथवा स्मृतिभ्रंशतः या अज्ञानवश नहीं हो सकती। वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद के अनुसार परमात्मा के नैसर्गिक नित्यज्ञान के बोध क वेद में- उसके अमर वाक्य में जो वाक्य रचना है, पद व पदसमूहों की आनुपूर्वी है, वह सब बुद्धिपूर्वक है।[5] अतः जहाँ शब्द, पाद, अध र्च, मन्त्र और सूक्त अथवा अर्थ की पुनरुक्ति प्रतीत होती हो तो वहाँ उसके विशेष अभिप्राय को जानने के लिए गम्भीरतापूर्वक यत्न करना चाहिए। यदि किन्हीं व्याख्याकारों ने इस प्रकार के प्रसंगो में अर्थान्तर न कर उसके विशेषार्थ को प्रकट नहीं किया तो वह व्याख्याकारों का दोष है, न कि वेदों का। महर्षि पतञ्जलि ने पाणिनीय शास्त्र के लिए लिखा है कि - 'किसी सूत्र में सन्देहमात्र से उसे शास्त्र-नियम विरुद्ध नहीं समझ लेना चाहिए, अपितु व्याख्यान के द्वारा विशेषार्थ के परिज्ञान का यत्न करना चाहिए।[6]' जिस प्रकार आर्ष व अनार्ष ग्रन्थों के पुनरुक्ति- दोष के निवारणार्थ सूक्ष्म विवेचना की जाती है, उसी प्रकार वेदों के पुनरुक्ति-दोष की निवृत्ति के लिए भी प्रयत्न अपेक्षित है। यह अनुसंधान का विषय है जो कि श्रम और प्रतिभा से साध्य है।

वेद छन्दोबद्ध होने के कारण काव्य है। यजुर्वेद के गद्य भी काव्यात्मक हैं। लौकिक काव्य में अर्धावृत्ति, पदावृत्ति, महायमक आदि भेद होते हैं। इसी प्रकार वेद में भी यदि इनका अवतार हुआ तो कुछ अलौकिक नहीं है। पदावृत्ति यह सब यमकालंकार के भेद हैं वैसे भी वैदिक भाषा में नाम, सर्वनाम, विशेषण, अव्यय तथा संख्यावाचक शब्द (पदों) के द्विरुक्त उपलब्ध होते हैं,[7] आख्यात के द्विरुक्त के

उदाहरण अति विरल हैं। अत: पदावृत्ति जहाँ यमकालंकार का विषय है वहीं द्विरुक्त समास का विषय भी बनती है, जो कि किसी भी प्रकार पुनरुक्तता-दोषभाक् नहीं बन सकती।

वेदों के पुनरुक्त विषय पर विचार करते हुए पं0 अखिलानन्द शर्मा ने लिखा है- देवताभेद से जो मन्त्र दो बार आ गये हैं अथवा जिनके द्रष्टाओं में भेद है उनमें पुनरुक्त दोष नहीं है। एक मन्त्र के यदि दो देवता हैं और पद एक से हैं तो उसके अर्थ में श्लेष करना होगा। बिना श्लेष के एक पद दो अर्थ कदापि नहीं दे सकता। मन में एक संग दो बातों का स्फुरण नहीं होता है। इसलिए जिस ऋषि ने जिस अभिप्राय से जो मन्त्र देखा उसमें उसी अभिप्राय का वर्णन आना चाहिए, उसके विपरीत नहीं। अभिप्राय देवता के स्वरूप में मन्त्रों के ऊपर लगा ही हुआ है। इसलिए एक ऋषि-दृष्ट मन्त्र के एक समय में दो अर्थ नहीं हो सकते, एक ही हो सकता है।[8] पं0 अखिलानंद शर्मा के इस निगमन से पता चलता है कि श्लेषालंकार वेदों की पुनरुक्ति दोष के समाधान में बहुत सहायक है। महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में न केवल श्लेषालंकार का ही, अपितु वाचकलुप्तोपमालंकार का भी बहुत अधिक प्रयोग किया है, जिसमें प्रत्यक्ष- अप्रत्यक्ष रूप में पुनरुक्तता - दोष की निवृत्ति होती है।

यद्यपि विद्वानों ने पुनरुक्तता-दोष के निवारणार्थ अनेक हेतु दिए हैं।[9] तथापि प्रकरण, विनियोग, विशेषण, शब्दों की यौगिकता और छन्दोभेद आदि कुछ ऐसे हेतु हैं, जो वैदिक पुनरुक्तियों को साभिप्राय सिद्ध करते हैं। इनसे वैदिक भाषा की उत्कृष्टता का बोध होता है। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम सम्मुलास में ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि वेद के अग्नि और विद्युत् आदि के अर्थ करने में प्रकरण और विशेषण सहायक होते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए न केवल पुनरुक्त पदों के ही अपितु पुनरुक्त मन्त्रों के भी स्वामी दयानन्द ने प्रसंग या प्रकरण और विशेषण के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ किए हैं। इस निबन्ध में पद, पाद, अर्धर्च को छोड़कर, हम केवल कतिपय पुनरुक्त मन्त्रों का ही समाधान करने का प्रयास करेंगे। पुनरुक्त याजुष् मन्त्रों की साभिप्रायता का सिद्ध होना परमाश्वयक है, अत: यहाँ केवल उन्हीं की सोद्देश्यता सिद्ध करेंगे।

देव सवित: प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय
दिव्यो गन्धर्व: केतपू: केतं न: पुनातु
वाचस्पतिर्वाचं न: स्वदतु॥

-यजु0 9.1, 11.7, 30.1

इन्द्राबृहस्पती, सविता, स्वराडार्षी त्रिष्टुप्, धैवत: - (9.1)
प्रजापति:, सविता आर्षी त्रिष्टुप्, धैवत: - (11.7)
नारायण:, सविता आर्षी त्रिष्टुप्, धैवत: - (30.1)

उपर्युक्त मन्त्र में तीनों स्थानों पर ऋषि पृथक्-पृथक् हैं। देवता तीनों स्थलों पर सविता है। यह मन्त्र जब यजुर्वेद (9.1) में आया है तो वहाँ 'राजसूय प्रकरण'[10] होने के कारण 'सविता' आदि देवता पदों को सम्राट् परक मानकर मन्त्र का राजनीति से सम्बन्धित अर्थ किया गया है। यही मन्त्र यजुर्वेद (11.7) में जब योग के प्रकरण में आया है तो वहाँ इसकी परमेश्वरपरक व्याख्या की गयी है। यही मन्त्र जब यजुर्वेद (30.1) में आया है, तो वहाँ पुरुषमेध[11] का प्रकरण होने से इसकी तत्सम्बन्धी व्याख्या की गयी है।[12] पुरुषमेध का अर्थ मनुष्यों का परस्पर

मेल मिलाप करना, परस्पर संगति करना, परस्पर जानना, परस्पर का प्रेम बढ़ाना, ऐक्यभाव बढ़ाकर परस्पर की उन्नति करने के लिए एक-दूसरे का सहाय्य करना है। यह पुरुषमेध का मूल आशय है। इस आशय की पूर्ति करने के लिए जिन-जिन अनेक साधनों की आवश्यकता है, उनका वर्णन 30वें अध्याय के **'देव सवित:'** आदि मन्त्रों में हुआ है। उन्नति चाहने वाले मनुष्यों के अन्दर जिन-जिन गुणों का विकास होने की आवश्यकता है उन-उन गुणों का उल्लेख प्रस्तुत मन्त्र 'देव सवित:' 30.1 में है। वे गुण इस प्रकार हैं -

1. सत्कर्म की प्रेरणा 2. सत्कर्म का संरक्षण 3. ज्ञान से पवित्रता और 4. वाणी का माधुर्य।

ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का देवयज्ञ की जलप्रसेचन विधि में भी विनियोग किया है। 9.1 में 'स्वाहा' पद अधिक पठित है।

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्। अपां रेतांसि जिन्वति॥

- 3.12, 13.14, 15.20

इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि, पाद 13.14 में अधिक है।

विरूप:, अग्नि:, निचृद् गायत्री, षड्ज: - (3.12)

वामदेव:, अग्नि:, भूरिगनुष्टुप् गान्धार: - (13.14)

परमेष्ठी, अग्नि:, निचृद् गायत्री, षड्ज: - (15.20)

उपर्युक्त मन्त्र यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता में तीन बार पुनरावृत्त हुआ है। तीनों मन्त्रों के अर्थद्रष्टा ऋषि विरूप, वामदेव और परमेष्ठी पृथक्-पृथक् हैं। द्वितीय बार 15 वें अध्याय में 'इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि' पाद अधिक होने से इसमें भुरिगनुष्टुप् छन्द है, शेष दोनों स्थलों पर निचृद्गायत्री छन्द है। तीनों स्थलों पर इस मन्त्र का देवता 'अग्नि' है।

उव्वट , महीधर आदि वैनियोक्ता भाष्यकारों ने कात्यायनश्रौतसूत्र के आधार पर उक्त मन्त्र को क्रमश: आधानाग्न्युपस्थानचातुर्मास्य, चितिपुस्करपर्णाद्युपधान और पञ्चमाचिति प्रकरण में विनियुक्त किया है। आधानाग्न्युपस्थानचातुर्मास्य, चितिपुष्करपर्णाद्युपधान और पञ्चमाचिति प्रकरण में विनियुक्त किया है। आधानाग्न्युपस्थानचातुर्मास्य आदि प्रकरण में अग्निहोत्र होम के अन्तर्गत आहवनीय आदि वेदिस्थ अग्नि का गुणकीर्तन किया गया है। चितिपुस्करपर्णाद्युपधान नामक दूसरे प्रकरण में गूलर की स्रुवा को दही से भरकर रखना होता है। रखकर यजमान कहता है- हे औदुम्बरी स्रुवे! मैं तुम्हें इन्द्र के ओज के साथ यहाँ स्थापित करता हूँ (इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि)।[13]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उक्त एक ही मन्त्र के तीन स्थलों पर प्रयुक्त होने पर इसका श्लेष एवं वाचकलुप्तोपमालंकार आदि से अलग-अलग तात्पर्यार्थ किया है। जब यह मन्त्र यजुर्वेद (3.12) में आया तो ऋषि दयानन्द ने अग्नि देवता के श्लेषालङ्कार से परमात्मा और भौतिक अग्नि दोनों अर्थ किये। ऋषि ने अन्वय और भावार्थ दोनों में दो-दो अर्थ दिये हैं। अन्वय भी तत्सम्बन्धी दो किये हैं। प्रथम अन्वय आध्यात्मिक अर्थ में है, दूसरा आधि याज्ञिक तथा आधिदैविक अर्थो में है। ऋषि दयानन्द के ही शब्दों में - जो जगदीश्वर प्रकाश वा अप्रकाशरूप दो प्रकार के जगत् अर्थात् प्रकाशवान् सूर्य आदि और प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोकों को रचकर पालन करके

प्राणों में बल को धारण करता है, तथा जो भौतिक अग्नि पृथिवी आदि जगत् के पालन हेतु होकर बिजली जाठर आदि रूप से प्राण वा जलों के वीर्यों को उत्पन्न करता है, वह सुखों को सिद्ध करनेवाला होता है।' इस तरह अध्यात्म, अधियज्ञ और अधिदैवत पक्ष में इस मन्त्र का तात्पर्य देखा जा सकता है। यजुर्वेद 5.20 में ऋतुओं के प्रसंग में हेमन्त ऋतु के विषय में ऋषि ने इस मन्त्र का व्याख्यान (भाष्य) किया है। यजुर्वेद 13.14 में यह मन्त्र राजप्रकरण में स्वामी दयानन्द ने व्याख्यात किया है। यहाँ पर अग्नि आदि पद का अर्थ वाचकलुप्तोपमा से सूर्य के समान गुण, कर्म और स्वभाव वाला धर्मात्मा व्यक्ति राज्याधिकारी किया है। 13वें अध्याय में पठित इस मन्त्र में छन्दोभेद है। छन्दोभेद होने से वैसे ही पुनरुक्त-दोष का परिहार हो जाता है। विदित हो कि अनुष्टुप् में चार और गायत्री में तीन चरण होते हैं। इस दृष्टि से और अलग-अलग प्रकरण में विनियुक्त होने से, प्रकरणानुसार भिन्नार्थ होने से इस मन्त्र में पुनरुक्ति-दोष नहीं माना जा सकता। अपितु इन स्थलों पर मन्त्रार्थ-सौन्दर्य के दर्शन होते हैं एवं यहाँ पर पुनरुक्ति विशिष्ट अभिप्राय से है, जिसको दोष किसी भी प्रकार नहीं माना जा सकता।

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम्॥

- 12.79, 35.4

भिषक्, वैद्यः, अनुष्टुप्, गान्धारः - (12.79)

आदित्या देवाः, वायुसवितारौ, अनुष्टुप् गान्धारः - (35.4)

प्रस्तुत मन्त्र यजुर्वेद के 12वें और 35 वें अध्याय में पठित है। दोनों स्थलों पर देवताभेद होने से इनका अर्थ पृथक्-पृथक् है। 12वें अध्याय में इसका देवता **वैद्यः** है, यह ओषधि-सूक्त के अन्तर्गत होने से इसका औषधिपरक अर्थ है। 35वें अध्याय में इसका देवता **वायु-सवितारौ** है। स्वामी दयानन्द ने 'वायुसवितारौ' का अर्थ 'जीवात्मा-परमात्मा' किया है। इस प्रकार इस मन्त्र का अर्थ आध्यात्मिक होता है। दोनों स्थलों पर प्रकरणभेद-देवताभेद से एक विशिष्ट अभिप्रायवाला अर्थ ज्ञात होता है। मन्त्रार्थ को समझने के लिए ऋषि, छन्द और देवता का ज्ञान होना परमावश्यक है। जैसा कि कहा भी है- **'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोऽधीते याजयति वा जीर्यते वा प्रमीयते वा प्रमायुको वा यजमानः स्यात्।'** अर्थात् ऋषि, छन्द और देवता के ज्ञान के बिना यदि कोई मन्त्रोच्चारण करता है या यज्ञ करता है तो वह नष्ट हो जाता है। वह स्वयं और उसका यजमान भी मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं। इस सिद्धान्तानुसार मन्त्रार्थ को समझने के लिए ऋषि, छन्द आदि का ज्ञान आवश्यक है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋषि की जो परिभाषा दी है, उसके अनुसार ऋषि-नाम मन्त्रार्थ में सहायक नहीं होते। सत्यार्थप्रकाश समु0 7 में महर्षि दयानन्द लिखते हैं - ''जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस-जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहिले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिए अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा जाता है।'' ऋषि, देवता

आदि का भेद हो जोने से मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय और चिन्तनशैली में मौलिक भेद हो जाता है। इसलिए उक्त 'अश्वत्थे वो निषदनं0' मन्त्र का यजुर्वेद के दोनों स्थलों पर स्वर और छन्द एक होने पर भी दोनों जगहों पर ऋषिभेद तो है ही, देवता में भी भेद है। अत: तदनुसार ही अर्थभेद होने से पुनरुक्ति तो है ही, देवता में भी भेद है। अत: तदनुसार ही अर्थभेद होने से पुनरुक्ति-दोष का निराकरण हो जाता है। वैसे भी विनियोक्ता भाष्यकारों ने कात्यायन के अनुसार इस मन्त्र को अलग-अलग प्रकरणों में विनियुक्त किया है। इससे भी यहाँ पुनरुक्ति का परिहार हो जाता है। विनियोगपरक भाष्यों में यह मन्त्र क्रमश: 'उखाधारण' और 'पितृमेध' प्रकरण में विनियुक्त है। उखाधारण प्रकरण में समिदाधान के अन्त में यजमान स्वर्णनिर्मित फलकारक आभरणविशेष रुक्म को धारण करता है एवं 'अश्वत्थे वो0' इस मन्त्र को बोलकर चमस् से हल द्वारा निकाले गये चार-चार कूण्डो या खड़ो (Furrows) में सर्वौषधि डालता है। पितृमेध प्रकरण में इस मन्त्र से हल द्वारा निकाले गये खूड़ (Furrow) में मृत की अस्थियों 'फूलों' को रखा जाता है। ग्रिफिथ ने भी इसके बारे में इस प्रकार लिखा है -

'This book is connected with pitriyajna or sacrifice to the fathers or Ancestral mans containing chiefly formulas to be used at furnal ceremonies.'

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सँ सृजेथामयं च। अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥

- यजु0 15.54, 18.61

परमेष्ठी, अग्निः, आर्षी त्रिष्टुप्, धैवतः - (15.54)

गालवः, प्रजापतिः, आर्षी त्रिष्टुप्, धैवतः - (18.61)

प्रस्तुत मन्त्र में छन्द और स्वर में तो समानता है, परन्तु ऋषि और देवता नामों में भेद है। पहले में 'अग्नि' और दूसरे में 'प्रजापति' देवता है। स्पष्ट है कि देवता आदि भेद होने से इनका अर्थ भी भिन्न होगा। महीधर आदि के कर्मकाण्डपरक भाष्यों में 'कात्यायन श्रौ0 सू0' के अनुसार यह मन्त्र क्रमश: पाँचवीं चित्ति के मन्त्रों और वसोर्धारा आदि के मन्त्रप्रकरणों में विनियुक्त है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस मन्त्र का विनियोग 'देवयज्ञ' के अग्न्याधान में किया है। यजुर्वेद के 15वें अध्याय में स्वामी दयानन्द ने विवाहोपरान्त स्त्री-पुरुष के करणीय कामों में इस मन्त्र का विनियोग कर अग्नि का अर्थ अच्छी विद्या से प्रकाशित स्त्री वा पुरुष कर तदनुरूप ही अर्थ किया है। 18 वें अध्याय में महर्षि ने इसका अधियज्ञ अर्थ किया है। महर्षि दयानन्द के अनुसार इस मन्त्र के दोनों तात्पर्यार्थ इस प्रकार हैं -

1. स्त्री-पुरुष अविद्या को छोड़ चेतनायुक्त हो इष्टापूर्त्त, अर्थात् ईश्वर की अराधना, सत्संगति आदि एवं ब्रह्मचर्य, विद्या की शोभा आदि को सिद्ध किया करें। (15.54)

2. पढ़ानेवाला और पढ़नेवाले निरन्तर विद्याओं की बढ़ती करें। (18.61)

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै। सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ - यजु0 35.12, 36.23, 38.23

आदित्या देवाः, आपः, निचृदनुष्टुप् गान्धारः - (35.12)

दध्यङ्.ङाथर्वण:, सोम:, विराडनुष्टुप्, गान्धार: - (36.23)
दीर्घतमा:, आप:, निचृदनुष्टुप्, गान्धार: - (38.23)

प्रस्तुत मन्त्रों में दो स्थलों पर देवता 'आप:' है और एक स्थान पर 'सोम' है। यहाँ भी सोम 'आप:' के ही अर्थ में है। तीनों स्थलों पर ऋषि पृथक्-पृथक् है। अत: ऋषिदेवताछन्दोभेदात् इस मन्त्र में पुनरुक्तता दोष का निराकरण स्वयं हो जाता है। वैनियोक्ता भाष्यकारों ने **'चात्वाले मार्जयन्ते सपत्नीका: सुमित्रिया न इति'** (का0 26.7.37) आदि के आधार पर स्नान या चात्वाल में हाथ-पैर धोने आदि में इस मन्त्र का विनियोग किया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तीनों स्थलों पर पदार्थ तो किञ्चिद् अन्तर के साथ एक-सा ही दिया है, परन्तु भावार्थ अलग-अलग किये हैं। जो कि इस प्रकार हैं -

(1) जो राग, द्वेष, आदि दोषों को छोड़कर सब में अपने आत्मा के तुल्य वर्ताव करते हैं उन धर्मात्माओं के लिए जल, ओषधि आदि पदार्थ सुखकर होते हैं। और केवल अपने आत्मा के पोषक, दूसरे से द्वेष करने वाले अधर्मात्माओं के लिए ये सब दु:खकारी होते हैं। मनुष्य धर्मात्माओं के साथ प्रीति और दुष्ट आत्माओं के साथ अप्रीति सदा करें, परन्तु उनका अन्त:करण से कल्याण चाहें। (35.12)।

(2) जैसे जीती हुई अनुकूल इन्द्रियाँ मित्र के तुल्य हितकारी होती हैं, वैसे जलादि भी पदार्थ देश, काल की अनुकूलता से यथोचित सेवन किए हुए हितकारी होते हैं, विरुद्ध सेवन किये हुए शत्रु के तुल्य दु:खदायक होते हैं (36.23)

(3) जो मनुष्य अन्यों के सुपथ्य, औषधि, प्राणों के तुल्य रोग और दु:खों का निवारण करने वाले हैं, वे धन्य हैं और जो कुपथ्य, दुष्ट, औषध तथा मृत्यु के तुल्य अन्यों को दु:ख देने वाले हैं, उन्हें बार-बार धिक्कार है (38.23)

उपर्युक्त तीनों व्याख्यानों में महर्षि दयानन्द ने 'आप:' व 'सोम' के अर्थ 'जलौषध्यादि पदार्थ' और प्राण किये हैं, जो कि ब्राह्मणग्रन्थों के निम्न अर्थो से सर्वथा मिलते हैं -

(1) अभ्दिर्वाऽइदं सर्वमाप्तम्। श0 1.1.1.14
(2) आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास। श0 11.1.6.1
(3) सौम्या हि आप:। ऐ0 1.7
(4) प्राणा वा आप:। तै0 3.2.5-2, तां0 9.9.4
(5) आपो वै प्राणा:। श0 3.8.2.4
(6) प्राणो हि आप:। जै0 उ0 3.10.9
(7) आपो ह वाऽओषधीनां रस:। श0 3.6.1.7
(8) रसो वाऽआप:। श0 3.3.3.18
(9) अन्नं वाऽआप:। श 2.1.1.3, तै0 3.8.2.1
(10) अन्नमाप:। कौ0 12.3.8

पं0 सातवलेकर ने 36वें अध्याय में इस मन्त्र की व्याख्या समाजपरक की है। वहाँ इस मन्त्र में न: = हम (अस्मत्) शब्द आस्तिक, धर्मात्मा, सदाचारियों के लिए आया है, और 'य: = जो शब्द अधार्मिक, दुष्ट, फिसादी, दस्यु के लिए आया है, अर्थात् पं0 सातवलेकर के अनुसार उक्त मन्त्र का भाव यह हुआ कि एक दुष्ट मनुष्य हम सब धर्मात्माओं से द्वेष करता है, इसलिए हम सब धार्मिक पुरुष उस दुष्ट से द्वेष करते हैं। इसलिए उसका अहित होवे।

स्वामी दयानन्द ने 'संस्कार विधि' में सीमन्तोन्नयन संस्कार में इसका विनियोग किया है।

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम॥

- यजु0 5.36, 7.43, 40.16

अगस्त्यः, अग्निः, निचृदार्ची त्रिष्टुप्, धैवतः - (5.36)

आङ्गिरसः, अन्तर्यामी जगदीश्वरः, भूरिगार्षी त्रिष्टुप्, धैवतः - (7.43)

दीर्घतमाः, आत्मा, निचृत् त्रिष्टुप्, धैवतः - (40.16)

प्रसंग या प्रकरणभेद से पुनरावृत्त यह मन्त्र यजुर्वेद के उक्त तीनों स्थानों पर आता है। तीनों जगह देवता और ऋषि भिन्न-भिन्न हैं। अतः यह मन्त्र-पुनरुक्ति दोषावह नहीं है। उव्वट और महीधर ने जहाँ इस मन्त्र का विनियोग वाचन और आग्नीध्र में किया है, वहीं 40वें अध्याय में इसको योगमार्ग से सम्बन्धित माना है, क्योंकि चालीसवें अध्याय का सम्बन्ध ज्ञानकाण्ड के साथ है। व्याख्यान में पुनरुक्ति दोष न माना जाये अतएव दोनों वैनियोक्ता भाष्यकारों ने लिखा - **'व्याख्याताया: पुनर्वचनं विशेषार्थम्',** अर्थात् व्याख्या करने वाला इसका पुनर्व्याख्यान विशेष अर्थ को प्रकट करने के लिए करता है, विशिष्ट अभिप्राय या तात्पर्य को उद्घाटित करने के लिए करता है। स्वामी दयानन्द ने भी इस मन्त्र के अलग-अलग अभिप्राय प्रदर्शित किये हैं। यजुर्वेद 5.36 में ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है -''हे (अग्ने) सबको अच्छे मार्ग में पहुँचाने (देव) और सब आनन्दों को देनेवाले (विद्वान्) समस्त विद्यान्वित जगदीश्वर! आप कृपा से मोक्षरूप उत्तम धन के लिए (सुपथा) जैसे धार्मिक जन उत्तम मार्ग से (विश्वानि)समस्त (वयुनानि) उत्तम कर्म विज्ञान वा प्रज्ञा को प्राप्त होते हैं, वैसे (अस्मान्) हम लोगों को (नय)प्राप्त कीजिए और (जुहुराणम्) कुटिल (एनः) दुःखफलरूपी पाप को (अस्मत्) हम लोगों से (युयोधि) दूर कीजिए। हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) अत्यन्त (नम उक्तिम्) नमस्कार रूप वाणी को विधेम कहते है।'' स्वामी जी ने इस मन्त्र का मुख्य तात्पर्य मोक्ष प्राप्त करके आनन्दस्वरूप परमात्मा के सान्निध्य में उनसे मिलने वाले आनन्दोपभोग की प्राप्ति की प्रार्थना, याचना बतलाया है। यजु0 7.43 में इस मन्त्र में इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है- ''हे सबके अन्तःकरण में प्रकाश करने वाले परमेश्वर! आप सत्य विद्या धर्म योगयुक्त मार्ग से योग की सिद्धि के लिए हम लोगों को समस्त योग के विज्ञानों को पहुँचाइए, जिससे हम लोग अपनी सत्यवाणी से आपकी बहुत नमस्कारपूर्वक स्तुति को करें। हे योग विद्या को देनेवाले ईश्वर! समस्त योग के गुण और क्रियाओं को जाननेवाले आप कृपा करके हम लोगों के अन्तःकरण के कुटिलतारूप दुष्ट कर्मों को योगानुष्ठान करने वाले हम लोगों से दूर कर दीजिए।''

इस मन्त्र का मुख्य तात्पर्य ऋषि ने मन्त्र के भाष्य में परमात्मा से योग विद्या और उससे मिलनेवाले बल और शक्ति की प्रार्थना बताया है। यजुर्वेद 40.16 में इस मन्त्र का भाष्य यह किया है- ''हे दिव्यस्वरूप प्रकाशस्वरूप करुणामय जगदीश्वर! जिससे हम लोग आपके लिए अधिकतम सत्कारपूर्वक प्रसंशा का सेवन करें, इससे सबको जाननेवाले आप लोगों से

कुटिलतारूप पापाचरण को पृथक् कीजिए, हम जीवों को विज्ञान, धन व धन से होनेवाले सुख के लिए धर्मानुकूल मार्ग से समस्त प्रशस्त ज्ञानों को प्राप्त कीजिए।'' यहाँ मन्त्र का मुख्य तात्पर्य ऋषि दयानन्द ने मन्त्र के भाष्य में प्रकाशस्वरूप और सर्वज्ञ परमात्मा से ज्ञान, विज्ञान, धन एवं इनसे मिलने वाले सुख की याचना बताया है।

मन्त्र और उसकी पदावली एक रहते हुए भी उसका तात्पर्यार्थ प्रकरणभेद से भिन्न-भिन्न हो गया है, और इस प्रकार मन्त्र एक रहते हुए भी एक प्रकार से तीन मन्त्र बन गये हैं। इस मन्त्र को स्वामी दयानन्द जी ने 'ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाप्रकरण' में भी विनियुक्त किया है।

इस तरह सम्पूर्ण यजुर्वेद में पुनरुक्त मन्त्रों के प्रसंग या प्रकरण-भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ कर पुनरुक्ति-दोष का परिहार किया जा सकता है।

पाद-टिप्पणियाँ

1. पाश्चात्त्य विद्वानों ने, विशेषकर ग्रिफिथ आदि ने उन-उन मन्त्रों की जो कि पूर्व में पठित हो चुके हैं, व्याख्याओं में, टिप्पणियों में उनके बारे में लिखा है कि ये तत् तत् स्थलों से लिए गये हैं। ऐसे सैकड़ों स्थल ग्रिफिथ के भाष्य में देखे जा सकते हैं। जैसे कि यजु0 35.4 की टिप्पणी में ग्रिफिथ ने लिखा - The formula taken from Rigveda 8.78.5 is repeated from vii.79.
2. देखो, नागप्रकाशक नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'यजुर्वेद संहिता' (मन्त्रानुक्रमण्या संहिता), पृ0 151-167।
3. . देखो, यजुर्वेद संहिता 20.21, 27.10, 35.14, 38. 24, 7.41, 8.41, 33.31, 10.20, 23.65, 23.3, 25. 11, 13.14, 23.7, 25.20।
4. न हि प्रयोजनमभिसन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते।
5. देखो, बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे (6.1.1)।
6. व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्।
7. देखो, जैसे- दिवेदिवे (यजु0 उ0 22), विशेविशे (यजु0 3.15), शंयोः शंयो (यजु0 3.43)।
8. पं0 अखिलानन्द शर्मा, वेदत्रयीसमालोचनम्, हिन्दी यन्त्रलय प्रयाग, संवत् 1972, पृ0 17।
9. देखो, डॉ0 दिनेशचन्द्र शास्त्री कर लेख 'वेदों में पुनरुक्ति', गुरुकुल पत्रिका विशेषांक (अन्तराष्ट्रीय-वेद-वेदाङग-विद्वन्महा सम्मेलनम्) नवम्बर 2006, फरवरी 2007, पृ0 185
10. The Rajsuya inauguration or consecention of a king (Griffith).
11. Perfection of man for spiritual and wordly advancement. (Devichand, the Yajurveda, P-296)

Puru ......here significe the inition or sanstera for individuals into various suitable professions or jobs, in other words it reflects the various types of occupations the individuals choice in a society. This intions or sankar of various indivisuals into various jobs of professions was done according to their aptitude and personality traits. For instance, for priesthood, the persons of brahmana nature i.e persons embodying personality traits of Brahmana were initiated. All the proceeting stanzas give a vivid descriptions of jobs and professions and their personality types.

परिमल प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित ग्रिफिथ भाष्य पर पाद-टिप्पणी।

12. देखो, सातवेलकर कृत हिन्दी भाष्य।
13. I settle you with great strength of indra (Griffith).

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (23-30) July-Dec. 2011

वैदिक संहिताओं के सन्दर्भ में प्रक्षेप और पुनरुक्ति

पं. रघुनन्दन शर्मा, वैदिक सम्पत्ति (1931) के लेखक
कानपुर (उत्तर प्रदेश) भारत

जहाँ तक हमको ज्ञात है, अब तक एक भी प्रमाण इस प्रकार का नहीं उपस्थित किया गया कि अमुक स्थल प्रक्षिप्त है और इसको आज तक कोई नहीं जानता था। जिन स्थानों को प्रक्षिप्त बतलाया जाता है, वे बहुत दिन से- ब्राह्मणकाल से- सबको ज्ञात हैं। वे प्रक्षिप्त नहीं हैं, किन्तु एक प्रकार के परिशिष्ट हैं, जो लेखकों और प्रेसवालों की असावधानी से मूल में घुस कर मूल जैसे मालूम होते हैं। बालखिल्य सूक्त ऋग्वेद में, खिल अर्थात् ब्राह्मण भाग यजुर्वेद में, आरण्यक और महानाम्नी सूक्त सामवेद में और कुन्तापसूक्त अथर्ववेद में मिले हुए है। इनको सब लोग जानते हैं और सबके विषय में विस्तृत प्रमाण उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ स्थल यजुर्वेद और अथर्ववेद में और हैं जिनकी सूचना उन्हीं वाक्यों से हो जाती है कि वे प्रक्षिप्त हैं। कहने का मतलब यह है कि जिस प्रकार शाखाओं का गड़बड़ सबको ज्ञात है और शुद्ध वैदिक शाखाएँ उपलब्ध हैं, उसी तरह प्रक्षिप्त भाग का भी ज्ञान सबको है और उसको हटाकर शुद्ध संहिताओं के रूप को सब जानते हैं। ऋग्वेद के बालखिल्य सूक्तों के लिए ऐतरेय ब्रा0 28/8 में लिखा है कि **'वज्रेण वालखिल्याभिर्वाव: कूटेन'**। इसके भाष्य में सायणाचार्य कहते हैं कि **'बालखिल्यनामका: केचन महर्षय: तेषां सम्बन्धीन्यष्टौ सूक्तानि विद्यन्ते तानि बालखिल्यनामके ग्रंथे समाम्नायन्ते'** अर्थात् बालखिल्य नाम के कोई महर्षि थे। उनसे सम्बन्ध रखने वाले आठ सूक्त हैं। वे खिल्य नाम के ग्रंथ में लिखे गए हैं। इस वर्णन से मालूम हुआ कि बालखिल्य सूक्तों की अलग पुस्तक थी। वही पुस्तक ऋग्वेद के परिशिष्ट में आ गई और अब तक 'अथ बालखिल्य' और 'इति बालखिल्य' के साथ ऋग्वेद में ही सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त अनुवाकानुक्रमणी में स्पष्ट लिखा हुआ है कि **'सहस्रमेतत्सूक्तानां निश्चितं खैलिकैर्विना'** अर्थात् खिल भाग को छोड़कर ऋग्वेद के एक सहस्र सूक्त निश्चित हैं। यहाँ बालखिल्यों को ऋग्वेद की गिनती में नहीं गिना गया। इस तरह से ऋग्वेद का खिल सबको ज्ञात है।

इसी तरह यजुर्वेद का मिश्रण भी प्रसिद्ध है। सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि **'माध्यन्दिनीये वाजसनेयके यजुर्वेदाम्नाये सर्वे सखिले सशुक्रिय ऋषिदैवतछन्दाथंस्यनुक्रमिष्याम:'** अर्थात् ऋचा, खिल और शुक्रिय मंत्रों के सहित माध्यन्दिनी यजुर्वेद के ऋषि देवता और छन्दों की अनुक्रमणी बनाता हूँ। यहाँ खिल भाग का प्रत्यक्ष इशारा है। इसके आगे अनुक्रमणी में ही लिखा हुआ है, कि **देवा यज्ञं ब्राह्मणानुवाकोविंशतिरनुष्टुभ: सोमसम्पत्'** अर्थात् यजुर्वेद 17/12 के **देवा यज्ञमतन्वत** मन्त्र से लेकर बीस अनुष्टुप् छन्द ब्राह्मणभाग है और **'अश्वस्तूपरी ब्राह्मणा ध्याय: शादंदवद्भिस्त्वचान्तश्च'** अर्थात् यजुर्वेद का चौबीसवाँ अध्याय सबका सब और 25 वें

अध्याय के आरम्भ के शांद से लेकर त्वचा तक नौ मन्त्र ब्राह्मण हैं और **ब्रह्मणो ब्राह्ममिति द्वे कण्डिके तपसे अनुवाकश्च ब्राह्मणम्'** अर्थात् यजुर्वेद अध्याय 30 के **ब्रह्मणे ब्राह्मणम्** और शेष सारा अध्याय ब्राह्मण है। परन्तु हम देखते हैं कि वाजसनेयी संहिता की मन्त्र संख्या 1900 ही है, जिसमें शुक्रिय के भी मन्त्र मिले हुए है। क्योंकि लिखा है कि-

द्वे सहस्रे शतं न्यूनं मन्त्रे वाजसनेयके।
इत्युक्तं परिसंख्यातमेतत्सर्वं सशुक्रियम्॥

अर्थात् सौ कम दो हजार मन्त्र वाजसनेय के हैं और इसी में शुक्रिय के भी सम्मिलित हैं। जब यह वाजसनेयी संहिता है, तब इसमें सब मन्त्र वाजसनेय के ही होने चाहिए, शुक्रिय के नहीं। किन्तु हम देखते हैं कि वर्तमान वाजसनेयी संहिता मन्त्रसंख्या 1975 है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि शुक्रिय के मन्त्र तो 1900 में ही घुसे हैं और शेष 75 मन्त्र कहीं बाहर से लाकर जोड़े गए हैं। हमको ब्राह्मणभाग के प्रक्षेप का पता मिल रहा है, इससे ज्ञात होता है कि यजुर्वेद का प्रक्षेप भी सब पर प्रकट है और प्रसिद्ध है।

इसी तरह सामवेद का भी खिल-भाग अर्थात् परिशिष्ट भाग प्रसिद्ध है। सभी जानते हैं कि सामवेद की महानाम्नी ऋचाएँ और आरण्यकभाग परिशिष्ट हैं। महानाम्नी ऋचाओं के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण 22/2 में लिखा है, कि **'ता ऊर्ध्वा सीम्नोऽभ्यसृजत। यदूर्ध्वा सीम्नोऽभ्यसृजत तत् सीमा अभवन् तत्सीमानां सीमात्वम्'** अर्थात् इन महानाम्नी ऋचाओं को प्रजापति ने वेद की सीमा के बाहर बनाया है। बाहर होने के कारण ही इनका नाम सीमा है। यहाँ महानाम्नी ऋचाएँ स्पष्ट रीति से ऋग्वेद की सीमा के बाहर बतलाई गई हैं। ये अब तक पूर्वाचिक के अन्त में लिखी जाती है। इसी तरह आरण्यकभाग भी परिशिष्ट ही है। यह बात सामवेदसंहिता के देखने मात्र से स्पष्ट हो जाती है। सामवेदसंहिता के दो विभाग हैं। एक का नाम पूर्वार्चिक है और दूसरे का उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक में छः प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक के पूर्वार्ध उत्तरार्ध दो-दो विभाग हैं। यह क्रम पाँच प्रपाठकों में एक ही समान है, परन्तु छठे प्रपाठक में जहाँ यह आरण्यकखण्ड जुड़ा हुआ है, उसमें तीन विभाग छपे हुए हैं। यह तीसरा विभाग ही आरण्यक है। इसको सायणाचार्य ने भी परिशिष्ट ही कहा है और क्रम के देखने से भी परिशिष्ट ही ज्ञात होता है, इसलिए इसके खिल होने में सन्देह नहीं है।

जिस प्रकार इन तीनों वेदों का खैलिक भाग प्रसिद्ध है, उसी तरह अथर्ववेद का कुन्ताप सूक्त भी खिल के ही नाम से प्रसिद्ध है। अजमेर की छपी हुई संहिता में जिस प्रकार ऋग्वेद का खिलभाग, 'अथ बालखिल्य' और 'इति बालखिल्य' लिखकर छापा गया है, उसी तरह अजमेंर की छपी हुई अथर्वसंहिता के काण्ड 20 सूक्त 126 के आगे 'अथ कुन्तापसूक्तानि' और सूक्त 137 के पहले 'इति कुन्तापसूक्तानि समाप्तानि' भी छापा हुआ है, जिससे प्रकट हो जाता है कि इतना भाग परिशिष्ट ही है। स्वामी हरिप्रसाद 'वेदसर्वस्व' पृष्ठ 97 में लिखते हैं कि 'जैसे ऋग्वेदसंहिता में बालखिल्य सूक्त मिलाये जा रहें हैं, वैसे अथर्वसंहिता के अन्त में आजकल कुन्तापसूक्त मिलाये जा रहे हैं।' इस विवरण से पाया जाता है कि कुन्तापसूक्त

भी परिशिष्ट ही है और शरु से ही सबको ज्ञात है।

इन प्रसिद्ध और सर्वमान्य परिशिष्टों के अतिरिक्त भी चारों संहिताओं में कहीं-कहीं प्रक्षिप्त भाग है, जो उसी स्थल की सूचना से स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ यजुर्वेद का निम्न मन्त्र देखने योग्य है -

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः। हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येष यस्मान्न जात इत्येषः। (यजुर्वेद 32/3)

इस मंत्र में आधा भाग तो मन्त्र का है, परन्तु आधा भाग तीन भिन्न-भिन्न स्थलों में आये हुए मन्त्रों की प्रतीकों का बतलाने वाला बाह्य वाक्य है। 'हिरण्यगर्भ' ऋग्वेद 8/7/6 में 'मा मा हिंसी' यजुर्वेद 12/172 में और 'यस्मान्न जात' यजुर्वेद 8/16 में आए हुए मन्त्रों के आरम्भिक शब्द हैं। इसलिए मूल मन्त्रों की प्रतीकों का बतलाने वाला यह भाग मूल मन्त्र का नहीं हो सकता। यह तो उक्त तीनों मन्त्रों का पता बतलाने वाला संस्कृतवाक्य है। क्योंकि सर्वानुक्रमणी 3/15 में लिखा है कि '**एताः प्रतीकचोदिता ब्रह्मयज्ञे ध्येया**' अर्थात् यह प्रतीकवाला मन्त्र ब्रह्मयज्ञ का है। प्रतीक कहने से ही यह बाहर का सूचित होता है। इसी तरह और भी बहुत से छोटे-छोटे टुकड़े अनेक मन्त्रों में मिले हैं, जिनकी सूचना उव्वट और महीधर आदि ने यजु के नाम से कर दी है। इसका उत्तम नमूना यजु 10/20 के भाष्य में दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार की बाह्य संस्कृत का नमूना अथर्ववेद में भी देखा जाता है। अथर्व काण्ड 19 सूक्त 22 और 23 में लिखा है कि -

अङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा। आथर्वणानां चतु ऋचेभ्यः स्वाहा।

अर्थात् अङ्गिरस वेद के पाँच अनुवाकों से स्वाहा और अथर्ववेद की चार ऋचाओं से स्वाहा। इन वाक्यों से प्रतीत होता है कि ये वाक्य कहीं बाहर के हैं। ऐसे वाक्य स्वयं प्रक्षिप्त होने की सूचना दे रहे हैं। कहने का मतलब यह है कि मूल वैदिकसंहिताओं में जो कुछ परिशिष्ट, खैलिक और प्रक्षिप्त भाग है, वह आदिमकाल से आज तक सब को ज्ञात है। ऐसा नहीं है कि प्रक्षिप्त भाग वेदपाठियों से छिपा हो। यदि छिपा होता, तो महाभारत में वेदों को अशुद्ध लिखकर बेचने वाले वेददूषकों का वर्णन न होता।[1] अशुद्ध लिखने वाले मूर्ख लेखकों के कारण गोपथब्राह्मण 1/29 में आज तक़ 'इषे त्वोर्जे त्वा' के स्थान में 'इखे त्वोर्जे त्वा' छप रहा है। कहने का मतलब यह है कि जिस प्रकार शाखाओं के विस्तार से मूलसंहिताओं की एक मात्रा का भी लोप नहीं हुआ और जिस प्रकार अनार्यशाखाओं की न्यूनाधिक्यता सबको प्रकट है, उसी तरह आर्यशाखाओं का प्रक्षेप भी सबको प्रकट है। अर्थात् आदिसृष्टि से लेकर आज तक चारों मूलवेद बिना किसी न्यूनाधि क्यता के ज्यों के त्यों प्राप्त हैं। हमारी मान्यता है कि शाकल ऋग्वेदसंहिता जो इस समय प्राप्त है वह आदिम कालीन है। उसके साथ रहनेवाली एक सेट में आबद्ध यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्ववेद की माध्यन्दिनीय, कौथुमी और शौनक आदि आर्यशाखाएँ भी आदिमकालीन ही हैं और यही ईश्वरप्रदत्त, अपौरुषेय हैं।

अब रही बात पुनरुक्ति की। पुनरुक्ति दो प्रकार की है- एक भाषा की दूसरी अर्थ की। बार-बार कहे हुए मंत्रों को भाषापुनरुक्ति और बार-बार एक ही भाव के कहे हुए मंत्रों

को अर्थ पुनरुक्ति कहते हैं। भाषापुनरुक्ति दो प्रकार की है- एक में ज्यों की त्यों पूरे मंत्र बार-बार आते हैं और दूसरी में जो मंत्र आते हैं, उनमें कहीं कहीं पाठभेद होता है। जो मंत्र पूरे पुनरुक्त होते हैं, उनके पुनरुक्त होने के दो कारण हैं। पहिला कारण तो यह है कि प्राय: मंत्रों के दो-दो तीन तीन भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं, इसलिए यद्यपि देखने में वही मंत्र बार-बार आया हुआ प्रतीत होता है, किन्तु वह अपने निराले अर्थ के साथ ही आता है। इसका उत्तम नमूना 'चत्वारि शृङ्गा०' आदि मंत्र है। **चत्वारि शृङ्गा** वाले मंत्रों को निरुक्तकारों ने यज्ञप्रकरण में और वैयाकरणों ने व्याकरणप्रकरण में लगाया है। दोनों प्रकार का अर्थ करनेवाले कोई साध ारण मनुष्य नहीं है, प्रत्युत यास्क और पतञ्जलि जैसे ऋषि हैं। जिनकी प्रामणिकता में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। इसी तरह **द्वासुपर्णा** वाले मन्त्र का कोई विद्वान् जीव, ब्रह्म और प्रकृति अर्थ करते हैं और कोई कोई किरण जल और सूर्य का अर्थ सूचित करते हैं।[2] इस प्रकार के नमूने निरुक्त में दिये हुए हैं। निरुक्तकार अनेक मन्त्रों का आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक - तीन प्रकार का अर्थ - करते हैं। इसलिए वेदों में जो अनेक मन्त्र अनेक बार आते हैं, उसका कारण प्राय: अर्थ की भिन्नता ही है। इस प्रकार की पुनरुक्ति आदिमकालीन ही है। पर पुनरुक्ति का दूसरा कारण, विषय प्रतिपादन और यज्ञों की सुविधा है। इस प्रकार की पुनरुक्ति के तीन भेद हैं। पहिला भेद मन्त्रों की पुनरुक्ति का है। इसमें एक ही मन्त्र भिन्न-भिन्न स्थानों में ज्यों का त्यों आता है। दूसरा भेद सूक्तपुनरुक्ति का है। इसमें पूरे सूक्त के सूक्त भिन्न भिन्न स्थानों में आते हैं। तीसरा भेद वेदपुनरुक्ति का है। इसमें एक वेद के मन्त्र और सूक्त ज्यों के त्यों दूसरे वेद में आते हैं। ये पुनरुक्तियाँ आदिम शाखाप्रवर्तकों की हुई हैं और याज्ञिक विषयों में सुविधा के लिए की गई हैं।

यह मानी हुई बात है कि संसार के समस्त विषय एक-दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं। गणित और रसायनशास्त्र यद्यपि देखने में परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते, परन्तु रसायनशास्त्री जानता है कि उसका काम बिना गणित के नहीं चल सकता। इमारत और गणित का भी कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, परन्तु बिना गणित के उसका भी काम नहीं चलता। कहने का मतलब यह कि ऐसी एक भी विद्या नहीं है, जिसमें गणित की आवश्यकता न होती हो। इसी तरह ब्रह्मचर्य का विषय है। मनुष्यजीवन की एक भी सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती, जब तक ब्रह्मचर्य का सम्मिश्रण न हो। जो हाल इन विषयों का है वही हाल राजनीति का भी है। शासन के बिना भी मनुष्य समाज का काम नहीं चल सकता। इन सबसे बढ़कर आहार है। उसके बिना तो कुछ हो ही नहीं सकता। कहने का मतलब यह कि संसार का प्रत्येक पदार्थ और संसार का प्रत्येक ज्ञान एक-दूसरे से इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि बिना एक के दूसरे का काम नहीं चल सकता।

आप किसी भी विषय का वर्णन करें, उससे सम्बन्ध रखनेवाले कई विषयों का दिग्दर्शन आप से आप ही हो जायेगा। आप जितना ही अपने विषय को समझाने की कोशिश करेंगे, आपके व्याख्यान का रूप उतना ही अधिक

विस्तृत होता जाएगा और अनेकों विषयों का दिग्दर्शन करना पड़ेगा। जो हाल एक अच्छे विषयप्रतिपादक का हो सकता है, वही हाल आदिम शाखाप्रवर्तकों का हुआ है। उन्होंने याज्ञिक विषयों में सुविधा उत्पन्न करने के लिए जिस-जिस विषय के जो मन्त्र और सूक्त जिस-जिस वेद के जिस -जिस स्थल में रखना उचित समझा है, उस-उस विषय के वे वे मन्त्र और सूक्त उस-उस वेद के उस स्थल में रक्खे हैं। जिस प्रकार पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में **बहुलं छन्दसि** सूत्र को आवश्यकतानुसार अनेक स्थानों में रक्खा है, उसी तरह वेदों में भी आवश्यकतानुसार ही पुनरुक्तियाँ रक्खी गई हैं। इस बात को सन्ध्या के नमूने से अच्छी प्रकार समझाया जा सकता है। सन्ध्या में तीन बार आचमन करने की आवश्यकता होती है। इसलिए आचमन करते समय पढ़ा जानेवाला मन्त्र सन्ध्या जैसी छोटी पुस्तक में तीन बार आया है। पुस्तक पढ़ते समय तो यह मन्त्र पुनरुक्त प्रतीत होता है, पर सन्ध्या के करते समय नहीं।

इसी तरह जिन लोगों ने वेदों का केवल पाठ ही किया है, उनकी दृष्टि में तो वेदों में पुनरुक्तियाँ दिखती हैं, परन्तु जो लोग वेदों को शिक्षा पुस्तक समझते है, जिनकी दृष्टि में वेद केवल पाठ करने की वस्तु नहीं प्रत्युत एक समाज और राष्ट्र चलाने का कानून है, वे जानते हैं कि वैदिक विद्याएँ, वैदिक समाज और वैदिक राष्ट्र यज्ञों में ओतप्रोत है, इसलिए उनमें प्रकरणवश एक बात- एक विषय- अनेक स्थलों में आना ही चाहिये। वेदों के उक्त तीनों पुनरुक्त विभाग इसी प्रकार की आवश्यकताओं के लिए आये हैं। इस बात को यजुर्वेद के भाष्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कई जगह स्वीकार किया है। यजुर्वेद 33/21 के भाष्य की टिप्पणी में आप कहते हैं कि **'तं प्रत्नथा, अयं वेनः'** यह दो प्रतीकें, पूर्व कहे अध्याय 7, मन्त्र 12-16 की, यहाँ किसी कर्मकाण्ड विशेष में बोलने के अर्थ रक्खी हैं। कहने का मतलब कि, वेदों में जो मन्त्र और सूक्त एक वेद में या एक से दूसरे में पुनरुक्त हुए हैं, वे प्रतिपादित विषय को स्पष्ट करने-यज्ञों में सुविधा उत्पन्न करने के लिए पुनरुक्त हुए हैं, बेमतलब नहीं। वेदसर्वस्व पृष्ठ 151 में स्वामी हरिप्रसाद भी कहते हैं कि इसमें सन्देह नहीं कि ऋचा मन्त्रों के उद्धृत करने से यज्ञकर्म के करनेवालों को बहुत कुछ सुविधा हुई है।' यज्ञों में सुविधा उत्पन्न करने के लिए ही तो वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है, परन्तु जब से यज्ञयाग मुचण्डों के द्वारा होहल्ला के अखाड़े बन गये तब से वेदों का सङ्कलन अस्तव्यस्त भासित होने लगा। कहने का मतलब यह है कि वेदों में इस प्रकार की पुनरुक्ति अनर्गल नहीं है, किन्तु जान बूझकर काम के लिए की गई है।

वेदों में मन्त्रांशों का पाठभेद भी पुनरुक्त कहा जाता है। एक ही प्रकार के मन्त्रों को जिनके एक दो शब्दों में पाठभेद दिखलाई पड़ता है, उनको भी लोग पुनरुक्त कहते हैं, किन्तु वे मन्त्र अपना विशेष अर्थ रखने के कारण पुनरुक्त नहीं कहला सकते। यह सभी जानते हैं कि, सृष्टिउत्पत्ति का विषय बहुत ही अच्छी तरह पुरुषसूक्त में समझाया गया है, इसलिए वह प्रकरणवश आवश्यकतानुसार चारों वेदों में आया है। उसके कई मन्त्रों में पाठभेद हैं। नमूने के लिए हम यहाँ दो पाठभेद उपस्थित

करते हैं -

1. **सहस्रशीर्षा पुरुषः।** ऋग्वेद
   सहस्रबाहुः पुरुषः। अथर्ववेद
2. **ऊरू तदस्य यद्वैश्यः।** यजुर्वेद
   मध्यं तदस्य यद्वैश्यः। अथर्ववेद

जहाँ ऋग्वेद में शीर्ष शब्द है, वहाँ अथर्ववेद में बाहु शब्द है और जहाँ यजुर्वेद में ऊरू शब्द है, वहाँ अथर्ववेद में मध्यं शब्द हैं। पहिला ऋग्वेद और अथर्ववेद का पाठभेद है। ऋग्वेद एक पुरुष का वर्णन करता है और कहता है कि **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'** अर्थात् एक पुरुष है, जिसके हजारों शिर हैं, हजारों आँखें हैं और हजारों पैर हैं। इसमें शिर से पैर तक सारे शरीर का ढ़ाँचा बतलाया है और आँखों का भी वर्णन कर दिया है। अब आप इस प्रकार का एक पुतला बनावें, जिसमें शिर हो, और पैर भी लगे हों गौर से देखें कि कर्मप्रधान हाथ नहीं है। अथर्ववेद का मन्त्र इसी कमी को पूरा करता है। अथर्ववेद कहता है कि **'सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'** अर्थात् एक पुरुष है, जिसके हजारों हाथ हैं, हजारों आँखें हैं और हजारों पैर हैं। आप इसका भी एक पुतला बनावें और देखें कि इस पुतले के पास उस पुतले की एक चीज नहीं है और एक चीज अधिक है - सिर नहीं है और हाथ है, अर्थात् शिर नहीं है, परन्तु कर्मप्रधान हाथ हैं, अतः जब तक दोनों एक में न मिलें पूर्णता नहीं हो सकती। क्योंकि अकेला ऋग्वेद बिना अथर्व के- अकेला ज्ञान बिना कर्म के- अपूर्ण है। इस साहित्यिक छायावाद काव्य के द्वारा वेदों ने कैसी अच्छी शिक्षा दी है। यदि इन दोनों मन्त्रों में से एक को भी पुनरुक्त मान लिया जाय, तो जो कमी रहेगी उसकी पूर्ति कैसे हो सकेगी ? इसलिए इनमें से कोई भी पुनरुक्त नहीं हैं, किन्तु परमात्मा की ओर से पाठभेद करके किन्हीं विशेष भावों को सूचित कराने के लिए दोनों मन्त्रों का प्रकाश किया गया है।

इसी तरह का एक गंभीर, सामाजिक और वैज्ञानिक प्रकाश दूसरे नम्बर के पाठभेद में डाला गया है। यजुर्वेद में है कि **'ऊरू तदस्य यद्वैश्यः'** अर्थात् उसकी ऊरू वैश्य है। वैश्य दो काम करता है- एक तो इधर-उधर आता जाता है, दूसरे पदार्थो को यथायोग्य आवश्यकतानुसार पहुँचाता है। यदि वैश्य केवल इधर-उधर दौड़ता ही है और पदार्थों को साथ नहीं ले जाता, तो उसका दौड़ना व्यर्थ है। ऊपर जो यजुर्वेद का पाठ दिया गया है, उसमें वैश्य के लिये ऊरू पद आया है। ऊरू शब्द जाँघों का वाचक है। जाँघों के ही बल से मनुष्य इधर से ऊधर जाता है। परन्तु आवश्यकतानुसार कुछ लेकर ही इधर-उधर जाता है, यह बात केवल जाँघों से सूचित नहीं होती। क्योंकि जाँघों में यथायोग्य ले जानेवाले भाव का दिखानेवाला कोई पदार्थ नहीं है। दूसरी दिक्कत इस उपमा में यह है कि शूद्र के लिए भी **'पद्भ्याꣳशूद्रो अजायत'** कहा गया है। जंघा और पाद एक ही अंग के दो भाग हैं। परन्तु वैश्य और शूद्र एक ही वर्ण के भाग नहीं है, इसलिए वैश्यवर्ण का पूरा बोध ऊरू पद से नहीं होता। इसी कमी को पूरा करने के लिए अथर्ववेद में **'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः'** कहा गया है। शरीर का मध्य पेट है। पेट में आवश्यकतानुसार यथायोग्य पदार्थ पहुँचाने की योग्यता है। वही शरीर में यथायोग्य पोषण

पहुँचाता है। इसलिए यजुर्वेद ऊरू के द्वारा वैश्य का गमनागमन बतलाता है और अथर्ववेद मध्यं शब्द के द्वारा आवश्यकतानुसार यथायोग्य पदार्थों को पहुँचाना बतलाता है। इसके साथ ही साथ मध्यभाग कहकर शूद्रवर्ण से जुदा भी करता है।

परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि बिना जाँघों की सहायता के भी पदार्थ पहुँचाये नहीं जा सकते। जाँघें पैरों से मिली हुई हैं। इसलिए बिना शूद्रों की मदद के, बिना मजदूर दल को साथ लिए, व्यापार भी नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य यजुर्वेद और अथर्ववेद की संयुक्त शिक्षा का पालन न करे जब तक वैश्यवर्ण पेट से लेटकर जाँघों तक के गुणों को अख्तियार न करें- तब तक कल्याण नहीं हो सकता। इस प्रकार से इन दोनों उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट हो गया कि जिन मन्त्रों में पाठभेद पाया जाता है, उस भेद का कारण अर्थ की विशेषता ही है। क्योंकि प्रत्येक शब्द अपना कुछ अलग अर्थ रखता है और पाठभेद होता ही है, इसलिए पाठभेदवाले मन्त्र पुनरुक्त ही हैं, प्रत्युत वे विशेष आवश्यक उपदेश के लिए ही कहे गये हैं।

यहाँ तक भाषापुनरुक्ति का वर्णन हुआ, अब अर्थपुनरुक्ति पर विचार करते हैं। अर्थपुनरुक्ति का तात्पर्य इतना ही है कि यदि शब्द दूसरे हों अर्थात् मंत्र दूसरे हों और उनका अर्थ एक ही हो तो वह भी पुनरुक्ति ही है। यद्यपि ऊपर के देखने से यह बात सत्य मालूम होती है, परन्तु वास्तव में पाठभेद के समान ही यह शङ्का भी कुछ मूल्य नहीं रखती। क्योंकि जितने मंत्र एक ही प्रकार का भव व्यक्त करने के लिए आते हैं, उनमें शब्दों का भेद होता ही है, और शब्द अपना धातुज अर्थ रखते ही हैं, इसलिए एक ही प्रकार के अर्थ में भी भावान्तर हो जाता है। इस भावान्तर का एक नूमना यहाँ उद्धृत करते हैं -

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कुणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥ (अथर्ववेद 19/62/1)

रुचं नो देहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्। (यजुर्वेद 18/48)

अर्थात् हे परमेश्वर! मुझको ब्राह्मणों में प्रिय कीजिये, क्षत्रियों में प्रिय कीजिये और वैश्य तथा शूद्र आदि सब में प्रिय कीजिए। हे परमेश्वर! हमारी ब्राह्मणों में रुचि हो, क्षत्रियों में रुचि हो और वैश्यों तथा शूद्रादि सब में रुचि हो। इन दोनों मन्त्रों में एक ही भाव है। पहिले में सब लोगों में प्रिय होने की प्रार्थना है और दूसरे में सब लोगों में रुचि रखने की प्रार्थना है, परन्तु दोनों बिना एक-दूसरे के अधूरे हैं। अथर्ववेद का मन्त्र कहता है कि मुझको सबमें प्रिय कीजिये। सबमें प्रिय वही हो सकता है, जो सबको प्रिय समझता हो, परन्तु मंत्र में यह भाव नहीं है। मंत्र में इतना ही है कि मुझे सब प्यार करें, किन्तु यह नहीं है कि मैं सबको प्यार करुँ और सब मुझे प्यार करें। जब तक परस्पर एक-दूसरे के प्यार करने की विधि न हो तब तक प्यार की विध पूर्ण नहीं हो सकती। पर वेद पूर्ण शिक्षा देते हैं, इसलिए यजुर्वेद में कहा गया है कि मेरी रुचि सबमें हो। दोनों मन्त्रों का यह भाव हुआ कि मेरी सबमें रुचि हो और सब मुझे प्यार करें। इस तरह से एक ही भाव के मन्त्रों में भी शब्दभेद के कारण भावान्तर विद्यमा

है और यह भावान्तर बहुत बड़ी कमी को पूरा कर रहा है।

यहाँ तक हमने चार प्रकार की पुनरुक्तियों का विस्तृत वर्णन करके दिखलाया कि ये पुनरुक्तियाँ यथार्थ में पुनरुक्तियाँ नहीं हैं, प्रत्युत उसी तरह आवश्यक हैं, जिस प्रकार पाणिनि के **'बहुलं छन्दसि'** और सन्ध्या के आचमन के मंत्र हैं। भिन्न-भिन्न अर्थो के कारण भिन्न-भिन्न भाव प्रकट करने के लिए जो मंत्र बार-बार आते हैं, वे पुनरुक्त नहीं है। वे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थों के कारण ही भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न अर्थ रखते है। इसी तरह वे भी पुनरुक्त नहीं हैं, जो पाठभेद के कारण बार-बार आते हैं अथवा एक ही अर्थ में भिन्न भाव की सूचना देते हैं। किन्तु पुनरुक्त वही हैं, जो मंत्र के मंत्र सूक्त के सूक्त और अध्याय के अध्याय बार-बार एक ही वेद के कई स्थानों में या एक वेद से दूसरे वेदों में विषयप्रतिपादन की सुविधा और यज्ञयाग में अनुकूलता उत्पन्न करने के लिए शाखाप्रचारकों की ओर से डाले गये हैं। इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार की पुनरुक्ति नहीं है। कहने का मतलब यह है कि चारों वेदों में खैलिक, परिशिष्ट और प्रक्षिप्त भाग को छोड़कर और किसी किस्म की अधिकता नहीं है। वेदों में जिस प्रकार न्यूनता नहीं है, उसी प्रकार अधिकता भी नहीं है। परन्तु हस्तलिखित प्रतियों और छपी हुई संहिताओं तथा वैदिक साहित्य से प्रकट हो रहा है कि वेदों की मंत्रसंख्याओं में अन्तर है। किसी प्रति की मंत्रसंख्या कुछ है और किसी की कुछ। किन्तु इसका भी कारण वेदों की न्यूनाधिकता नहीं है प्रत्युत कुपढ़ लेखकों की असावधानी ही है। छन्दज्ञान के न होने से ही ऐसा हुआ है। किसी ने मन्त्र के अध 'भाग पर ही अङ्क लगा दिये हैं और किसी ने डेढ़ मंत्र पर अंक लगाये हैं। इसीलिए संख्याओं में न्यूनाधिक्य नहीं है, यदि न्यूनाधिकता होती, तो पाठ में अन्तर होता - एक बात एक प्रति में होती और वही बात दूसरी प्रति में न होती, किन्तु ऐसा नहीं है। उसीलिए संख्यासूचक अङ्कों की न्यूनाधिकता से भी वेदों में न्यूनाधिकता सिद्ध नहीं होती। तात्पर्य यह कि अपौरुषेय वेद आदि सृष्टि से लेकर आज पर्यन्त ज्यों के त्यों पूर्ण सुप्राप्य हैं और उनकी इयत्ता इस समस्त शाखाभेद के वर्णन से स्पष्ट हो रही है।

पाद-टिप्पणियाँ

1. वेदविक्रयिणश्चैव वेदानां चैव दूषकाः।
   वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः।। महा. अनु. 63/28
2. निघण्टु में सुपर्ण को किरण और पिप्पल को जल भी कहा गया है, तथा निरुक्त में सूर्य को वृक्ष भी कहा है

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (31-36) July-Dec. 2011

वेद प्रतिपादित जीवन मूल्य

प्रो० महावीर
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) भारत
उपाध्यक्ष उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी
Email : mahavir_gkv@yahoo.co.in

मानव धर्म के उद्गाता महर्षि दयानन्द ने **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्** (मनु 2.6) कहकर वेदों को सर्वाविद्यामयत्व एवं विश्वकल्याणकारित्व उद्घोषित किया है। सृष्टि - उत्पत्ति के प्रारम्भ से आद्यावधि सुदीर्घ कालखण्ड में विरचित विशाल वैदिक एवं लौकिक साहित्य में वेदों की महिमा वर्णित है। मानव जीवन के अभ्युदय एवं नि:श्रेयस के लिए तथा विश्व में सुख, शान्ति, सौहार्द तथा विश्वबन्धुत्व की स्थापना के लिये वैदिक ऋचाओं में प्रात: स्मरणीय ऋषियों ने जिस नित्य सत्य के दर्शन किये, वह आज भी सर्वथा प्रासङ्गिक और वरेण्य है।

संसार के अन्य धर्म-ग्रन्थों में अपने देश, काल, समाज के हित को ध्यान में रखकर बहुत कुछ लिखा गया है, किन्तु वेद के सन्देश मानवमात्र के लिये हैं। वेद की शिक्षाएं सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक हैं। आज समय की पुकार है कि इन अमृतोपदेशों का प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व में होना चाहिये।

इस लघु शोधपत्र में वेद-महोदधि से प्राप्त कुछ अमृतकण सुधीजनों की सेवा में प्रस्तुत हैं-

ऋत और सत्य -

वेद-मंत्रों में ऋत को समस्त प्राकृतिक जगत् एवं मानव समाज का आधार कहा गया है। ऋत का सिद्धान्त चिन्तनधारा का चरमोत्कर्ष है। महर्षि यास्क ने ऋत का अर्थ उदक, सत्य एवं यज्ञ किया है।[1]

आचार्य सायण ने ऋत को कर्मफल, स्तोत्र एवं गति अर्थ का वाचक भी माना है।

महर्षि दयानन्द ने विभिन्न मन्त्रों में आगत ऋत शब्द को सन्दर्भ, प्रसङ्गानुसार सत्य, यज्ञ, उदक, अग्नि, सूर्य, वेद एवं परमेश्वर का वाचक माना है।

योगीराज अरविन्द ने ऋत को सदाचार का मापदण्ड माना है। उनके शब्दों में 'सब वस्तुओं का सारभूत पदार्थ ऋत है। भौतिक से आध्यात्मिक रूप में परिवर्तन का कारण ऋत ही है। ऋत सूर्य, चन्द्र आदि का नियम दिखाई देता है, किन्तु वस्तुत: यह आचरण का नियम है।[2]

ग्रिफिथ के अनुसार ऋत शब्द द्वारा विश्व की व्यवस्था एवं उसके विधान का निर्देश किया गया है। इसीलिए ग्रिफिथ ने ऋत का अर्थ शाश्वत विधान (एटरनल लॉ) अथवा पवित्र (होली आर्डर) किया है।

'राथ' के अनुसार ऋत प्रकृति का एक नियम है। उन्होंने यज्ञसम्बन्धी नियम तथा मानव जीवन के व्रत आदि को भी ऋत का अभिधायक बताया है।

इसी प्रकार मनीषियों द्वारा प्रतिपादित ऋत शब्द के विभिन्न अर्थों में एक ऐसे अटल विधान की ओर संकेत किया गया है जिसके सहारे इस समस्त सृष्टि-चक्र का प्रवर्तन हो रहा है। वैदिक मंत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि दैवी जगत् में ऋत वह अनन्त एवं शाश्वत विधान है जिसके अनुसार धरती, आकाश, सूर्य, चन्द्र, दिन-रात, मास एवं ऋतुएं आदि सब मर्यादित होकर अपने- अपने कार्य में संलग्न हैं जो जीवन के प्रेरक हैं और जिन पर समाज प्रतिष्ठित है।

ऋत की महिमा का वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं-

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूवीर्ऋतस्य धीतिर्वृजनानि हन्ति। ऋतस्य श्लोको बधिराततर्दकर्णा बुधानः शुचमान आयोः।

(ऋग् 04.23.89.90)

अर्थात् ऋत अनेक प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत है, ऋत की भावना पापों एवं दुःखें को नष्ट करती है, मानव को उद्‌बोधन देने वाली ऋत की पवित्र प्रशस्ति गहरे कानों में भी पहुंच चुकी है। ऋत की जड़े सुदृढ़ हैं, इसके सुन्दर रूप में अनेक कमनीय रूप अन्तर्भूत हैं, ऋत के आधार पर प्रचुर अन्नादि खाद्य पदार्थों की कामना की जाती है, ऋत को सुदृढ़ करता हुआ व्यक्ति ऋत को प्राप्त करता है। **ऋत** की शक्ति अत्यन्त तीव्र है और इच्छित वस्तुओं को देने वाली है। विस्तृत एवं गहन पृथिवी तथा आकाश ऋत से सम्बद्ध हैं, ऋत के लिए ही श्रेष्ठ गौएं दूध देती हैं।

ऋत के मार्ग पर चलकर समस्त विघ्नों एवं दुःखों का नाश किया जा सकता है। दुराचारी व्यक्ति ऋत के मार्ग को पार नहीं कर सकते-

ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृतः ॥ ऋग् 09/73/6

अर्थात् ऋत द्वारा सत्य और अमृत की प्राप्ति होती है।

ऋतस्य नाभिरमृतं विजायते। ऋग् 09/74/4

सत्य-ऋत के साथ-साथ वेद में सत्य को भी बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है। ऋग्वेद में ऋत तथा सत्य को सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा के तप से उत्पन्न कहा गया है और इसी सत्य एवं ऋत के द्वारा रात्रि, समुद्र आदि आविर्भूत बताये गये हैं-

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ ऋग्० 10.190.1

ऋत और सत्य को चेतन और अचेतन का वाचक माना गया है। सत्य वचन को सब ओर से रक्षा करने वाला कहा गया है, जिस पर द्युलोक, दिन-रात और सारा संसार आश्रित है। इसी की महिमा से प्रतिदिन सूर्योदय होता है और जल प्रवाहित होता है।[3]

वेद में सत्य को महत्त्व प्रदान करते हुए कहा गया है कि विश्व का नियन्त्रण एवं संचालन सत्य से ही होता है - **सत्येनोत्तभिता भूमिः।**[4]

अथर्ववेद में संसार को धारण करने वाले तत्वों में सत्य को सर्वप्रमुख माना है - **सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।**[5]

उपनिषद्‌काल में विकसित होते हुए सत्य, ब्रह्म का पर्यायवाची बन गया है।[6]

सत्य के आचरण से ही मानव स्वर्ग में प्रतिष्ठित होता है।[7] सत्यवादी ही वेदत्व को प्राप्त करते हैं।[8] शतपथ ब्राह्मण में सत्य द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति का वर्णन है।[9] मनुस्मृति में सत्य को स्वर्ग का सोपान कहा गया है- **सत्यं स्वर्गस्य सोपानम्।**[10]

महाभारत में सत्य को सर्वाधिक गौरव प्रदान करते हुए कहा गया है कि यदि तुला में एक ओर सत्य और दूसरी ओर एक हजार अश्वमेध यज्ञ रखे जाये तो भी सत्य का पलड़ा भारी होगा।[11]

अहिंसा- वेद मन्त्रों में जहाँ ईश्वर से हिंसारहित बुद्धि की प्रार्थना की गयी है, वहाँ अहिंसा की भावना दृष्टिगोचर होती है-
प्राचीमु देवावश्विना धियं मेऽमृध्रां सातये कृतं वसूयुम्।।[12]

वेद में हिंसा के प्रति घृणा की भावना दिखायी देती है। वेदमन्त्रों में गौ के लिये **अघ्न्या** तथा यज्ञ के लिये **अध्वर** शब्द का प्रयोग अहिंसा की भावना का ही द्योतक है। **अहिंसा परमो धर्मः** इसी चिन्तन की उच्चतम परिणति है। आज आतंकवाद एवं हिंसा से पीड़ित संसार को अहिंसा की सर्वाधिक आवश्यकता है।

प्राणिमात्र में मित्रदृष्टि -

वेद संसार के प्राणियों को सन्देश देते हुए कहता है कि हम सब एक-दूसरे को मित्र दृष्टि से देखें - **मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।**[13]

अथर्ववेद में गौओं, जगत् के अन्य प्राणियों एवं मनुष्यमात्र के कल्याण की कामना की गयी है-

स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।[14]

अथर्ववेद के एक अन्य मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना करते हुए भक्त कामना करता है कि भगवन्! ऐसी कृपा कीजिये जिससे मैं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना रख सकूँ -**यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधिः।।**[15]

सम्पूर्ण संसार को मित्र दृष्टि प्रदान करने वाला और सबके कल्याण की कामना करने वाला वेदों का सन्देश आज सर्वाधिक प्रासंगिक है। वैदिक परम्परा कहती है -
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्व भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।। **समता एवं समष्टि की भावना** -

वैदिक चिन्तन में समानता और समरसता का भाव उत्पन्न करने के लिए कहा गया है कि **वसुधैव कुटुम्बकम्** अर्थात् यह पृथिवी ही हमारा घर है।

ऋग्वेद में एक स्थान पर स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सब मनुष्य परस्पर भाई हैं, इनमें से कोई बड़ा नहीं कोई छोटा नहीं, इस समानता के भाव को धारण करते हुए हम सब ऐश्वर्य एवं उन्नति के लिये मिलकर प्रयत्न करते हुए आगे बढ़ते रहें - **अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते, सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।।** ऋग्0 5.60.5

अथर्ववेद के एक मन्त्र में मानवीय गुणों का वर्णन इस प्रकार किया गया है- **ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः**

सध्रुाश्चरन्तः। अन्योऽन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि।। अथर्व0 3.30.5

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है -

प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये। अथर्व0 19.62.1

समता का अद्भुत सन्देश देने वाले ऋग्वेद के अन्तिम संगठन सूक्त की आज विश्व को बहुत आवश्यकता है। संगठन और परस्पर प्रेम का इससे उत्कृष्ट सन्देश हो ही नहीं सकता।

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर।।
सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।। समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[16]

मानव प्रेम-

वेद में परमात्मा को मानवमात्र का बन्धु, मित्र एवं सखा कहा है-

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः।
सखा सखिभ्य ईड्यः।। ऋग्0 1.75.4

ईश्वर एवं उसके द्वारा रचित समस्त विश्व के प्रिय बनने-बनाने की कामनाएँ भी वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध होती हैं-

प्रियास इत्ते मघवन्नभिष्टौ। ऋग्0 7.19.8
प्रियो नो अस्तु विश्पति। ऋग्0 1.26.7

विश्वबन्धुत्व -

वैदिक चिन्तनधारा सम्पूर्ण विश्व में बन्धुत्व की भावना रखती है। **यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्** विश्वबन्धुत्व की भावना के स्थापित हो जाने पर समग्र विश्व एक घोंसला बन जाता है।

यह भूमि हमारी माता है और हम इस पृथिवी माता के पुत्र हैं- **माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः।** अथर्व0 12.1.12 कितना उदात्त चिन्तन है। **मातृभूमि** की धारणा का यह प्रथम उद्गार है। अथर्ववेद के भूमिसूक्त में भूमि के प्रति जो भाव प्रकट किये गये हैं, वे विश्वसाहित्य में अद्वितीय हैं।

भद्रभावना -

वैदिकमन्त्रों में विश्वबन्धुत्व के समान सबके कल्याण की प्राथनाएँ की गयी हैं। यह कल्याण कामना भोगैश्वर्य प्रसक्त, इन्द्रिय लोलुप या समयानुकूल अपना काम निकालने वाले आदर्शहीन व्यक्तियों की वस्तु नहीं है। गीता के भक्तियोग एवं निष्काम कर्म के मूल में यही आशामय श्रद्धामय कल्याणभावना निहित है। यह भद्रभावना मानव को परमोच्च देव पद पर प्रतिष्ठित करने वाली है। वेद की यह लोक-कल्याण की भावना प्राणिमात्र के लिये है - **शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।** ऋग्0 7.54.1

यजुर्वेद के एक मन्त्र में प्रार्थना की गयी है- वायु हम सबके लिये सुख स्वरूप होकर बहे, सूर्य हमारे लिये सुखमय होकर तपे, गरजने वाले मेघ भी हमारे लिये सुखमय वर्षा करें -

शं नो वातः पवतां शं नस्तपतु सूर्यः।
शं नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु।।
यजु0 36.10

अथर्ववेद में कहा है कि आओ हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करें, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्‌भावना का विस्तार हो- **तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।** अथर्व0 3.30.4

वेद की दृष्टि में ऋषि वही है जो मनुष्यों का हितकारी है- **ऋषिः स यो मनुर्हितः।** ऋग्0 10.26.5

अकेले खाना पाप है -

परस्पर स्नेह की वृद्धि के लिये परिवारों में सौमनस्य स्थापना के लिये और सामाजिक समरसता उत्पन्न करने के लिये वेदों में प्रतिपादित विविध उपायों में एक प्रभावशाली उपाय है- सहभोज, जब परिवार के सदस्य अथवा समाज के लोग एक साथ मिलकर भोजन करते हैं तो शत्रुता अथवा द्वेष की भावना समाप्त हो जाती है, मित्रता एवं आत्मीयता का भाव सुदृढ़ हो जाता है इसलिये वेद में सहभोज पर बहुत बल दिया गया है। अथर्ववेद में कहा है - **सहभक्षाः स्याम।** अथर्व0 6.47.1

अर्थात् हम मिलकर खान-पान करने वाले हों। इस प्रकार यजुर्वेद में भी कहा है -**सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे।** यजु0 18.9- अर्थात् मुझे अपने साथियों से सह-पान और सह-भोज प्राप्त हो। वेद कहता है **केवलाघो भवति केवलादी** अर्थात् अकेला खाने वाला व्यक्ति पाप को ही भोगता है।

विश्व-शान्ति -

वेद ऐसा अमर महाकाव्य है जिसमें स्थान-स्थान पर विश्वशान्ति की प्रार्थनाएं हैं। हमारी प्राचीन वैदिक चिन्तनधारा इस सत्य से सर्वथा सुपरिचित थी कि समाज, राष्ट्र एवं विश्व में शान्ति होगी तभी शान्ति का जीवन जी सकेंगे।

सुख, शान्ति, आनन्द, प्रेम और सम्मान प्रत्येक मानव की स्वाभाविक इच्छा है। संसार का कोई व्यक्ति दुःख प्राप्त नहीं करना चाहता, सब प्राणी शान्ति चाहते हैं। महाभारतकार वेदव्यास का कथन है -

दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम्।
सर्वाणि शान्तिमिच्छन्ति भूतानि नात्र संशयः॥

वेद में विश्वशान्ति की कामना करते हुए कहा गया है -

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥

ऋग्0 1.90.9

शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम्।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः॥

वैदिक शान्तिपाठ **ओं द्यौः शान्ति-** आदि तो विश्वप्रसिद्ध है जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की शान्ति की प्रार्थना की गयी है। इस प्रकार अनेकानेक उदात्त भावों से एवं उच्चतम जीवन मूल्यों से चारों वैदिक संहितायें परिपूर्ण हैं।

वेद का राष्ट्रगीत तो इतना अद्‌भुत है कि उसका उच्चारण करते ही महान् राष्ट्र का चित्र आँखों के समक्ष उपस्थित हो जाता है।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् आदि।

ऐसे ही निर्भयता, द्वेष-त्याग, पाप-निर्मोक्षण, दीर्घायु, मधुर जीवन, पवित्र जीवन, यज्ञमय जीवन, ओजपूर्ण तपस्वी जीवन की प्रार्थनाओं के साथ अमृतमय जीवन की प्रार्थना

पढ़कर एवं सुनकर मानव जीवन प्रेम रस से भर जाता है।

आज के विषम काल में वैदिक जीवन मूल्यों की उपयोगिता अथवा प्रासंगिकता प्राचीनकाल में जैसे अनुभव की जाती थी, आज भी उस ज्ञाननिधि की हमको वैसी ही आवश्यकता है। जब इस धराधाम पर वैदिकज्ञान गंगा की धारा उन्मुक्त भाव से प्रवाहित होगी तभी राष्ट्र एवं विश्व का कल्याण होगा।

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

कल्याण का और कोई माग है ही नहीं।

पाद-टिप्पणियां

1. ऋतमित्युदकनाम। निरुक्त 2.25, सत्यं वा यज्ञ वा। वही 4.19
2. अरविन्द : सीक्रेट ऑफ वेदाज (वेद रहस्य) पृ0 102 तथा 107
3. सामा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः।। ऋग्0 10. 37.2
4. ऋग्0 10.85.1
5. अथर्व0 12.1.1
6. तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणा नाम सत्यमिति। छान्दोग्य 8.3.4
7. सत्यधर्माण परमे व्योमनि। ऋग्0 5.63.1
8. य सत्यासो हविरदा हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधाना। ऋग्0 10.15.10
9. शत0 ब्रा0 2.2.2.8
10. मनु0 8.8
11. अश्वमेध सहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्। अश्वमेध सहस्रादि सत्यमेव विशिष्यते।। महा0 शा0 पर्व 162.26
12. ऋग्0 7.67.5
13. अथर्व0 36.18
14. अथर्व0 1.31.4
15. अथर्व0 17.1.7
16. ऋग्0 10.191

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (37-41) July-Dec. 2011

वैदिक चिन्तन के आलोक में -
मानव शरीर में आत्मा व परमात्मा के स्थान

डॉ० ओम्प्रकाश आर्य
ज्ञानलोक, हापुड, गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश) भारत

अन्य अन्वेषणकर्त्ता जिज्ञासुओं की तरह मेरे मन में भी एक प्रश्न बार-बार उठता रहा, जिसका समाधान नहीं हो पा रहा था। अत: मेरे मन में उसे जान लेने की प्रबल जिज्ञासा जागृत हुई कि आए दिन मनीषी विद्वानों द्वारा बताया जाता रहा, वह हृदय जिसमें देहधारी के अन्दर रहने वाला 'आत्मा' निवास करता है, कहाँ है? तथा वह 'ब्रह्मधाम' जिसमें परमात्मा निवास करता है, कहाँ और कौन सा है?

एक चिकित्सक होने के नाते मैं सोचने लगा कि आखिर शरीर में वे अंग कौन से हैं। जिनके बारे में 'अन्तर्हृदय' व 'ब्रह्मधाम' ये दो शब्द कहे जाते है। कुछ लोग हृदय को रक्त संवहन संस्थान के, रक्त संचालनकर्ता मुख्य अंग हृदय Heart को ही हृदय बतलाते हैं। जिसमें आत्मा निवास करता है। एक चिकित्सक होने के नाते मैंने इस पर विचार किया तो देखा, कि इस रक्तसंवहन संस्थानगत हृदय का तो केवल एक ओर से आये हुये रक्त का, दूसरी दिशा में फेंक दिया जाना मात्र ही कार्य है। इसमें सम्पूर्ण शरीर की जानकारी रखने व नियमित करने के लिये तो कुछ भी कार्य नहीं होता। अत: यह वह हृदय नहीं है जिसमें आत्मा बैठा है।

इसी बीच में काफी दिनों से मैं 'सामवेद' तथा एकादश उपनिषदों का वैज्ञानिक आधार पर भाष्य करने में प्रयत्नशील था, तभी उन्हें लिखते हुए मुझे यह स्थान मिल ही गया जिसमें देहस्थ आत्मा निवास करता है, तथा वह स्थल भी सामने आ गया, जिसको ब्रह्मपुरी या ब्रह्मधाम अथवा हृदयान्तरिक्ष कहके पुकारा जाता है। इन दोनों के बाद हृदय व ब्रह्मधाम के बारे में जो मैंने जाना उसे विद्वान् मनीषियों के सम्मुख लाने के लिए मैं उपनिषदों के आधार पर नव्य चिकित्सा विज्ञान द्वारा प्रतिपादित ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत कर रहा हूँ, आशा है विद्वान् पाठक उस पर विचार करके इस विचारधारा को आगे बढ़ाकर मेरा भी उत्साहवर्धन करेंगे, तथा सर्वसाधारण के सामने इस गूढ़ रहस्य को बताने के लिये उपस्थित कर सकेंगे।

मैं यहाँ पर अपनी बात को समझाने के लिये चिकित्सा शास्त्र गत पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहा हूँ जिससे इस विषय का पूर्णतया दिग्दर्शन कराया जा सके।

इस के साथ ही उपनिषदों के उद्धरण भी उपस्थित कर रहा हूँ, जिनके द्वारा इस विषय को भलीभाँति समझा जा सकता है- तैत्तिरीयोपनिषद्-शिक्षावल्ली, छठा अनुवाक- **"स य एषोऽन्तर्हृदयं आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेणतालुके य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्र योनिः। यत्रासौ केशान्तौ विवर्तते। व्यपोह्य शीर्ष कपाले॥।॥**

वह जो यह अन्तर्हृदय आकाश है, उसमें यह देहपुरी में निवास करने वाला जीवात्मा निवास करता है, जो मननशील, अमर व आनन्दमय है। इतना कहकर उस स्थान का जिसमें कि आत्मा निवास करता है, अन्य समीपवर्ती अंग-प्रत्यंगों के साथ सम्बन्ध बताया गया है कि- तालु के अन्दर भाग में जो यह स्तन के समान भाग लटका हुआ है, और जहाँ यह केशान्त- सिर के बालों का सिरा (सीमा) विद्यमान है, इन दोनों के मध्य में, सुषुम्नाशीर्ष Medulla Oblangata के बीचों-बीच (देखो चित्र नं0 1 में) संख्या 6 पर 1 इंच लम्बा-गोलाकार बना है, जिसे अन्तर्हृदय Subtantia-Reticulata कहा है- "सा इन्द्रयोनि:" वह जीवात्मा के रहने का स्थान है। यह सुषुम्ना शीर्ष चित्र संख्या 2 में नं0 7 पर है, जिसको देखने पर स्पष्ट ज्ञात होता है, कि इसका सीधा सम्बन्ध ऊपर की बृहद्मस्तिष्क के उस रिक्त स्थान से है, जिसकी चतुर्थ गुहा Fourth Ventricle कहते हैं। मृत्यु समय में शरीर से बाहर निकलने के लिये श्रेष्ठ कर्मयुक्त आत्मा इसी मार्ग से ऊपर की ओर चलकर व्यपोह्य शीर्ष कपाले' शीर्षस्थ कपाल को फाड़कर बाहर चला जाता है। इस सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर एक नलिकाकार रिक्त स्थान है, जिसमें आत्मा मूलाधार से लेकर ऊपर बृहद् मस्तिष्क तक जाता रहता है, और शरीर का संचालनकर्ता बनकर स्थित होता है। इस सुषुम्ना नाड़ी से ही शरीर के सब भागों में जाने वाली अधिकतर नाड़िया- Nerves निकल कर सर्वत्र फैली हुई है, तथा कुछ मस्तिष्क से भी निकलकर जाती हैं, इन्हीं के द्वारा यह जीवात्मा नियन्त्रित किये रहता है, जैसे विद्युत् केन्द्र पर बैठा हुआ व्यक्ति सब ओर जाने वाली विद्युत् को नियन्त्रित किये हुये होता है। यही अन्तर्हृदय का स्थान है। छान्दोग्य उपनिषद्-अष्टम प्रपाठक-पाँचवा खण्ड-आख्यायिका 3 पर ब्रह्मपुरी या ब्रह्मधाम को बताए जाने के लिये वर्णन किया गया है-

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति, यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते। अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्। तदश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके। तृतीयस्यामितो दिवि तदैरं मदीयं सरस्तदश्वत्थः सोम स्तवनस्तदपराजिता पूर्वब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्ययम्॥3॥

शब्दार्थ -1.अथ यत् = और जो। 2. अनाशकायनम् = अनाश-अमरत्व - मोक्ष का साध्य है। 3. इति आचक्षते = ऐसा कहते हैं। 4. तद् = वह। 5. ब्रह्मचर्यम् एव = ब्रह्मचर्य ही है। 6. हि = क्योंकि। 7. यम् ब्रह्मचर्येण अनुविन्दते = जिसको जिस मुक्ति के साधन को ब्रह्मचर्य आचरण के द्वारा प्राप्त किया जाता है। जिससे। 8. एषः = यह। 9. आत्मा = आत्मा। 10. न नश्यति = नहीं विनाश को प्राप्त होता। 11. अथ यत् = और जो। अरण्यायनम् = आत्मज्ञान का साधन। 13. इति आचक्षते = इस प्रकार - ऐसे कहते हैं वस्तुत:। 14. तत् = वह। 15. एव = ही। 16. ब्रह्मचर्यम् = ब्रह्मचर्य, ब्रह्मप्राप्ति के लिये किया जाने वाला सदाचरण है। 17. ह वै = निश्चय से ही। 18. ब्रह्मलोके = ब्रह्मलोक-ब्रह्मधाम में। 19. अरः च = ज्ञान

और। 20. ण्य: च = कर्म के, साधन रूप। 21. अर्णवौ = (अर्णव-समुद्र-गर्त-गुहा- Cavity-Ventricle) दो गुहा Ventricles हैं। Right and Left Lateral (देखो चित्र संख्या 2 में नं0 2)। 22. इत: = इससे मिले हुये। 23. तृतीयस्याम् = तीसरे Third Ventricle। 24. दिवि-द्युतिमय-ज्ञान धाम में। तद् = वह। 26. ऐरम् मदीयम् = सुख व आनन्द का साधन - ज्ञान व कर्म Sensory & Motor Nerves का। 27. सर: = (सरणात् सर:)- संवेदनाओं को इधर-उधर ले जाने वाले संचालक केन्द्र हैं, Which Transmits Impulses जिसको Thalamus व Hypothalamus के नाम से कहा जाता है। 28. तद् = वह - उसके पास चतुर्थगुहा Fourth Ventricle है, जो। 29. अश्वत्थ: = अ+श्व+स्त: कल तक भी टिका न रह सकने वाला। 30. सोम सवन: = सोम (वीर्य) आहुति चाहने वाला (क्योंकि उसमें सतत ऊर्ध्व-रेता व्यक्ति जब वीर्य को पहुँचाता है, तभी वह स्थाई बन दीप्त होता है, जिससे दिव्य ज्ञान ज्योति उदय होकर ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो पाता है) स्थान हैं। 31. तद् = वह। 32. अपराजिता = अपराजित अज्ञेय (जिसे व्यभिचारी व्यक्ति न पा सके) 33. प्रभुविमितम् = सर्वशक्तिसमर्थ रचयिता द्वारा बनाई हुई। 34. ब्रह्मण: = ब्रह्म की ब्रह्म के निवास करने की। 35. हिरण्मयम् = आनन्दमयी। 36. पू: = पुरी-नगरी है - अर्थात् ब्रह्मधाम है।

यह तो मैंने केवल इन दोनों स्थानों का दिग्दर्शन कराने मात्र को संक्षेप में ही प्रस्तुत किया है, वैसे इसके लिए उपनिषदों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर बहुत कुछ लिखा है, जैसे - कठ, वल्ली 6 में 16-17 प्रश्न. 3-6-7; बृहदा 4-2-3 आदि-आदि। जिसका वर्णन विस्तारपूर्वक मैंने उपनिषदों के भाष्य में किया हुआ है, यहाँ इस संक्षिप्त लेख में वह सब कुछ दिया जाना सम्भव नहीं था। यदि कोई धनी-मानी सज्जन व्यक्ति या समाज इन दोनों पुस्तकों (सामवेद व एकादशोपनिषद्) को प्रकाशित कराने की इच्छा रखते हो तो उन्हें मैं ये बिना किसी स्वार्थसिद्धि के अर्पित करने को तैयार हूँ, ताकि इनकी वैज्ञानिकता का बोध सभी को होकर सभी तदनुसार चलते हुए संसार में सुख व शान्ति को ला सकें। इस क्षेत्र में मैंने सोमसवन शब्द में सोम का अर्थ वीर्य किया है। हो सकता है इसके बारे में कुछ पाठकों के हृदय में शंका उत्पन्न हो जाये क्योंकि अब तक 'सोम' शब्द से अधिकतर विद्वान् कोई विशेष ओषधि को कोई पदार्थ मात्र को, कोई सुरा को ही मान लेते हैं। कुछ विद्वानों ने सोम शब्द से परमात्मा को भी माना है। मैंने इसके बारे में भी इन दोनों ग्रन्थों का वैज्ञानिक आधार पर भाष्य करते हुये स्पष्ट विवेचन किया है। तथा अन्य भी ऐसे बहुत से भ्रान्तिपूर्ण शब्दों का वास्तविक अर्थ उसमें समझाया गया है। निरुक्तकार ने - सोम, इन्दु, मधु आदि कितने ही शब्द वीर्य रूप सोम के माने हैं। नि0 अ0 11 ओषधि: सोम: सुनोतेर्यदेवमभिषुन्वन्ति। सोम शब्द सुनोते: ''षुञ्'' अभिषवे धातु से बनता है। अर्थात् तो निचोड़ कर या परिश्रुत करके 'सार' रूप को तैयार होता है, तो वह सोम है। इसी आधार पर सबको शराब मान लिया गया। वस्तुत: बनता तो

चित्र नं. 1
मनुष्य मस्तिष्क के विभाग
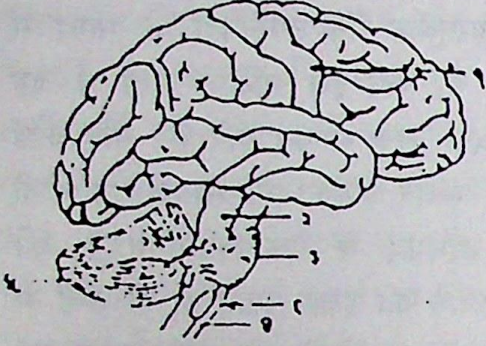
1. उर्ध सहस्रार Cerebrum
2. मध्य मस्तिष्क Mid Brain
3. सेतु Pons
4. सुषुम्ण शीर्ष Medulla Oblangata
5. अधो सहस्रार Cerebellum
6. सब्सटेन्सीया रेटीकुलाटा S.Raticulata

चित्र नं. 2
मनुष्य मस्तिष्क के प्रमुख विभाग
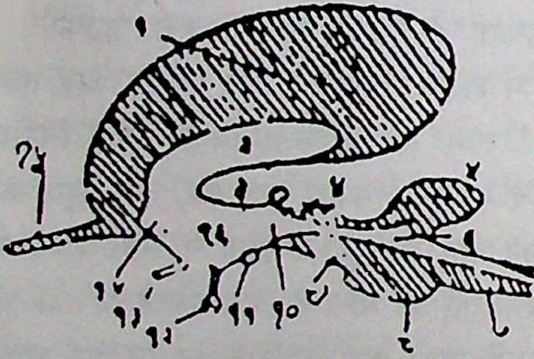
1. उर्ध सहस्रार Cerebrum
2. पार्श्व गुहा Lateral Ventride
3. इतर लिंग (शिव) Pineal Body
4. काली-कुली Colliculi
5. अधो सहस्रार Cerebellum
6. चतुर्थ गुहा Fourth Ventricle
7. सुषुम्णा शीर्ष Medulla Oblangata
8. सेतु Pons
9. क्रस Crus
10. तृतीय गुहा Third Ventricle
11. स्तन संबन्धी प्रदेश Marmillary
12. शालिग्राम (विष्णु) Pitutiory
13. दृष्टि सम्बन्धी प्रदेश Optic tract
14. जीवाणु अवरोध Corpus Strictum
15. घ्राण सम्बन्धी भाग Olfactory
16. चेतक (ब्रह्मा) Thalmus

ऐसे ही है, परन्तु किन्हीं औषध द्रव्यों से नहीं, वरन् अपने शरीर में ही रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा इन छः धातुओं का सार बनते हुये अन्तिम जो सातवीं धातु वीर्य बनती है वही सोम है। जो शरीर को शोकादि आपदा से बचाये रखने का कारण ''ओषधिः सोम ....कहकर निरुक्तकार ने वर्णन किया है। इस सोम शब्द के वैसे तो बहुत सारे अर्थ होते हैं, परन्तु प्रमुखतः वेद मन्त्रों में यह दो अर्थो में ही अधिकतर प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि यह देह का अत्यन्त रचयिता सार वीर्य रूप तथा संसार का अन्यतम भूः रचयिता सार प्रभु ब्रह्म) द्रव्य, सोम कहा गया है, Extreme Essential Constituent of Body and World.

इसके साथ-साथ जो दो स्थान अन्तर्हृदय व ब्रह्मधाम बताये गए हैं, उनके ही बारे में हमारे ईसाई व मुसलमानों में जो खुदा के रहने का स्थान - चौथा व सातवां आसमान हो गया है, वह इन्हीं की ओर संकेत है। ये दूसरी बात है कि वे इसकी वास्तविकता को नहीं समझते। यह हमारे वेदमन्त्र के आधार पर ही उनमें भी विचारधारा पहुँची। हम तो नित्यप्रति सन्ध्या करते हुये कहते है कि **ओं भूःपुनातु शिरसि। ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः। ओं स्वः पुनातु कण्ठे। ओं महः पुनातु हृदये। ओं जनः पुनातु नाभ्याम्। ओ तपः पुनातु पादयोः। ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि। ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र**। इस मन्त्र के आधार पर ही चौथे स्थान अन्तर्हृदय पर तथा सातवें स्थान

मूर्धा में स्थित ब्रह्मधाम में खुदा के रहने की कल्पना की। आसमान से अभिप्राय केवल रिक्त स्थान

से ही है, उसके लिए अलग कहीं कोई विभाजित स्थान नियुक्त नहीं है। मैं समझता हूँ अपनी तुच्छ बुद्धि से जो मैंने इस महान् विषय को समझाने का प्रयास किया है, उसे विद्वज्जन अधिक समझते हुये इस बात को विस्तृत रूप से समाज के सामने प्रस्तुत कर सकेंगे।

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (43-51) July-Dec. 2011

ऋग्वेद में सरस्वती

पं. बद्रीप्रसाद पंचोली
किशनगढ़ (राजस्थान) भारत

सरस्वती विद्या और ज्ञान की देवी प्रसिद्ध है। पाश्चात्त्य और एतद्देशीय कुछ विद्वानों के अनुसार यह इसी नाम की एक प्राचीन नदी का मानवीकृत रूप है। उनके अनुसार सरस्वती का वर्तमान रूप विकास का परिणाम है जिसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में प्राप्य है। ए0 ए0 मैकडोनल ने सरस्वती को पार्थिव-देवों में परिगणित करते हुए अपने 'वैदिक-माइथोलॉजी' नामक ग्रन्थ में लिखा है, कि "यद्यपि इस विषय में मानवीकरण अन्यत्र से कहीं अधिक व्यापक तथा विकसित है पुनश्च देवता का नदी से तादात्म्य ऋग्वेद में कवि के मस्तिष्क में सदैव उपस्थित रहता है।" यहाँ लेखक का यह अभिप्राय स्पष्ट है कि उनके अनुसार जिस प्रकार सभी वैदिक देवता किसी न किस रूप में प्रकृति के उपादान विशेष से विकसित होकर मानव रूप धारण कर चुके थे उसी तरह नदी का सरस्वती देवता के रूप में मानवीकरण हुआ। उन्होंने सरस्वती नदी को अफगानिस्तान की हरक्वैती नदी से अभिन्न माना है।

राथ, ग्रासमैन, लुडविग, जिमर आदि विद्वानों के अनुसार सरस्वती का वास्तविक अर्थ वेगवती धारा है, जो संभवतः सिन्धु थी। सिन्ध उसका सामान्य नाम था तथा सरस्वती पवित्र नाम था। स्थानभेद से मध्यप्रदेश की एक छोटी नदी का भी यह नाम सूचित करता था जिसमें परवर्ती- काल में नाम के साथ पवित्रता की विशेषता भी प्रतिष्ठित हो गई। राथ ने नदी के अतिरिक्त सरस्वती को अन्तरिक्षलोक में स्थित जलों की संरक्षिका देवी भी माना है जो उर्वरा-शक्ति की जनक हैं। हिलेब्राण्ट ने सरस्वती के पुं0-रूप सरस्वान् को अपां-नपात् से अभिन्न बतलाते हुए सोम अर्थात् चन्द्रमा कहा है। अन्य विद्वानों ने इस मत को स्वीकार नहीं किया।

मैक्समूलर सरस्वती उस नदी का नाम मानते हैं जो दृषद्वती के साथ ब्रह्मावर्त की सीमा बनाती थी तथा समुद्र से मिलती थी, किन्तु अब थार के रेगिस्तान में सूख गई है। ओल्डहैम के अनुसार सरस्वती शतद्रु की एक शाखा थी बाद में जब शतद्रु अपना मार्ग बदल कर विपाशा से मिल गई, सरस्वती तब भी शतद्रु के मार्ग से ही बहती रही।

डॉ0 बलदेव उपाध्याय तथा अन्य विद्वान् मानते हैं, कि वैदिक सरस्वती पटियाला राज्य की सरसुति नदी है। यह भी मान्यता है कि सरस्वती का उद्भव तुषार-क्षेत्र से हुआ था जिसका नाम ऋग्वेद में सरस्वान् है (देखो वैदिक साहित्य-रामगोविन्द त्रिवेदी, पृ0 114)। नवीन पुरातात्विक खनन-कार्यों से इस बात की पुष्टि हुई है कि रंगमहल के निकट होकर एक नदी बहती थी और बीकानेर के समीप मरुभूमि में यह विलुप्त हो गई है। संभवतः यह प्राचीन सरस्वती नदी हो सकती है उसका लुप्त व प्रकट होना प्राचीन साहित्य में भी उल्लिखित है। ताण्ड्य व जैमिनीय ब्राह्मण में लुप्त होने के स्थान को विनशन तथा प्रकट होने के स्थान को

प्लक्ष-प्रस्रवण कहा गया है जिनमें घोड़े से 40 दिन की यात्रा की दूरी थी। यह नदी ही कुरुक्षेत्र के निकट से बहती थी। एक पौराणिक मान्यता के अनुसार सरस्वती, गंगा और यमुना से मिलकर त्रिवेणी बनाती थी।[1] किसी भी आधुनिक विद्वान् ने इस मत को प्रामाणिक नहीं माना है।

'वैदिक-इण्डिया' के लेखक लुई रेनो ने यमुना और सतलज के बीच में बहने वाली सरसुति नदी को ही वैदिक सरस्वती माना है जिसके किनारे पर आर्य राजाओं ने अनार्य-जातियों को युद्ध में हराया था, यज्ञ किये थे और यहाँ तक कि वैदिक-सूक्तों की रचना भी ऋषियों ने इसी नदी के तट पर की थी। पंजाब की पाँच नदियों से मिल कर यह सरस्वती तथा सिंधु इस भूखण्ड को सप्तनद बनाती थी जिसका वेदों में वर्णन बहुधा मिलता है।

उपर्युक्त सभी मतों पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक सामान्य नदी एक अपनी पवित्रता के कारण विद्या व ज्ञान की अधिष्ठात्री हो गई है। यह निष्कर्ष वैदिक तथा परवर्ती-साहित्य में एक रिक्ति की घोषणा कर रहा है। कोई भी यह स्वीकार करना न चाहेगा कि प्रकृति उपादान विशेष में जो गुण या धर्म पहले नहीं थे वे अज्ञात रूप से या कल्पना के आधार पर उस वस्तु के साथ संयुक्त कर दिये गए। सरस्वती को भारतीय उपासना-पद्धति तथा जीवन और तदनुरूप साहित्य में जो स्थान मिला उसका मूल रूप बीज रूप से ही सही वैदिक-साहित्य में होना चाहिए क्योंकि डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार समस्त भारतीय विचारों का मधुमय उत्स वेद है।

सरस्वती को ऋग्वेद में तीन देवियों में गिना गया है। उसे देवितमा भी कहा गया है। शैलीगत माधुर्य की दृष्टि से सरस्वती के सूक्त उषा के सूक्तों के बाद ही आते हैं। सरस्वती स्वतंत्र रूप से ऋग्वेद में 32 मन्त्रों की देवता है। पूरे 3 सूक्तों (6/61, 7/95, 96) में उसकी स्तुति है। 5 मन्त्रों में पुरुष रूप में सरस्वान् की स्तुति हुई है। आप्री-सूक्तों में सरस्वती का नाम इला व भारती देवियों के साथ प्रस्तुत हुआ है। एक मन्त्र (ऋ 2/32/8) में, सरस्वती की इन्द्र के साथ और एक अन्य मन्त्र (32/8) में गुंगू, सिनीवाली, राका, इन्द्राणी तथा वरुणानी के साथ षड्देवियों के रूप में स्तुति हुई है। सरस्वती का नाम ऋग्वेद में 72 बार प्रयुक्त हुआ है। एक मन्त्र में 'सरस्वतीवतः' इन्द्र व अग्नि का विशेषण है।

सरस्वती शब्द का प्रचलित अर्थ है- वह दो धारा वाली है, प्रवाह रूप गति से युक्त है; ''अक्षरार्थविज्ञान के अनुसार'' 'स' अक्षर का अर्थ है - 'प्रकाशित करना या प्रकट करना। इसी तरह 'र' अक्षर का अर्थ है - 'देना तथा रमण करना'। ज्ञान को प्रकाशित करने व देने की क्रिया 'सर' शब्द से द्योतित होती है और इस क्रिया से युक्त सरस्वती है। निघण्टु में सरः और सरस्वती शब्द वाक् के 57 नामों में परिगणित किए गए हैं। सरः शब्द उदक के 100 नामों में और सरस्वत्यः शब्द 37 नदी नामों में भी प्रयुक्त हुआ है। यास्क ने निरुक्त में स्वीकार किया है कि ऋग्वेद में सरस्वती का नदी के समान वर्णन हुआ है, (नि0 11/3/5)। नदी शब्द की निरुक्ति करते हुए यास्क ने कहा

है- 'नद्यः कस्मात् नदना भवन्ति शब्दवत्यः' (नि0 2/7/2)। यास्क ने नद्-स्तुतिकर्मा धातु से व्युत्पन्न नद शब्द का अर्थ ऋषि माना है (नि. 5/1/2)। स्पष्ट है कि नदी शब्द का अर्थ स्तुतिकर्म में प्रयुक्त सिद्ध पुरुष की वाणी भी है। इसीलिए सरस्वती को नदितमा भी कहा गया है। ऐसे स्थानों पर नदी शब्द-प्रतीक है और उसका प्रस्तुत है और उसका प्रस्तुत अर्थ वाणी तथा अप्रस्तुत अर्थ सरिता है। ऋग्वेद का विषय सरिता विशेष का वर्णन करना नहीं है। अतः उसमें किसी भी ऐसी सरस्वती नदी का वर्णन नहीं माना जा सकता जो पृथिवी के किसी भूखंड में होकर बहती हो। ऋग्वेद में निश्चय ही जलों का वर्णन है, परन्तु उनके लिए आपो देवी तथा आपो दिव्याः विशेषण प्रस्तुत हुए हैं। उन जलों में सौर-लोक का प्रकाश भी सतत निवास करता है - स्वर्वतीरापः। ऋग्वेद में उल्लिखित नदियाँ ऐसे दिव्य जलों से युक्त दिव्य नदियाँ ही हो सकती हैं। जब सरस्वती शब्द स्पष्टतः नदी-विशेष के लिए प्रस्तुत होने लगा था तब भी सरस्वती को देव नदी माना जाता था (मनुस्मृति 2/7)। इससे यह बात पुष्ट हो जाती है कि ऋग्वेद में वर्णित सरस्वती पार्थिव नदी नहीं है। अतः इस मान्यता का खंडन हो जाता है कि परवर्ती साहित्य में वर्णित सरस्वती का विकास किसी नदी में परवर्ती विशिष्ट गुणों का आरोप कर देने से हुआ।

ऋग्वेद के सारस्वत सूक्त (6/61) के विषय में शौनक ने कहा है -

इयमित्येतदाद्यं तु सूक्तं सारस्वतं जपेत्।
द्विजः प्रातः शुचिर्भूत्वा वाग्ग्मी भवति बुद्धिमान्।। (ऋग्विधान 2/95)।

यहाँ सारस्वत-सूक्त का सम्बन्ध बुद्धि-वर्द्धन से बताया गया है। अतः ऋग्वेद में सरस्वती का सम्बन्ध बुद्धि से माना गया था यह बात परम्परा से सिद्ध हो जाती है। ऋग्वेद के अनुसार सरस्वती तीनों लोकों में एक साथ व्याप्त होने वाली है (त्रिषधस्था[2] - ऋ0 6/61/12), यज्ञ की व्यस्थापिका बुद्धि के द्वार खोलने वाली है (ऋ0 7/95/6) बुद्धियों की रक्षिका है (ऋ0 6/61/4), ऋतावरी है (ऋ 6/61/9 तथा 2/41/18) और उसके कार्य बोधि (ऋ0 7/96/2) तथा चेतति (ऋ0 7/96/3) क्रियाओं द्वारा व्यक्त हुए है। इससे प्रकट है कि सरस्वती का सम्बन्ध ऋग्वेद में भी बुद्धि व प्रज्ञा से माना गया है। इसके साथ ही कुछ मन्त्रों में उसका जल या जल प्रवाह से सम्बन्ध भी उल्लिखित है (यथा ऋ0 6/61/13, 7/95/1, 2, 96/1)। अतः यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जल और सरस्वती का क्या सम्बन्ध है?

योगिराज श्री अरविन्द ने सरस्वती को अन्तः प्रेरणा की देवी माना है और स्पष्ट किया है, कि दिव्य-अन्तःप्रेरणा के साथ नदी का साहचर्य ग्रीक गाथा शास्त्र में भी आता है जहाँ म्यूजज (Muses) का सम्बन्ध विशेष पार्थिव धारा से है। वह धारा (Hippocrence - नदी, घोड़े की धारा) दिव्य घोड़े पेगेसस (Pegasus) के द्वारा सुमसे चट्टान पर प्रहार करने पर अन्तःप्रेरणा के जल के रूप में निकली थी। ग्रीकभाषा में पेगे (Pege) का अर्थ धारा है। अतः पेगेसस (Pegasus) वह जो धारा अथवा प्रवाह से युक्त हो। उसी तरह जैसे सरस्वती

सर: या प्रवाह से युक्त। (देखो वेद-रहस्य, प्र0 भा0 पृ0 120-21)।

पूर्वी भारत में बसी हुई मुण्डा जाति में विश्वास प्रचलित है कि सर्वश्रेष्ठ देव सिंगबोंगा ने हंस के अण्डे से स्त्री-पुरुष का जोड़ा उत्पन्न करके उन्हें इलि या इल प्रदान की, जिसका तात्पर्य जल या शराब माना गया है। यहाँ इलि वैदिक इला का वाचक जान पड़ता है और वाक् का द्योतक है, जिसे जल का सहचारी स्वीकार किया गया है।

ऊपर के विवेचन के अनुसार वैदिक, ग्रीक और मुण्डा परम्पराओं में वाक् और जल में साहचर्य माना गया है।

श्री अरविन्द के अनुसार पैगेसस भारतीय पाजस् है, जिसका अर्थ है शक्ति। वेद में जीवन की क्रिया शक्ति का प्रतीक अश्व माना गया है। अद्रि भौतिक प्रकृति का प्रतीक है और इसी पहाड़ी चट्टान में से सूर्य की गौएँ (किरणें) तथा प्रकाशमान् दिव्य जल- स्वर्वतीराप: मुक्त होते हैं। सोम की धाराएँ भी इसी चट्टान से प्रवाहित होती हैं। इस चट्टान पर घोड़े का सुमप्रहार, जिससे अन्त: प्रेरणा के जल प्रवाहित होते हैं, निश्चय ही भौतिक-प्रकृति से जीवन की क्रियाशीलशक्ति का तादात्म्य है और अन्त: प्रकृति पर जीवनी-शक्ति की अविकल विजय का सूचक है (वेद-रहस्य प्र0 भा0 पृ0 121)।

वैदिक विचारधारा के अनुसार आप: या जल सृष्टि के मूल मातृ-तत्व- के बोधक हैं जो पितृतत्व अग्नि से मिल कर सृजनकार्य करते हैं। ऋग्वेद में **'आप: अस्मान् मातर:'** (ऋ0 10/17/10) कह कर जल का मातृत्व स्वीकार किया गया है। पृथिवी, गो, वाक्, सरस्वती, इला, भारती, मही, बृहती, गायत्री, सावित्री आदि नाम उपर्युक्त मातृरूप सृजकतत्व के हैं। सरस्वती को जल या जलप्रवाह से सम्बद्ध करने का कारण उसकी सृजक-प्रवृति को व्यंजित करना ज्ञात होता है।

वाक्-सूक्त में वाक् का मूल समुद्र के जलों में माना गया है, **मम योनिरप्स्वन्त:** समुद्रे (ऋ0 10/125/6)। मन्त्र के इस अंश का सायण ने अर्थ किया है - 1. **मम च योनि: कारणं समुद्रे। समुद्द्रवन्ति अस्माद्भूतजातानि इति समुद्र: परमात्मा। तस्मिन्नप्सु व्यापनशीलासु धीवृत्तिष्वन्तर्मध्ये यद्ब्रह्म चैतन्यं तन्मम कारणम्।** अर्थात् वाक् का कारण प्राणिमात्र का उत्पन्न करने वाले परमात्मा में व्यापनशील-बौद्धिकवृत्तियों के मध्य जो चैतन्य है वह है। अथवा 2- मेरे कारणभूत अम्भृण ऋषि समुद्र के जलों में रहते हैं अथवा 3- समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष में जलमय देवशरीरों में मेरा कारणभूत चैतन्य-ब्रह्म विद्यमान है।

सायण ने यहाँ वाणी से सम्बद्ध अप् का तात्पर्य बौद्धिक वृत्तियाँ माना है। जल और वाक् दोनों ही व्याप्तिधर्मा हैं। देवतारूप सरस्वती का सम्बन्ध अन्तरिक्षीय समुद्र से ज्ञात होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद में सरस्वती के समुद्र में गिरने का वर्णन मिलता है। सरस्वती को मध्यस्थाना वाक् माना जाता है। अत: उसका सम्बन्ध अन्तरिक्षीय समुद्र से है। शरीर में इस समुद्र को हृदय-समुद्र कहा जाता है।

आप्री-सूक्तों में **इला, भारती** और **सरस्वती** इन तीन देवियों का नाम आता है।

एक मन्त्र (ऋ0 10/70/8) में सरस्वती के स्थान पर **सुधिता** शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो सरस्वती का विशेषण ज्ञात होता है। इस विशेषण से सरस्वती का सम्बन्ध धी अर्थात् बुद्धि से प्रमाणित हो जाता है।

ऋग्वेद के अनुसार सरस्वती सारस्वत लोग अर्थात् अन्तरिक्षलोक की वाक् का नाम है (ऋ0 3/4/8)। अन्तरिक्ष-स्थान के वायु, इन्द्र आदि देवताओं से सरस्वती के सम्बन्ध का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है। इन्द्र (ऋ0 2/30/8 व 10/139/5) तथा इन्द्राणी (2/32/8) से संयुक्त उसकी स्तुति की गई है। वृत्र-हनन की प्रेरणादात्री होने से उसे वृत्रहा भी कहा गया है (ऋ0 2/1/11 तथा 6/61/7 भी द्रष्टव्य)। वह वायु की तरह अन्तरिक्ष में व्याप्त है (ऋ0 10/65/1)। सरस्वती ऋग्वेद के अनुसार अग्नि का ही एक रूप है। वाक् और अग्नि का सम्बन्ध **'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्** (ऐतरेयोपनिषद् 1/2/4) आदि उक्तियों से स्पष्ट हो जाता है।

सरस्वती को शतपथ ब्राह्मण में गो कहा गया है - **सरस्वती हि गौः** (शतपथ ब्राह्मण 2/5/1/11)। ऋग्वेद में भी सरस्वती के पुं-रूप सरस्वान् को वृषभ कहा गया है (ऋ0 7/95/3) जो घृत की वर्षा करता है। (ऋ0 7/96/5)। सरस्वती स्वयं घृतयुक्त-दुग्ध दूहती है, (ऋ0 7/95/2)। गो शब्द रश्मिवाचक है। त्रिवृत्त रश्मियों की तरह सरस्वती भी अग्नि, वायु और जल से, सम्बद्ध होने के कारण त्रिवृता है। रश्मियों में सात रंग होते हैं। वाणी के गायत्री आदि सात छन्द प्रसिद्ध हैं। इन समान विशेषताओं के कारण सरस्वती को सप्तस्वसा कहा गया है (ऋ0 6/61/10)।

सायण ने सप्तस्वसा का अर्थ किया है - गंगादि सात बहिनों वाली सरस्वती नदी या गायत्री आदि सात बहिनों वाली माध्यमिका वाक्।

ऋग्वेद में एक मन्त्र में सरस्वती के साथ गंगादि नाम प्रयुक्त हुए हैं (ऋ0 10/75/5)। निरुक्तकार यास्क ने गंगा, यमुना, शुतद्रु, परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृधा, वितस्ता आर्जिकीया तथा सुषोमा आदि नदी नामों की निरुक्ति देकर स्पष्ट किया है कि ये विशिष्ट भावों के वाचक सामान्य पद मात्र हैं (नि0 9/26)। परवर्तीसाहित्य में भी गंगादि नाम शरीरस्थ नाड़ियों के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं। यथा

इड़ा गंगेति विज्ञेया, पिंगला यमुना नदी।
मध्ये सरस्वती विद्यात्, प्रयागादिसमस्तथा।।

(शिवस्वरोदय श्लोक 374)

इडा भागीरथी गंगा पिंगला यमुना नदी।
तयोर्मध्यगता नाडी सुषुम्णाख्या सरस्वती।।

(पातंजल योगप्रदीप, पृ0 102-3)

पं0 चन्द्रमणि पालिरत्न ने सरस्वती, शुतद्रु, मरुद्वृधा, विस्तता, सुषोमा - ये सुषुम्ना के नाम बतलाये हैं। डा0बी0जी0 रेले ने अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक **'वैदिक गाड्स एज फिगर्स आफ बायोलोजी'** में गंगा को रक्त संचारिका नाड़ी, यमुना को ज्ञान-तन्तुओं का शरीर को नियन्त्रण करनेवाला नाड़ीजाल तथा सरस्वती को ज्ञान करानेवाला सुषुम्ना-जाल कहा है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कूर्मनाड़ी आदि की गंगा आदि संज्ञा मानी है।

नाड़ी और नदी शब्दों में ध्वनि साम्य है और भाषा विज्ञान की दृष्टि से इनमें सम्बन्ध खोजा जा सकता है। हाड़ोती भाषा में नाड़ा शब्द जलाशय के अर्थ में तथा नाड़ी शब्द जलधारा के अर्थ में प्रयुक्त होते है। पंजाबी में भी नाली शब्द जलकुल्या अर्थ में प्रयुक्त होता है। इन शब्दों के साम्य से प्रकट है कि शरीर में नाड़ियों और पृथिवी पर नदियों को एक ही प्रतीकात्मक शब्द द्वारा ध्वनित किया गया है। शरीर और जगत् की समता **'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'** सूत्र से प्रकट हो जाती है। शरीरस्थ सरस्वती माध्यमिका वाक् है जिसका स्थान सुषुम्ना है, परन्तु सुषुम्ना प्रणाली के मध्य में कोई नाड़ी नहीं होती। अत: डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसे सरस्वती का लुप्त स्वरूप माना है (द्रष्टव्य - मत्स्यपुराणानुशीलनम् - पृ0 256)। पार्थिव सरस्वती भी इसी कारण से लुप्त मानी गई है। यह पौराणिक-वर्णन तथा लोक-विश्वास के आधार पर प्रयाग की त्रिवेणी बनाने वाली सरस्वती है जिसका स्वरूप दृष्टिगत नहीं होता। शरीर में शरीरस्थ-चैतन्य की शक्ति तथा ब्रह्माण्ड में कूटस्थ-चैतन्य की शक्ति सरस्वती है जो दृष्टिगोचर तो नहीं होती परन्तु साधना द्वारा उसका अनुभव किया जा सकता है। सृजक-शक्ति होने से ही वह सृजन में प्रवृत्त होने वाले साहित्य-साधकों की आराध्या बनती है।

वैदिक मान्यतानुसार शरीर में 5 कोश हैं - अन्नमय कोश, मनोमय कोश, प्राणमय कोश, विज्ञानमय कोश तथा आनन्दमय कोश। इसमें प्रथम तीन विराट् पुरुष के अधिष्ठान हैं। प्राणमय और अन्नमय कोशों के अधिष्ठाता पतंग को आवृत्त करने वाली असुर माया कही गई है जिसे बैखरी वाणी प्रकट करती है तथा जो मन से धारण की जाती है- **पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति।** मनोमय कोश में हृद् (मन) की वाणी मध्यमा रहती है जो पतंग (आत्मा) को आवृत्त करने वाली असुर-माया को नष्ट कर देती है (मध्यमा वाक् के स्वरूप के लिए देखो - वैदिकदर्शन-डॉ0 फतहसिंह- पृष्ठ 59)। यही वृत्रघ्नी सरस्वती है जो विज्ञानमय कोश की वाक् परा और पश्यन्ती है जो सरस्वती का आनन्दमय कोश में स्थित आत्मा से सम्बन्ध स्थापित करती है। परा और पश्यन्ती का अधिष्ठान् विराट् से भिन्न स्वराट् है और आत्मा सम्राज् है। विराट्, स्वराट् और सम्राज् ही वाक् के बह्वृचोपनिषद् में उल्लिखित तीन पुर हैं जिनकी अधिष्ठात्री होने से ही वाक् को शैव, शाक्त और वैष्णव आगमों में उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय करने वाली ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की जननी महात्रिपुर सुन्दरी कहा गया है। ऋग्वेद की त्रिषधस्था सरस्वती महात्रिपुरसुन्दरी से अभिन्न है। बौद्धों की सरस्वती देवी और जैनों की पद्मावती देवी भी वैदिक-सरस्वती से अभिन्न है।,

आनन्दमय कोश का यक्ष (ब्रह्म) अकर्त्ता है। सारी सृष्टि में व्याप्त होने वाली उसकी शक्ति वाक् है। उसी की सहायता से वह सृजनकार्य में प्रवृत्त होता है। वह वाक् से कभी पृथक् नहीं हो सकता। शक्ति और शक्तिमान् का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध सारे भारतीय साहित्य में व्याख्यात है। वाक् को ब्रह्म भी कहा गया है - **वाग्वै ब्रह्म।** ब्रह्म में विचरण करने के कारण ही यह यक्ष डॉ0 फतहसिंह के अनुसार ब्रह्मचारी है। आनन्दमय कोश में वागरूपी स्त्री से संसर्ग

न होने के कारण उसे शुद्ध ब्रह्मचारी कहते हैं, जबकि विज्ञानमय कोश में वाग्जाया से युक्त हो जाने से उसे ब्रह्मचर्य भ्रष्ट व्रात्य कहते हैं (वैदिक-दर्शन पृ0 177)। देवों का प्रथम किल्विष (अथर्ववेद 5/19/11) ब्रह्म व वाक् का संयुक्त हो जाना ही है जिसका पुराणों में बहुधा उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद की ब्रह्मजाया सरस्वती ही ज्ञात होती है।

पंचकोशों में व्याप्त वाक् प्रारम्भ में अव्याकृत रहती है जिसे इन्द्र अर्थात् इन्द्रियों का प्रेरक आत्मा अपनी अधिष्ठिति से व्याकृत करता है। इसलिये अव्याकृत वाणी का इन्द्र द्वारा व्याकृत होना तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लिखित है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में सरस्वती शब्द के निम्न अर्थों का उल्लेख मिलता है।

1. **वाक् सरस्वती** (शतपथ 7/5/9/31) **वाग्वै सरस्वती पावीरवी** (शतपथ 7/7/3/39)।
2. **अथ यत् स्फूर्जयन् वाचमिव** वदन् दहति तदस्य (अग्नेः) **सारस्वतं रूपम्** (ऐ0 ब्रा0 3/4)।
3. **सा वाक् ऊर्ध्वा उद् आतनोद् यथा अपां धारा संतता एवम्** (ताण्ड्य महा ब्रा0 20/14/2)।
4. **सरस्वती हि गौः** (शतपथ 2/5/9/11)।
5. **सरस्वती जिह्वा** (शतपथ 12/9/1/14)।
6. **सरस्वती वृषा पूषा** (शतपथ 2/4/1/11)।
7. **सरस्वती (श्रियः) पुष्टिं (आदत्त)** (शतपथ 11/4/3/3)।
8. **सरस्वती पुष्टिः, पुष्टिपत्नी** (तैत्तिरीय ब्रा0 2/5/7/4)।
9. **एषां वै अपां पृष्ठः यत् सरस्वती** (तैत्तिरीय ब्रा0 1/7/5/5)।
10. **सरस्वतीति तद् द्वितीयं वज्ररूपम्** (कोषीतमि ब्रा0 12/2)।
11. **अथ यत्तु (वक्षोः) कृष्णं तत् सारस्वतम्** (शतपथ 12/9/1/12)।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार सरस्वती का उत्स ऋक् और साम हैं - **ऋक्सामे वै सारस्वतौ उत्सौ** (तै0 ब्रा0 1/4/4/9)। पुराणों में सरस्वती को प्रजापति से अभिन्न तथा वेदों की अधिष्ठात्री कहा गया है-

विरंचिर्यत्र भगवांस्तत्र देवी सरस्वती।
भारती यत्र यत्रैव तत्र तत्र प्रंजापतिः।
वेद-राशिः स्मृतो ब्रह्मा सावित्री तदधिष्ठिता॥

(मत्स्यपुराण 4/8/10)

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सृ धातु से असुन् प्रत्यय जुड़ने से सरः शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है - सरसः प्रशंसिताः ज्ञानादयो गुणाः विद्यन्ते यस्यां सा सर्वविद्याप्रापिका वाक् अर्थात् प्रशंसित ज्ञानादि गुण जिसमें हों वह सब विद्या प्राप्त कराने वाली वाक् सरस्वती है।

सरस्वती ज्ञान प्राप्त कराने के साथ-साथ अज्ञान का नाश भी करती है।

इयं शुष्मेभिर्विसखा इवारुजत्
सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः।
पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः
सरस्वतीमाः विवासेम धीतिभिः॥

(ऋ0 6/61/2)

सायण ने इस मन्त्र का केवल नदी पक्ष में अर्थ है जो अनुचित ज्ञात होता है। अन्तः प्रेरणा की देवी सरस्वती के प्रसंग में अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है -

"कमल ककड़ा खोदने वाले स्त्री-पुरुषों की तरह और तटों को तोड़ने वाली नदी की तरह सरस्वती पर्वत शिखरों के समान विद्यमान अन्नमय और प्राणमय कोश रूपी तटों के अज्ञानान्धकार का ऊर्ध्व ज्ञानमयी दशाओं में भंग कर देती है तथा इस प्रकार साधक को परमरक्षामय परमात्मा तक पहुँचा देती है। उस ज्ञानमयी सरस्वती की परिचर्या करते हुए हम बुद्धियुक्त कर्मों से उसके रहस्य को जानें।

ऋग्वेद में सरस्वती का सम्बन्ध बहुधा बुद्धि या प्रज्ञा से उल्लिखित है। **यथा - सरस्वती साधयन्ती धियं नः** (ऋ0 2/3/8) **धीनाम् अवित्री** (ऋ0 6/61/4) **श्रृण्वन् वचांसि मे सरस्वती सह धीभिः पुरन्ध्र्या** (ऋ0 10/65/13) वह **वाजिनीवती** (ऋ0 2/41/18, 6/61/4) है। सायण ने इस शब्द का अर्थ अन्नवती किया है। किन्तु दयानन्द सरस्वती के अनुसार यह विद्याप्राप्ति के लिए की जानेवाली क्रियाओं के हेतु व्यवहारों से युक्त (**सर्वविद्यासिद्धक्रियायुक्ता। वाजिनः क्रियाप्राप्ति हेतवो व्यवहारास्तद्वती**) है। श्री अरविन्द ने **वाजेभिर्वाजिनीवती** का अर्थ प्रकाशमय समृद्धताओं से भरपूर, विचारों की संपत्ति से ऐश्वर्यवती किया है।

वह स्नेहवत्सलाओं में श्रेष्ठ (अम्बितमा), शब्दवतियों में उत्तम (नदीतमा) तथा दिव्यगुणसंपन्नों में श्रेष्ठ (देवितमा) व सबका मार्ग प्रशस्त करने वाली कही गई है (ऋ0 2/41/16)। वह ऋतावरी (ऋ0 2/41/10) है। ऋतु के कारण ही उसका सम्बन्ध वरुण से जुड़ता है। असुर वरुण के समान वह भी असुर्या है (ऋ0 7/96/1)। उसकी दीप्ति अहिंसित (अह्रुत ऋ0 6/61/8) है। वह रत्नधा वसुविद्, हुतिमती और सुखदात्री है। वह स्यन्दनशील-प्रवहमान विचारों से पुष्टिलाभ करती है (ऋ0 6/52/6)। वह सबको पवित्र करती है (पावक ऋ0 1/3/10) (पावीरवी ऋ0 6/49/7) तथा बुद्धि के साथ तादात्म्य स्थापित होने पर सबका कल्याण करती है (ऋ0 7/35/11)।

सरस्वती सुन्दर विचारों का दोहन करने वाली (सुदुघा - ऋ0 7/36/6) है। जो ऋषियों द्वारा संपादित वेदरस-सारभूत पवित्र करने वाली ऋचाओं का अध्ययन करते हैं उनके लिए सरस्वती विचार, प्रकाश और मनन सामग्री का दोहन करती है (ऋ0 9/67/32)। वह सुन्दर नियन्त्रण स्थापित करने वाली है (सुयमा- ऋ0 9/89/4)। सरस्वती प्रभूतरूप से पान करने योग्य ज्ञान-रस प्रदान करती है (ऋ0 7/95/2)। वह प्रज्वलित अग्नि के समान ज्ञानोपदेश करती है तथा इन्द्रियजयी आचार्य के समान प्रवचन करती है (ऋ0 7/96/3)।

सरस्वती सुन्दर विचारों की प्रेरयित्री, सुबुद्धि को जगाने वाली तथा यश को धारण करने वाली है। वह महान् शब्द रूप समुद्र से दिव्य बोध कराती हुई क्रिया-शील-चेतना के अन्दर महान् विचारों को ला देती है। इसीलिए विचारों या बुद्धियों से विशेष रूप से सुशोभित होती है-

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनां।
यज्ञं दधे सस्वती॥
महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयती केतुना।
धियो विश्वा वि राजति॥ (ऋ0 1/3/11-12)।

सरस्वती समस्त ज्ञान-विज्ञान को अपने गर्भ में धारण करती है (ऋ0 10/184/2) सरस्वती को ऋग्वेद में शुभ्र-वर्णा भी कहा गया है (ऋ0 7/95/6,96/2)। वह उत्तम ऐश्वर्यशालिनी है जिसके ज्ञानप्राप्ति कराने वाले दो द्वार साधक की रस-ग्राहिणी जिह्वा पर होते हैं। उनको उत्तम जितेन्द्रिय आचार्य खोल देता है। शुभ्रवर्णा सरस्वती वृद्धि को प्राप्त होकर विद्याभ्यासी व्यक्तियों को ज्ञान प्रदान करती है और उत्तम साधनों से हम सबका कल्याण करती है -

अयमु मे सरस्वति वसिष्ठो द्वारावृतस्य सुभगे व्यावः। वर्ध शुभ्रे स्तुवते रासि वाजान्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कवि सम्प्रदाय-सिद्ध सर्वशुक्ला सरस्वती का मूल रूप ऋग्वेद में प्राप्य है। वहाँ उसे प्रज्ञा-दात्री देवी के रूप में ही उपस्थित किया गया है। अतः उसका विकास नदी विशेष के ऊपर विशिष्ट-गुणों को आरोपित करने के व्यवस्थित या अव्यवस्थित प्रयास से मानना उचित नहीं जान पड़ता। वस्तुतः सरस्वती का ऋग्वेदिक रूप ही परवर्ती साहित्य में होता हुआ वर्तमान स्थिति तक पहुँचा है।

पाद-टिप्पणियां

1. केवल पौराणिक कथा नहीं, अपितु इस प्राक्कालीन घटना का संकेत ताण्ड्य ब्राह्मण 25/10/12-23 में है। विशेष देखो 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ 66। सम्पा0।
2. केवल सरस्वती ही नहीं, गंगादि भी तीनों लोकों में गतिशील हैं। द्र0 ऋ0 10/75/1। (प्र सप्तसप्त त्रेधा विचक्रमुः)। सम्पा0

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (53-61) July-Dec. 2011

याज्ञिक वृष्टि विज्ञान

पं. वीरसेन वेदश्रमी
वेद सदन- महारानीपथ, इन्दौर -2 (मध्यप्रदेश) भारत

'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' - यज्ञ से मेघ होते हैं और 'अभ्राद् वृष्टि' - मेघों से वृष्टि होती है यह जितना प्रत्यक्ष एवं शाश्वत सत्य है, उतना ही 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' यज्ञ से मेघ होते हैं यह भी शाश्वत सत्य है। बादल होने पर भी वर्षा नहीं होती, तो भी यह कोई भी नहीं कह सकता कि यह असत्य सिद्धान्त है। उसी प्रकार यज्ञ से बादल न भी उत्पन्न हों, तो भी यह सिद्धान्त असत्य नहीं ठहर सकता। बादलों के निर्माण में यज्ञ का अन्तरिक्ष में जितनी मात्रा में विस्तार एवं सामर्थ्य प्रसारित होना चाहिए, उतनी मात्रा में न होने से मेघों का निर्माण नहीं होगा। सृष्टि के अन्दर एक यज्ञचक्र चल रहा है। उससे मेघों का निर्माण होता है। परन्तु उसी यज्ञचक्र एवं सिद्धान्त के आधार पर यदि हम भी अपने क्षेत्र में यज्ञ का आयोजन करें तो उससे भी मेघों का निर्माण होता है और उस यज्ञ से वर्षा भी होती है। अतः वेद ने यज्ञ को- 'वर्षवृद्धमसि' (यजु0 1/16) वर्षा की वृद्धि करने वाला कहा है, और 'वृष्टिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्' (यजु0 18/9) यज्ञ के द्वारा मेरी वृष्टि-क्रिया समर्थ हो और उससे वृष्टि हो यह भी उपदेश किया है।

यज्ञ से वर्षा होने के प्रसंग में वेद में अनेक महत्त्वपूर्ण संकेत मन्त्रों से प्राप्त होते हैं यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के 25 वें मन्त्र में 'व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु' - ये शब्द आते हैं। अर्थात् जिस यज्ञ का हम अनुष्ठान करते हैं वह मेघमण्डल में जाकर पृथ्वी के स्थान विशेष पर वर्षा करता है। इस वाक्य में यज्ञ का - यज्ञ की आहुति का मेघमण्डल में गमन होने की क्रिया से वर्षा का सम्बन्ध बताया है। यजुर्वेद अध्याय 2 के मन्त्र 16 में - 'मरुतां पृषतीर्गच्छ वशी पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह' इसमें बताया है कि यज्ञ की अग्नि में हम जो आहुति देते हैं, वह वायुमार्गों से गमन करती है और वह अन्तरिक्ष स्थान में से द्युलोक तक पहुँचती है तथा पुनः द्युलोक से वह वृष्टि को लाती है। पूर्व मन्त्र में यज्ञ का मेघ मण्डल से सम्पर्क होकर वर्षा कराना और दूसरे मन्त्र में मेघ न होने पर यज्ञ की आहुति का द्युलोक तक पहुँचकर वहाँ से वृष्टि का हेतु बनना बताया है। इन दोनों मन्त्र वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ की आहुति का वर्षा करने से पूर्ण सम्बन्ध है, अतः 'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु।' (यजु0 22/22) जब हम इच्छा करें तब तब मेघ बरसे, यह वेदवाक्य प्रत्यक्ष सिद्ध किया जा सकता है।

यजुर्वेद अ0 2 के 16वें मन्त्र में - 'मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्' ये शब्द भी आते हैं। अर्थात् हे मित्र और वरुण तुम दोनों वृष्टि से हमारी रक्षा करो। वर्षा पृथिवी पर होवे तो हमारी रक्षा होती है। यदि अतिवर्षा हो तो उससे हानि होती है अतः मित्र और वरुण ये दोनों अतिवृष्टि

से हमारा रक्षण करें यह भाव हुआ। मित्र और वरुण दोनों को ही - 'प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ' प्राण एवं उदान कहा गया है। मित्र और प्राण नाम से जिस एक तत्व को कहा गया है वर्तमान विज्ञान की परिभाषा में उसे औषजन (Oxygen) कहते हैं और वरुण या उदान नाम से जिस तत्व को वेद में कहा गया है उसे उद्‌जन (Hydrogen) कहते हैं। इन दोनों से जलतत्व का निर्माण होता है। इसलिए वेद ने मित्र एवं वरुण के गुणों को - 'तुम दोनों वृष्टि के द्वारा हमारी रक्षा करो' यह कहा है। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि वर्षा कराने में मित्र और वरुण तत्वों की भी आवश्यकता है और यज्ञ की आहुति से इन दोनों तत्वों का आकर्षण, निर्माण या वृद्धि आदि होती है, जिससे वृष्टि होती है। इसलिए अथर्ववेद में- मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम् (अथर्व0 5/24/5) मित्र और वरुण को वर्षा स्वामी कहकर रक्षा की प्रार्थना की है।

उपर्युक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि वृष्टि के लिए मात्र मित्र और वरुण दो पदार्थ हैं उनसे जल बनता है। यदि हमें वर्षा करानी हो तो दोनों पदार्थो को बनाकर वर्षा करावें। यदि वर्षा रोकनी हो तो मेघमण्डलस्थ सूक्ष्म जलों को मित्र एवं वरुण रूप में पृथक्-पृथक् स्थापित कर दें। क्या मित्र और वरुणतत्त्व को हम उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रश्न का समाधान वेद का निम्न मंत्र कर रहा है -

'कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया। दक्षं दधाते अपसम्।' (ऋ0 1/2/3)

इस मन्त्र के तुविजाता और उरुक्षया पद महत्वपूर्ण हैं। तुविजाता का अर्थ है बहुत कारणों से उत्पन्न और बहुतों में प्रसिद्ध। उरुक्षया का अर्थ है संसार के बहुत से पदार्थो में इनका निवास है। इस प्रकार वेद ने स्पष्ट बताया है कि ये मित्र और वरुण अनेक पदार्थों में रहते हैं और उन पदार्थो से उत्पन्न एवं प्रकट किये जा सकते हैं। उरुक्षया पद में क्षय शब्द का अर्थ निवासस्थान, घर आदि है। जैसे घर में हमारी स्थिति होती है, उसमें हमारा निवास, आवागमन होता है उसी प्रकार से मित्र वरुण के घर के रूप में अनेक पदार्थ हैं जिनमें उनको रखा जा सकता हे और उनसे प्राप्त भी किया जा सकता है।

किस तत्व से मित्र प्राप्त किया जा सकता है, और किससे वरुण तत्व प्राप्त किया जा सकता है यह ज्ञान प्राप्त कर लेने पर वर्षा कराने और रोकने के कार्य में सहायता प्राप्त हो सकती हे। एक पदार्थ में रहने वाले एक तत्व को निकालना और उसका दूसरे से संयोग करना यह अग्नि के माध्यम से होता है। अतः अग्नि में इनका आहुति रूप में प्रयोग करके वर्षा कराना तर्क एवं विज्ञान सम्मत कार्य है। यह आहुति वायुमार्ग से अन्तरिक्ष और द्युलोक तक पहुँचती है और वहाँ पर अपने समान पूर्व अनुकूल तत्वों में मिश्रित होकर परिमाण में वृद्धि को प्राप्त होकर वर्षारूप में परिणत हो जाती है। इसी प्रकार ऐसे तत्व जो दोनों को मिलाने वाले, आवश्यक तापमान को बनाने वाले या उनमें आर्द्रता, घनत्व एवं शीतलता की अनुकूल वृद्धि करने में सामर्थ्य रखते हैं, उनके उपयोग का सामर्थ्य एवं समयानुसार क्रिया को

करने से यज्ञ द्वारा वर्षा कराने में सहायता होती है। इसीलिए वेद में कहा है - यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋतं बृहत् (यजु: 33/3) महान् जलों के निर्माण के लिए मित्र और वरुण को हे अग्नि! तुम संगत करो।

यज्ञ प्रारंभ होने पर सबसे प्रथम प्रभाव वायु के तापमान पर पड़ता है। यज्ञस्थान की वायु में ऊष्मा की वृद्धि होती और उससे वह वायु नीचे से ऊपर की ओर गति करती है। जब नीचे की वायु ऊपर जाती है तो नीचे के खाली स्थान में आस पास की वायु प्रवेश करने लगती है और वह वायु भी उष्ण होकर ऊपर की ओर गति करती है। वायु में उष्णता से प्रसारण क्रिया होती है। प्रसारण से घनत्व की न्यूनता तथा घनत्व की न्यूनता से अपेक्षाकृत भार की न्यूनता होने से वह वायु ऊपर गतिशील हो जाता है। इस कारण से यज्ञाग्नि की निरन्तर क्रिया से पृथिवी से अन्तरिक्ष तक वायु की ऊर्ध्व, शीर्ष गति लम्ब रूप में प्रारंभ हो जाती है। यह गति प्रारंभ में कुछ दूर तक अनुमानत: 1 घंटे में 20 किलोमीटर की गति से प्रारंभ होकर उत्तरोतर गति में न्यूनता प्राप्त करती जाती है। इस प्रकार अन्तरिक्ष में जितनी ऊँचाई तक यह वायु नीचे से ऊपर की ओर गति करने लगती है उसके अनुसार ऊपर की वायु भी इसी मार्ग से नीचे की ओर गति करने लगती है। इस प्रकार यज्ञस्थान से वायुमण्डल के एक विशाल तथा ऊर्ध्वक्षेत्र में वायु का चक्र चलने लगता है। और यज्ञ में प्रयुक्त आहुति द्रव्यों को वाष्पधूम्र एवं सूक्ष्म अंशयुक्त परमाणुओं से यह स्थान पूरित हो जाता है तथा क्रमश: अपने समीप के क्षेत्र को भी प्रभावित कर विशाल होता जाता है। वेद में आहुति शक्ति से वायु को ऊर्ध्वगतिशील बनाने के लिए लिखा है -

स्वाहाकृते ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतम्।

(यजु: 6/16)

अर्थात् यज्ञ में स्वाहापूर्वक आहुति देने से वायु ऊपर आकाश में जावे।

यज्ञ के निरन्तर कुछ काल तक होने से यज्ञ प्रभावित वायुचक्र का क्षेत्र उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता जाता है और उसमें तापमान की वृद्धि से उस वायु की जल को अपने में आत्मसात् कर धारणाशक्ति बढ़ जाती है और ऊपर की आर्द्रता को भी वह नीचे आकर्षित करने में समर्थ हो जाती है। जितना ही उस वायु में यज्ञ से तापमान बढ़ता जाता है उतना ही वायु का जल को धारण करने का सामर्थ्य बढ़ता जाता है। इस प्रकार यज्ञ से एक विशिष्ट प्रकार के तापमान युक्त वातावरण का जल-धारणा के साथ उस विशिष्ट क्षेत्र में निर्माण होता जाता है जो वर्षा का कारण बन जाता है। वायु की यह जल-धारणशक्ति ही उसका गन्धर्वत्व है। गन्धर्व का अर्थ है -

यो गां जलं धारयति सो गन्धर्व: अर्थात् जो जलों को धारण करे वह गन्धर्व है।

यज्ञ में थोड़ी-थोड़ी देर से घृत एवं हव्य पदार्थों की आहुति दी जाती है। घृत की आहुति देने से अग्नि की ज्वालाएँ एकदम तीव्र हो जाती हैं। पुन: दूसरी आहुति देने तक उसमें ज्वाला की न्यूनता का क्रम चलता है। इस प्रकार ज्वाला की एकदम तीव्रता और क्रमश:

न्यूनता से वायुगति एवं ताप को उस क्षेत्र में वेगपूर्वक आग बढ़ाने के लिए तीव्र आघात क्रमशः लगते जाते हैं। ये आघात उस क्षेत्र में आहुति द्रव्य के सूक्ष्म परमाणुओं से तथा वायु में ताप के न्यूनाधिक स्तरों के कारण वायु के विविध स्तरों के निर्माण करने में सहायक हो जाते हैं। जिनमें तापमान की क्रमिक न्यूनाधिकता समाविष्ट रहती हैं। दो आहुतियों के मध्य के समय में जो वायु प्रभावित होती है उसके तथा आहुति के समय में प्रभावित वायु के तापमान में न्यूनाधिकता हो जाने से एक विशिष्ट प्रकार के तापमान से युक्त अन्तरिक्ष में अनेक वायु की लहरें या स्तर बन जाते हैं। इसलिए यज्ञ द्वारा अन्तरिक्ष में आहुति भेजना पड़ता है। और "अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा" (यजु0 अ0 6/22) यज्ञ में प्रयुक्त आहुति अन्तरिक्ष में जावे। इस निमित्त यज्ञ की क्रिया करनी पड़ती है।

उपर्युक्त वातावरण का निर्माण पृथिवी से ही यज्ञकुण्ड द्वारा उत्तम रीति से होता है। विविध प्रकार के कुण्डों की आहुतियों से अन्तरिक्ष में भी विविध प्रकार का प्रभाव पड़ता है। यदि कुण्ड एक सा गहरा हो, जैसा की मिलों की चिमनी होती है तो उससे वायु-मण्डल में गति का क्रम ऊपर की ओर सीधा तो होगा परन्तु यह एक बड़े क्षेत्र की वायु को गति दने एवं प्रभावित करने में उतना समर्थ नहीं होगा जितना कि ऊपर से चौड़े एवं नीचे से संकरे कुण्ड़ से होता है। इस प्रकार के कुण्ड से क्षितिज क्षेत्रानुकूल गति के वायुमण्डल में निर्माण होने में सुविधा होती है। अतः वायुमण्डल या अन्तरिक्ष में जैसी स्थिति के निर्माण की आवश्यकता है वैसे कुण्ड का उपयोग करना चाहिए। इसलिए किन्हीं अवसर एवं स्थितियों में जब अनेक प्रकार के कुण्ड़ो की आवश्यकता हो तो उनके द्वारा पृथिवी से द्युलोक तक के मण्डल को घृतादि की आहुतियों के सूक्ष्म अंश से भरा जाता है। वेद में कहा है-

घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथाम् (यजुः 6/16) यज्ञ के द्वारा घृतादियों से पृथिवी से द्युलोक के मध्य के अन्तरिक्ष को भर दो।

यज्ञाग्नि से अन्तरिक्षस्थ वायु में घर्म (ताप) की वृद्धि से जल का अधिक मात्रा में समावेश हो जाता है और यज्ञकुण्ड की क्रिया का क्रम जब समाप्त हो तो यज्ञ से प्रभावित वायुमण्डल में तापमान की उत्तरोत्तर न्यूनता होती जाती है और उस वायु में वाष्प के घनत्व का संकोच एवं आर्द्रता की वृद्धि का क्रमशः निर्माण होने लगता है जिससे मेघों का रूप आकाश में दृष्टि-गोचर होने लगता है। कभी-कभी अन्तरिक्ष तापमान के प्राकृतिक कारणों से मेघ-निर्माण में न्यूनाधिक परिवर्तन भी होते हैं, उन अनुकूल प्रतिकूल कारणों के स्थापना एवं निराकरण की विधि का ज्ञान प्रयोक्ता को होना चाहिए।

यज्ञ के द्वारा आहुति में प्रयुक्त घृतादि से सूक्ष्म अंश तथा हव्य द्रव्यों के मरुद्गण (विविध गैस एवं यज्ञ द्वारा उत्पन्न कार्बन तथा रजकणों का संयोग उन बादलों में मिश्रित होकर जमाने की क्रिया को उत्पन्न करता है। घृत के वाष्पकण जल के कणों से संयुक्त होने पर भार में उनसे हल्के होने से उनके ऊपर के स्तर पर

जमने एवं जमाने की क्रिया करते हैं। कुछ द्रव्य ऐसे भी होते हैं जो जल में वहाँ विलय हो जाते हैं तथा कुछ द्रव्यों के रज:कण एवं घृतावरणयुक्त कार्बन-कण वाष्प में मिश्रित होने पर घृत की अपेक्षा भारी होने से जलकणों के नीचे का भाग में जमकर बादलों में घनत्व, गुरुत्व आर्द्रता एवं शीतलता की वृद्धि उत्तरोत्तर करते जाते हैं और उनसे दूसरे जलकणों में भी समूहरूप में गुरुत्व, घनत्व आर्द्रता एवं सान्द्रता की वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार जलकणों के दोनों शीर्ष विपरीत स्थिति एवं गति में परिवर्तन करते हैं और दोनों गतियों में चक्राकार गति क्रियाशील होकर घनत्व, गुरुत्व एवं हिमत्व की ओर अग्रसर होते जाते हैं। इस स्थिति से जल-कणों में सरलता से शीतलता एवं हिमत्व की वृद्धि होने से बादलों में भार बढ़ जाता है, और उन मेघों से वर्षण-क्रिया प्रारम्भ होने लगती है।

जब मेघ आकाश में होते हैं तो अनुकूल स्थिति में यज्ञ द्वारा वे नीचे भी आने में समर्थ होते हैं और उनके साथ आहुति के द्रव्यों का संयोग हो जाने से पूर्वोक्त प्रकार से वर्षण-क्रिया भी शीघ्रता से हो जाती है और कभी प्रतिकूल स्थिति होने पर उस समय बादल हट भी सकते हैं परन्तु यज्ञ की समाप्ति के कुछ समय पश्चात् मेघ पुन: प्रकट हो जावेंगे या आ जावेंगे और इन पदार्थो के धूम्र के मिश्रण को प्राप्त कर उस क्षेत्र में बरस जावेंगे। यज्ञ से पूर्व अत्यल्प बादलों के होने पर ही प्राय: उनके कुछ काल के लिए अदृश्य होने की स्थिति होती है।

अग्नि प्रदीप्त करने मात्र से वातावरण में गति होने से ही वर्षा नहीं होती अपितु उसके साथ उस वाष्प में घनत्व, गुरुत्व, आर्द्रता, सान्द्रता, तरलत्व एवं हिमत्व सामर्थ्य उत्पन्न कराने के लिए घृतादि सदृश पदार्थ तथा अन्य द्रव्यों की भी आवश्यकता रहती है। रेल, कल कारखाने एवं मोटरों के धुओं से मेघ की उत्पत्ति या उनमें घनत्व तथा जमने का सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होता है। यह क्रिया इच्छित अवसर पर वर्षा कराने के लिए यज्ञ में प्रयुक्त घृत एवं हव्य पदार्थो से ही होती है। इसलिए वेद ने कहा **घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम्** (यजु0 अ0 5/28) अर्थात् हे यज्ञ! तुम द्युलोक और पृथिवी को घृताहुति से पूर्ण कर दो।

आहुतियों का अन्तरिक्ष में विस्तार एवं प्रभाव-क्षेत्र विभिन्न रूप में होता है। ऊपर के क्षेत्र में अति सूक्ष्म अंश पहुँचता है, उससे कुछ स्थूल अंश मध्य के क्षेत्र में और उससे भी स्थूल भाग और भी नीचे के क्षेत्र में पहुँचता है। इस प्रकार भारी तत्व पृथिवीमण्डल के समीप के अन्तरिक्ष में, उससे सूक्ष्म पदार्थ उससे ऊपर के अन्तरिक्ष क्षेत्र में पहुँच जाते हैं। इस प्रकार एक आहुति अनेक रूप में विभक्त होकर अन्तरिक्ष में व्याप्त हो जाती है। यही आहुति का पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ में गमन है। यही वेद में विष्णु (यज्ञ) का त्रिलोकी में गमन एवं व्याप्ति - **'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्'** (यजु0 5/15) इस मन्त्र में वर्णित है।

यज्ञ में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग होता है और उनके अनुसार ही आहुति होती है। छन्दों के अनेक भेद होते हुए भी अन्तरिक्ष को स्थूल रूप से तीन स्थानों में विभाजित किया जाता है,

पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ। अन्तरिक्ष का वह भाग जो पृथिवी से सम्बन्ध रखता है और उसके प्रभाव से प्रभावित रहता है वह पृथिवीमण्डल का अन्तरिक्ष है। यह पृथिवीमण्डल के ऊपर के अन्तरिक्ष से सम्बन्धित है। यह गायत्री छन्द की परिधि है। इसी परिधि में मेघों का निर्माण होता है। यही गायत्र मण्डल इससे ऊपर के अन्तरिक्ष का क्षेत्र त्रैष्टुभमण्डल है और उससे भी ऊपर के अन्तरिक्ष का क्षेत्र जागतमण्डल है। इसलिए वेद ने कहा- **'छन्दांसि गच्छ स्वाहा'** (यजु: 6/21) यज्ञ की आहुतियाँ छन्दविभाग को प्राप्त हों।

गायत्री छन्द के मन्त्रों में 24 अक्षर होते हैं अत: इनके उच्चारण काल के पश्चात् जो आहुति दी जावेगी उनके काल में एक समान अन्तर होता चला जाएगा। एक आहुति के पश्चात् दूसरी आहुति का समय, नियत समय पर ही आएगा। परन्तु इन आहुतियों में कुछ आहुतियों के अग्नि में पूर्ण भस्म और द्रव्य के कुछ भाग की अर्धदग्धता भी रहेगी। अर्ध दग्ध आहुतियों के ऊपर आहुतियाँ होते रहने से उससे निष्पन्न धूम्र गैस या वाष्पीय भाग में सूक्ष्म भाग कम निष्पन्न होगा अपितु उसके धूम्र भाग में स्थूल भाग का प्रधानत्व होगा। अत: उन आहुतियों का अंश भारी होने से पृथिवी के ऊपर उठ कर गायत्रीमण्डल में ही प्रमुख रूप से भ्रमण करेगा।

त्रिष्टुभ् छन्द में 44 अक्षर होते हैं अत: उसके उच्चारण में गायत्री के दुगने से कुछ कम समय लगेगा। इन मन्त्रों से क्रमपूर्वक आहुतियाँ देने से हुत पदार्थ पूर्वापेक्षा अधिक देर जलने से अच्छे प्रकार सूक्ष्म एवं वाष्पमय होकर गायत्र मण्डल से ऊपर के भाग में गमन करने में समर्थ होंगे और जगती छन्द 48 अक्षर वाला होने से उसके उच्चारण में और भी विलम्ब होने से आहुति को अग्नि से अति सूक्ष्मत्व प्राप्त होने से तथा आहुतियों के क्रमानुसार होने से उसी प्रकार दीर्घ अन्तर के हुत द्रव्य मिश्रित वायवीय स्तर अन्तरिक्ष में बनेंगे। जिस प्रकार से आकाश में इन्द्रधनुष दृष्टिगोचर होता है और उसमें विविध रंग प्रतीत होते हैं उसी प्रकार से यज्ञ की छन्दोमय आहुतियों से हव्य द्रव्य के वाष्प या धूम्र के स्तरों का अन्तरिक्ष में निर्माण होता जाता है और उत्तरोत्तर आहुतियों से पूर्व पूर्व के स्तर उत्तरोत्तर ऊपर को बढ़ते जाते हैं। इसलिए वेद ने **'दिवं ते धूमो गच्छतु'** (यजु0 6/29) यज्ञ का धूम्र उत्तरोत्तर बढ़कर द्युलोक तक जावे इस प्रकार कहा है।

पूर्वोक्त प्रकार से यज्ञ में छन्दपूर्वक आहुति देने से हमें अन्तरिक्ष के जिस स्थान पर आहुति को क्रियाशील करना हो वहाँ के अन्तरिक्ष क्रियाशील किया जा सकता है। आकाश में यदि मेघ हैं और वे वर्षते नहीं है तो उनको वर्षाने के लिए या अधिक बरस रहे हों तो उनको दूर करने के लिए हमें यह निश्चश्य कर लेना चाहिए कि यह किस छन्द की सीमा में है। पृथिवी से अनुमानत: 10 किलोमीटर तक ऊचाई की परिधि को हमने गायत्रीमण्डल माना है, अत: आकाश में बादलों की स्थिति गायत्रमण्डल के अन्तर्गत हुई। ऐसी स्थिति में गायत्री छन्द के मन्त्रों से जो आहुतियाँ होंगी उनसे उत्पन्न धूम्र एवं वाष्प में घनत्व एवं भार अपेक्षाकृत अधि

क होगा और छोटे-छोटे स्तरों का अन्तरिक्ष में निर्माण होगा और उसके अधिकांश भाग की पहुँच प्रधान रूप से गायत्र मण्डल की परिधि में ही विचरण करेगी तथा उसके इस मण्डल के अन्तर्गत जो मेघ होंगे उन पर वह अपना प्रभाव करेगी। इसी भाव को वेद में **'पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्तं गायत्रेण च्छन्दसा'** (यजु: 2/26) यज्ञ रूपी जो विष्णु है वह गायत्री छन्द से पृथिवीमण्डल की परिधि में पहुँचता है - इस प्रकार प्रकट किया है।

छन्दोच्चारणपूर्वक आहुति के विविध क्रम से उससे निर्मित वाष्पमय धूम्र पर उसकी सूक्ष्मता विरलता, गति एवं वायवीय स्तर निर्माण में अन्तर उत्पन्न हो जाता है। अत: त्रैष्टुभ छन्दों के साथ दी हुई आहुति के अधिकांश भाग की गति एवं पहुँच गायत्रमण्डल से ऊपर के अन्तरिक्ष क्षेत्र में प्रधान रूप से सक्रिय होगी और उस क्षेत्र के तत्वों को वह आहुति विशेष प्रभावित करेगी। जिस प्रकार से तालाब में उत्पन्न बड़ी लहरें वेग से प्रान्त भाग तक आघात करती हैं और उसमें बड़ी-बड़ी लहरों का ही रूप हो जाता है तथा छोटी लहरों का प्रभाव क्षेत्र प्रमुख रूप से मध्य क्षेत्र में ही प्रभावशील रहकर प्रान्त भाग एवं प्रभावहीन होता है, उसी छन्दरूप से विविध आहुतियों का विस्तार एवं प्रभाव अन्तरिक्ष में ही होता है। इसी स्थिति को वेद ने - **'अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त त्रैष्टुभेन च्छन्दसा'** (यजु: 2/26) में प्रकट किया है।

इसी प्रकार त्रैष्टुभ मण्डल से भी ऊपर के मण्डल जिसमें द्युलोक आदि हैं उस पर जगती छन्द के मन्त्रों की आहुतियों से विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है। यदि आकाश में मेघ नहीं है गायत्रमण्डल से ऊपर के आकाश में से जलीय सूक्ष्म वाष्प एवं आर्द्रता को पृथिवीमण्डल की परिधि या गायत्र मण्डल के क्षेत्र में लाने के लिए यज्ञ द्वारा त्रैष्टुभ एवं जागत छन्दों के क्रमपूर्वक व्यवधान से आहुतियों के अग्नि में प्रयोग से उस क्षेत्र के अन्तरिक्ष में आहुति के सूक्ष्म अंशों के स्तर निर्माणअ करने होंगे। वे स्तर अपने अन्दर वहाँ की आर्द्रता को धारण कर गुरुत्वाकर्षण को प्राप्त होकर नीचे की ओर स्वभावत: जावेंगे। इस प्रकार जब मेघ न हों तब मेघों के निर्माण का कार्य यज्ञ से हो जाता है। यह कार्य के प्रकार से उत्तम रीति से हो जाता है। अत: यह इस निमित्त श्रेष्ठ उपाय है।

सृष्टि के अन्दर द्रव्य हैं उन द्रव्यों में अनेक प्रकार के गुण हैं। उन द्रव्यों के गुणों के ज्ञात होने पर उनका उचित स्थिति में प्रयोग करने से अपने अनुकूल स्थिति का निर्माण किया जा सकता है। पदार्थों के इस प्रकार गुणागुण बल के ज्ञात हो जाने से अनेक प्रकार के कार्य हो सकते हैं। सृष्टि में किसी तत्व की वृद्धि एवं क्षय इसके द्वारा सम्भव है। वर्षा के अभाव में वर्षा कराने में सहयोगी तत्वों के प्रसारण से मेघ-निर्माण तथा वर्षा की उत्पत्ति होती है एवं वृष्टि रोकने के तत्वों का अग्नि के माध्यम से वायु में प्रसारण-क्रिया द्वारा इच्छित लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

वर्षा मेघों से होती है। मेघों के निर्माण में सोम तत्व की आवश्यकता है और सोमतत्त्व के लिए श्रद्धा तत्त्व की आवश्यकता है। अर्थात् श्रद्धा से सोम का निर्माण, सोम से मेघ का

निर्माण और मेघ से वृष्टि-जलों का निर्माण होता है, यह क्रम है। यह सब जल की उत्तरोत्तर सूक्ष्म एवं विरल अवस्थाएँ हैं। श्रद्धा अत्यन्त सूक्ष्म जल की अवस्था है। सूर्य की ऊष्मा से, पृथिवीस्थ ऊष्मा से तथा दोनों की सम्मिलित-ऊष्मा से पृथिवी-मण्डल के ऊपर की परिधि में विचरण करने वाले मातरिश्वा नामक वायु से उत्पन्न घर्म-ताप - पृथिवीस्थ जलों के एवं वृक्ष वनस्पतियों के रसों के जलीय अंश का वायु द्वारा शोषण एवं धारण होकर सूर्य रश्मियों के ताप से उन जलों की ऊपर गति होती रहती है। जल की अत्यन्त सूक्ष्म एवं विरलावस्था श्रद्धा संज्ञक है। जल की इस श्रद्धामय स्थिति में जल में कुछ घनत्व एवं आर्द्रता होती है तो वह सोम रूप में परिणत हो जाता है। यज्ञ की आहुतियों से श्रद्धारूपी सूक्ष्म जलों में उत्पन्न आर्द्रता एवं घनत्व की स्थिति रूप में परिवर्तन ही सोम है। वह बादलों की स्थिति नहीं है अपितु बादलों की पूर्व प्रकृति है। अर्थात् बादलों के बनने से पूर्व की निकट स्थिति सोम संज्ञक है। उसमें यज्ञ द्वारा आहुति को क्रियाशील करने के लिए- **सोमं गच्छ स्वाहा** (यजु: 6/21) आहुति सोम को प्राप्त हो ऐसा कहा है।

आकाशमण्डल में व्याप्त सूक्ष्म श्रद्धा नामक जलों को वर्षा के अभाव में सोम में परिणत किया जा सकता है। यज्ञ द्वारा यह क्रिया स्वाभाविक रूप से होती है जैसा कि पूर्व विवेचन में वर्णित किया है। परन्तु यदि आहुति के द्रव्यों का विशेष ज्ञान हो तो उन पदार्थों की आहुति से सोमस्थिति का अन्तरिक्ष क्षेत्र में शीघ्र निर्माण किया जा सकता है। हुत द्रव्यों को अपने स्थान पर पहुँचा देने से सौपर्णत्व सिद्ध हो जाता है। अत: यज्ञ सुपर्ण होकर अन्तरिक्ष में जाता है और उससे वर्षा होती है। यही सुपर्ण आहुति है अर्थात् हुत द्रव्य को पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ के क्षेत्र में यथावत् विभक्त करके स्व-स्व स्थान में क्रिया उत्पन्न करने के लिए पहुँचाना। यही भाव वेद के- **भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः** (यजु: 18/42) मन्त्र में वर्णित है। यहाँ यज्ञ का विशेषण सुपर्ण कहा है अर्थात् जिसके अन्दर अन्तरिक्ष में गमन करने का, पालन करने का एवं कार्य पूर्ण करने का सामर्थ्य है वह सुपर्ण है। यज्ञ आहुति द्रव्य को लेकर सुपर्ण होकर अन्तरिक्ष में गमन करता है अत: यज्ञ भी सुपर्ण है।

जिस पदार्थ का जो भाग अग्नि के संयोग से जितना ऊर्ध्व गमनशील है उसमें उतना ही सौपर्णत्व विद्यमान होता है। ऐसे पदार्थों में भी जिन पदार्थों से अन्तरिक्षस्थ सूक्ष्म जलों में घनत्व एवं आर्द्रता की वृद्धि होती है वे सौपर्णत्व प्रधान द्रव्य सौपर्ण श्रेणी के अन्तर्गत हैं। ऐसे पदार्थों की यज्ञाग्नि में आहुति से वर्षा कराने की प्रक्रिया में सोम का निर्माण शीघ्र होता है। ऐसे कुछ द्रव्यों का अनुसंधान करके पता लगाया भी है और उनका कुछ परीक्षण करने का भी अवसर प्राप्त हुआ एवं सफलता भी देखने को मिली। सन् 1961 के जून मास में दिल्ली में वर्षा यज्ञ के परीक्षण के अवसर पर ऋत्विजों को पूर्व ही बता दिया गया था कि प्रारम्भ में आकाश में सोम भरने की क्रिया की जावेगी और तदनुसार सौपर्ण द्रव्यों का प्रयोग किया। परिणामस्वरूप वहां के पृथिवीमण्डल

के वातावरण में आर्द्रता एवं घनत्व की वृद्धि का परिणाम दृश्य स्थिति में परिणत हुआ।

जल का सोम रूप इस विरल अवस्था में और भी घनत्व, सार्द्रता एवं सान्द्रता उत्पन्न करने से मेघों का रूप प्रकट हो जाता है। अत: सोम तत्त्व में और भी सान्द्रता, सार्द्रता एवं घनत्व वृद्धिकारक पदार्थों की आहुति से मेघ बनने प्रारम्भ होंगे। पदार्थों का वह भाग जो आकाश में जाकर वायवीय स्तरों के मार्ग से सोम रूप स्थिति में ऊर्ध्व गति न करके तिर्यक् गतिशील होकर सोम तत्त्व को बादल में परिणत करके तिर्यक् गतिशील तत्त्व बनाता है वह कद्रू तत्त्व है और यह सामर्थ्य जिन पदार्थो में विशेष रूप से होता हे वे काद्रवेय तत्त्व हैं। ऐसे द्रव्यों की भी एक श्रेणी अनुसन्धान से ज्ञात हुई है। सुपर्ण एवं कद्रू की आहुतियों से वर्षा कराने की शतपथ की कथा विज्ञान के मार्ग में प्रेरक होने से इस दशा में अनुसन्धान को प्रोत्साहन देने वाली है। अत: सौपर्ण द्रव्य एवं काद्रवेय द्रव्यों की आहुति से वर्षा होती है।

जब सोम में कद्रू तत्त्व की प्रधानता हो जाती है, तब सुपर्ण तत्त्वों की ऊर्ध्वगति में कद्रूतत्त्व की तिर्यक् गतियों से उसमें संघर्षण रूपी क्रिया विशेष प्रारम्भ होने से ज्योतिर्मय घटक तीव्र तिर्यक् गति करते हुए बिन्दु रूप में विभिन्न आकार के दीखने लगते हैं। किन्हीं किन्हीं में ज्योतिर्मय पुच्छ भी दृष्टिगोचर होती है। यह ऐन्द्रतत्त्व के जाग्रत् एवं उद्बुद्ध होने से होता है। बादलों में सान्द्रता, आर्द्रता एवं घनत्व की वृद्धि से वाष्प के घटकों के परस्पर आकर्षणपूर्वक गति होने से उनके संघर्षण से सैकड़ों स्फुलिंग उनमें स्थित कार्बन कोशों से प्रकाशमय रूप में परिवर्तित होकर मित्र और वरुणतत्त्वों को तरल जल रूप प्रदान कर देते हैं। ये स्फुलिंग क्रिया प्रारम्भ में थोड़ी मात्रा में उत्पन्न होकर कुछ ही काल में बहु संख्या में दृष्टिगोचर होने लगती है। यही ऐन्द्रतत्व जब एकशृंखला के धारा रूप धारण कर लेते हैं तो मेघ में विद्युत् प्रकाशित होने लगती है। कभी-कभी उस क्रिया के साथ मेघों के विशेष क्रियाशील होने से विद्युत् के साथ घनगर्जना भी होती है। उन मेघों की उस स्थिति को **स्तनयित्नु** कहते हैं। मेघों में इन्द्र तत्त्व के प्रहरण से ही वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। यही वृत्रासुर वध का रूपक है। इन्द्रतत्त्व की वृद्धि मेघों में जिन पदार्थो से आहुति के माध्यम से की जा सकती है, वे ऐन्द्र द्रव्य हैं। इसका यज्ञ की आहुति से सम्बन्ध मेघों में इन्द्र (विद्युत्) तत्त्व की जागृति में होता है।

वृष्टि-यज्ञ में आकाश की स्थिति एवं ऋतु की स्थिति को देखकर उनमें किस स्थान पर क्या क्रिया करनी है यह निदान करके आहुति के लिए आवश्यक द्रव्य एवं छन्दों का उचित रीति से समुचित मात्रा में विनियोग करने से सफलता प्राप्त होती है। वर्षा-यज्ञ में द्रव्य, ऋतु एवं छन्दविज्ञान का समुचित ज्ञान आवश्यक है। जितना सूक्ष्म अध्ययन **द्रव्य एवं ऋतु स्थिति का होगा उतनी ही सफलता का सुनिश्चय प्रयोक्ता को होगा।** इस याज्ञिक वृष्टि-विज्ञान की सफलता याज्ञिक पर्जन्य-विज्ञान से सम्बन्धित है और दोनों का अभिन्न सम्बन्ध है। अत: इसका भी विवेचन करना विद्वानों के लिए आवश्यक है।

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (63-67) July-Dec. 2011

सायणाचार्य एवं महर्षि दयानन्द की वेदभाष्य-पद्धति

डॉ० सुदर्शन देव आचार्य, डॉ० सुधीर कुमार*
हरिसिंह कालोनी, रोहतक (हरियाणा) भारत
**असि. प्रो0, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी वि.वि., हरिद्वार (उत्तराखण्ड) भारत*

प्राचीन काल में ऋषियों ने वेदों के 'ब्राह्मण' आदि के रूप में अनेक व्याख्या ग्रन्थ लिखे हैं जैसे ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ। ये ऋग्वेद आदि के व्याख्या ग्रन्थ माने जाते हैं। आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थ भी वेदों की व्याख्या में ही लिखे गये हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, ये तो साक्षात् वेद के उपांग माने जाते हैं। यह सब साहित्य अपने-अपने ढ़ंग से वेद को समझाने का प्रयत्न करता है। हम इन सब ग्रन्थों को वेदार्थ में सहायक ग्रन्थ कह सकते हैं।

आज प्रत्यक्ष रूप से ऋग्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद पर सायण भाष्य उपलब्ध होता है, यजुर्वेद पर भट्ट भास्कर, उव्वट और महीध र का भाष्य मिलता है। आज सायण का भाष्य सर्वश्रेष्ठ और प्राचीन भाष्यकारों का प्रतिनिधि माना जाता है। इसमें विद्वान् निम्न कारण मानते हैं-

1. यह प्रत्येक सूक्त तथा मन्त्र के विषय में उस समय उपलब्ध समस्त सूचना देने का प्रयास करता है। जैसे उस सूक्त का प्रतीक, ऋचाओं की संख्या, मन्त्र का ऋषि, देवता आदि।
2. यह सूक्त या उसकी किसी ऋचा के विषय में ब्राह्मण और श्रौत सूत्रों में उपलब्ध विनियोग का उल्लेख करता है।
3. यह सूक्त या ऋचा विषयक ब्राह्मण और बृहद्देवता आदि में विद्यमान कथा का निर्देश करता है।
4. यह ब्राह्मण और निरुक्त आदि में किसी मन्त्र या वैदिक पद की व्याख्या है तो उसे यथास्थान उद्धृत करता है।
5. यह मन्त्रों के कठिन पदों की व्याख्या में निघण्टु का एवं निर्वचन में निरुक्त का उपयोग करता है और अनेक स्थलों पर स्वतन्त्र निर्वचन करता है।
6. यह वैदिक पदों की सिद्धि में तथा उनके स्वर सम्बधी परिचय में पाणिनीय व्याकरण शास्त्र का प्रयोग करता है।

सायणभाष्य में इन सब विशेषताओं के होते हुए भी उसे सर्वथा दोषरहित एवं पूर्ण नहीं कहा जा सकता। सायणभाष्य में वैदिक विद्वान् निम्नलिखित दोष स्वीकार करते हैं -

1. यह एक स्थान पर किसी वैदिक पद का जो अर्थ करता है। दूसरे स्थान पर उसी पद का अर्थ उससे भिन्न तथा कहीं-कहीं विरोधी अर्थ भी प्रस्तुत कर देता है।
2. यह उपलब्ध परम्पराओं के आधार पर किसी मन्त्र या पद के वैकल्पिक अर्थो का संग्रह मात्र करता है, किन्तु यह नहीं बतलाता कि अमुक अर्थ ग्राह्य है। इस प्रकार के सन्दिग्ध अर्थ भावी भाष्यकारों के लिए बाधक बनते हैं।

3. सायणभाष्य में उत्तरकालीन पौराणिक कथाओं का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैसे महाभारत में वर्णित 'खाण्डवदाह' की कथा का उल्लेख (ऋ. 10/142/7)।
4. यह 'व्यत्ययो बहुलम्' 'बहुलं छन्दसि' आदि पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों से मनोवांछित रूप सिद्ध करने का असफल प्रयास करता है।
5. विद्वानों का यह भी आक्षेप है कि सायणाचार्य ने अपने भाष्य में मन्त्र के जो अग्नि आदि देवता हैं, उनकों कोई अर्थ नहीं किया। उनके मत में 'अग्नि' आदि देवता स्वर्ग में विद्यमान हैं और मन्त्रों के द्वारा यज्ञ में उनका आह्वान किया जाता है। अग्नि, इन्द्र आदि देवता यज्ञ में पधारते हुए दृष्टिगोचर नहीं होते। अत: इस प्रकार के मन्त्रार्थ प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से प्रामाणिक नहीं कहे जा सकते।
6. सायणभाष्य के अर्थ असंगत भी प्रतीत होते हैं। जैसे **'अग्निमीडे पुरोहितम् यज्ञस्य देवम्** (ऋ. 1/1/1) इस मन्त्र में 'अग्नि' नामक देव को यज्ञ का पुरोहित कहा है। विद्वान् विचार करें कि स्वर्गस्थ अग्नि 'यज्ञ' का पुरोहित कैसे हो सकता है। इसी प्रकार से उक्त मन्त्र में अग्नि को 'होता' और 'ऋत्विक्' भी कहा गया है, स्वर्ग में विद्यमान 'अग्नि' ही 'होता' 'ऋत्विक्' होगा तो यजमान और विद्वान् क्या करेंगे। इस प्रकार सायण का भाष्य प्रांय: असम्भव अर्थों से परिपूर्ण है।
7. सायण भाष्यों में जो निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थ आदि के प्रमाण दिए गए हैं, वे केवल उद्धरण मात्र हैं। उन प्रमाणों का सायण ने अपने मन्त्रार्थ में कोई उपयोग नहीं लिया। यथा - 'अग्निमी के पुरोहितम्' मन्त्र के भाष्य में 'अग्नि' पद की व्याख्या में निरुक्त का प्रमाण प्रस्तुत किया है 'अग्निरग्रणीर्भवति'। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ का उद्धरण देकर बतलाया है कि 'अग्नि' देवों का सेनानी है। यदि सायण इन प्रमाणों के प्रकाश में अग्रणी (नेता) एवं सेनानी परक मन्त्रार्थ करते तो कोई बात थी। वहाँ वस्तुस्थिति यह है कि मन्त्रार्थ कुछ है और सायण कुछ और ही कह रहे हैं।

सायणभाष्य की इन अपूर्णताओं के कारण बैनफी तथा राथ आदि पाश्चात्य विद्वान् प्राचीन भाष्यकारों के व्याख्यानों को हेय मानने लगे और उन्होंने इस मत का प्रतिपादन किया कि भारतीय भाष्यकारों की तुलना में आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भाषावैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर मन्त्रों का अधिक शुद्ध अर्थ प्रस्तुत कर सकते हैं, किन्तु सब पाश्चात्य विद्वान् इस विचार से सहमत नहीं हैं। एच. एच. विल्सन प्राचीन भाष्यकारों के योगदान का समादर करते हैं।

आर. पिशल तथा के.एफ.गैल्डर नामक जर्मन विद्वानों ने उक्त पाश्चात्य विद्वानों के मत का समर्थन नहीं किया है। उनका कहना है कि आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर मन्त्रार्थ करते हुए भी प्राचीन भारतीय भाष्यकारों की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनका

विचार है कि भारतीय भाष्यकार वेदों के अर्थ को समझने में अधिक समर्थ हैं, कयोंकि वेदों की पृष्ठभूमि भारतीय है।

वास्तविकता यह है कि सायण आदि प्राचीन भाष्यकार उत्तरकालीन पौराणिक कथाओं तथा विश्वासों के अनुसार वेदों में आदिम युग की अन्धविश्वास ग्रस्त संस्कृति के अन्वेषण में तत्पर रहते हैं। दोनों ही किसी पूर्वाग्रह से आबद्ध होने के कारण सत्य वेदार्थ तक नहीं पहुँचे हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदों के विषय में जहाँ अपनी विशिष्ट मान्यतायें स्थापित की हैं वहाँ वेद के भाष्य करने का भी प्रयास किया है। वे अपने **ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका** नामक ग्रन्थ में अपने वेद भाष्य के विषय में प्रश्न-उत्तर के रूप में लिखते हैं।

प्रश्न - क्यों जी तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो, वह पूर्वाचार्यो के भाष्य के समान बनाते हो या नवीन। यदि पूर्वरचित भाष्यों के अनुसार है, तब तो व्यर्थ है, क्योंकि वे तो पहले ही बने बनाए हैं और जो नया बनाते हो तो उसको कोई भी नहीं मानेगा, क्योंकि केवल अपनी ही कल्पना से बनाना है, यह बात कब ठीक हो सकती है।

उत्तर- यह भाष्य प्राचीन भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है, परन्तु जो रावण, उवट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाए हैं, वे सब मूल-मन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं, मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता, क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी। और जो यह मेरा भाष्य बनता है, वह वेद, वेदांग, ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार हैं, क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है, यही इसमें अपूर्वता है, क्योंकि जो-जो प्रमाण्याप्रमाण्य विषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिना आये हैं, वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं, उन सब ग्रन्थों के प्रमाण से युक्त यह ग्रन्थ बनाया जाता है। और दूसरा उसके अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इसमें कोई बात अप्रमाण व अपनी रीति से नहीं लिखी जाती और जो-जो भाष्य उवट, सायण, महीधर आदि ने बनाए हैं, वे सब मूलार्थ और सनातन वेद व्याख्यानों से विरुद्ध हैं तथा जो-जो इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेद-व्याख्यान बने हैं, वे भी अशुद्ध हैं (ऋग्वेदादि भाष्य भू0 शंका0)

मेरा भाष्य उन ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाणों से युक्त होगा जिनमें ऋषि, मुनि, महर्षि, महामुनि आर्यों ने वेद का सत्यार्थ परमात्मा की कृपा से लिखा है, क्योंकि बिना सत्यार्थ-प्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रम निवृत्ति कभी नहीं हो सकती (ऋग्वेदादि0 प्रतिज्ञा0) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में की गई स्वामी जी की इस प्रतिज्ञा के अनुसार उनका भाष्य प्राचीन ऋषियों द्वारा किए गए 'ब्राह्मण' आदि वेद-व्याख्यानों के अनुसार है। स्वामी जी शिक्षा वेदांग आदि ऋषि प्रणीत ग्रन्थों को वेदों का व्याख्यान ग्रन्थ मानते हैं। ये सब अपनी विधि से वेदों की व्याख्या करते हैं। उन्हीं के अनुसार उन्होंने अपना वेदभाष्य लिखा है।

महर्षि दयानन्द ने **ऋग्वेदादि भाष्य**

भूमिका के अन्त में अपने वेदभाष्य के स्वरूप के विषय में एक महत्वपूर्ण पद्य लिखा है -

मन्त्रार्थभूमिकाह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च।
पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः॥

इस मन्त्र भाष्य में इस प्रकार का क्रम होगा कि प्रथम तो मन्त्र में जिस बात का प्रकाश किया गया है वह, फिर मूल मंत्र, उसका पदच्छेद्, कम से प्रमाण सहित मन्त्र के पदों का अर्थ, अन्वय अर्थात् पदों की सम्बन्ध पूर्वक योजना और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है, इस क्रम से मन्त्रभाष्य बनाया जाता है। (ऋग्वेदादि0 ग्रन्थ संकेत0)।

महर्षि ने अपने वेदभाष्य में यह शैली स्वीकार की है कि सर्वप्रथम मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द और षड्ज आदि स्वर का निर्देश किया है। इनका निर्देश मूल संहिताओं में भी उपलब्ध होता है। उसी परम्परा को महर्षि ने अपने वेदभाष्य में सुरक्षित रखा है। तत्पश्चात् उन्होंने मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख किया है और उसे 'मन्त्रार्थ भूमिका' नाम दिया है। इससे पाठक को यह सरलता से विदित हो जाता है कि इस मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय क्या है। विषय का प्रथम ज्ञान हो जाने से मन्त्रार्थ के समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

मन्त्रों पर अंकित उदात्तादि स्वर वेदार्थ के नियामक हैं एवं मन्त्र के अर्थ-ज्ञान में अत्यन्त सहायक हैं, इसी प्रकार मन्त्र के पद-पाठ का भी वेदार्थ-ज्ञान में अपना विशेष महत्व है अतः महर्षि ने मन्त्र पाठ के पश्चात् प्रत्येक मन्त्र का पदपाठ भी दिया है।

पदपाठ के पश्चात् स्वामी जी ने 'पदार्थ' नामक सन्दर्भ में मन्त्र में विद्यमान पदक्रम से मन्त्र पदों का सप्रमाण अर्थ प्रस्तुत किया है। यह सन्दर्भ उनके वेदभाष्य का आत्मा है। इससे उन्होंने वैदिक पदों के अर्थो की सिद्धि में वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ अष्टाध्यायी, महाभाष्य, धातुपाठ, उणादिकोष, निघण्टु, निरुक्त, ब्राह्मण-ग्रन्थ आदि के यथास्थान प्रमाण दिए हैं।

पदार्थ के पश्चात् महर्षि ने मन्त्र का अन्वय दर्शाया है जो मन्त्रार्थ-ज्ञान में परम सहयक है। जैसे लौकिक पद्य का ठीक-ठीक अर्थ जानने के लिए अन्वय के ज्ञान के बिना मन्त्रार्थ का परिज्ञान सम्भव नहीं। यहाँ महर्षि ने मन्त्र का केवल अन्वय मात्र ही नहीं किया है अपितु आवश्यकतानुसार मन्त्र पदों के अर्थो को भी खोला है। इसके अतिरिक्त संगति के लिए अपेक्षित पदों का अध्याहार भी किया है जिससे मन्त्रार्थ अधिक स्पष्ट हो सके।

स्वामी जी ने मन्त्र में निहित भावों को भावार्थ नामक सन्दर्भ में प्रकाशित किया है। पाठक जब उनके भाष्य में भावार्थ को पढ़ते हैं तो ऐसा अनुभव करते हैं कि स्वामी जी मूल मन्त्र की ओर ध्यान न देकर अपना मनोवांछित भावार्थ लिख रहे हैं किन्तु उनके भाष्य का गम्भीरतापूर्वक मनन करने के उपरान्त यह धारणा मिथ्या सिद्ध होती है और यह तथ्य सामने आता है कि भावार्थ में प्रकाशित अर्थ मूल मन्त्र के अनुकूल है।

इसके अतिरिक्त महर्षि ने अपने वेदभाष्य में जहाँ-तहाँ उपमा, वाचकलुप्तोपमा और श्लेष आदि अलंकारों का उल्लेख किया हैं। श्लेष अलंकार के आधार पर मन्त्र के एक से अधि

क अर्थ भी यथास्थान दिखलाए हैं। उन्होंने ईश्वर के अनुपम काव्य वेद में अलंकारों की अभिव्यक्ति से वेद-काव्य की शोभा को बढ़ाया है।

महर्षि अपने वेद-काव्य में अध्याय/सूक्त के अन्त में पूर्व अध्याय एवं सूक्त में वर्णित विषयों के आधार पर पूर्व अध्याय/सूक्त की उत्तर अध्याय/सूक्त के साथ संगति दर्शाते हैं। तात्पर्य यह है कि महर्षि दयानन्द वेद को एक प्रकरणबद्ध रचना मानते हैं। आचार्य यास्क ने भी प्रकरणानुकूल मन्त्रों के निर्वचन का उपदेश किया है।[1] वैदिक विद्वानों के लिए यह विषय अभी एक रहस्य बना हुआ है। अभी इस दिशा में विशिष्ट अध्ययन की आवश्यकता है।

वेद के मन्त्र का 'अग्नि' आदि देवता उसका अपना प्रतिपाद्य विषय होता है। वह अर्थ-प्रकाशक होने से देवता कहलाता है। महर्षि का भाष्य मन्त्र के देवता के अनुरूप है। वेद के 'अग्नि' 'इन्द्र' आदि देवता कोई स्वर्गस्थ व्यक्ति विशेष नहीं है। दयानन्द भाष्य में वे ईश्वर, राजा, सेनाध्यक्ष, न्यायाधीश, अध्यापक, उपदेशक आदि के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। इससे उनका भाष्य सायण आदि के भाष्यों के समान यज्ञ-वेदी तक सीमित न रहकर समाज के विस्तृत क्षेत्र में उतर कर आता है, और वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं राष्ट्रीय जीवन की एक सुन्दर व्यवस्था की स्थापना करता है, एवं जीवन के प्रत्येक पहलू की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास करता है। यह महर्षि भाष्य की अपनी विशेषता है। महर्षि दयानन्द ने अपना वेद-भाष्य संस्कृत भाषा में लिखा तथा उसके पदार्थ और अन्वय नामक संदर्भो को मिलाकर पंडितों से उसका भाषार्थ कराया। जिससे साधारण शिक्षित व्यक्ति भी वेद तक पहुँच सके। वेदभाष्य की दिशा में महर्षि का यह कदम अत्यन्त क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है।

दयानन्दीय विचारधारा के विद्वानों ने महर्षिकृत भाष्य के आश्रम वेद की व्याख्या में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। प्रवचनों के द्वारा भी अनेक मन्त्रों के अर्थ का प्रकाश किया है। आर्य विद्वानों की मन्त्र व्याख्या से अनेक वैदिक विषय आज विवाद का विषय बने हुए हैं। जैसे :-

1. मन्त्र का मधुछन्दा, विश्वामित्र आदि ऋषि मन्त्रार्थ में सहायक होता है अथवा नहीं।
2. मन्त्र का निर्दिष्ट देवता मन्त्रार्थ में कहाँ तक सहायक है। मन्त्र का नवीन देवता कल्पित किया जा सकता है अथवा नहीं।
3. क्या प्रत्येक मन्त्र के आध्यात्मिक, आधि दैविक और आधिभौतिक भेद से तीन प्रकार के अर्थ होते हैं, अथवा नहीं।
4. वेद से ही वेद का अर्थ किया जाये। वेदार्थ में शिक्षा, व्याकरण आदि ग्रन्थ सहायक हैं अथवा नहीं।
5. 'व्यत्ययोबहुलम्' तथा 'बहुलं छन्दसि' आदि पाणिनीय सूत्रों का वेदार्थ करते समय किस सीमा तक उपयोग करना उचित है।

इन उपर्युक्त विषयों पर स्वतन्त्र रूप से विचार करने की आवश्यकता है।

पाद-टिप्पणी

1. नि. 13/12 न तु पृथकत्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः। प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः।

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (69-78) July-Dec. 2011

दुष्कृताय चरकाचार्यम्

पं. युधिष्ठिर मीमांसक
रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, सोनीपत (हरयाणा) भारत

(यजुर्वेद के 30वें अध्याय के 18वें मन्त्र में एक पद है - **''दुष्कृताय चरकाचार्यम्''**। महीधर ने इसका अर्थ किया - **''दुष्कृताय चरकाचार्यं चरकाणां गुरुम्''** अर्थात् पुरुषमेध यज्ञ में दुष्कृत देवता के लिए चरकों के गुरु को यूप में बाँधे। काशिका 4.3.104 में ''चरक'' आचार्य वैशम्पायन का ही नामान्तर है- **''चरक इति वैशम्पायनस्याख्या''**। भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय ब्राह्मण की व्याख्या में उक्त पद का अर्थ इस प्रकार किया है - **''दुष्कृताय दुःखेन करणाय चरकाचार्यं वंशनर्तनस्य शिक्षयितारम्''** अर्थात् दु:ख से करने योग्य कर्म के लिए वंशनर्तन (बांस पर चढ़कर नाचने) के सिखाने वाले का आलम्भन करे। सायणाचार्य के मत में **''दुष्कृताय दुर्घटकार्यकरणायाभिमानिने चरकाचार्यं वंशाग्रनर्तस्य शिक्षयितारम्।''** महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस पद का अर्थ किया है -**''दुष्कृताय दुष्टाचाराय प्रवृत्तं चरकाणां भक्षकाणामाचार्यम्''** अर्थात् लोभी मनुष्य (भक्षकाणामाचार्यम्) किसी भी प्रकार का दुष्टाचरण करने में संकोच नहीं करता।

विद्वान् लेखक पं. युधिष्ठिर जी मीमांसक ने उपर्युक्त सभी अर्थों का प्रमाणपुरस्पर विवेचन करते हुए महर्षि दयानन्द के अलावा अन्य सभी भाष्यकारों के अर्थो में कुछ न कुछ दोष बताये हैं। लेखक के मत में महर्षि दयानन्द का अर्थ उनकी प्रदर्शित प्रक्रिया के अनुसार सर्वथा दोष रहित है। तथापि लेखक के अनुसार 'चरक' पद का मुख्य अर्थ गलित या श्वेत कुष्ठ है तथा 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' का अर्थ दुष्कृत कर्म के ज्ञान के लिए चरक = कुष्ठ रोगियों मे जो आचार्य = अतिशय कुष्ठी (गलित कुष्ठी) को प्राप्त करें। प्रस्तुत लेख - में यही स्थापना की गई है जो मननीय एवं भावी शोध का विषय हो सकता है।)

यजुर्वेद 30.18 में एक वचन है - **''दुष्कृताय चरकाचार्यम्''**। इसका अर्थ महीधर ने किया है - **''दुष्कृताय चरकाचार्यं चरकाणां गुरुम्''** अर्थात् 'पुरुषमेध यज्ञ में दुष्कृत देवता के लिए चरकों के गुरु को यूप में बाँधे।'

महीधर के इस अर्थ की पृष्ठभूमि इस प्रकार है -

शतपथ ब्राह्मण में स्थान-स्थान पर चरकों, चरकाध्वर्युवों के मतों तथा उनकी शाखा के पाठों की समालोचना उपलब्ध होती है[2]। 'चरक' आचार्य वैशम्पायन का ही नामान्तर है[3]। वैशम्पायन ने तित्तिरि आलम्बि पलङ्ग आदि अनेक शिष्यों को कृष्णयजुः[4] का प्रवचन किया था।[5] उसी वैशम्पायन अपर नाम चरक प्रोक्त कृष्णयजुः का तित्तिरि आदि आचार्यो ने पुनः रूपान्तर से

प्रवचन किया। तित्तिरि आदि वैशम्पायन (= चरक) के शिष्य होने से चरक शब्द से व्यवहृत होते हैं।[6] अतएव तित्तिरि आदि प्रोक्त कृष्णयजुः के अध्ययनकर्त्ता भी परम्परा सम्बन्ध से 'चरक' कहे जाते हैं। तैत्तिरीय आदि शाखायें यजुर्वेद की हैं और यजुर्वेद से यज्ञ में आध्वर्यव कर्म किया जाता है। अतः तैत्तिरीय आदि शाखाओं के अध्येता 'चरकाध्वर्यु' नाम से व्यवहृत होते हैं। इन्हीं का याज्ञवल्क्य ने चरक तथा चरकाध्वर्यु पद से शतपथ में उल्लेख करके उनके मतों तथा शाखापाठों की समालोचना (= प्रत्याख्यान) की है।

शतपथ में की गई समालोचना ने याज्ञवल्क्य और चरकों के विरोध की ध्वनि स्पष्ट प्रतीत होती है। इस विरोध का कारण पौराणिक गाथानुसार इस प्रकार है -

याज्ञवल्क्य ने प्रथम वैशम्पायन से कृष्णयजुः का अध्ययन किया था। एक समय वैशम्पायन को किसी कारणवश ब्रह्महत्या का दोष लगा। उसके प्रायश्चित्त के लिए उन्होंने अपने सभी शिष्यों को जप तप आदि का अनुष्ठान करने की आज्ञा दी। याज्ञवल्क्य ने अपने मामा तथा गुरु वैशम्पायन से कहा कि इन साधारण ब्राह्मण वटुओं को क्लेश देने की क्या आवश्यकता है? मैं अकेला ही सब प्रायश्चित्त कर लूँगा। वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य के इस कथन को गर्वोक्ति तथा अन्य शिष्यों का अपमान समझा और क्रुद्ध होकर याज्ञवल्क्य से कहा कि तुमने मेरे से जो अध्ययन किया है उसे छोड़कर यहाँ से चले जाओ। याज्ञवल्क्य ने वैशम्पायन से अधीत कृष्णयजुः का वमन अर्थात् त्याग कर दिया और अन्य शिष्यों ने तित्तिरि का रूप धारण करके उस वमित कृष्णयजुः का ग्रहण कर लिया। तदनन्तर याज्ञवल्क्य ने आदित्य सम्प्रदाय[7] के शुक्लयजुः का अध्ययन किया।[8]

सम्भव है महीधर ने इसी पौराणिक गाथा तथा शतपथ में स्थान-स्थान पर उल्लिखित चरक मतों के प्रत्याख्यान से विभ्रममति होकर **''दुष्कृताय चरकाचार्यम्''** का अर्थ **''दुष्कृताय चरकाचार्यं चरकाणां गुरुम्''** अर्थात् 'चरकों के गुरु को दुष्कृत देवता के लिए यूप में बाँधे' ऐसा किया है।

मुझे यजुर्वेद का **''दुष्कृताय चरकाचार्यम्''** वचन चिरकाल से समझ में नहीं आ रहा था। कुछ काल हुआ मेरी दृष्टि काशी के गृहों पर चिपकाय हुए एक विज्ञापन पर पड़ी। इस विज्ञापन में **''सफेद दाग''** का अर्थ कोष्ठ में **''चरक''** लिखा था। (उत्तरप्रदेश के कुछ पूर्वी जिलों तथा बिहार में शरीर पर उत्पन्न हुए सफेद दागों के लिए **''चरक फूटना''** का प्रयोग करते हैं)। उक्त विज्ञापन पर दृष्टि पड़ते ही मुझे यजुर्वेद के उक्त वचन का स्मरण हो आया और तत्काल मन में विचार उत्पन्न हुआ कि कहीं यजुर्वेद के उक्त वचन में **'चरक'** पद का अर्थ **'सफेद दाग'** (एक प्रकार का कुष्ठ) ही तो नहीं हैं? मैंने इस सम्भावना की पुष्टि के लिए आयुर्वेद के ग्रन्थों को पलटा। उनमें कुष्ठ या उसके भेद का नाम 'चरक' नहीं मिला, परन्तु उनसे इतना अवश्य ज्ञान हुआ कि कुष्ठ की उत्पत्ति में ''ब्रह्महत्या' भी एक कारण है। सुश्रुत में (निदानस्थान 25. 35) लिखा है-

ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः।
कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य सम्भवम्।।

चरक में भी – **''विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम्'' (चिकित्सास्थान ७.८)** कारण का उल्लेख है।

इस प्रकार 'चरक' सफेद दाग (एक प्रकार का कुष्ठ भेद) की उत्पत्ति का सम्बन्ध दृष्कृत कर्मों से स्पष्ट हो जाता है।

महाभारत अनुशासन पर्व 6.51 तथा विष्णु आदि पुराणों के शाखाप्रकरणों से ज्ञात होता है कि वैशम्पायन को किसी समय 'ब्रह्महत्या' का दोष लगा था, अतः सम्भव है इसी ब्रह्महत्या-दोष से वैशम्पायन को कुष्ठ रोग हुआ हो और इसी कारण उसका नाम 'चरक' भी पड़ा हो।

हमारा विचार है 'चरक' शब्द का मूल अर्थ **गलित कुष्ठ** है। चरक शब्द **''चर गतिभक्षणयोः''** धातु से बना है। कुष्ठों में गलित कुष्ठ ही ऐसा है जो शरीर के अङ्गों का भक्षण करता है। इस प्रकार चरक (= गलित कुष्ठ) में धातु का भक्षण अर्थ भी अभिधावृत्ति से उत्पन्न हो जाता है। गलित कुष्ठ में प्रयुक्त चरक शब्द का कुष्ठत्व सामान्य[9] से श्वेत कुष्ठ में भी प्रयोग हो सकता है। सम्भव है इसीलिए लोक में 'सफेद दाग' के लिए 'चरक' शब्द का प्रयोग अभी तक होता है, अतः यजुर्वेद के ''दृष्कृताय चरकाचार्यम्'' का अर्थ ''दुष्कृत कर्म के ज्ञान के लिए चरक = कुष्ठ रोगियों में जो आचार्य = अतिशय कुष्ठी (= गलित कुष्ठी) को प्राप्त करे'' है। अर्थात् गलित कुष्ठी की पीड़ा को देखकर इस बात का निश्चय करे कि दुष्कृत कर्मों के करने से ही ऐसे महारोगी की उत्पत्ति होती है।[10]

यद्यपि उपर्युक्त विवेचना के अनुसार **''दुष्कृताय चरकाचार्यम्''** का अर्थ मेरी समझ में आ गया, परन्तु मुझे इतने से सन्तोष न हुआ। यह शङ्का बनी ही रही कि यदि वेद में इतिहास मानने वाले इस वचन का महीधरोक्त अर्थ ही उपस्थित करें और उसमें पूर्वोक्त पौराणिक गाथा तथा शतपथ में उल्लिखित चरकतम-प्रत्याख्यान का प्रमाण दें तो प्रामाणिक खण्डन किस प्रकार किया जाए?

लगभग 7-8 मास हुए तैत्तिरीय ब्राह्मण का पारायण करते हुए उक्त समस्या का समाधान भी मिल गया। तैत्तिरीय ब्राह्मण के पुरुषमेध प्रकरण (3.4.1-18) में भी **''दुष्कृताय चरकाचार्यम्''** वचन उपलब्ध होता है,(3.4. 16.1)। हम ऊपर लिख आये हैं कि तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रवक्ता तित्तिरि अपने ज्येष्ठ भ्राता वैशम्पायन अपर का नाम 'चरक' का शिष्य था, अतः तैत्तिरीय ब्राह्मण ''दुष्कृताय चरकाचार्यम्'' का अर्थ **''दुष्कृत देवता के लिए चरकों के गुरु को यूप में बाँधें''** कदापि सम्भव नहीं हो सकता। भला तित्तिरीय अपने आचार्य को यूप में बाँधने का उल्लेख कैसे कर सकता है?

यहाँ एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है कि पुरुषमेध यज्ञ का विधान चरक = वैशम्पायन से बहुत प्राचीन है। तब भला **''दुष्कृताय चरकाचार्यम्''** में चरकों के गुरु का उल्लेख कैसे हो सकता है? पुरुषमेध के अनुष्ठान का आरम्भ या यजुर्वेद की शुक्ल

कृष्ण शाखाओं में 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' का सन्निवेश आचार्य वैशम्पायन के काल में ही हुआ हो, इसमें कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। इससे भी महीधरोक्त अर्थ सर्वथा अशुद्ध ठहरता है।

भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय ब्राह्मण की व्याख्या में उक्त वचन का अर्थ इस प्रकार किया है-

''दुष्कृताय दुःखेन करणाय चरकाचार्यं वंशनर्तस्य शिक्षयितारम्।''

अर्थात् दुःख से करने योग्य कर्म के लिए वंशवर्तन (बाँस पर चढ़ कर नाचने) के सिखाने वाले का आलम्भन करे।

भट्टभास्कर ने इस प्रकरण के आरम्भ (तै0 ब्रा0 3.4.1) में लिखा है - **''चतुर्थ्यन्ता देवताः, द्वितीयान्ताः पशवः''** अर्थात् इस प्रकरण में चतुर्थ्यन्त पद देवतावाची और द्वितीयान्त पशुवाची हैं। तदनुसार **''दुष्कृताय''** का अर्थ **''दुष्कृताभिमानी देवता के लिए''** ऐसा होना चाहिए, परन्तु भट्टभास्कर की **''दुष्कृताय दुःखेन करणाय''** व्याख्या में किसी देवता विशेष की ध्वनि प्रतीत नहीं होती।[11] अतः भट्टभास्कर का अर्थ महीधर के अर्थ की अपेक्षा अच्छा होता हुआ भी स्ववचन-विरोध-दोषदूषित है।

सायण ने इस दोष से बचने के लिए 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' का अर्थ **''दुष्कृताय दुर्घटकार्यकरणायाभिमानिने चरकाचार्यं वंशाग्रनर्तनस्य शिक्षयितारम्''** ऐसा किया है।

यहाँ यह भी ध्यान रहे कि मीमांसा के अनुषङ्गाधिकरण[12] के अनुसार तैत्तिरीय ब्राह्मण (3.4.1-11) के सम्पूर्ण प्रकरण में प्रथम वाक्य **''ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते''** में श्रूयमाण 'आलभते' क्रिया[13] का सम्बन्ध प्रकरणोक्त सब वाक्यों के साथ है। आधुनिक मीमांसक, याज्ञिक तथा वेदभाष्यकार 'आलभते' का अर्थ संज्ञपन (= मारना) करते हैं, परन्तु यह अर्थ इस प्रकरण में सम्भव नहीं, क्योंकि याज्ञिकों के मतानुसार पुरुषमेध में ब्राह्मण आदि पशुओं[14] का संज्ञपन नहीं होता। भट्टभास्कर ने भी इस प्रकरण के आरम्भ (तै0 ब्रा0 3.4.1) में स्पष्ट लिखा है - **''ते च पर्यग्निकृता उत्सृज्यन्ते''** अर्थात् ब्राह्मणादि (पशुरूप हव्य पदार्थों) के चारों ओर प्रदीप्त अङ्गारों की प्रदक्षिणारूपी[15] संस्कार करके उन्हें छोड़ दिया जाता हैं। ऐसा ही महीधर ने भी यजुर्वेद अध्याय 30 में लिखा है - **''ब्राह्मणादीनां पर्यग्निकरणानन्तरमिदं ब्रह्मणे इदं क्षत्राय इत्येवं सर्वेषां यथास्वस्वदेवतोद्देशेन त्यागः। ततः सर्वान् ब्राह्मणादीन् यूपेभ्यो विमुच्योत्सृजति।''** इससे स्पष्ट है कि इस प्रकरण के **''आलभते''** क्रिया का अर्थ यहाँ **संज्ञपन** = मारना कदापि नहीं हो सकता। संज्ञपन का अर्थ तभी हो सकता है कि जब ब्राह्मणादि का पर्यग्नि करणानन्तर उत्सर्जन (= छोड़ना) न होकर उनका वध किया जाये। अस्तु।

हमें भट्टभास्कर और सायण की पूर्वोक्त व्याख्याओं से सन्तोष नहीं होता। इनकी व्याख्या में अप्रसिद्धार्थ कल्पनारूपी महादोष है। लोक में या संस्कृत वाङ्मय में 'चरक' शब्द का 'वंशाग्रनर्तन' अर्थ कहीं उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि भट्टभास्कर और सायण के अर्थ की उत्पत्ति ''चर गति भक्षणयोः'' धातु के गत्यर्थ

से कथंचित् हो सकती है, तथापि मीमांसा के **"चोदितं तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन"** (1. 3.10) सूत्रोक्त पिकनेमाधिकरण अपरनाम म्लेच्छप्रसिद्धार्थप्रामाण्याधिकरण[16] के अनुसार वेदार्थ में केवल धात्वनुसार अर्थ की कल्पना करने की अपेक्षा म्लेच्छ (= अपभ्रंश) भाषाओं में प्रसिद्ध अर्थ को प्रमाण माना जाता है। तदनुसार 'चरक' शब्द का भट्टभास्कर सायण आदि के काल्पनिक अर्थ की अपेक्षा उत्तर प्रदेश के कतिपय पूर्वी जिलों तथा बिहार की भाषा में प्रसिद्ध **"सफेद दाग"** अर्थ का स्वीकार करना अधिक युक्तिसंगत है। हम पूर्व में लिख चुके हैं कि 'चरक' शब्द का मूल अर्थ गलित कुष्ठ ही है। उसका मुख्य कुष्ठत्व सामान्य से श्वेत कुष्ठ में और श्वेतत्व सामान्य से 'सफेद दाग' (जो आयुर्वेद के अनुसार क्षुद्र कुष्ठ है) अर्थ में प्रयोग होता है। इसी परम्परा से 'चरक'के लोक प्रसिद्ध अर्थ की उपपत्ति होती है।

'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' का अन्यार्थ

ऋषि दयानन्द ने **'दुष्कृताय चरकाचार्यम्'** का अर्थ यजु: 30.18 में **"दुष्कृताय दुष्टाचाराय प्रवृत्तं चरकाणां भक्षकाणामाचार्यम्"** किया है। आचार्यकृत यह अर्थ भी युक्त प्रतीत होता है, क्योंकि **"भक्षकाणामाचार्यम्"** का सामान्य अर्थ **लोभी** है। लोभी मनुष्य किसी भी प्रकार के दुष्टाचरण करने में संकोच नहीं करता। इसीलिए आप्त पुरुषों ने कहा है- **"लोभश्चेदगुणेन किम्"**। **"भक्षकाणामाचार्यम्"** का दूसरा सीधा सादा अर्थ है **"पेटू"**, जिसे सदा उत्तम-उत्तम पदार्थो के खाने की ही इच्छा लगी रहती है। यदि ऐसा मनुष्य साधन हीन हो तो फिर उसका कहना ही क्या? ऐसे मनुष्य की गति कैसी होगी इसकी तुलना निम्न सुभाषित से की जा सकती है-

वानरस्य सुरापानं ततो वृश्चिकदंशनम्।
तन्मध्ये भूतसंचारो यद्वा तद्वा भविष्यति॥

इसीलिए आप्तपुरुषों का कथन है - **"बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" "भूखा क्या न करता"**।

अस्तु, कुछ भी हो। इस विवेचन से इतना तो अच्छी प्रकार सिद्ध हो गया कि **"दुष्कृताय चरकाचार्यम्"** वाक्य में चरक = वैशम्पायन या चरक = शाखाध्यापक का उल्लेख नहीं है। 'चरकाचार्यम्' पद भी इस प्रकरण में पढ़े ब्राह्मण, राजन्य आदि शब्दों के समान किसी सामान्य अर्थ का वाचक है।

हमने 'चरकाचार्यम्' पद का अर्थ चरकों = कुष्ठ रोगियों में आचार्य = अतिशय कुष्ठी किया है, अर्थात् हमने षष्ठी समास न मानकर सप्तमी समास माना है। इसका कारण यह है कि षष्ठी समास में **"समासस्य"** (6.1.223) स्वर-शास्त्र के अनुसार **"चरकाचार्यम्"** में अन्तोदात्त स्वर होना चाहिए, परन्तु यजुर्वेद तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में पूर्वपदप्रकृतिस्वर उपलब्ध होता है। वह **"तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमान०"** (अष्टा0 6.2. 2) इत्यादि नियम के अनुसार सप्तमी समास में ही उत्पन्न हो सकता है। दूसरे शब्दों में, पूर्वपदप्रकृतिस्वर उपलब्ध होने के कारण 'चरकाचार्य' पद का विग्रह सप्तमी से दर्शाना चाहिए, षष्ठी से नहीं। इसलिए भट्टभास्कर

तथा सायण का षष्ठी से विग्रह दर्शाना अशुद्ध है। यद्यपि ऋषि दयानन्द ने भी **''भक्षकाणामाचार्यम्''** में षष्ठी से ही दर्शाया है, तथापि उनके अर्थ में उक्त दोष उपस्थित नहीं होता, क्योंकि **''भक्षकाणामाचार्यम्''** में **निर्धारण अर्थ स्पष्ट है।** निर्धारण में षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियाँ (अष्टा० 2.3.41) होती है। निर्धारण षष्ठी का समास नहीं होता (अष्टा० 2.2.10)। अत: उनको यहाँ निर्धारणार्थ षष्ठी से अर्थमात्र दर्शाना अभीष्ट है। समास निधरिणार्थक सप्तमी विभक्ति से ही होगा। यदि कोई कहे कि यह तो अगतिक गति है या क्लिष्ट कल्पना है तो उसका यह कथन भी युक्त नहीं है। पदवाक्यप्रमाणज्ञ भगवान् पतञ्जलि ने भी ऐसे अनेक प्रयोग किये हैं। यथा - **धर्माय नियमः धर्मनियमः, धर्मार्थो नियमः धर्मनियमः, धर्मप्रयोजनो वा नियमः धर्मनियमः** (महाभाष्य प्रथमान्हिक)। महाभाष्यकार के चतुर्थी आदि से दर्शाये उक्त अर्थनिर्देश में षष्ठी से ही समास माना जाता है। अतएव इसकी व्याख्या करता हुआ कैयट लिखता है - **''सम्बन्ध सामान्ये तु षष्ठीं विधाय समासः कर्तव्यः, चतुर्थीसमासस्य प्रकृतिविकारभाव एव विधनात्।**[१७]'' अर्थात् पतञ्जलि के उक्त अर्थ निर्देश में सम्बन्धार्थक षष्ठी से समास करना चाहिए, क्योंकि चतुर्थी समास का विधान केवल प्रकृतिभाव में ही किया है।[18] इसी प्रकार शबरस्वामी ने भी **''अथातो धर्मजिज्ञासा''** (मी० 1.1.1) के धर्मजिज्ञासा पद का अर्थ **''धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा''** दर्शाया है। इसी नियम के अनुसार ऋषि दयानन्द के **''भक्षकाणामाचार्यम्''** निर्देश में निर्धारणार्थक षष्ठी के अर्थ प्रदर्शन और निधरिणार्थक सप्तमी से समास मानने से कोई दोष नहीं रहता। यदि कहा जाये कि भट्टभास्कर और सायण के अर्थ में भी षष्ठी से अर्थ प्रदर्शन और सप्तमी से समास माना जा सकता है तो यह कथन भी ठीक नहीं। सायण और भट्टभास्कर ने **''वंशाग्रनर्तनस्य शिक्षयितारम्''** में नर्तन क्रिया का निर्देश किया है। वंशाग्रनर्तन में सम्बन्धार्थ में ही षष्ठी हो सकती है, निधरिणार्थ में नहीं, क्योंकि द्रव्यों के समान क्रिया में निर्धारण नहीं होता। अस्तु।

चरकाचार्य पद का स्वर

हम पूर्व में लिख चुके हैं कि प्रकृत विचार्यमाण वाक्य शुक्लयजुर्वेद तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में उपलब्ध होता है। शुक्लयजुः में (मा० 30.18 ॥ का० 34.18) चरकाचार्य पद पूर्वपदाद्युदात्त है और तैत्तिरीय ब्राह्मण में पूर्वपदमध्योदात्त। श्री पं० विश्वबन्धुजी शास्त्री ने अपने ब्राह्मणोद्धारकोश में अशुद्ध बताया है (देखो भाग 1, पृष्ठ 412 पादटिप्पणी)। हमारे विचार में उनका लेख ठीक नहीं है। तैत्तिरीय संहिता तथा उसके ब्राह्मण में ऋग्वेद के समान एक भी पाठान्तर उपलब्ध नहीं होता, अत: जैसा ऋग्वेद का परम्परागत पाठ प्रामाणिक है वैसा ही तैत्तिरीय ब्राह्मण का पाठ भी प्रामाणिक है, क्योंकि दोनों का अध्ययन सम्प्रदाय आज तक अविच्छिन्न चला आया है। यही कारण है कि इन दोनों में कहीं पर कोई पाठान्तर आज तक नहीं हुआ (अध्ययन सम्प्रदाय के उच्छिन्न हो जाने से वैदिकग्रन्थों की पाठान्तरों के कारण कैसी दुर्दशा होती है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण

अथर्ववेद है)। ऐसी अवस्था में तैत्तिरीय ब्राह्मण के स्वर को केवल इसी हेतु से अशुद्ध बताना कि उसका स्वर पाणिनीय अष्टाध्यायी के अनुकूल नहीं है, महान् साहस का कार्य है। वैदिक ग्रन्थों में ऐसे अनेक वैकल्पिक स्वर हैं, जिनमें से एक पाणिनीय व्याकरणानुसार सिद्ध होता हैं और दूसरा नहीं होता अर्थात् उसमें व्यत्यय का आश्रयण करना होता है। यथा - **''नमो मेध्याय च विद्युत्याय च''** यह वचन माध्यन्दिन (16. 38), काण्व (18.38), मैत्रायणी (2.9.7), तैत्तिरीय (4.5.7) तथा काठक (17.15) संहिताओं में उपलब्ध होता है। प्रथम तीन संहिताओं में मेध्य पद **आद्युदात्त** है और अन्त की दो संहिताओं में **अन्तस्वरित** है। पाणिनीयलक्षणानुसार 'मेध्य' में **''भवेच्छन्दसि''** (अ0 4.4.110) से यत् प्रत्यय होकर **''यतोऽनाव:''** (अष्टा0 6.1.213) से आद्युदात्त स्वर सिद्ध होता है। यहाँ पर उत्सर्ग **''तित्स्वरितम्''**(अष्टा0 6.1. 185) सूत्र की प्रवृत्ति को **''यतोऽनाव:''** (अष्टा0 6.1.213)सूत्र अपवाद होने से बाध लेता है। काशिका 4.4.110 की व्याख्या में इस उदाहरण के विषय में हरदत्त लिखाता है - **''मेध्यायेति-अत्र यतोऽनाव इत्याद्युदात्तत्वं प्राप्नोति अन्तस्वरितं चाधीयते''**। जिस प्रकार पं. विश्वबन्धु जी ने 'चरकाचार्य' पद के पूर्वपदाद्युदात्तत्व में **''नित्स्वर''** (अष्टा0 6.1. 197) को प्रमाण मानकर तैत्तिरीय ब्राह्मण के पूर्वपदमध्योदात्त स्वर को अशुद्ध ठहराया है उसी प्रकार हरदत्त ने 'मेध्य' शब्द में अपनी तैत्तिरीय संहिता के अन्तस्वरित को प्रामाणिक मानकर पाणिनीय **''यतोऽनाव:''** सूत्र की अवहेलना की है। वस्तुत: दोनों ही भ्रान्ति में हैं। माध्यन्दिन, काण्व तथा मैत्रायणी संहिताओं में 'मेध्य' आद्युदात्त उपलब्ध होता है। वह पाणिनि के **''यतोऽनाव:''** सूत्र से सिद्ध होता है। तैत्तिरीय और काठक संहिता में मेध्य में अन्तस्वरित उपलब्ध होता है वह व्याकरणानुसार कैसे निष्पन्न हो सकता है, यह विवेचनीय है। **''दृष्टानुविधिछन्दसि भवति''** नियम के अनुसार पाणिनीय लक्षण से साक्षात् असिद्ध स्वर की उपपत्ति कैसे होगी यही विवेचनीय हे, न कि अविच्छिन्नाध्ययन सम्प्रदायवाले वैदिक ग्रन्थों में उपलभ्यमान स्वर शुद्ध है या नहीं? श्री पं0 विश्वबन्धुजी भी वैयाकरणों के **''दृष्टानुविधिश्चछन्दसि भवति''** नियम को मानते हैं और उसी कें अनुसार आपने संहितापदकोश में पाणिनीय व्याकरण से साक्षात् असिद्ध स्वरों को अशुद्ध न मानकर स्वरानुसार लक्षणों का उपसंख्यान अनेक स्थानों पर दर्शाया है। तदनुसार लक्षणों का उपसंख्यान अनेक स्थानों पर दर्शाया है। तदनुसार उन्हें तैत्तिरीय ब्राह्मण के चरकाचार्य पद के पूर्वपद मध्योदात्तस्वर का उपसंख्यान दर्शाना उचित था, न कि उसको अशुद्ध बताना। इसी प्रकार हरदत्त का भी केवल स्वशाखा -स्वर के अनुसार ही 'मेध्य' शब्द में **'यतोऽनाव:'** सूत्रप्राप्त आद्युदात्त स्वर को आधा दर्शाना भी अनुचित है। उसके पाणिनीयलक्षण से सिद्ध आद्युदात्त मेध्य पद - जोकि माध्यन्दिन, काण्व तथा मैत्रायणी संहिताओं में पठित है - को देखा ही नहीं और बिना देखे ही 'दृष्टानुविधिश्च छन्दसि' के नियमानुसार **''यतोऽनाव:''** सूत्र का बाध दर्शा दिया। अस्तु।

वस्तुत: श्रीपं0 विश्वबन्धुजी तथा हरदत्त

के उपर्युक्त एक ही प्रकार के भ्रम में मुख्य कारण यही है कि उन्होंने पाणिनीय स्वरशास्त्र पर उतनी गहराई से विचार नहीं किया जितना करना चाहिये था। स्वरशासत्र में अपवाद नियम नहीं है, अर्थात् जैसे अभ्यासविकार में **'अभ्यासविकारेष्वपवादा उत्सर्गान्न बाधन्ते'** के अनुसार अपवाद सूत्र उत्सर्गो के सर्वथा बाधक नहीं होते, उसी प्रकार दृष्टप्रयोगस्वर के लिए कहीं-कहीं पर उत्सर्ग सूत्र विहित स्वर भी मानना पड़ता है। बस, इतना विचार कर लेने पर दोनों पदों में दोनों प्रकार के स्वर उत्पन्न हो जाते हैं। यथा पूर्वपदाद्युदात्त चरकाचार्य पद के पूर्वपद में **''नित्स्वर''** (6.1.197) से चरक पद का आदि अच् उदात्त होता है, उसी प्रकार पूर्वपदमध्योदात्त चरकाचार्य पद के पूर्वपद में उत्सर्ग ''आद्युदात्तश्च'' (अष्टा0 3.1.3) सूत्र से प्रत्ययाद्युदात्तत्व होता है। इसी प्रकार आद्युदात्त मेध्य शब्द **''यतोऽनावः''** (अष्टा0 6.1.213) से सिद्ध होता है और अन्तस्वरित **''तित्स्वरितम्''** (अष्टा0 6.1.185) इस उत्सर्ग सूत्र से निष्पन्न होता है।

यदि माननीय पण्डित जी इस नियम पर ध्यान देते तो उन्हें न केवल चरकाचार्य पद में पूर्वपदमध्योदात्त स्वर को अशुद्ध कहने की आवश्यकता पड़ती, अपितु संहितापदकोश में पाणिनीय लक्षण से साक्षात् असिद्ध स्वरों के जो उपसंख्यान दर्शाये हैं उनमें से अनेक उपसंख्यानों के दर्शाने की भी आवश्यकता न पड़ती।

उपसंहार

हमारे इस सारे विवेचन का सार यही है कि यजुर्वेद अ0 30.18 के **''दुष्कृताय चरकाचार्यम्''** वाक्य में चरक शब्द से वैशम्पायन या चरक-शाखाध्येता किसी ऐतिहासिक व्यक्ति विशेष का उल्लेख नहीं है। इसलिए महीधर का अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। भट्टभास्कर तथा सायण के अर्थ में यद्यपि यह दोष नहीं है, परन्तु उसमें अन्य कई दोष हैं, अतः वह भी स्वीकार करने के योग्य नहीं है। हमारे विचार में 'चरक' पद का मुख्य अर्थ गलित या श्वेत कुष्ठ है और उसके साहचर्य का अर्थ से कुष्ठी को भी चरक कहा गया है। ऋषि दयानन्द का अर्थ भी हमारी प्रदर्शित प्रक्रिया के अनुसार सर्वथा दोषरहित है। इस प्रकार यजुर्वेद के उक्त वाक्य में दोनों ही अर्थ उत्पन्न हो सकते हैं। यजुर्वेद तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में चरकाचार्य पद में जो दो प्रकार के स्वर उपलब्ध होते हैं वे दोनों ही व्याकरणानुसार निष्पन्न हो सकते हैं, केवल सूक्ष्म विवेचन की आवश्यकता है।

पाद-टिप्पणियाँ

1. इत उत्तरं पुरुषमेधः (मही0 यजुः 30.1)। एवमग्रे सर्वेषां यूप एव बन्धनम्, चतुर्थ्यन्तं देवतापदम्, द्वितीयान्तं पशुपदं बोधव्यम् (मही0 यजुः 30.5)।
2. ता उ ह चरका नानैव मन्त्राभ्यां जुह्वति ....तदु तथा न कुर्यात्। शत0 4.1.2.19।। तदु ह चरकाध्वर्यवो विगृह्णन्ति ....तं वै नोपयामेन गृह्णीयात् ....न तदाद्रियेत। शत0 4.2.3.15-18।। इसी प्रकार द्रष्टव्य शतपथ 3.8.2.24-25।। उपाय वस्थेत्यु हैक आहुः तदु तथा न ब्रूयात्। शत0 1.7.1.3।। यह 'उपायव स्थ' पाठ तैत्तिरीय आदि कृष्ण यजुः शाखाओं का है।
3. चरक इति वैशम्पायनस्याख्या। काशिका 4.3.104।। आयुर्वेद के अग्निवेशकृत तन्त्र का प्रतिसंस्कार इसी चरक (= वैशम्पायन) ने किया था। अतएव उसका 'चरक संहिता' नाम पड़ा।

4. यजुर्वेद की शाखाओं के कृष्ण और शुक्ल नाम क्यों हुए, इसके लिए देखो वेदवाणी वर्ष 3 अंक 1 में 'यजुर्वेद का ऐतिहासिक सिंहावलोकन' नामक हमारा लेख।

5. तित्तिरि के लिए देखो वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग 1, तैत्तिरीय शाखा प्रकरण तथा विष्णु भागवत आदि पुराणों के शाखा प्रकरण। आलम्बि पलङ्ग आदि के लिए देखो काशिका 4.3.104।

6. चरक इति वैशम्पायनस्याख्या तत्संबन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनः चरका इत्युचयन्ते। काशिका 4.3. 104।

7. शुक्लयजुः के दो प्राचीन सम्प्रदाय है - आदित्यायन तथा आङ्गिरसायन। देखो तृतीय प्रतिज्ञापरिशिष्ट सूत्र-द्वयान्येव यजूंषि, आदित्यानामाङ्गिरसानाम् च (कं0 21 सू0 4)। इन दोनों सम्प्रदायों का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में भी मिलता है। आदित्य सम्प्रदाय का आदि प्रवर्तक कश्यप प्रजापति है, उसकी अदिति नामक भार्या से उत्पन्न इन्द्रादि 12 देव आदित्य कहाते हैं। आङ्गिरस सम्प्रदाय का आदि प्रवर्तक महर्षि अङ्गिरा है। अङ्गिरा के पुत्र देवगुरु बृहस्पति से इन्द्र ने आङ्गिरस यजुओं का अध्ययन किया था, परन्तु चिरकाल तक देवासुर संग्राम में प्रवृत्त रहने के कारण इन्द्र वेदाध्ययन से विमुख हो गया। इसलिए इन्द्र के कुशिक पौत्र विश्वामित्र से पुनः वेद का अध्ययन किया (इसी कारण इन्द्र का एक नाम कौशिक भी पड़ा)। विश्वामित्र ने कश्यप प्रजापति प्रवर्तित यजुओं का इन्द्र को उपदेश किया। इस प्रकार कश्यप, विश्वामित्र आदि से प्रोक्त कश्यप यजुओं का सम्बन्ध इन्द्र से होने के कारण वे आदित्यमान नाम से प्रसिद्ध हुए। याज्ञवल्क्य ने कौशिक गोत्रोत्पन्न होने पर भी प्रथम अपने मामा का त्याग करके स्वकुल-क्रमागत आदित्यायन यजुओं का अध्ययन किया। याज्ञवल्क्य का पुत्र कात्यायन हुआ। उसने आङ्गिरस गोत्रज घोर (द्र0 ऋक्सर्वा0 3.36) पुत्र कण्व (द्र0 ऋक्सर्वा0 1.36) से आङ्गिरस यजुओं का अध्ययन किया। (देखो तृतीय प्रतिज्ञापरिशिष्ट 21.5)। आङ्गिरस घोर ने देवकी पुत्र कृष्ण को अध्यात्मविद्या का उपदेश किया था (छा0 उ0 3.17.6) और याज्ञवल्क्य महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में विद्यमान था, अतः घोरपुत्र कण्व से याज्ञवल्क्यपुत्र कात्यायन का वेदाध्ययन करना सर्वथा युक्त है। कण्व तथा उसके पिता घोर दोनों ऋग्वेद के द्रष्टा हैं। अतएव कण्वप्रोक्त काण्वशाखा में न कवेल ऋग्वेद के समान 'ड' के स्थान में 'ल' का प्रयोग ही उपलब्ध होता है। अपितु ऋग्वेद और कण्वयजुः का उच्चारण भी प्रायः समान ही होता है। कण्व के आङ्गिरस गोत्रोत्पन्न होने से कारण तत्प्रोक्त काण्व शाखा आङ्गिरसायन सम्प्रदाय की मानी जाती है। आदित्यायन सम्बन्धी माध्यन्दिन संहिता में सर्वत्र 'ड' का ही प्रयोग मिलता है।

8. देखो विष्णु भागवत आदि पुराणों का शाखाप्रकरण। हमने पौराणिक आलङ्कारिक गाथाओं से ऐतिहासिक अंश निकालकर उद्धृत किया है।

9. सामान्य धर्म को लेकर के मुख्य (= अभिधा) वृत्ति से अन्यार्थ में प्रयुक्त शब्द का अन्यार्थ में भी प्रयोग हो जाता है। इसके लिए निरुक्त अ0 2 में निर्दिष्ट (पादः पद्यतेः, तन्निधानात् पदम्, पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः, प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि) ''पाद'' शब्द के अर्थ देखने चाहिये।

10. इस अर्थ के लिए तुलना करो यजुर्वेद अ0 30 का ''ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते'' (ब्रह्मज्ञान के लिए ब्राह्मण को प्राप्त करे) आदि सम्पूर्ण पुरुषमेध प्रकरण। पुरुषमेध शब्द का अर्थ है- ''पुरुषाणां मेधा बुद्धिरुत्पद्यते येन स पुरुषमेधः'' (जिससे पुरुषों को बुद्धि प्राप्त हो)। वस्तुतः पुरुषमेधः यज्ञ एक प्रकार की प्रदर्शनी है, जिसमें संक्षेप से यह बताया जाता है कि किससे किस विषय का ज्ञान प्राप्त करे। ब्राह्मण आदि को यूप में बांधने का अभिप्राय उनको तत्तद्विषयकज्ञान की गद्दी पर प्रतिष्ठित करना है।

11. भट्टभास्कर ने सारे ही प्रकरण का अर्थ ऐसा ही किया है। यथा - ''ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ब्राह्मणम्, ...क्षत्राय क्षतात् त्राणकाय बलाय राजन्यम् ....'॥ यहाँ स्पष्ट ही ब्रह्मवर्चस्, बल आदि शब्द

गुणवाची हैं। यदि भट्टभास्कर का अभिप्राय यहाँ "या तेनोच्यते सा देवता" (ऋक्सर्वा०) के अनुसार बलादि ही देवता हैं तब तो ठीक है। यदि उसे यहाँ अभिमानी देवता अभिप्रेत है तो उसे स्पष्ट लिखना चाहिये था। सायण ने तो इस प्रकरण में स्पष्ट ही अभिमानी देवता का निर्देश किया है। वस्तुत: अभिमानी देवता की कल्पना भी अर्वाचीन आचार्यो द्वारा ही सृष्ट हुई है। प्राचीन आचार्य "अचेतनेषु चेतनावत्" अर्थात् अचेतन में चेतनवद् व्यवहार औपचारिक (= गौण) मानते थे, इसी नियम से ही 'श्रृणोत ग्रावाण:" आदि वैदिक वाक्यों का सामञ्जस्य उत्पन्न हो जाता है। उसके लिए अभिमानी देवता की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है।

12. अनुषङ्गो वा वाक्यसमाप्ति:, सर्वेषु तुल्ययोगित्वात्। 2.1.48।।

13. यजुर्वेद में 'आलभते' क्रिया प्रथम वाक्य में प्रयुक्त न होकर अन्तिम वाक्य (30.22) में प्रयुक्त हुई है।

14. पशु शब्द का प्रयोग मनुष्यों के लिए भी होता है, देखो अथर्ववेद का "वि तिष्ठान्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपा पशवो जायमाना:" (14.2.25) नई वधू के आशीर्वाद में प्रयुक्त मन्त्र।

15. हविषामासमन्तात् प्रादक्षिण्येन उल्मुकस्य परिभ्रमणं पर्यग्निकरणमित्युच्यते (श्रौतपदार्थनिर्वचन पृष्ठ 18)।

16. अनेक ऐतिहासिक इस अधिकरण से वेद तथा वैदिक साहित्य में म्लेच्छ (= आर्येतर) भषाओं के शब्दों का प्रयोग मानते हैं, परन्तु यह उनका भ्रममात्र है। इस प्रकार के म्लेच्द भाषाओं के समझे जाने वाले शब्द वस्तुत: संस्कृत भाषा के ही हैं (देखो हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' पृ0 36-38), परन्तु संस्कृत भाषा के ह्रास के कारण आर्यो में इन शब्दों का प्रयोग नहीं रहा, म्लेच्छ भाषाओं में (जहाँ पहले संस्कृत भाषा बोली जाती थी) इन का प्रयोग होता रहा। अत: उनकी भाषा में प्रसिद्ध अर्थ स्वीकार कर ही लेना चाहिए, क्योंकि संसार की समस्त भाषाएँ (इण्डो आर्यन परिवार से भिन्न मानी जानेवाली भी) संस्कृत भाषा से ही विकृत होकर उत्पन्न हुई हैं। इसलिए उनमें संस्कृत शब्द तथा उनके मूल अर्थ सुरक्षित रह सकते हैं। उदाहरण के लिए 'जङ्ग' शब्द को ही लीजिए। यह सम्प्रति फारसी भाषा का शब्द माना जाता है, और इसका 'युद्ध' अर्थ में प्रयोग होता है (सब हिन्दी कोशकारों ने इसे फारसी भाषा का ही शब्द माना है)। परन्तु वास्तव में 'जङ्ग' शब्द संस्कृत भाषा का है और इसका अर्थ भी युद्ध है। जङ्ग शब्द 'जजि युद्धे' धातु से घञ्प्रत्यय में बनता है। इसका निर्देश धातुप्रदीप पृष्ठ 25 में मिलता है। यह माना जा सकता है कि वर्तमान लोकभाषा में इसका प्रवेश मुसलमानी काल में फारसी भाषा से हुआ हो, परन्तु फारसी भाषा में यह शब्द संस्कृत भाषा से ही गया है। वर्तमान फारसी का पुराना रूप संस्कृत भाषा के बहुत निकट था। (देखो फारसी के विक्रम पूर्व के शिलालेख)। पारसियों की धर्म पुस्तक अवेस्ता की भाषा में तो 75 प्रतिशत संस्कृत शब्द ही हैं। संस्कृत भाषा के भूले हुए तथा आधनिक भाषाओं के माने जानेवाले ऐसे शतश: शब्द हैं। इनके निदर्शन के लिए हमारा संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास पृष्ठ 37, 38 देखना चाहिए। संस्कृत भाषा में से शब्दों तथा उनके अर्थो का ह्रास किस प्रकार हुआ, इसका सविस्तार सप्रमाण निरूपण हमने इसी इतिहास के प्रथम अध्याय में किया है।

17. देखो, महाभाष्य 2.1.35।

18. महाभाष्यकार "विग्रह किसी से दर्शाना और कार्य किसी से करना" इस नियम का व्यवहार न केवल समास विषय तक ही सीमित मानते हैं, अपितु प्रत्ययोत्पत्ति में भी बहुधा इसी नियम का आश्रयण करते है। उन्होंने अनेक स्थानों में लिखा है - "अवेर्मांसमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवति आविकं मांसम्।।" अर्थात् 'आविक' पद का विग्रह अविशब्द से ही दर्शाया जाता है, परन्तु तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति 'अविक' शब्द से ही होगी, अवि से नहीं।

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (79-85) July-Dec. 2011

ऋग्वेद में इतिहास नहीं है

डॉ० सुधीर कुमार गुप्त
पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.) भारत

(निरुक्तकार यास्काचार्य, वेदभाष्यकार वेंकटमाधव, सायणाचार्य, शौनक आदि ने वेद में ऐतिहासिक व्यक्तियों, स्थानों, घटनाओं, संवादों के आधार पर वेदों में इतिहास माना है तथा अपने भाष्यों में मन्त्रों की व्याख्या पौराणिक इतिहासों एवं उपाख्यानों के आधार पर ही की है। महर्षि दयानन्द सरस्वती इस विचार से सहमत नहीं हैं। उन्होंने स्वरचित 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में 'अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्' कहकर उक्त मत का खण्डन किया है। वे तो सायणादि आचार्यों की टीकाओं में किये गये इतिहास-वर्णन को मिथ्या मानते हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय में पूर्व संस्कृत-विभागाध्यक्ष एवं प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् डॉ0 सुधीर कुमार गुप्त ने महर्षि दयानन्द सरस्वती की वेदभाष्य पद्धति पर गंभीर अनुशीलन किया है। प्रस्तुत लेख में उन्होंने उदाहरण रूप में ऋग्वेद के कतिपय स्थलों पर प्रयुक्त भरद्वाज, विश्वामित्र, मनु, ययाति, नहुष, यदु, पुरु, तुर्वश, आयु, शार्यात, युवनाश्व आदि ऐतिहासिक नामों की परीक्षा करके तर्क-सम्मत ढंग से यह सिद्ध किया है कि इन पदों पर पौराणिक नामों से सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नहीं है, एवं ऋग्वेद में इतिहास नहीं है। डॉ0 गुप्त ने इस लेख में ऐतिहासिक नामों, पदों की परीक्षा का जो आधार लिया है उसी आधार पर अन्य वेदों में यत्र-तत्र उपलब्ध इस प्रकार के पदों की परीक्षा करके यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि वेदों में इतिहास नहीं है। कतिपय विद्वानों ने ऐसा किया भी है। इस लेख से भावी पीढ़ी के अनुसन्धान-कर्ताओं और विद्वानों का एतद्विषयक मनन-चिन्तन एवं आगे शोध करने में मार्गदर्शन प्राप्त हो सकता है।)

साहित्य में साधारणतया व्यक्तियों और स्थानों के नाम, घटनाओं के वर्णन तथा अन्य ऐतिहासिक उल्लेख पाए जाते हैं। ये सब उल्लेख, स्वभावत: भूत और वर्तमान के सम्बन्ध में ही हो सकते हैं। भविष्य का यथार्थ चित्रण किया जाना सम्भव नहीं माना जा सकता।

आधुनिक विद्वान् वेदों को साहित्य की पुस्तकें मानते हैं, अत: इसमें वे ऐतिहासिक व्यक्तियों, स्थानों और घटनाओं का उल्लेख मानते हैं, परन्तु ऋषि दयानन्द ने इस मत को स्वीकार नहीं किया है। वे तो शक्तिशाली शब्दों में वेद में समस्त अनित्य इतिहास का निषेध करते हैं। वे लिखते हैं -

'अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेद-प्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद्भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्।'[१]

दयानन्द का मत यथार्थ है। ऋग्वेद में

तथाकथित ऐतिहासिक नामों के व्यक्तियों के तथा जिन सूक्तों में वे नाम आते हैं उनके सर्वानुक्रमणियों में दिये गये ऋषियों से तथा ऋषियों और राजाओं की पौराणिक वंशावलियों में दिये गये नामों से सम्बन्ध की गम्भीर परीक्षा स्पष्ट बताती है कि वैदिक और पौराणिक व्यक्तियों में कोई सम्बन्ध नहीं है तथा ऋग्वेद के तथाकथित ऐतिहासिक उल्लेखों में भारी विरोध और विषमताएँ हैं। ऐसे कुछ उल्लेखों की परीक्षा नीचे की जाती है।

यावदद्य उपलब्ध वेदभाष्यकारों में ऋग्वेद के व्याख्याता वेङ्कटमाधव ऐतिहासिक वेदव्याख्यान सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हैं और **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'** को प्रमाण मान कर चलते हैं, अत: उन्होंने **ऋगर्थ-दीपिका** में वेदमन्त्रों का व्याख्यान पौराणिक इतिहासों और उपाख्यानों के आधार पर किया है। ऋ0 1.31.11 में उन्होंने पुरुरवा के पुत्र आयु, राजा नहुष, उनके पुत्र विश्पति, मनु और उनकी पुत्री का वर्णन पाया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि इस मन्त्र के द्रष्टा के पिता अङ्गिरा: से अग्नि का जन्म हुआ, अग्नि को आङ्गिरस कहा जाता है।[2]

इस मन्त्र के द्रष्टा हिरण्यस्तूप आङ्गिरस हैं। सर्वानुक्रमणी[3] तथा मन्त्रस्थ 'ममकस्य पितु:' के वेङ्कटमाधव के अर्थो के अनुसार इस मन्त्र का ऋषि अङ्गिरा: का पुत्र है। अङ्गिरा: प्राथमिक चार अथवा सात ऋषियों में से एक कहे जाते हैं। अङ्गिरा: और इषीरथ की वंशावलियों के अनुसार अङ्गिरा:, विश्वामित्र के दादा इषीरथ के समकालीन माने जाएँगे। इस धारणा की पुष्टि पौराणिक वर्णनों से भी होती है जो अङ्गिरा: के पौत्र भरद्वाज और इषीरथ के पौत्र विश्वामित्र को समकालीन बनाते हैं।

प्रकृत मन्त्र में उल्लिखित व्यक्ति इषीरथ वंश से सम्बन्ध रखते हैं। जब इषीरथ की वंशावली की तुलना हिरण्यस्तूप के वंश के प्रवर्तक अंगिरा: की वंशावली से करते हैं तब पता चलता है कि इस मन्त्र का द्रष्टा हिरण्यस्तूप अंगिरा: की दूसरी पीढ़ी में पड़ता है, अत: यह इषीरथ की दूसरी पीढ़ी का समकालीन बनता है, परन्तु मनु, इला, पुरूरवा: और आयु इषीरथ के वंश में क्रम से 8वीं, 9वीं, 10वीं और 11वीं पीढ़ी में आते हैं। अत: ये हिरण्यस्तूप से 7वीं, 8वीं, 9वीं और 10वीं पीढ़ी में आते हैं। इसका यह निष्कर्ष निकला कि इस मन्त्र का रचयिता माना जाने वाला हिरण्यस्तूप ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख कर रहा है जो उसके कम से कम छह पीढ़ियों के बाद उत्पन्न हुए। इस पर विश्वास करना तब तक कठिन है जब तक यह न मानें कि ऋषि ने अपनी दिव्य दृष्टि से भविष्य की घटनाओं का साक्षात्कार कर उन्हें लेखबद्ध कर दिया, अथवा मन्त्र के रचयिता का नाम ठीक नहीं। आलोचना में अलौकिक शक्तियों और घटनाओं को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। यदि दिया जाए तो वेद के मन्त्रद्रष्टाओं को न रचियता मानने का प्रश्न उठता और न उनमें इतिहास स्वीकार करने का प्रश्न उपस्थित होता है।

दूसरी स्थिति भी माननीय नहीं, क्योंकि न तो निर्विवाद रूप से यह प्रमाणित किया गया है कि इस मन्त्र का द्रष्टा हिरण्यस्तूप नहीं है

और न यह कि अमुक ऋषि इसका द्रष्टा है। इस स्थल पर सर्वानुक्रमणी का लेख निश्चयात्मक है और उसकी पुष्टि बृहद्देवता आदि आर्षानुक्रमणियों से भी होती है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि इस मन्त्र में उल्लिखित सब व्यक्ति हिरण्यस्तूप के पूर्व रहे होंगे। यह कहना सरल तो है, परन्तु इस में अनेकों कठिनाइयाँ हैं। इस को स्वीकार करने से पहले यह प्रमाणित करना पड़ेगा कि इस मन्त्र में उल्लिखित व्यक्ति इस मन्त्र की रचना से पूर्व विद्यमान रह चुके थे। यह भी स्मरण रखने की बात है कि अब तक ज्ञात ऐतिहासिक मनुओं और आयुओं में से कोई भी इस मन्त्र के द्रष्टा हिरण्यस्तूप के पूर्व के नहीं हैं।

इस मन्त्र के मनु आदि पदों को व्यक्ति विशेषों के नाम मानने में एक और कठिनता है। मन्त्र में मनु और आयु के निर्देश सामान्य हैं, विशेष नहीं। इस से यह ज्ञात नहीं होता कि यह मनु वैवस्वत है, या आप्सव, या चाक्षुप या सावर्णि। आयु पद की भी यही स्थिति है। पुराणों से इस समस्या के सुलझाने में कोई सहायता नहीं मिलती है।

भरद्वाज

श्री ब्लूमफील्ड लिखते हैं -

'The distich VI, 25, 9 mentions the name Bharadvajah; this word is changed, seemingly, to Vishvamitrah in the solitary Vishvamitra hymn of the X th books, X, 89, 17.

अर्थात् ऋग्0 6.25.9 में भरद्वाजाः पद आया है जो ऋग्0 10.89.7 में 'विश्वामित्राः' बना दिया गया है।

ऋग्0 10.89.9 के द्रष्टा बार्हस्पत्यो भरद्वाजः और ऋग्0 10.89.17 के रेणुविश्वामित्रः है। इन दोनों की वंशावलियाँ इस प्रकार हैं -

अङ्गिराः	इषीरथः
बृहस्पतिः	कुशिकः
गाथी	भरद्वाजः
विश्वामित्रः	रेणुः

इस प्रकार रेणु भरद्वाज अगली पीढ़ी में आते हैं। अब यदि ये दोनों तत्तत् मन्त्रों के रचयिता हैं तो रेणु ही मन्त्रपाठ में परिवर्तन करनेवाले कहे जाएँगे, परन्तु क्या मन्त्रस्थ 'भरद्वाजाः' और 'विश्वामित्राः' व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ हैं जिनका अर्थ भरद्वाज और विश्वामित्र के वंशज हैं। 'भरद्वाजाः' की स्थिति स्पष्ट है। वह व्यक्तिवाचक नाम नहीं क्योंकि इस पद के प्रयोजक स्वयं भरद्वाज हैं।

ऋग्वेद में इस पद का प्रयोग एक-एक बार कुत्स (अङ्गिराः की दूसरी पीढ़ी), शंयु (अंङ्गिराः की चौथी पीढ़ी), सप्रथः, ऋजिष्वा, गर्ग, सुहोत्र, नर (सभी अङ्गिराः की पाँचवीं पीढ़ी) और मृलीक (मित्रावरुण की तीसरी पीढ़ी)ने किया है। भरद्वाज (अङ्गिराः की तीसरी पीढ़ी) ने स्वयं इसका नौ (9) बार प्रयोग किया है, अतः इस शब्द का प्रयोग भरद्वाज और उसके वंशजों तक ही सीमित नहीं है, वरन् यह प्रयोग उसके पूर्व से आ रहा है। यह मित्रस्वरुण के एक वंशज के द्वारा भी प्रयुक्त हुआ है। कक्षीवान् और नोधा अंङ्गिराः के वंशज

होते हुए भी बृहस्पति और भरद्वाज गोत्र से भिन्न माने गये हैं। इस सम्बन्ध में भरद्वाज द्वारा प्रयुक्त 'भरद्वाजवत्' पद विशेष महत्व रखता है। श्री ग्रिफिथ इस पद का अर्थ 'भरद्वाज के समान' करते हैं, तथा भरद्वाज को मन्त्र के रचयिता का पूर्वज मानते हैं, परन्तु वस्तुस्थिति कुछ और ही है। इस मन्त्र के द्रष्टा के वंश प्रवर्तक हैं अङ्गिराः। श्री ग्रिफिथ यह भी भूल जाते हैं कि इस मन्त्र के द्रष्टा स्वयं भरद्वाज ही हैं, अतः उनका व्याख्यान हेय है। महर्षि ने इस पद का अर्थ 'श्रोत्रवत्' किया है।[4] अतः 'भरद्वाज' पद को 'व्यक्तिवाचक' संज्ञा मानना सम्भव नहीं।

विश्वामित्र

इस पद के रूप ऋग्वेद में इस प्रकार आए हैं -

पद	मन्त्र	द्रष्टा
विश्वामित्रः	3.53.9	विश्वामित्रो गाथिनः
विश्वामित्रजमदग्नी	10.167.4	विश्वामित्रजमदग्नी
विश्वामित्रस्य	3.53.12	विश्वामित्रः
विश्वामित्राः	3.53.13	विश्वामित्रः
विश्वामित्राः	10.89.17	रेणुर्वैश्वामित्रः
विश्वामित्राय	3.53.7	विश्वामित्रः
विश्वामित्रेभिः	3.1.21	विश्वामित्रः
विश्वामित्रेषु	3.18.4	क्रतो वैश्वामित्रः

ऋग्0 3.53.12 में श्री ग्रिफिथ शकुन्तला और उसके पुत्र भरत का उल्लेख मानते हैं। वे 'भारतं जनम्' का अर्थ The race of Bharatas 'The deer endants of Visvmitra' अर्थात् 'भरत का कुल विश्वामित्र की सन्तति' करते हैं, परन्तु वे भूल जाते हैं कि भारतीय आर्यो में वंश पिता के गोत्र से चलता है, माता के गोत्र से नहीं। मनु 9.127-128 में निर्दिष्ट पुत्रिका-कर्म भी माता के गोत्र से वंश चलाने की प्रथा का अवशेष नहीं माना जा सकता, क्योंकि 128वें पृष्ठ में स्पष्ट लिखा है कि यह पद्धति आवश्यकता के कारण चलाई गई, अतः विश्वामित्र का वंश भरतवंश नहीं कहा जा सकता और न ही शकुन्तला के वंशज 'विश्वामित्र' पद से पुकारे जा सकते हैं। पौराणिक कथाओं का ऋग्वेदीय वर्णनों पर आरोप करते समय आधुनिक विद्वान् विश्वामित्र से शकुन्तला के जन्म की स्थितियों की अपेक्षा कर देते हैं। शकुन्तला विश्वामित्र की धर्मपत्नी के पेट से नहीं थी। वह एक असाधारण स्थितियों में उत्पन्न बालिका थी और विश्वामित्र ने उसे त्याग दिया था। अतः इन दोनों के सम्बन्ध में 'अपत्यकर्म' का प्रश्न भी उपस्थित नहीं होता, अतः पौराणिक कथा का वेद से सम्बन्ध जोड़ना सर्वथा अयुक्त है। अतः स्वामी जी ने इस प्रकार के पदों का यौगिक व्याख्यान ठीक ही किया है।[5]

मनु - पुराणों में दी हुई वंशावली के अवलोकन से स्पष्ट पता लगता है कि वे सब वंशावलियाँ वैवस्वत मनु से प्रारम्भ होती हैं। विश्वामित्र सहित शेष समस्त राजा और ऋषि उसके वंशज हैं। पुराणों में वर्णित प्रत्येक मन्वन्तर के मनुओं, इन्द्रों और सप्तर्षियों की परम्परा में विशेष ऐतिहासिक महत्त्व प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार वैवस्वत मनु से पूर्व की जो कुछ संक्षिप्त-सी वंशावलियाँ मिलती भी हैं वे प्रकृत विषय में सर्वथा अनुपयुक्त हैं?

परन्तु सर्वानुक्रमणी से निर्मित वैदिक मन्त्रद्रष्टाओं की वंशावलियों में और वैवस्वत मनु विश्वामित्र से छठी पीढ़ी में और इषीरथ से नवीं पीढ़ी में आते हैं। ऋग्वेदीय विश्वामित्र क्षत्रिय नहीं हैं, जब कि पौराणिक विश्वामित्र क्षत्रिय है। ऋग्वेदीय विश्वामित्र तो सुदास के पुरोहित भी रहते हैं। देखो ऋग्0 3.53.7-9, 7.80.4 (ग्रिफिथ, सायण आदि का अनु वाद)।

एक आख्यान में विश्वामित्र और वशिष्ठ को एक दूसरे का शत्रु बताया गया है। इस शत्रुता का केन्द्र ऋग्वेद की वसिष्ठद्वेषिण्य: ऋचाएँ हैं, परन्तु ऋग्वेद में ऐसी किसी शत्रुता का उल्लेख नहीं है। इन दोनों ऋषियों के मण्डलों में पर्याप्त समानताएँ और पुनरुक्तियाँ और पुनरावृत्तियाँ हैं।

ऋग्0 3.53.24 में ऋषि ने 'भरतस्य पुत्रा:' शब्दों का प्रयोग किया है। यह भरत कौन है, यह बताना कठिन है। यदि इसे शकुन्तला और दुष्यन्त का पुत्र माना जाए तब विश्वामित्र को अपने आप को अपने दौहित्र का पुत्र प्रख्यापित करता हुआ मानना पड़ेगा, जो असम्भव है।

ययाति, नहुष - सर्वानुक्रमणी के नहुष, रामायण के अम्बरीष के पुत्र नहुष से, तथा महाभारत और पुराणों के पुरुवा ऐल के पुत्र नहुष से भिन्न हैं।[6] इसी प्रकार ययाति भी तीन हैं।

ययाति का उल्लेख ऋग्0 10.63.1 में आया है। यहाँ पर इसके विशेषण 'नाहुष्यस्य' का व्याख्यान सायण ने 'नहुष का पुत्र' किया है। यदि इस अर्थ को मान लें तो यह चौथा ययाति हो जाएगा।

ययाति का उल्लेख ऋग्0 1.31.17 (हिरण्यस्तूप-अङ्गिरा: की दूसरी पीढ़ी) में भी हुआ है। वैदिक मन्त्र द्रष्टाओं में ययाति हिरण्यस्तूप के कई पीढ़ियों के पश्चात् आते हैं, अत: मन्त्रद्रष्टा ययाति हिरण्यस्तूप द्वारा उल्लिखित ययाति नहीं है। उन्हें अन्य किसी ययाति से पहचानना भी सम्भव नहीं।

नहुष का उल्लेख ऋग्0 5.73.3 (पौर आत्रेय); 1.100.16 (ऋज्राश्वादि); 7.95.2, 7.6.24 (वसिष्ठो मैत्रावरुणि:); 1.31.11 (हिरण्यस्तूप); 9.91.2 (काश्यप मारीच) और 10.49.8 (इन्द्रो वैकुण्ठ:) में आया है। अत्रि की वंशावली परम विकृत रूप में मिली है। ऋग्0 1.100 को कुत्स का दर्शन प्रमाणित किया जा चुका है।[7] अब कुत्स, हिरण्यस्तूप, वसिष्ठ और कश्यप नहुष का उल्लेख नहीं कर सकते।

यदु, पुरु, तुर्वस, अनु, द्रुह्य - यदु, पुरु, तुर्वस, अनु, द्रुह्यु ययाति के पुत्र माने जाते हैं। ये सब ऋग्0 7.5.3 (वसिष्ठ) में उल्लिखित हैं। इसी प्रकार इन पदों का प्रयोग ययाति से पूर्व हुए कण्व, सव्य, अगस्त्य और वामदेव आदि के मन्त्रों में हुआ है, अत: ये पद ऋग्वेद में पौराणिक ययाति के पुत्रों के वाचक नहीं हो सकते।

आयु

श्री माधवानन्द गिरि का मत है कि ऋग्0 1.53.10 (सव्य आङ्गिरस); 2.14.7 (गृत्समद); 6.18.13 (भरद्वाज) और 8.53.2 (मेध्य काण्व) में आया 'आयु' पद ऐल पुरुरवा:

का निर्देश करता है।[8] उसके मत में ऐल पुरुरवा: का सीधा उल्लेख 1.31.4 (हिरण्यस्तूप) के दर्शन में पाया जाता है, परन्तु ये सभी ऋषि ऐल पुरुरवा: से बहुत पूर्व हो चुके थे।

पुरुरवा: के पुत्र आयु का उल्लेख ऋग्0 2.14.7 (गृत्समद); 6.18.13 (भरद्वाज); 8.52.1 (आयु काण्व); 8.53.2 (मेध्य काण्व); 1.53.10 (सव्य आङ्गिरस) और 10.49.5 (इन्द्र वैकुण्ठ) में पाया जाता है, परन्तु इनमें से कुछ ऋषि तो निर्विवाद रूप से 'आयु' से पूर्व हुए हैं, अत: वे उसका निर्देश नहीं कर सकते थे।

शर्यात और शार्यात - मनु के पुत्र शर्यात का नाम कुत्स आङ्गिरस के दर्शन 1. 112.17 में आया है। इन मनु का पहचानना सम्भव नहीं। इन्हें पौराणिक शर्यात का पिता वैवस्वत मनु मानना भी सम्भव नहीं, क्योंकि कुत्स वैवस्वत मनु से कई पीढ़ी पूर्व रहे थे। इसी प्रकार ऋग्0 1.51.12 (सव्य) और 3. 51.7 (विश्वामित्र) में आये शार्यात पद को पौराणिक शर्यात का पुत्र शार्यात का नाम मानना भूल ही है।

युवनाश्व - रामायण में युवनाश्व का सम्बन्ध वैवस्वत मनु से स्थापित किया है। ऋग्वेद में इन दोनों में कोई सम्बन्ध बताना सम्भव नहीं। ऋग्वेद और रामायण में दिये गये युवनाश्व के पूर्वजों और वंशजों को रामायणीय युवनाश्व आदि ही माना जाए तो उनका लेख उन ऋचाओं में सम्भव नहीं, जहाँ वे पाये जाते हैं। यदि ऋग्वेदस्थ इस नाम परम्परा को रामायणीय परम्परा से भिन्न माना जाए तो ऋग्वेदीय परम्परा का प्रामाणिक रूप प्रस्तुत होने से पूर्व उन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति मानना परम साहस-मात्र है।

पुराणों तथा वैदिक मन्त्रद्रष्टाओं की वंशावलियों के अनुसार शकुन्तला विश्वामित्र की पुत्री है। विश्वामित्र सुदास के पुराहित थे, अत: वे सुदास के समकालीन थे, परन्तु ऋग्वेद की अन्त: साक्षी के अनुसार सुदास दुष्यन्त की छठी पीढ़ी में आते हैं।[9] "Yet according to the puranas, king dushyanta is placed in the sixth descending generation from Jadu. According to the Rigveda, Sudasa is the sixth in decent form Dushyanta. So according to the Puranas, emperor Sudasa who is described in the Rigveda as the contemporary of Jadu, Puru and others, falls to their 12th descending generation."

ऋग्0 1.116.16 में कहा गया है कि पिता ने ऋज्राश्व को अन्धा कर दिया। ऐसे कथन ऐतिहासिक नहीं हैं, प्रत्युत कबीर आदि के लेखों के समान रहस्यवाद से भरे हुए हैं। यही उनका वास्तविक स्वरूप है।

अङ्गिरा: और उनके वंशजों का अग्नि से सम्बन्ध[11], उनके विशेषण 'अग्ने: सूनव:[12]' और 'दिवस्पुत्रा:[13]' तथा ऐतरेय ब्राह्मण में दी हुई जलते अङ्गारे से अङ्गिरा: के समान जन्म की कथा बताते हैं कि ऋग्वेद तथा उसका ब्राह्मण इस प्रकार के वर्णनों में किसी ऐतिहासिक व्यक्ति की ओर निर्देश नहीं करते हैं। डॉ0 मेक्डानल और कीथ अपने वैदिक इन्डेक्स में लिखते हैं कि अङ्गिरा:, अगस्त्य, अत्रि, उशना: और ऋजिश्वा ऋषि या तो आख्यानिक व्यक्ति

हैं अथवा आधे आख्यानिक व्यक्ति हैं। उनकी ऐतिहासिक सत्ता नहीं है। उनके उल्लेख बड़े संदिग्ध हैं। जैसे ऋग्0 1.112.13 में कुत्स भरद्वाज का उल्लेख करता है और 6.18.23 में भरद्वाज कुत्स का। वैदिक द्रष्टाओं की वंशावलियों में कुत्स अङ्गिराः की दूसरी पीढ़ी में और भरद्वाज की तीसरी पीढ़ी में आते हैं। अत्रि पद 18 बार अत्रि के वंशजों और 21 बार अन्य वंशों में प्रयुक्त किया है। इस पद का प्रयोग अङ्गिराः तथा अन्य ऋषियों के प्रारंभिक वंशजों तक चला जाता है।

ऐसी स्थिति में ऋग्वेद के तथाकथित ऐतिहासिक नामों का पौराणिक नामों से सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नहीं है। अभी तक ऋग्वेद की साक्षी से कोई सम्बद्ध इतिहास का निर्माण नहीं हो सका। ब्राह्मण ग्रन्थ और निघण्टु, निरुक्त आदि प्राचीन ग्रन्थ ऐसे पदों का यौगिक व्याख्यान करते हैं। यही मार्ग ऋषि दयानन्द ने अपनाया है, और यही सत्य मार्ग है।

पाद-टिप्पणियां

1. देखो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (अ0सा0म0, अजमेर) पृ0 105
2. देखो, ऋगर्थदीपिका, भाग 1 पृ0 136-137
3. सर्वानुक्रमणी में दी गई ऋषियों की मुख्य-मुख्य वंशावलियों के चित्रों के लिए मेरे A critical study of the commentary on the Rigveda by Swami Dayananda का परिशिष्ट 20 देखें।
4. इस अर्थ की समीचीनता के विचार के लिए देखो वही पृ0 201-202
5. विश्वामित्र पद के ऋषिकृत अर्थों के लिए देखो वही पृ0 204; अन्य मुख्य-मुख्य तथाकथित व्यक्तिवाचक पदों के ऋषिकृत अर्थों के लिए देखो- वही पृ0 518-524
6. Vedic Culture by Swami Madhavananda calcutta.
7. S.K.Gupta authership of some of the Hymns of the Rigveda XV, I.O.C., Bombay, 1949.
8. देखो उनका Vedic Culture.
9. देखो माधवानन्दगिरि, Vedic Culture.
10. वही
11. ऋग्0 1.31.1, 1.127.2
12. ऋग्0 10.62.5
13. ऋग्0 4.2.15, 3.53.7, 10.62.7

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1, No.1 (87-95) July-Dec. 2011

काश्चन सामाजिक-समस्या वैदिक समाधानञ्च

डॉ० विक्रम कुमार विवेकी
प्रोफेसर संस्कृत विभाग, पंजाब वि.वि. चण्डीगढ़- 160014 (यू.टी.) भारत

यौतक (दहेज) प्रथा -

साम्प्रतं समाजेन सम्बद्धासु प्रमुख-समस्यासु एका 'दहेज' इत्याख्या यौतकप्रथा वर्तते, यया पारिवारिकजीवनं व्याकुलीकृतम्। इयं परिवारेषु समाजे च सम्प्रत्यतिजटिला गहना च। वराय कन्यापक्षेण दीयमानं धनं यौतकमिति निगद्यते। इयं यौतकपरम्परा "अमरबेल" इति प्रसिद्धा व्रततिर्विद्यते या स्वाधारमेव प्रशोष्य पल्लवति। आर्थिकविषमताया इयं प्रमुखा जननी। पुत्रीमतः पितुर्दारिद्र्यस्य दुश्चिन्तायाश्चेयमेव प्रमुखो हेतुः। बिलम्बितविवाहानां, वृद्धविवाहानां, विषमायुष्कविवाहानाञ्चापीयमेव कारणम्। अस्याः कारणेन बह्व्यः कन्याः कौमार्यजीवनमेवाङ्गीकुर्वन्ति। विवाहिताश्च श्वश्रू-श्वशुर-भर्त्रादिपीडिता आत्मानमेव घ्नन्ति। यौतकभयेन समाजे कन्या जाता एव हन्यन्ते, यद्वा कन्याजननाद् दुःखमेवानुभूयते। पारस्परिककलहस्य अवैधानिकस्य विवाहविच्छेदस्य चापि हेतुरियम्। अत एव बौधायनः प्राह - **क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते। सा न दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कवयो विदुः॥** शुल्केन ये प्रयच्छन्ति स्वसुतां लोभमोहिताः। पतन्ति नरके घोरे घ्नन्ति चासप्तमात् कुलात्॥ इति।[1] यौतकप्रथा खलु धर्मरूपे पावनतमे विवाहसंस्कारे चन्द्रे कलङ्क इव क्रयविक्रयरूपो व्यवसाय एव।

स्वामिदयानन्देन मन्वनुसारेण ब्राह्म-दैवाऽऽर्ष-प्राजापत्याऽऽख्याश्चत्वारो विवाहप्रकाराः वरीयस्त्वेन परिगणिताः। एतेषु विवाहेषु न किमपि वस्तु दीयते स्वीक्रियते वा। ब्राह्मे विवाहे कन्या केवलं वस्त्रादिभिरलङ्क्रियते। दैवेऽपि कन्याया अलङ्करणमात्रमेव। आर्षे तु वरपक्षादेवैकं गोमिथुनं द्वे वाऽऽदाय कन्यादानं क्रियते - एक गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः इति।[2] प्राजापत्ये वराभ्यर्चनमात्रेणैव कन्यादानं विहितम्। यौतकपुरस्सरो विवाहस्तु 'आसुर' एव यत्र ज्ञातिभ्यो पुष्कलं द्रविणं प्रदीयते - ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः। इति।[3] आसुरो द्रविणादानाद्, वित्तेनानतिः स्त्रीमतामासुरः इत्यादि।[4] एष चासुरो विवाहो निन्द्येषु परिगणितः। अतो मनुमतेन स्वामिदयानन्दस्य च मतेन विवाहे यौतकमग्राह्यमेव।

ऋग्वेदानुसारेण या सूर्या स्वकीयं पतिगृहमगच्छत् तदा तया सह न किञ्चिद् भौतिकं धनादिरूपं यौतकमासीत्, किन्तु रैभी ऋग् एव अनुदेयी वधूविनोदनाय अनुदीयमाना सखी आसीत्। नाराशंसी मनुष्याणां स्तुतिकर्त्री ऋग् न्योचनी वधूशुश्रूषार्थं दीयमाना दासी अभवत्। सूर्यायाः स्वकीयं यद् भद्रं पुण्यं कर्म यशो वा तदेव वासः अभवत्, तच्च गाथया देवतानां कीर्तिगानैः परिष्कृतं सुशोभितमभूत्। चित्तिः जागरूकता चेतना वा, तस्या उपबर्हणम् उपधानमासीत्। द्यौर्भूमिश्च कोशः (द्रव्याधानपेटिका) आसीत्।[5] तथापि मयाऽस्मिन् विवाहे हिरण्यरजतादिकं किमपि बहुमूल्यं द्रव्यं न प्राप्स्यत इति जानन्नपि सोमरूपो

वरो वधूकामोऽभवत् - सोमो वधुयुरभवत् इति।[6] नापि तेन न वा तत्पित्रादिभिरुक्तं यद् द्रविणाभावे वयं सूर्यां न ग्रहीष्याम इति। इत्थं वैदिकप्रमाणेनेदमेव सिद्ध्यति यद्विवाहकाले कन्यया सह तद्गुणैरेव यौतकत्वेन भवितव्यम्, न बाह्येन केनापि द्रव्येण।

परम् अस्त्यत्र द्वितीयोऽपि पक्षः। ऋग्वेदे कासुचिद् दानस्तुतिषु कश्चिद् राजा वध्वा सार्धं रथगवादिकं प्रयच्छति, तदपि यौतकमेव। यथा चायमानोऽभ्यावर्ती राजा रथसहितान् वधूमतः द्वयान् मिथुनभूतान् विंशतिं गाः प्रयच्छति।[7] देववतो राज्ञः पुत्रः पैजवनः सुदाः राजा गवां द्वे शते, वधू संयुक्तौ द्वौ रथौ हिरण्यालङ्कारवतश्चतुरोऽश्वांश्च ददाति।[8] एतेन सूच्यते यद् राजानः केषाञ्चिन्निध नानां सत्पातत्राणां कयाचिद् योग्याया कन्याया विवाहं कारयित्वा द्रव्यादिनापि तत्साहाय्यं कुर्युः। तथा च सति यौतकप्रथा वेदानुमोदिता जायते। अथ च सूर्याविवाहस्य पूर्वोक्तप्रसङ्गेनापि यौतकस्य पुष्टिरेव जायते, न निषेधः, यतो हि तत्र कन्यया सह कन्यापित्रा दीयमानानां वस्तूनामुल्लेखो विद्यते। किं च तस्मिन्नेव सूक्ते समागतं सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत्[9] इति मन्त्रं व्याचक्षाणः सायणो ब्रूते कन्याप्रियार्थं दातव्यो गवादिपदार्थो वहतुः इति। तेनापि ज्ञायते यत् कन्यया साकं कस्यचिदल्पमूल्यस्य बहुमूल्यस्य वा द्रव्यस्य दानं न वैदिकदृष्ट्या प्रतिषिद्धम्।

उभयोः पक्षयोरिदं सामञ्जस्यं भवितुमर्हति यत् स्वेच्छया यदि कन्यापिता किमपि द्रव्यं प्रयच्छति तर्हि नास्ति दोषः। परं यत्र वरपक्षेण द्रव्यं याच्यते कन्यापक्षीयैश्च द्रव्यदानेऽसमर्थैरपि न केनापि प्रकारेण ऋणं वा गृहीत्वा सर्वस्वं वा हुत्वा तद् दीयते तत्रैव दोष इति। परं वर्तमानसमाजे यद्यस्य स्वीकृतिर्दीयते तर्हि प्रच्छन्नरूपेण दोषावहा यौतकप्रथा बद्धमूला भविष्यति। तदुच्छेदनार्थमेतदावश्यकं यदेतादृशा दृढसंकल्पा युवानः सज्जीभवेयुर्ये यौतकं सर्वथा न गृह्णीयुः। ये कन्यायाः पितरो वा भ्रातरो वा समर्थास्ते विवाहानन्तरं यथावसरं द्रव्यादिना साहाय्यं कर्तुं शक्नुवन्ति। ये चासमर्थास्तेषां कृते भारो न भविष्यति।

सन्तानसंख्या (परिवारनियोजनम्)-

वर्तमानसमये बहुषु देशेषु विशेषतो भारते देशे जनसङ्ख्यावृत्तिर्विषये महती चिन्ता प्रवर्तते। साम्प्रतिकपरिस्थितिषु राष्ट्रे जनसंख्यावृद्धेरनपेक्षितत्वात् सर्वकारो जनसंख्यामल्पीकर्तुं विशिष्टं प्रयतते। एतदर्थं तदीयः परिवारनियोजनकार्यक्रमः सुप्रसिद्धः। दम्पती द्वावेव सन्तानावुत्पादयेतामिति तस्योद्घोषः। इमं कार्यक्रमं सफलीकर्तुं स सर्वथा जनान् प्रोत्साहयति, गर्भनिरोध कोपायांश्च प्रज्ञाप्य धनादिनाऽपि जनान् पुरस्करोति। तेनेयं स्वाभाविकी जिज्ञासा उत्पद्यते - किमु दम्पत्योर्द्वाविव सन्तानौ भवेताम् यद्वाऽधिकाः, वेदाश्चैतद्विषये किं समामनन्ति?

वेदेषु क्वचित् एकवचनेन क्वचिच्च बहुवचनेन पुत्रप्राप्तेः कामना सूचिता, येन सन्तानसंख्याविषये संकेतोऽवाप्यते। यथा- विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसद्, पुमांसं पुत्रं जनय, मर्यादे पुत्रमाधेहि, यथा पुत्रं जनादिति, अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम्, पुमांसं पुत्रमाधेहि, सुज्यैष्ठ्योऽभवत् पुत्रस्त एषः, इत्येकवचनान्तम्[10]। भवासि पुत्राणां माता, सुवानां पुत्रान् महिषी भवाति, पुत्राणां नो असः पिता, रयिं च

पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्, इति बहुवचनान्त:।[११] एतै: प्रमाणै: सन्तानसंख्या कियती स्यादिति निर्णेतुं नैव शक्यते। तथाप्येतत्तु सूच्यत एव यदावश्यकताऽनुसारेण एको द्वौ बहवो वा पुत्रा उत्पादयित्वा इति। ऋग्वेदे प्रोक्तम् इमां त्वमिन्द्र मीढ्व: सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि।[१२] अनेनाधिकतमा दश पुत्रा जनयितव्या इति सूचितं भवति। परं दशपुत्रा सर्वैरुत्पादनीया एवेति नैषोऽभिप्राय:। यदि कश्चित् सेचनसमर्थ: शक्तिशाली ऐश्वर्यवांश्च वर्त्तते स एव सत्यां राष्ट्रस्यावश्यकतायां दश पुत्रान् जनयेदिति भाव:। ततोऽप्यधिकसन्तानोत्पादने तदीया शारीरिकहानि: सम्भाव्यते।

स्वामिदयानन्देनापि सत्यार्थप्रकाशस्य चतुर्थसमुल्लासे उक्तवेदमन्त्रमुद्धृत्येत्थं प्रोक्तम्- दम्पतिभ्यां गृहस्थजीवने दश एव पुत्रा उत्पादनीया नाधिका:, यतो ह्येवमकरणे सन्ताना निर्बला निर्बुद्धयश्च जायन्ते, स्त्रीपुरुषावपि बलहीनौ बुद्धिरहितौ रुग्णौ सद्योमृतिभाजौ च भवत:। इयमेव वेदनिर्दिष्टा चरमसीमा।

किञ्च, ऋग्वेदे 10.47 सूक्ते प्रतिमन्त्रम् अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दा: इति वाक्यसमापनेन साकं पुत्र: प्राथ्र्यते। हे इन्द्र, त्वमस्मभ्यं स्वायुध ', सुरक्षकं, सुमार्गदर्शकं, चतुराश्रममर्यादापालकं, धनवन्तं, क्रियाशीलं, प्रसंशनीयं, बहुभिर्वरणीयं, सुब्रह्माणं, देववन्तं, बृहन्तम्, उरुं, गभीरं, पृथुमस्तिष्कं, श्रुतऋषिम्, उग्रम्, अभिमातिषाहम्, अन्नदानशीलं, विप्रवीरं, तरुत्रं, धनदं, सुसमृद्धं, सुदक्षं, दस्युघ्नं, पूर्भिदं, सत्यम्, अश्ववन्तं, रथिनं, वीरवन्तं, शतिनं, सहस्रिणं, भद्रव्रातं, सुखदं, सप्तगुम्, ऋतधीतिं, सुमेधसं, बृहस्पतिं, चित्रं, वृषणं, पुत्रं देहीति तत्र गृहस्थस्य प्रार्थना। अनेन विधिगुणसहितस्यैकस्यैव पुत्रस्य याचना परिलक्ष्यते न तु गुणरहितानामधिकपुत्राणाम्। बहुप्रजाविषये तु वेदे प्रोक्तम्- बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश,[१३] बहुपुत्र: कृच्छ्रापत्तिं महत्कष्टं समश्नुत इत्यर्थ:। इत्थं वैदिकदृष्टिर्गुणमभीप्सति, न तु संख्याम्। अत: स्वस्य समाजस्य राष्ट्रस्य चावश्यकतामनुसृत्य सन्ताना उत्पदानीया चरमसीमा च दश, इति फलितोऽर्थ:।

विवाहविच्छेद: (तलाक) -

पाश्चात्यदेशेषु विवाहविच्छेद: परां काष्ठां प्राप्त:। तत्र सामान्येऽपि कारणे सति सहसा विवाहो विच्छिद्यते। पश्चिमसभ्यताया: प्रभाव: साम्प्रतं भारतीयपरिवारेष्वपि क्वचिद् दृश्यते। गार्हस्थ्यमहत्वज्ञानहीना: कामोद्वेगपरतन्त्रा: प्रेमविवाहबन्धनाबद्धा: भौतिकवादिनो युवान: शीघ्रमेव विधिपूर्वकमविधिपूर्वकं वा विवाहं विच्छिद्य इतस्तत:चङ्क्रम्यमाणा दन्द्रम्यमाणाश्च दरीदृश्यन्ते। न ते दम्पत्यो: कर्तव्यं बुध्यन्ते। सामान्यकारणवशात् स्वहस्तेनैव स्वस्मिन् कुठारप्रहारमाचरन्तो निजभाग्यमेवोपालभ्य रुदन्ति। तदत्र विवाहविच्छेदविषये वेदानां स्मृतिकाराणाञ्च किं मतमिति संक्षेपेण प्रोच्यते।

वेदेषु विवाहविच्छेद: न क्वचिदपि समर्थित:। तत्र स्थले स्थले पतिपत्न्योरविरोध स्यैवोपदेश: कृत:। जायापतिभ्यां सर्वदा सहकर्मभावनयैव वस्तव्यमिति वेदानामभिप्राय:। यथोक्तम् -

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्,
प्रजयेनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम्,
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट इत्यादि।[14]

किञ्च

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥

इति वैदिकी प्रेरणा।[१५] येन देवाः स्त्रीपुरुषाः न वियन्ति न पृथग् भवन्ति, विवाहविच्छेदं न कुर्वन्तीत्यभिप्रायः। अन्यत्र प्रार्थ्यते -

यथा खरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव। एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी सं प्रिया पत्याऽविराधयन्ती॥ इति।[१६] हे मघवन् परमैश्वर्यवन्, एष चारुः अतिरमणीयः, आखरः आखन्यते इति आखरः कन्दरः, यथा मृगाणां गुहाशयिनां पशूनां, प्रियः अनुकूलः, सुषदा सुखेन स्थातुं योग्यः स्थानविशेषो वर्त्तते, एवं तथैव, इयं प्रिया प्रियतमा, नारी पत्नी, पत्या भर्त्रा, अविराध यन्ती न पृथग् भवन्ती, विवाहविच्छेदमकुर्वन्ती, भगस्य पत्युः, संजुष्टा सम्यगुपभुक्ता, अस्तु भवत्वित्यर्थः। प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्[१७] इत्यादि प्रमाणजातान्यपि वरवध्वोर्विवाहविच्छेदं निषेधयन्ति।

मनुनाऽपि विवाहविच्छेदो निषिद्धः। तन्मते - साध्वीनां स्त्रीणां द्वितीयो भर्त्ता न कश्चिदपीतरो जनः सम्भवति - न द्वितीयश्च साध्वीनां कश्चिद् भर्तोपदिश्यते इति।[१८] कन्या सम्पूर्णजीवन एकवारमेवोह्यते- ''सकृत् कन्या प्रदीयते इति।[१९] आपस्तम्बेनाऽपि प्रोक्तम् - जायापत्योर्न विभागो विद्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु तथा पुण्यफलेषु द्रव्यपरिग्रहेषु च इति।[२०] अन्यत्राऽपि प्राप्यते - **भार्याया व्यभिचारिण्याः परित्यागो न विद्यते। दद्यात् पिण्डं कुचेलं च आद्यः शय्यां च शाययेत्॥** इति।।[२१]

यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति।
जीवत्यर्धशरीरेऽर्थं कथमन्यः समाप्नुयात्॥ इति॥[22]
एक एव पतिनार्यां यावज्जीवं परायणम्।
मृते जीवति वा तस्मिन्नापरं प्राप्नुयात् पतिम्॥

इति।।[२३] प्राक्तनैर्महर्षिभिः स्मृतिकारैर्देशकालपरिस्थित्यनुसारेण विषयममुमधिकृत्य कारणवशात् क्वचित् सम्बन्धविच्छेदस्य विधानं प्रोक्तम्, परन्तु तत् सम्पूर्णविवाहविच्छेदस्य कोटौ न समायति। मनुरत्राह - यदि स्त्री मद्यपा, दुराचारशीला, प्रतिकूलव्यवहर्त्री, आमयपीड़िता, हिंसापरा, धनापव्ययिनी च भवेत्तदानीं पतिस्तस्यां जीवन्त्यामपि द्वितीयां स्त्रियं विवहेत् -

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्।
व्याधिता वाऽधियेत्तव्या हिंस्राऽर्थघ्नी च सर्वदा॥

इति।।[२४] यदि च स्त्री वन्ध्यतया सन्तानहीना तदाष्टमे वर्षे, यदि मृतपुत्रा तदा नवमे वर्षे, यदि कन्याजनयित्री तदैकादशे वर्षे, यदि चाप्रियवादिनी तदा तत्कालमेव पतिर्द्वितीयां स्त्रियमुद्वहेत् -

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥ इति।[२५]

एवं सत्यपि पूर्वा स्त्री पत्या निर्वासनयोग्या न भवति, अपितु तेन सा भर्तव्याऽस्तीति स्मृतिकाराणां मतम्। याज्ञवल्क्यमतेन यद्यपि सुरापा, व्याधिता, धूर्ता, वन्ध्या, अर्थघ्नी, अप्रियंवदा, स्त्रीप्रसूः, पुरुषद्वेषिणी च स्त्री अधिवेत्तव्या भवति तथापि सा पत्या भर्तव्या, एवमकरणे तन्मतेन महदपुण्यं भवति -

सुरापा व्याधिता धूर्ता वन्ध्यार्थघ्न्यप्रियंवदा।
स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी तथा॥

अधिविन्ना तु भर्तव्या महदेनोऽन्यथा भवेत्।। इति।[२६]

किञ्च, सत्यपि व्याधितत्व-स्त्रीप्रजत्व-वन्ध्यत्वादिकारणे देवलः अदुष्टायाः सर्वथा विवाहविच्छेदं न मन्यते-

व्याधिनां स्त्रीप्रजां वन्ध्यामुन्मत्तां विगतार्त्तवाम्।
अदुष्टां लभते त्यक्तुं तीर्थान्नत्वेव कर्मणः।।[27]

अन्यत्र क्वचित् सदोषायाः स्त्रिया निर्वासनं परित्यागो वा प्रोक्तः -

स्त्रीधनभ्रष्टसर्वस्वां गर्भविस्रंसिनीं तथा।
भर्तुश्च वधमिच्छन्तीं स्त्रियं निर्वासयेत् गृहात्।।
अनर्थशीलां सततं तथैवाप्रियवादिनीम्।
पूर्वाशिनी च या भर्तुः तां स्त्रीं निर्वासयेत् गृहात्।।
स्वच्छन्दव्यभिचारिण्या विवस्वांस्त्यागमब्रवीत्।
न वधं न च वैरूप्यं बन्धं स्त्रीणां विवर्जयेत्।।[28]

परमेतन्निर्वासनमपि न वैधानिकविवाहविच्छेदसंज्ञां लब्धुं पारयति। पत्या सा स्वेच्छया गृहान्निर्वासिता, पश्चात् तां प्रत्यावर्तयितुमपि शक्नोति, न तत्र काचिद् वैधनिकबाधा। नारदस्मृतौ नारीणां पत्यन्तरकरणस्य पञ्च आपदः परिगणिताः -

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।।[29]

अत्रेदं सांशयिकं यत् पतिरन्यो विधीयते इत्यनेन नियोगस्य विधानं यद्वा जीवन्तं पूर्वपतिं परित्यज्य पुनर्विवाहोऽभीष्टः? स्वामिदयानन्देन श्लोकोऽयमप्रमाणिकः प्रोक्तः।[३०] स च विवाहविच्छेदं न समर्थयति, प्रत्युत दम्पत्योः श्रुत्युक्तम् आदर्शजीवनं भवेद् येन परस्परं कलहो न स्यादित्येव तस्य भावना।

तथापि वर्तमानं भारतीयसंविधानं कासुचित् परिस्थितिषु विवाहविच्छेदमनुमोदयति, न्यायालयाच्चापि तत्स्वीकृतिरधिगन्तुं शक्यते, यथा द्वयोरन्यतरस्य व्यभिचारित्वे, धर्मपरिवर्तने, उन्माददशायाम्, असाध्यकुष्ठरोगाक्रान्तत्वे, रतिरोगपीड़ितत्वे, संन्यस्तत्वे वा। विवाहविच्छेदः अतोऽप्यधिकं सुकरः स्यादित्येषोऽप्युद्घोषः कर्णगोचरीक्रियते यदा कदा। सत्यमेतद् यन्मानवः खलु परिस्थितीनां दासः, इतरदेशेषु या परम्परा यद् विधानं वा तदपि प्रभावयति जनान्। परम् इतरदेशानामनुभवोऽपि न विवाहविच्छेदस्य स्वच्छन्दतायाः पक्षेऽस्ति। तद्देशीयाः साम्प्रतं विवाहविच्छेदाद् उद्वेजिता इव प्रतीयन्ते। ते तत्र किमपि नियन्त्रणं वाञ्छन्ति। अतो भारतेऽप्येतद्विषयेऽधिका स्वतन्त्रता न देया।

एकपत्नीत्वम् -

अद्यत्वे बहुविवाहप्रथा प्राचुर्येण प्रचलिता। मुस्लिमसम्प्रदाये वैधानिकबाधारहिता इयं परम्परा विशेषेण समुल्लसति। अपि बहुविवाहो वेदानुमोदितः? नैव। वेदेषु स्पष्टतया एकविवाहविषयो निर्दिष्टः। एकस्मिन् समये एकस्य पत्युरेकैव पत्नी स्यादिति वेदानामभिप्रायः। सपत्नीभाक् कष्टमेवाश्नुत इत्यृग्वेदे उपमालंकारेण दर्शितम्। यथा - सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः, उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव, चरति द्विजानिः, क्षीरेण स्नातः योषे हते ते स्यातां प्रवणे शिफायाः इत्यादि।[३१] ऋग्वेदीयम् सपत्नीबाधनम् उपनिषत्सु उक्तमप्येकपत्नीत्वमेव पोषयति। तत्र प्रार्थितम्-सपत्नी मे पराणुद पतिं मे केवलं कुरु इति।[३२] सपत्नी खलु न्यक्कर्त्री पतनकारयित्री च भवति, अतो वयं तां दूरं गमयेम - अथा

सपत्नी या ममाधरा साधराभ्य:, परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि।।[३३] ऋग्वेदेऽन्यत्राप्येतद्विषये वर्णितम्। यथा- समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी इत्यादि।[३४]

धर्मसूत्राणामनुसारेण विवाहस्य धर्मप्राप्ति: प्रजाप्राप्तिश्चेति लक्ष्यद्वयमस्ति। अत आपस्तम्बेन धर्मिष्यां पुत्रवत्याञ्च पत्न्यां सत्यां नान्यां भार्यामुद्वहेदित्युपदिष्टम् - धर्मप्रज्ञासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत इति।[३५] यश्चैनं नियमतिक्रामति तस्मै दण्डविधानमपि तेन दर्शितम् - दारव्यतिक्रमी खराजिनं बहिर्लोम परिधाय दारव्यतिक्रमणे भिक्षामिति सप्ताऽऽगाराणि चरेत्। सा वृत्तिः षण्मासान् इति।[३६]

स्वामिदयानन्देनापि वेदभाष्ये प्रोक्तम् - तौ यथा सपत्न्यौ परस्परस्य कलहकोधाभ्यां नद्या मध्ये निमज्ज्य प्राणास्त्यमतस्तथा सद्यो विनयशत:।[३७] सत्यार्थप्रकाशस्य चतुर्थसम्मुलासेऽप्ययं विषय: प्रश्नोत्तरमाध्यमेन समुपस्थापित:। तत्रायमादर्शो दर्शित: - युगपद्बहुविवाहे हानिर्भवति।

नारीणां स्थिति :-

सामाजिकसमस्यासु नारीणां सामाजिकसमस्या मुख्यतमा। नारी खलु किमवस्थिका? का तस्या: सामाजिकी स्थिति:। अपि तदीया कर्मशाला पाकशाला यद्वा राष्ट्रशाला? केषाञ्चनां जनानां गृहकर्मपालयित्री केषाञ्चन च (विशेषतो नारीणम्) मते राष्ट्रकर्मधारयित्री नारी वर्त्तत इति साम्प्रतं विसंवाद:। तदत्र वैदिकप्रमाणपुरस्सरं नार्या: सामाजिकस्थितिराचर्च्यते -

वस्तुतः स्वामिदयानन्दस्याविर्भावात् पूर्वं नारीणां विषये न केवलमविदुषामपितु विदुषामपि वेदविरुद्धानि मतान्यासन्। संस्कृतपण्डिता: मिथ्यावचनानि प्रकल्प्य मुकुलितनयना उद्घोषितवन्त: - स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम् इति। शङ्कराचार्य एवमजूघुषत् - द्वारं किमेकं नरकस्य नारी। वेदभाष्यकार: सायणोऽपि निम्नशब्दैः स्त्रीणामध्ययनमरुणत् - स्त्रीशूद्रयोस्तु सत्यामपि ज्ञानापेक्षायाम् उपनयनाभावेन अध्ययनराहित्याद् वेदेऽधिकार: प्रतिबद्ध:।[३८] कैश्चित् प्रोक्तम् - आवर्त्त: संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानाम्, दोषाणां सन्निधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमप्रत्ययानाम्। दुर्ग्राह्यं यन्महद्भिर्नरकुलवृषभै: सर्वमायाकरण्डम्, स्त्रीयन्त्रं केन लोके विषयमृतयुतं धर्मनाशाय सृष्टम्।। यदि जिह्वासहस्रं स्याज्जीवेच्च शरदां शतम्। अनन्यकर्मा स्त्रीदोषाननुक्त्वा निधनं व्रजेत्।। इति। पुराणेष्वपि क्वचन स्त्रीनिन्दा विहिता।[३९]

परं परमकारुणिकेन सदयहृदयेन स्वामिदयानन्देन स्त्रीप्रशंसा, तस्या वेदाध्ययनाध्यापनाधिकारस्तदीया सामाजिकस्थि- -तिस्तन्माहात्म्यञ्च वेदप्रमाणै: पुनर्विज्ञापितम्।[४०] तेन प्रोक्तम्- वेदेषु नैव कुत्रचिदपि स्त्रीनिन्दा वर्त्ततेऽपितु सर्वत्र स्थले स्थले नारीप्रशंसा बहुशः पापठ्यते। जननी भगिनी पत्नी पुत्रीति नार्यश्चत्वारो मुख्यभेदा भवन्ति। वेदेषु सर्वासामासां महिमा वर्णित:। ऋग्वेदे पत्न्येव गृहमस्तीति प्रतिपादितम् - जायेदस्तम् इति।[४१] वेदपठनाधिकारोऽपि वेदेषूपलभ्यते - **यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य:। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः इत्यादि।**[४२] अथर्ववेदे नार्य: सर्वतो वेदज्ञानस्य संयोगो भवेदिति समभिहितम् - ब्रह्मापरं युज्यतां

ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वत:।[४३] ऋग्वेदेप्युक्तम्-स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ इति।[४४] स्त्रीणां यज्ञाधिकारोऽपि वेदेषु स्पष्टतया वर्णित:। यथा- यज्ञं दधे सरस्वती, संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति, शुद्धा: पूता योषितो यज्ञिया इमा इत्यादि।[४५] यजुर्वेदे नारी स्तोतुमर्हा रमणीया स्वीकर्तुमर्हा कमनीया आह्लादकारिणी द्युतिमती अदिति: विज्ञा पूज्यतमा बहुश्रुता च भवतीति प्रतिपादितम्।[४६] तत्र नारी राष्ट्रधारयित्री वर्णिता- पुरन्धिर्योषा।[४७] वेदानां मते नारी कुलपालयित्री वर्त्तते-एषा ते कुलपा राजन्।[४८] पुत्रान् जनयन्ती च स महनीया गण्यते- सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति।[४९] **गृहजनेषु सा सम्राज्ञी भवति** - यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा। एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य।। सम्राज्ञ्येधि श्वसुरेषु सम्राज्ञ्युत् देवृषु। ननान्दु: सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्रवा:।[५०] नारी पत्यु: पोष्या भवति - ममेयमस्तु पोष्या, मा व्यथिष्ठा मया सह, मा हिंसिष्टं कुमार्यम् इत्यादि।[५१] सा अमृतलोकस्याधिकारणी विद्यते आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकम्।[५२] नारी ऋक्स्थानीया स्वीकृता - सामाहमस्मि ऋक्त्वम्।[५३] नारी खलु विराड् वर्त्तते - विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीद्।[५४] नारी राज्याधिकारिण्यपि भवति। सा राजसभासु न्यायमपि करोति- अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद इति।[५५] नारी सत्यस्य विधात्री विद्यते - वेधा ऋतस्य।[५६] सा ज्ञानस्योपदेष्ट्री वर्त्तते- चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्, अहमुग्रा विवाचनी, त्वं विदथमावदासि[५७] इत्यादि। नारी नाबलाऽपितु सा सबला कथिता - अवीरामिव मामयं शरारुरभिमन्यते, उताहमस्मि वीरिणी, अहमस्मि सहमाना इत्यादि।[५८] अत: पुरुष: स्वयं तदनुगामित्वं मन्यते-तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वै:।[५९] इति।

स्त्रिया किंप्रकारिकया भवितव्यमित्यत्र यजुष्युक्तम्- मूर्द्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री। इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा। अत्र स्वामिदयानन्दभाष्यं द्रष्टव्यम्- या स्त्री भूमिवत् क्षमान्वितान्तरिक्षवदक्षोभा यन्त्रवज्जितेन्द्रिया भवति सा कुलदीपिकाऽस्ति इति।[६०] निम्नमन्त्रा अपि स्त्रीकर्त्तव्यानि विशदतया वर्णयन्ति-स्योना पृथिवी नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा न: शर्म सप्रथा:। अप न: शोशुचदघम्।। भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री। पृथिवीं यच्छ पृथिवीं मा हिंसी:।[६१] स्त्री शत्रुभिरप्यनभिभूयमाना शत्रुनिवारिका उत्तमपराक्रमा च भवति।[६२] स्त्रीकर्त्तव्यानि सम्बोधन- शब्दैरित्थं प्रतिपादितानि- इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति। एता तेऽघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्।[६३]

अथर्ववेद स्त्रीकर्त्तव्यानीत्थमुपदिष्टानि- हे स्त्री, त्वं पतिकुले सर्वेभ्य: कल्याणकारिणी भव- शिवा स्योना पतिलोके विराज, स्योना भव श्वसुरेभ्य: स्योना पत्ये गृहेभ्य:, शिवा भवा पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्य: शिवा।[६४] त्वं वीरपुत्रान जनय - आ वीरोऽत्र जायतां दशमास्य:, पुमांसं पुत्रंजनय।[६५] गवादिशपशून् पालय-पशून् यमिनि पोषय।[६६] स्वगृहे तादृशमाचर येन त्वं रोगाकुला मा भवे: - स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज।[६७] पतिव्रतधर्ममाचरन्ती सुखं प्राप्नुहि-पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृताय कम्।[६८] अग्निहोत्रं कुरु-उपसीदाग्निम्।[६९] अतिथीन् सत्कुरु - प्रतिभूषेह देवान्।[७०] स्वगृहे गृहपत्नीरूपेण विराज- अस्मिन्

गृहे गार्हपत्याय जागृहि, त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य इत्यादि।[७१]

अन्यशास्त्रेष्वपि स्त्रीकर्त्तव्यानि विशदतयोपदिष्टानि। मन्वनुसारं स्त्रिया प्रसन्नवदनया, गृहकर्मचतुरया, सुशोधितगृहपात्रया, व्यये मुक्तहस्तया च भवितव्यम्।[७२] अपत्योत्पादनं, तत्परिपालनं लोकव्यवहारश्च भार्ययैव सम्यग् विधीयते। धर्मकार्याणि, शुश्रुष, कामः, स्वर्गश्च दाराधीनमेव सर्वम्।[७३] याज्ञवल्क्यमते भर्तृवचनानुगामित्वमेव स्त्रियाः परमो धर्मः-स्त्रीभिर्भर्तृवचः कार्यमेष धर्मः परः क्रियाः।[७४] व्यासमते- भार्यया पत्युश्छायेदानुगतया, स्वच्छया, हितकर्मसु सखया, आदिकष्टकर्मसु च दास्या भवितव्यम्।[७५] नारीसमो बन्धुर्लोके नान्यः कश्चिद्विद्यते। नारी हि धर्मसंग्रहे सहायिका, दुःखसमये आह्लादिका, विपत्सु मन्त्रयित्री, भोजनकाले च जननीसमा भूत्वा सुखमेवोत्पादयतीति महाभारतम्।[७६] अतस्तत्रोक्तम्-स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्ताः इति।।[७७]

स्वामिदयानन्दोऽपि स्त्रियाः कर्त्तव्यविषयमधिकृत्य स्वग्रन्थेषु बहुत्रालिखत्।[७८] इत्थं वैदिकप्रमाणैः नार्यः सामाजिकस्थितिः सुस्पष्टा भवति।

पाद-टिप्पणियां

1. बौ0 स्मृ0 1.11, 20-21
2. मनु0 3.29
3. मनु0 3.31
4. याज्ञ0 स्मृ0 1.61; गौ0 ध0 4.9
5. ऋ0 10.85.6-7

   रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।

   सूर्याया भद्रमिद् वासो गाथयेति परिष्कृतम्।।

   चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।

   द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम्।।
6. ऋ0 10.85.9
7. ऋ0 6.27.8
8. ऋ0 7.18.22-23
9. ऋ0 10.85.13
10. अ0 3.23.5; 3.33.3; 6.81.2,3.5.25 9,11-13; 14.2.24.
11. अ0 3.23.3; 2.26.3; 6.131.3; ऋ0 10.85.41
12. ऋ0 10.85.45 13. ऋ0 1.164.32
14. ऋ0 12.85.42; अ0 14.2.64; 3.30.5
15. अ0 3.3.4 16. अ0 2.36.4
17. ऋ0 10.85.25; अ0 14.1.18
18. मनु0 9.162 19. मनु0 9.47
20. आप0 धर्म0 14.16.19
21. स्मृतिचन्द्रिका, पृ0 242, हारीतमतम्।
22. अपरार्क 2.135, उद्धृतम्।
23. महा0 आदिपर्व, 104. 35
24. मनु0 9.80
25. मनु0 9.81
26. याज्ञ0 स्मृ0 1.73-74
27. द्रष्टव्य-देवलः, अप0 1.73
28. नारद स्मृतिः 15.93.95; विवादरत्नाकरः, पृ0 426
29. नारद-स्मृतिः 13.99
30. सत्यार्थप्रकाशः, समुल्लासः 4
31. ऋ0 1.105.8; 10.101.11; 1.104.3
32. अथर्व0 3.18.2
33. अथर्व0 3.18.4,3
34. ऋ0 10.159.6
35. आप0 धर्म0 2.5.11,12
36. तदेव 1.10.28.19
37. ऋ0 1.104.3, भावार्थः।
38. तैत्तिरीयसंहितायाः सायणभाष्यभूमिकायाम्।

39. भा० पु०, 1.4.25; प० पु०, सृष्टि०, 49.9.
40. द्रष्टव्य:, सत्यार्थप्रकाश:, चतुर्थसमुल्लास:, संस्कारविधेर्गृहाश्रमप्रकरणम्।
41. ऋ० 3.55.4; तु०- 3.53.6; 10.85.27; अ० 14.1.20; 2.75.
42. यजु० 26.2; (द्र० - दयानन्दभाष्यम्) ऋ० 10.191.3
43. अ० 14.1.64
44. ऋ० 8.33.19
45. ऋ० 1.3.11; 10.86.10; अ० 11.1.17;
27 द्रष्टव्यम्-शत० ब्रा० 1.9.2.5; 2.5.1.11; 3.8.2.1-6; 10.2.3.1; तैत्ति० ब्रा० 2.2.2.6; 3.3.3.1,5; आश्वलायनगृह्यसूत्रम् 1.8.5; पारस्करगृह्यसूत्रसम् 1.6; 2.17.
46. यजु० 8.43.
47. यजु० 22.22.
48. अ० 1.14.3.
49. अ० 2.36.3.
50. अ० 14.1.43-44.
51. अ० 14.1.52, 48, 63
52. अ० 14.1.61.
53. अ० 14.2.71.
54. अ० 14.2.74.
55. अ० 7.39.4; द्रष्टव्यम्, -ऋ० 1.126.7; दयानन्दभाष्यम्।
56. ऋ० 10.86.10.
57. ऋ० 1.3.11; 10.159.2; 85.26.
58. अ० 20.126.9; द्र०-ऋ० 10.86.9; अ० 3.18.5.
59. अ० 14.1.56.
60. यजु० 14.21-22,द० भा०।
61. यजु० 35.21; 13.18; द्र०-यजु० 13.16, द० भा०
62. यजु० 13.26, द० भा०
63. यजु० 8.43; द्र०-द० भा०
64. अ० 14.1.64; 2.27. ; 3.28.3.
65. अ० 3.23.2-3
66. अ० 3.28.4.
67. अ० 11.1.22.
68. अ० 14.1.42.
69. अ० 14.2.24.
70. अ० 14.2.25.
71. अ० 14.1.21,43.
72. मनु० 5.150; तु० - या० स्मृ० 1.83.
73. मनु० 9.26-27
74. या० स्मृ० 1.77.
75. व्या० स्मृ० 2.27
76. म०भा० 1.74.41; 12.145.6
77. म० भा० 5.38.11
78. विस्तरेण स्त्रीकर्त्तव्यविषये द्रष्टव्यम्-
द०भा०, ऋ० 1-113.8, 14;
123.5-6; 126.7; 164.41; 2.17.7;
3.61.1; 4.52.6-7; 66.5; 79.6;
6.61.7; 64.2; 7.56.7; यजु० 11.62,71.

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (97-104) July-Dec. 2011

यजुर्वेदीय-ज्योतिषपरक शब्दावली का लोकप्रचलन

डॉ० अपर्णाधीर
मकान -01, रोड -22, पंजाबीबाग एक्सटेन्शन, नई दिल्ली -110026
Email : dhir.aparna@gmail.com

'वाक्' भाषा के प्रकाशन का माध्यम है क्योंकि ज्ञान भाषा है और उसकी अभिव्यक्ति वाणी द्वारा ही सम्भव है। शतपथ ब्राह्मण में वाणी के लिए विराट्, विश्वकर्मा, प्रजापति आदि विशेषण दिये गये हैं। वस्तुतः वाणी का स्वरूप उसमें प्रयुक्त शब्दों पर आधारित है। परवर्त्ती ज्योतिष-साहित्य में प्राप्त ज्योतिषशास्त्रीय शब्द मुख्यतः वैदिक-साहित्य की ही देन हैं। कर्मकाण्ड प्रधान यजुर्वेदीय ग्रन्थ ज्योतिषीय तत्वों के प्रत्यक्ष अथवा सांकेतिक विवेचन से अलंकृत हैं। ज्योतिषपरक शब्दावली के लोकप्रचलन को उसके विकास द्वारा एवं विभिन्न काल में मिलने वाले ग्रन्थों के आधार पर ज्ञात किया जा सकता है।

सम्पूर्ण विश्व में मनुष्य ही सर्वोतम जीव है, जो वाक्-व्यवहार द्वारा अपने विचार-विनिमय एवं ज्ञान-विज्ञान के चिन्तन को व्यक्त करने में समर्थ है। वास्तव में 'वाक्' भाषा के प्रकाशन का माध्यम है क्योंकि ज्ञान भाषा है उसकी अभिव्यक्ति वाणी द्वारा ही सम्भव है।[1] वाणी के महत्व की ओर वैदिक ऋषियों ने प्रथमतः ऋग्वेद के वाक्-सूक्त (10-125)में ध्यान आकृष्ट किया है। वाणी की प्रभावशीलता शतपथ ब्राह्मण में वर्णित उसके विशेषणों द्वारा ग्राह्य है - विराट्, विश्वकर्मा, प्रजापति एवं लोकम्पृणा अर्थात् वाणी सबसे विशाल है, वाणी से ही विश्व के सभी कर्म किये जा सकते हैं, वाणी संसार की पालक और शक्तिशाली है।[2]

वाणी की महत्ता को कर्मकाण्ड प्रधान शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ की दृष्टि से भी प्रतिपादित किया गया है। वाणी से ही यज्ञ का स्वरूप बनता है। क-च-ट-त आदि वर्ण वाणी के माध्यम से शब्दों में परिगणित होकर मन्त्र का रूप लेते हैं। मन्त्र के साथ डाली गई अग्नि में आहुति देवताओं द्वारा ग्राह्य होती है। इस प्रकार वाणी द्वारा ही यज्ञ सफलतापूर्वक सम्पादित किया जाता है।[3] अतः वाणी का स्वरूप उसमें प्रयुक्त शब्दों पर आधारित है। आचार्य दण्डी ने भी **काव्यादर्श** में शब्द को महत्त्वपूर्ण बताते हुए कहा है कि यदि शब्द रूपी ज्योति संसार में न जलती तो संसार में चारों ओर अंधेरा ही रहता।[4] सार्थक शब्द ही ज्ञान के साधन है। वैदिक ऋषि ने मनुष्य की वाणी को समझने योग्य माना है क्योंकि सभी प्रकार के पशुओं, जीव-जन्तुओं आदि में से केवल मानव-जाति की वाणी ही सार्थक शब्दों से अलंकृत है।[5]

प्रायः प्राचीन काल से प्रचलित शब्दों का ही प्रसार वर्तमान काल में दृश्यमान है। उदाहरणतः यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में दुर्ग अर्थ में 'पुर' शब्द का प्रयोग।[6] कह सकते हैं कि काल-भेद होने पर भी शब्द अपने प्रधान अर्थ को अधिकतर समेटे हुए रहते हैं। इस दृष्टि से

प्रस्तुत अनुशीलन में वेदकालीन प्रचलित शब्दों की लोकव्यवहारिकता जानने के लिए शुक्लयजुर्वेदीय और कृष्णयजुर्वेदीय संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों को आधार बनाया गया है। यजुर्वेदीय ग्रन्थों की शैली की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं - पहली कि ये मुख्यत: गद्यात्मक है और दूसरी इनमें निर्वचन-पद्धति द्वारा शब्दों के अर्थपरक विकास को दर्शाया गया है।

वेदों की व्याख्या में शब्दों के निर्वचनों का विशेष योगदान रहता है। इस विषय में यजुर्वेदीय ब्राह्मण अवश्य ही पठनीय हैं। इनमें प्रचुर मात्रा में मिलने वाले निर्वचनों का शास्त्रीय-विधि से कथन डॉ. सरोज विद्यालंकार ने '*ऐतरेय एवं तैत्तिरीय ब्राह्मणों के निर्वचन*' डॉ. सन्ध्या सिन्हा ने '*शतपथ-ब्राह्मणस्य निर्वचनानां समीक्षात्मकमध्ययनम्*' तथा डॉ. नर्गिस वर्मा ने 'The Etymologies In The Shatapatha Brahmana' नामक कृत्तियों में किया है। अत: प्रस्तुत अध्ययन निर्वचन की दृष्टि से नहीं अपितु लोकप्रचलन के सन्दर्भ में किया जा रहा है। ध्यातव्य है कि यह शोध-अध्ययन केवल ज्योतिषशास्त्रीय शब्दों की लोकप्रसिद्धि पर ही केन्द्रित है।

यह सर्वविदित है कि विश्वकोश रूपी ये यजुर्वेदीय संहिताएँ एवं ब्राह्मण कर्मकाण्ड प्रधान हैं। चूँकि यज्ञ का सफल अनुष्ठान शुभ-मुहूर्त आदि के ज्ञान पर निर्भर करता है। अत: यजुर्वेदीय ग्रन्थों में ज्योतिषीय तत्वों का विवेचन प्रत्यक्ष अथवा सांकेतिक रूप में यत्र-तत्र उपलब्ध होना स्वाभाविक है। इन ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा न केवल आकाश में विद्यमान ज्योतिर्मय पिण्डों अर्थात् सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, उल्का आदि की अपितु इन आकाशीय पिण्डों से प्रभावित काल की इकाइयों जैसे संवत्सर, अयन, ऋतु, मास, पक्ष इत्यादि की भी पर्याप्त जानकारी मिलती है। इसके अतिरिक्त ज्योतिषशास्त्र के विभिन्न अङ्गस्वरूप वास्तुशास्त्र एवं अङ्कगणित की चर्चा भी प्रारम्भिक अवस्था में नजर आती है।

ज्योतिषशास्त्रीय शब्दों की लोकप्रियता को उसके विकास द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। परवर्त्ती ज्योतिष-साहित्य में प्राप्त ज्योतिषशास्त्रीय शब्द मुख्यत: वैदिक-साहित्य की ही देन है। अत: यहाँ यजुर्वेदीय संहिताओं एवं ब्राह्मणों में वर्णित ज्योतिषशास्त्रीय शब्दों का चयन किया गया है।

युगवाचक शब्द - वैदिककाल[7] में कालमान के अर्थ में प्रयुक्त 'युग' शब्द वेदाङ्गकाल में पञ्चसंवत्सरात्मकयुग, सूर्यसिद्धान्त में चतुर्युग तथा जन-साधारण में प्राय: इस प्रकार के वाक्यों में - ''युगों-युगों से चला आ रहा है'', ''प्रत्येक युग की अपनी कहानी है'' आदि कालपरिमाण के रूप में चर्चित नजर आता है। भगवान राम के त्रेतायुग में तथा श्रीकृष्ण के द्वापरयुग में लिये गये अवतार आज तक स्मरणीय है, इसी प्रकार वर्तमानकाल में बढ़ते हुए पाप आदि क्रियाओं को देखकर अधिकतर जन-सामान्य में ''घोर कलियुग आ गया'' ऐसा सुनाई देता है। निश्चित ही ये चतुर्युग-संज्ञाओं की कल्पना वैदिक-ऋषियों का उद्बोधन है। परवर्त्ती-काल में सूर्यसिद्धान्त[8] आदि ग्रन्थों में एवं लोक-व्यवहार में प्रचलित चतुर्युग की कृतादि संज्ञाओं का उल्लेख यजुर्वेदीय ग्रन्थों में है। ध्यान देने योग्य यह है कि जहाँ तैत्तिरीय तथा वाजसनेयि संहिताएँ केवल कृत, त्रेता और

यजुर्वेदीय ग्रन्थों में पञ्चसंवत्सरात्मक-युग के अवयव

यजुर्वेदीय ग्रन्थ[14]	संवत्सर के नाम
काठक-संहिता	संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर, उद्वत्सर
मैत्रायणी-संहिता	संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, उद्वत्सर, वत्सर
तैत्तिरीय-संहिता	संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इदुवत्सर, वत्सर
वाजसनेयि-संहिता एवं शतपथ ब्राह्मण	संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर, वत्सर
तैत्तिरीय ब्राह्मण एवं तैत्तिरीय आरण्यक	संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इदुवत्सर, इद्वत्सर, वत्सर

द्वापर के नामों का कथन करती है[९], वहीं तैत्तिरीय ब्राह्मण कृत, त्रेता, द्वापर और कलि सभी संज्ञाओं से परिचित है[१०]। अत: यजुर्वेदीय ऋषि चतुर्युग-शब्दावली से अनभिज्ञ नहीं है।

संवत्सरवाचक शब्द - वर्ष के वाचक के रूप में प्रसिद्ध 'संवत्सर' शब्द का अनेक बार यजुर्वेदीय ग्रन्थों में कथन है। अवश्य ही वर्तमान काल में विक्रमी संवत् या शक् संवत् में दिखाई देने वाला 'संवत्' शब्द संवत्सर का ही विकसित रूप है। यजुर्वेदीय संहिताओं[११] में संवत्सर अर्थ में मिलने वाला 'अब्द' शब्द सूर्यसिद्धान्त[१२] में समान्तया दृष्टिगत होता है। यही 'अब्द' शब्द लौकिक व्यवहार में हजारों वर्षों के एक-साथ किये जाने वाले सम्बोधन में 'शताब्दी' शब्द के रूप में नजर आता है। इसी प्रकार लोकजन में विख्यात संवत्सरवाची 'वार्षिक' शब्द भी तैत्तिरीय-संहिता में देखा जा सकता है।[१३] इन सबके अतिरिक्त यद्यपि वैदिककाल में पञ्चसंवत्सरात्मक-युग का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है तथापि वेदाङ्गकाल में चर्चित पञ्चसंवत्सरात्मक-युग के अवयव-रूप में मिलने वाले पाँच-वर्षों के नाम संवत्सर, परिसंवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर, इद्वत्सर यजुर्वेदीय ग्रन्थों में यत्र-तत्र अवश्य कहे गये हैं -

ऋतुवाचक शब्द - कालखण्ड के रूप में ग्राह्य 'ऋतु' शब्द प्रत्येक काल में नित्य गमनशील काल-अवधि का ही वाचक है।[15] इसके अवयव रूपी बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर नामक छह ऋतुएँ यजुर्वेद-काल[16] से आज तक लोक व्यवहार में उसी रूप में पुकारे जाते हैं। अत: जन-सामान्य को छह ऋतुओं के नामों से अवगत कराने में यजुर्वेदीय ग्रन्थों को उपयोगी मानना चाहिए।

मासवाचक शब्द- यजुर्वेद में मिलने वाले मधु, माधव आदि मासों के नाम निश्चित ही दर्शनीय हैं क्योंकि वेदकालीन प्रचलित मासों के ज्ञान में जितने ये यजुर्वेदीय ग्रन्थ सहायक हैं, अन्य कोई भी ग्रन्थ उतने सहायक नहीं है। कालक्रम से वेदाङ्ग ज्योतिष[१८], सूर्यसिद्धान्त[१९] तथा मुहूर्तगणपति[20] जैसे प्राचीन ग्रन्थों ने ज्योतिष के नये-नये सिद्धान्तों की चर्चा करने पर भी मधु, माधव आदि वैदिक मासों के नामों को ही चैत्र, वैशाख आदि नामों के अर्थ में ग्रहण किया। यद्यपि वर्तमान-काल में मासों की चैत्र, वैशाख आदि संज्ञाए लोकप्रिय हैं तथापि लौकिक संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में उपर्युक्त परम्परा ही देखने को मिलती है। उदाहरणत: रघुवंश[21] में आषाढ़ मास के अर्थ में 'शुचि' शब्द को, भाद्रपद मास के अर्थ में 'नभस्य' शब्द को, चैत्र-वैशाख मास के अर्थ में 'मधुमाधव'

यजुर्वेदीय ग्रन्थों एवं लौकिक ग्रन्थों में कथित मास

यजुर्वेदीय ग्रन्थ	लौकिक ग्रन्थ
मधु	चैत्र
माधव	वैशाख
शुक्र	ज्येष्ठ
शुचि	आषाढ़
नभ	श्रावण
नभस्य	भाद्रपद
इष	अश्विन
ऊर्ज	कार्तिक
सह	मृगशीर्ष
सहस्य	पौष
तप	माघ
तपस्य	फाल्गुन

शब्दों को; कुमारसम्भव[22] में आषाढ़ मास के अर्थ में 'शुचि' शब्द को, पौष मास के अर्थ में 'सहस्य' शब्द को; मेघदूत[23] में श्रावण मास के अर्थ में 'नभ' शब्द को; शिशुपालवध[24] में आषाढ़ मास के अर्थ में 'शुचि' शब्द को, कार्तिक मास के अर्थ में 'ऊर्ज' शब्द को, माघ मास के अर्थ में 'तप' शब्द को ग्रहण किया गया है। पी.वी. काणे ने वैदिक एवं लौकिक मासों की इन संज्ञाओं को समानार्थी माना है।[25]

तिथिवाचक शब्द -तिथि के सन्दर्भ में यजुर्वेदीय ग्रन्थों में 'फाल्गुनी-पूर्णमासी'[26] तथा 'वैशाख-अमावस्या'[27] शब्द मिलते हैं, जो आज तक लोक-व्यवहार में ग्राह्य है। द्रष्टव्य यह है कि यजुर्वेदीय ग्रन्थों का रचना काल वास्तव में उस का साक्षी है जब मासों का नाम नक्षत्र आधारित होकर चैत्र, वैशाख आदि नहीं होता था। अतः निस्सन्देह फाल्गुनी-पूर्णमासी एवं वैशाख-अमावस्या नामक तिथियों के नामकरण के प्रथम सन्दर्भ अवश्य ही यजुर्वेदीय ग्रन्थ हैं।

नक्षत्रवाचक शब्द - चन्द्रमार्ग में आने वाले तारों के समूह को नक्षत्र कहा है। वस्तुतः नक्षत्रवाची शब्दों को लोकप्रचलन में यजुर्वेद[28] का योगदान अवश्य ही सराहनीय है क्योंकि यहाँ कथित 27 अथवा 28 नक्षत्रों की सूची को परवर्ती ज्योतिषशास्त्रीय[29] ग्रन्थों के लिए उपजीव्य जानना चाहिए। केवल क्रमभेद अन्तर परवर्ती-कालीन ग्रन्थों में दृष्टिगत है अन्यथा कृतिका से भरणी पर्यन्त शब्द ही नक्षत्रों के लिए लोक-प्रचलित हैं। इसी प्रकार यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में नक्षत्रों के सन्दर्भ में चर्चित 'देवगृह'[30] शब्द कालान्तर में राजप्रसादों[31] के अर्थ में जाना जाता है। यद्यपि यहाँ ग्रहों को देवसंज्ञक मानकर नक्षत्रों को उनका घर कहा गया है तथापि वर्तमानकाल में राजप्रसाद अर्थ में प्रयुक्त 'देवगृह' शब्द पूर्णतः सार्थक है क्योंकि राजा प्रजा के लिए सर्वथा देवसंज्ञक ही रहता है।

मुहूर्तवाचक शब्द - 'मुहूर्त' शब्द काल की लघु इकाई अथवा क्षण के रूप में यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में प्रतिपादित है।[32] वेदाङ्ग[33] ज्योतिष में, वेदाङ्गोत्तर[34] ज्योतिष में मिलने वाले बृहत्संहिता, नारद-संहिता तथा मुहूर्त पर आधारित ग्रन्थ मुहूर्तचिन्तामणि इत्यादि में एवं लौकिक-संस्कृत-साहित्य[35] के सुप्रसिद्ध महाकाव्य महाभारत तथा रघुवंश में वर्णित 'मुहूर्त' शब्द अल्प समय का ही द्योतक है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेदीय ब्राह्मणों[36] में क्षुद्र-मुहूर्तो के प्रसंग में कथित 'निमेष' शब्द वेदाङ्गकाल[37] के आर्थवण-ज्योतिष और वेदाङ्गोत्तर-काल[38] के मनुस्मृति, सुश्रुतसंहिता जैसे ग्रन्थों में मुहूर्त-गणना के सन्दर्भ में दिखाई देता है। उल्लेखनीय है कि आथर्वण-ज्योतिष[39] में कही गई मुहूर्त-ज्ञान की विधि में 'द्वादशाङ्गुल-शङ्कु-छाया' शब्द का प्रयोग किया गया है। वास्तव में यह 'द्वादशाङ्गुल-शङ्कु-छाया' चार शब्दों के संयोग से बना है। ये चारों शब्द निश्चित ही यजुर्वेदीय है। संख्यावची 'द्वादश'[40] शब्द अनेक बार यजुर्वेद में आया है। 'अङ्गुल'[41] शब्द को यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में परिमाणवाचक माना है। खूँटी के लिए प्रयुक्त 'शङ्कु'[42] शब्द शतपथ ब्राह्मण में शमशान एवं वेदी निर्माण के वाक्यों में दृष्टिगत है। पुनराधान यज्ञ के सन्दर्भ में 'छाया'[43] शब्द मिलता है। जिस प्रकार आथर्वण-ज्योतिष में 'द्वादशाङ्गुल-शङ्कु-छाया' शब्द मुहूर्त-ज्ञान का परिचायक है, उसी प्रकार यजुर्वेदीय ब्राह्मणों के अलग-अलग वाक्यों में कथित ये चारों शब्द गणनावश ही सम्बद्ध प्रसंगों में उद्धृत हैं। वेदाङ्गोत्तर-काल में भी सूर्यसिद्धान्त, सिद्धान्तशिरोमणि एवं सिद्धान्त दर्पण जैसे ज्योतिष ग्रन्थों के त्रिप्रश्नाधिकार नामक अध्याय में 'द्वादशाङ्गुल-शङ्कु-छाया' के आधार पर दिशा-निर्णय, पलभा आदि के ज्ञान का निर्देश है।

ग्रहवाचक शब्द - यजुर्वेदीय ग्रन्थों में 'ग्रह'[44] शब्द का अनेक बार उल्लेख है परन्तु कहीं भी 'ग्रह' शब्द को आज की भाँति Planet अर्थ में स्वीकार नहीं किया गया। भारतीय ज्योतिषशास्त्र एवं वर्तमान सन्दर्भ में लोक-प्रचलित सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, राहु एवं केतु जैसे ग्रहवाची शब्दावली यद्यपि यजुर्वेदीय ग्रन्थों के बहुत से प्रसंगों[45] में चर्चित दिखाई देती है किन्तु केवल सूर्य और चन्द्र ही इन ग्रन्थों में ग्रह-पिण्ड के रूप में स्वीकार्य है। शेष बचे ग्रहवाची शब्दों की केवल नामों द्वारा ही परवर्ती ज्योतिष से समानता दृष्टिगोचर होती है क्योंकि ये सभी ग्रह-पिण्ड से भिन्न अर्थ प्रस्तुत करते हैं, जैसे - 'मंगल' शब्द कल्याणकारी अर्थ में; 'बुध' शब्द बोधन अर्थ में; 'शुक्र' शब्द तेज, शुद्ध, निर्मल, प्रकाश, ज्योति, चमक अर्थ में, तथा 'केतु' शब्द प्रज्ञा अर्थ में मिलते हैं। देखा जाये तो व्यवहारिक दृष्टि से ये सभी शब्द इन्हीं अर्थो में लोकप्रसिद्ध हैं। आज आशीर्वचन के रूप में मंगलमय जीवन की कामना की जाती है। इसी तरह बुध तथा शुक्र जन-मानस में अपने उपर्युक्त अर्थो के कारण प्रतिष्ठित हैं। भारतीय ज्योतिषशास्त्र-परम्परा में नव ग्रहों में 'सूर्य' शब्द का ही प्रधानतः प्रयोग है जबकि प्रो. गया चरण त्रिपाठी[46] का मत है कि यजुर्वेदीय ब्राह्मणों में सूर्य के लिए 'आदित्य' शब्द रूढ़ हो गया था। चूँकि यजुर्वेदीय ग्रन्थों में सूर्य एव आदित्य शब्द परस्पर पर्यायवाची[47] भी नजर आते हैं अतः धीरे-धीरे लोक में 'सूर्य' शब्द ही ग्राह्य

हुआ। यजुर्वेदीय ग्रन्थों में एक और विचित्र प्रसंग प्राप्त होता है, जहाँ शुक्र की अभिव्यक्ति 'वेन' शब्द द्वारा की गई है।[48] वैसे तो यहाँ 'शुक्र' शब्द ग्रह-संज्ञक नहीं है परन्तु शुक्रवाची 'वेन' शब्द अवश्य ही लैटिन भाषा में विकसित ग्रहवाची 'वीनस' शब्द का प्रारूप है।[49] इसी प्रकार शुक्लयजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण में आदित्य के विशेषण के रूप में मिलने वाला 'ईशान'[50] शब्द प्राय: वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में ईशान-कोण के रूप में चर्चित है, जिसे लोकव्यवहार में उत्तर-पूर्व दिशा के नाम से जाना जाता है। सूर्य की आराध ना के लिए प्रसिद्ध आदित्यस्तोत्र में भी 'ईशान' शब्द पठित है।[51]

राशिवाचक शब्द - वैदिक-काल में आधुनिक-कालीन राशियों का कोई वर्णन नहीं है परन्तु यजुर्वेदीय[52] ग्रन्थों में परवर्ती ज्योतिष में प्रचलित कुछ राशियों के नाम अवश्य ही दृष्टिगत होते हैं, जैसे- मेष, वृष, मिथुन, कन्या, सिंह, तुला, धनु और कुम्भ। ध्यातव्य है कि ये राशिवाचक शब्द इन ग्रन्थों में आधुनिक ज्योतिषशास्त्र की राशियों से सम्बन्धित नहीं है। वस्तुत: यजुर्वेदीय राशिवाचक शब्द केवल अपना स्वतन्त्र अर्थ प्रस्तुत करते हैं। इन शब्दों के यही अर्थ वर्तमान ज्योतिष में कहीं न कहीं साम्यता रखते हैं। आज राशि-चिन्ह के रूप में मेष के मेढ़, मिथुन के लिए जोड़ा, सिंह के लिए व्याघ्र तथा तुला के लिए तराजु ही राशि-चक्र में दिखाई देते हैं। ये सभी चिन्ह वास्तव में हजारों वर्ष पूर्व वैदिक ऋषियों द्वारा किया गया राशिवाचक शब्दों पर विचार है, जो यजुर्वेदीय ग्रन्थों में इधर-उधर सन्दर्भो के रूप में नजर आते हैं।

अंकवाचक शब्द- ज्योतिष के गणित पक्ष को सिद्ध करने के लिए अंकों का ज्ञान परमावश्यक है। अत: सूर्यसिद्धान्त एवं भास्कराचार्यकृत लीलावती जैसे ग्रन्थों[53] में संख्याओं के विवरण से वैदिक ऋषि के अंक-विद्या के प्रति जागरुक होने का अनुमान लगाया जा सकता है। इस दृष्टि से यजुर्वेदीय ग्रन्थ एक से पर्यन्त परार्ध अंकवाचक शब्दों के भण्डार हैं।[54]

यजुर्वेदीय ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में किये गये उपर्युक्त अध्ययन को ज्योतिषशास्त्रीय शब्दावली की पृष्ठभूमि अथवा प्रारम्भिक चिन्तन मानने में संकोच नहीं लेना चाहिए। अत: यजुर्वेदीय-ज्योतिषपरक शब्दावली के लोकप्रचलन को वेदाङ्ग ज्योतिष, वेदाङ्गोतर ज्योतिष एवं लौकिक साहित्य के ग्रन्थों में चर्चित देखने से न केवल ज्योतिषशास्त्र के विकास को समझा जा सकता है एवमेव शब्दों की नित्यता भी प्रकाशित होती है।

पाद-टिप्पणियां

1. कपिलदेव द्विवेदी, भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2003, पृ0 43
2. वाग्वै विराट्। श.ब्रा. (शतपथ ब्राह्मण) 3.5.1.34
   वाग् वै विश्वकर्मर्षि:। वाचा हीदं सर्वं कृतम्। वही, 8.1.2.9
   वाग् वै प्रजापति:। वही, 5.1.5.6,
   वाग् वै लोकम्पृणा। वही, 8.7.2.7,
3. मोतीलाल शास्त्री, शुक्लयजुर्वेदीय-माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण विज्ञानभाष्य, 'अध्वरनाम' तृतीयकाण्डान्तर्गत प्रथम खण्ड, जयपुर, पृ0 310
4. इदमन्धन्तम: कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
   यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।
   काव्यादर्श 1-4
5. तदेततुरीयं वाचो निरुक्तम् यन्मनुष्या वदन्ति। श.

ब्रा. 4.1.3.16
6. श. ब्रा. 3.4.4.3, 6.3.3.25, 11.1.1.2-3; तै. ब्रा. (तैत्तिरीय ब्राह्मण) 1.7.7.5
7. या ओषधी: पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं। वाज. सं. 12.75
8. सूर्यसिद्धान्त 1.15, 1.17
9. तै. सं. (तैत्तिरीय-संहिता) 4.3.3; वाज. सं. (वाजसनेयी-संहिता) 30.18
10. तै. ब्रा. 1.5.11.1, 3.4.16
11. क. सं. (कपिष्ठल-कठ-संहिता) 34; वाज. सं. 12.74
12. सूर्यसिद्धान्त 1.15, 1.24, 12.6
13. संवत्सरो य एवं विद्वाँस: .... वार्षिकौ मासौ। तै. सं. 7.5.1.2
14. का. सं. (काठक-संहिता) 13.15.70, 39.6. 43; मै.सं. (मैत्रायणी-संहिता)4.9.18; तै. सं. 5.5.7; वाज. सं. 30.15; श. ब्रा. 8.1.4.8; तै. ब्रा. 3.4.11, 3.10.4.1; तैत्तिरीय आरण्यक 4. 19.1
15. चन्द्रशेखर उपाध्याय एवं अनिल कुमार उपाध्याय, *वैदिककोश*, नाग प्रकाशक, दिल्ली, 1995, भाग-1, पृ. 377
16. का. सं. 8.6.12-13; मै. सं. 3.13.19-20; तै. सं. 5.6.23; क. सं. 7.2; वाज. सं. 24.20, 24.11; श. ब्रा. 10.2.5.9-15, 13.5.4.28; तै. ब्रा. 2.6.19.1-2
17. का. सं. 4.7.29, 17.10.25-28, 35.9.59; मै. सं. 1.3.16, 2.8.12, 3.12.13; तै. सं. 4. 4.11; क. सं. 3.5, 26.9; वाज. सं. 7.30, 22.31; श. ब्रा. 7.4.2.29, 8.2.1.16, 8.4.2. 14
18. ऋक् ज्योतिष 5; यजुष् ज्योतिष 6
19. सूर्यसिद्धान्त 1.48
20. मुहूर्तगणपति 1.27-30
21. रघुवंश 3.3, 9.54, 11.7, 12.29, 17.41
22. कुमारसम्भव 5.20, 5.26
23. मेघदूत 1.4
24. शिशुपालवध 1.58, 6.50, 6.63
25. पी. वी. काणे (अनु. अर्जुन चौबे कश्यप), *धर्मशास्त्रकाइतिहास* (हिन्दी अनुवाद), लखनऊ, 1973, चतुर्थ भाग, पृ. 323
26. का. सं. 8.1; मै. सं. 1.6.9; तै. सं. 7.4.8.1; क. सं. 6.6; श. ब्रा. 6.2.2.18-19
27. श. ब्रा. 11.1.1.7
28. का. सं. 39.13.90; मै. सं. 2.13.20; तै. सं. 4. 4.10; तै. ब्रा. 1.5.1, 3.1.1, 3.1.2, 3.1.4, 3. 1.5
29. ऋक् ज्योतिष 14; यजुष् ज्योतिष 18; मुहूर्तचिन्तामणि 2.58-60, 6.29; बृहत्संहिता 97.1-3
30. नक्षत्राणि वै सर्वेषां देवानामायतनं तत्सर्वा। श. ब्रा. 14.3.2.12;
देवगृहा वै नक्षत्राणि। तै. ब्रा. 1.5.2.6
31. (सं.) अजकुमार पाण्डेय, *वैदिक-विज्ञान-परम्परा*, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 2005, पृ. 172
32. श. ब्रा. 1.8.3.17, 2.3.2.5, 2.4.2.21; तै. ब्रा. 3.12.9.6
33. ऋक् ज्योतिष 17; यजुष् ज्योतिष 24
34. बृहत्संहिता 42.12; नारद-संहिता 9.1-3; मुहूर्तचिन्तामणि 6.52-53
35. महाभारत, उद्योगपर्व 6.17; रघुवंश 5.58
36. श. ब्रा. 12.3.2.5; तै. ब्रा. 3.10.1.4
37. आर्थवण-ज्यौतिषम् 1.4-5
38. मनुस्मृति 1.64; सुश्रुतसंहिता 6.5
39. आर्थवण-ज्यौतिषम् 1.6-10
40. श. ब्रा. 2.2.2.4, 5.4.5.20; तै. ब्रा. 1.6.1.10
41. श. ब्रा. 10.2.1.2-3; तै. ब्रा. 3.2.9.10-11
42. श. ब्रा. 7.2.2.15, 13.8.2.7, 3.5.1.26, 13.8. 4.1

43. श. ब्रा. 2.2.3.10
44. श. ब्रा. 4.6.5.1, 10.1.1.5; तै. ब्रा. 1.3.1.2, 1.4.1.1
45. श. ब्रा. 13.8.1.16, 6.8.2.8, 1.7.4.21, 3.3.2.7, 3.3.3.18, 1.4.1.10;
    तै. ब्रा. 1.3.1.3-4, 3.7.6.3, 1.1.7.2, 3.6.1.2
46. गया चरण त्रिपाठी, *वैदिकदेवता:उद्भवऔर विकास*, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1981, प्रथम खण्ड, पृ. 219-220
47. सूर्य एकाकी चरति। मै. सं. 3.12.19.26; तै. सं. 7.4.18; वाज. सं. 23.46; श. ब्रा. 13.5.2.12 असौ वा आदित्य एकाकी चरति। श. ब्रा. 13.2.6.11; तै. ब्रा. 3.9.5.4
48. श. ब्रा. 4.2.1.8
49. "...... Considering the fact that Latins named the planet as Venus, while the word cannot be satisfactorily derived from any Latin root, there can be no objection to identify Venus with the Vena in Vedic works.", Lokamanya Bal Gangadhar Tilak, *The Orion or Researches into The Antiquity of The Vedas*, Poona, 1893,p. 163
50. श. ब्रा. 6.1.3.17
51. शशि तिवारी, सूर्य देवता, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1994, पृ. 166
52. श. ब्रा. 3.3.4.18, 5.1.3.9, 3.5.1.21, 11.2.7.33;
    तै. ब्रा. 1.6.4.4., 1.7.6.8, 2.6.4.3, 3.1.2.2, 3.3.3.4, 2.6.1.5, 3.4.14
53. सूर्यसिद्धान्त 1.30-33; एकदश शत सहस्रायुत लक्ष प्रयुत कोटय: क्रमश अर्बुदमब्जम् ....।। लीलावती, प्रथम काण्ड, परिकर्माष्टकम, श्लोक 10
54. दश च शतं च शतं च सहस्रं चायुतं .... समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्च...। का. सं. 17.10; मै. सं. 2.8.14; तै. सं. 4.4.11; क. सं. 26.9; वाज. सं. 17.2; एकस्मै स्वाहेत्याह .... परार्धाय स्वाहेत्याह। तै. ब्रा. 3.8.16.1-4

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (105-110) July-Dec. 2011

अग्निर्वै सर्वा देवता:

प्रो० ज्ञानप्रकाश शास्त्री
सम्पादक- 'गुरुकुल शोध भारती', गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) भारत
Email : gyanprakashshastri@gmail.com

विज्ञान की अवधारणायें समय-समय पर परिवर्तित होती रहती हैं, परन्तु वैदिक विज्ञान की स्थापनाएँ अविकल रूप में आज भी यथावत् विद्यमान हैं। आज का विज्ञान कुछ दिन पूर्व तक यह मानता था कि यह संसार अनेक तत्त्वों के समूह से बना है, परन्तु विकास के क्रम में अब उसने जिस धरातल का स्पर्श किया है, उस स्थान पर खड़ा होकर वह यह मानने लगा है कि इस संसार का मूल तत्त्व एक है और वह है—ऊर्जा।

सृष्टि के मूल में निहित इस तत्त्व को यजुर्वेद का ऋषि पुरुष रूप में निरूपित करता है। वेदों की व्याख्या करते हुए ऐतरेय-ब्राह्मण कहता है कि—'अग्नि: सर्वा देवता:। मैत्रायाणी और काठक संहिताओं के द्वारा भी उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। आचार्य दुर्ग 'दैवत' का स्वरूप विवेचन करते हुए कहते हैं कि 'देवतास्मिन्देवतेति दैवत:' कि सभी देवता जिसमें विद्यमान हैं, ऐसा देवता 'दैवत' कहलाता है। दुर्ग के अनुसार इस प्रकार का देवता अग्नि है, क्योंकि यह सभी देवताओं का पूज्य है। इसलिये सभी देवताओं में अग्नि सबसे बड़े भाग का अधिकारी है और 'अपरिग्रहं च श्रेष्ठगामि' इस न्याय के अनुसार जिस वस्तु का कोई स्वामी नहीं होता, उसका स्वामी वह होता है, जो उपलब्ध व्यक्तियों में सर्वश्रेष्ठ होता है, अग्नि सम्पूर्ण देवताओं में श्रेष्ठ है, अत:, अस्पष्ट लिङ्ग वाले मन्त्रों का देवता अग्नि होता है अर्थात् ऐसे मन्त्र आग्नेय कहलाते हैं, यह आचार्य दुर्ग का विचार है। आचार्य दुर्ग की उपर्युक्त व्याख्या के निस्सन्देह समीचीन है। जो देवता आकाश से लेकर पाताल तक सर्वत्र विद्यमान है, उसके सम्बन्ध में 'अग्निर्वै सर्वा देवता:' कथन कैसे अनुचित माना जा सकता है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण स्पष्ट रूप से कहता है:-'ते देवा अग्नौ तनू: सन्न्यदधत। तस्मादाहुरग्नि: सर्वा देवता इति' कि उन देवताओं ने अपने शरीर को अग्नि में स्थापित कर दिया, इस कारण यह कहा जाता है कि अग्नि में ही सम्पूर्ण देवता स्थित हैं।

खगोलविज्ञान के रहस्य को उद्घाटित करते हुए ऋग्वेद के मेध्य काण्व ऋषि कहते हैं—

एकं एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एक: सूर्यो विश्वमनु प्रभूत:। एकैवोषा: सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥

'एक मात्र अग्नि ही अनेक रूपों में ऊर्जा का सञ्चार कर रहा है, एक सूर्य ही समस्त संसार में अनेक रूपों में उत्पन्न हो रहा है, एक ही उषा सर्वत्र दिखायी दे रही है अथवा एक ही है जो समस्त रूपों में उत्पन्न हो रहा है।'

उपर्युक्त मन्त्र में ऋषि ने जिस सत्य का दर्शन किया है वह यह है कि नाना रूपों में दृश्यमान अखिल ब्रह्माण्ड का मूल उद्गम अग्नि

है। जिस प्रकार विद्युत् को प्रकाशरूप, उष्णरूप, घूर्णनरूप अथवा शीतलरूप में से किसी एक के साथ नहीं बाँध सकते या जिस प्रकार विद्युत् अनेक प्रकार के कार्यों का कारण और जनक है, उसी प्रकार अग्नि भी अव्यक्त को व्यक्त सत्ता में परिणत करने वाला तत्त्व है। इसलिये सृष्टिपूर्व विद्यमान रहने वाले तत्त्व को 'हिरण्यगर्भ' नाम से अभिहित किया गया अर्थात् उसके अन्तस् में हिरण्य अर्थात् ज्योति अर्थात् अग्नि है। दीर्घतमा ऋषि अग्नितत्त्व के रहस्य का साक्षात्कार करते हुए कहते हैं कि इन्द्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा—ये सब अग्नि के ही नाम हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद अग्नि के जिस रूप की चर्चा कर रहे हैं वह लोक में ग्रहण किया जाने वाला सामान्य अग्नि नहीं हो सकता। शतपथ-ब्राह्मण कहता है—'अयमग्निर्वैश्वानरः। योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते।' यह वैश्वानर अग्नि चूल्हे की आग से कहीं अधिक सूक्ष्म है। जो भोजन को रक्त, मांसादि के रूप में परिणत करने का काम करता है, यह काम चूल्हे की आग कदापि नहीं कर सकती। यही अग्नि ऊष्मा के रूप में जीवनीशक्ति है, जब तक ऊष्मा है, तब तक जीवन है। महाभारत में इस जीवनीशक्ति अग्नि को 'मनु' नाम से अभिहित किया गया है—

ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतेषु लक्ष्यते।
अग्निश्चापि मनुर्नाम प्राजापत्यमकारयत्॥

समस्त ज्ञान-विज्ञान का आधार होने से जिस चेतनतत्त्व को अग्नि कहा जाता है, उसीको महाभारतकार 'मनु' नाम से अभिहित कर रहे हैं। क्योंकि चेतन का आधार मनन है और यह मनन ही नासदीय सूक्त में वर्णित 'काम' है। यह अग्निरूपी काम ही प्रलय में भी प्राणवान् रहने वाले ब्रह्म के मन में सिसृक्षा को जन्म देता है। इसीलिये आचार्य यास्क अग्नि का निर्वचन करते हुए उसे 'अग्रणी' कहकर व्युत्पादित करते हैं। यह व्युत्पत्ति भले ही वैयाकरणों को मान्य न हो, परन्तु वेदार्थ की निकषा पर यह पूर्णतया घटित होती है।

अग्नि के जिन विविध रूपों की चर्चा वैदिक साहित्य में प्राप्त होती है, उस विस्तृत सन्दर्भ में आज का विज्ञान अग्नि या ऊर्जा को ग्रहण करने को सहमत नहीं हो सकता, यह सत्य है। परन्तु आज जिस रूप में वह ग्रहण कर रहा है, वह भी कम आश्चर्यजनक नहीं है।

आधुनिक विज्ञान की यह मान्यता है कि जगत् के सूक्ष्मतम तत्त्व अणु में निरन्तर विद्युत् धारा प्रवाहित रहती है। वेद की भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि अणुओं के अन्तस् में निरन्तर, निर्बाध गति से अग्निकाण्ड चल रहा है, इसको विज्ञान की भाषा में रेडियेशन कहते हैं और यदि हृदयंगम करने की भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि प्रत्येक पदार्थ से अविरल तेज प्रवाहित हो रहा है और स्वयं उसमें भी अविच्छिन्न रूप से गति हो रही है। इसलिये उक्त वैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखते हुए संसार को 'जगत्' नाम से अभिहित किया गया है। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जो रुका हुआ हो, समस्त दृश्यमान जगत् गतिशील है और गतिशील है,

इसीलिये वह दृश्य है। चित्रपट पर दिखाई देनेवाला चित्र रील की गति के कारण ही दृश्य है, उसके रुकते ही उसका दृश्यता अदृश्य हो जाती है।

सांख्य का सिद्धान्त है कि विषमता से सृष्टि और समता से प्रलय होती है। व्यक्त होने का आधार विरूपा क्रिया है, जबकि अव्यक्त होने का आधार सरूपा क्रिया होती है। वास्तविकता यह है कि क्रिया सरूप कभी नहीं हो सकती, परन्तु कुछ विवशताओं के चलते सांख्य ने क्रिया को सरूप माना है। इस प्रकार विषमता क्रिया या गति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

यह एक यक्ष प्रश्न है कि वैदिक साहित्य में अग्नि का एक गुणविशेष क्रिया है अथवा क्रिया का नाम ही अग्नि है अथवा अग्नि की उपस्थिति मात्र से क्रिया होती है, जिस प्रकार विद्युत् से वर्षा नहीं होती, परन्तु विद्युत् की उपस्थिति मात्र से मेघ बरसते हैं, क्या उस प्रकार अग्नि की भूमिका है? चाहे जो वास्तविकता हो, यह सत्य है कि क्रिया के साथ अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध है। जहाँ क्रिया होगी, वहाँ अग्नि अवश्य उपस्थित होगी, क्योंकि विना ऊर्जा के गति सम्भव नहीं है।

समस्त जगत् प्रपञ्च संकोच और विस्तार की भाषा बोल रहा है। भूगोलविदों के अनुसार हिमालय अभी शिशु है, वह अभी विकास प्रक्रिया के दौर से गुजर रहा है, यह और कुछ नहीं अणुओं में निहित शक्ति, जो अग्निरूपा है, वह अपने को प्रकट कर रही है। इसी प्रकार वैज्ञानिक बतलाते हैं कि ब्रह्माण्ड में ब्लैक होल है, जो समीप आने वाले बड़े-बड़े ग्रहों को अपने में आत्मसात् करने की शक्ति रखता है। यह शक्ति भी अग्नि का ही एक रूप है।

ऋग्वेद में सूर्य तथा ग्रहों की उत्पत्ति का वर्णन प्राप्त होता है—

को द॑दर्श प्रथ॒मं जाय॑मानमस्थ॒न्वन्तं॒ यद॑न॒स्था विभ॑र्ति।
भूम्या॒ असु॑रसृग॒ात्मा क्व॑स्वि॒त् को वि॒द्वांस॒मुप॑ गा॒त्प्रष्टु॑मे॒तत्॥

मन्त्र में जिज्ञासा उत्पन्न करते हुए कहा गया है कि 'अस्थियुक्त को अनस्थियुक्त धारण करता है, तब किसने देखा? पृथिवी के असृक् (रक्त) और आत्मा कहाँ है? कौन विद्वान् इस रहस्य को जानने के लिये समुत्सक है?'

उपर्यक्त मन्त्र में जिन दो तत्त्वों का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है वे हैं—१. अस्थियुक्त २. अनस्थियुक्त। यहाँ 'अस्थि' से अभिप्राय ठोस तथा 'अनस्थि' से असंघात अर्थात् तरल पदार्थ प्रतीत होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मन्त्र सृष्टि की सर्जन प्रक्रिया का उ'ेख कर रहा है। भूतसृष्टि सर्जन प्रक्रिया में वह क्षण भी आता है, जब दो प्रकार के पदार्थ विद्यमान होते हैं, एक तो वे जो ठोस आकार ग्रहण कर रहे होते हैं, जैसे—पृथिवी आदि ग्रह और दूसरे वे होते हैं जो जो तरल अवस्था में रहते हैं। इसमें से अस्थियुक्त अर्थात् ग्रह आदि का आधार अनस्थियुक्त अर्थात् गैस रूप में विद्यमान तरल पदार्थ को बताया गया है। यदि और अधिक सरल रूप से कहें तो कह सकते हैं कि ग्रह आदि का अस्तित्व गैस आदि से बने सूर्य आदि

तारागणों पर निर्भर है, संघात का आधार असंघात है, ठोस का आधार तरल है, द्रव्य की स्थिति द्रव पर है। मन्त्र में एक और रहस्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, वह कहता है कि भूमि के असुर (प्राण) और आत्मा कहाँ हैं? ऋग्वेद के अनुसार पृथिवी का रक्त और आत्मा सूर्य ही है। सूर्य ही वह तत्त्व है, जिससे यह पृथिवी प्राणियों के लिये धनधान्य को उत्पन्न करती है। सूर्य किरणों से भोजन प्राप्त कर वनस्पतियाँ मनुष्य जगत् को भोजन उपलब्ध करा पाती हैं। इसलिये सूर्य को पृथिवी की आत्मा कहना सर्वथा समीचीन है।

यह सौरमण्डल सूर्य के आकर्षण से बँधा हुआ घूम रहा है, मन्त्र कहता है—

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

'यह सूर्य आकर्षणयुक्त गति से अमृत तथा मर्त्य को स्थापित करता हुआ हिरण्यमय रथ से समस्त लोकों को देखता हुआ आ रहा है।' मन्त्र का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार आकर्षण से बद्ध होकर समस्त संसार प्रवर्तमान हो रहा है, उसी प्रकार ये जड़ ग्रहादि भी इसके अपवाद नहीं हैं। आकर्षण ही है, जो इन ग्रहों और उपग्रहों को अपनी धुरी पर स्थित किये हुए है।

इसी प्रकरण को आगे बढ़ता हुआ वेद का ऋषि कहता है—

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन्देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥

'मैं विचार करने पर भी न जानता हुआ देवों के इन निहित पदों को पूछता हूँ। कवियों ने वत्स पर देखने योग्य सप्त तन्तुओं फैलाया।'

उक्त मन्त्र में इस रहस्य की ओर संकेत किया है कि देव माने जाने वाले सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रह, उपग्रह आदि का परिपाक अर्थात् पूर्णता किस प्रकार हुई, इस सत्य का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता, यह केवल अनुमान का विषय है। आगे मन्त्र में कहा गया कि कवियों ने वत्स पर सप्त तन्तुओं को फैलाया। यहाँ सम्भवतः कवि से आशय गति और वत्स से आशय सूर्य से है और उसीसे सात प्रकार की रश्मियाँ निकलती हैं। इस कथन की पुष्टि उक्त सूक्त के द्वितीय मन्त्र से हो जाती है, जिसमें कहा गया है कि सात रश्मियाँ एक चक्र से जुड़ती हैं और उसको सर्पण स्वभाव का एक अश्व वहन करता है।

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि समस्त भौतिक जगत् का आधार अग्नि ही है। यह अग्नि ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप से तीन प्रकार का है। इसके साथ ही यह अग्नि तीन रूपों में प्राप्त होता है—१. एक विद्युत् रूप २. भूमिस्थ अग्नि और ३. सूर्यमण्डलस्थ होकर समस्त जगत् का पालन करता है। मन्त्र कहता है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

यह अग्नि केवल तीन प्रकार से ही जगत् को व्याप्त नहीं कर रहा है, अपितु यह ही अनेक रूपों में प्रकट हो रहा है—

यमृत्विजो वहुधा कल्पयन्त: सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति। यो अनूचानो ब्राह्मणो युक्त आसीत् का स्वित्तत्र यजमानस्य संवित्॥

प्रजापति के रूप में जिस तत्त्व की कल्पना की जाती है, वह भी अग्नि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण चर-अचर जगत् इस अग्नि का विस्तार है। तैत्तिरीय-संहिता अग्नि को ही प्रजापति बतलाती है। शांखायन-आरण्यक का मत है कि इन्द्र ही प्रजापति है। तैत्तिरीय-संहिता आदित्य और इन्द्र दोनों को प्रजापति के रूप में प्रतिपादित करती है। वेद कहता है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो वहुधा वि जायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

'यह प्रजापति ही है जो गर्भ में स्थित रहता हुआ अनेक रूपों में प्रकट होता है, इसीमें समस्त भुवन स्थित हैं। इस व्यक्त रूप जगत् के मूल कारण को योगीजन ही देख पाते हैं।'

यह अग्निरूप प्रजापति दो प्रकार का है, प्रथम अनिरुक्त और दूसरा निरुक्त। प्रथम वह है जिसे शब्द के द्वारा भाषा में नहीं बाँधा जा सकता, जो किसी भी सीमा से परे है, जो अनन्त रूप है, वह अनिरुक्त प्रजापति है। लेकिन जो दिशा, काल, आकार आदि की सीमाओं में आबद्ध किया जा सकता है, वह निरुक्त प्रजापति है। वेद में दोनों प्रकार के अग्नि का उ`ख मिलता है, परन्तु विज्ञान प्रथम प्रकार के अग्नि को अभी तक स्पष्ट मान्यता देने को तैय्यार नहीं है। वह तो अग्नि अथवा ऊर्जा के उस रूप को स्वीकार करता है, जो इस ब्रह्माण्ड उत्पत्ति का आधार है। संभवत: अग्नि की अग्रता को ध्यान में रखते हुए ही शतपथ-ब्राह्मण कहता है—'स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोऽक्षम्।' उसकी अग्रता का आधार उसकी उपयोगिता या पूज्यता ही नहीं, वरन् यह भी है कि सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। इसलिये अग्नि को देवताओं प्रथम स्थान दिया जाता है। यही कारण है कि अग्नि को प्रथम आहुति दी जाती है। पदार्थों के गुणधर्म का प्रतिपादक वेद ऋग्वेद सर्वप्रथम अग्नि की ही स्तुति करता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो देवता पृथिवी से लेकर द्युलोक तक, अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक, सूक्ष्म से स्थूल तक व्याप्त है, जो सबका आदि भी है और अन्त भी, जो सबका उत्पादक भी और संहारक भी। जो समस्त दृश्यमान रूपों का जनक और कारण है, यदि ऐसे देव को वेद वरुण, मित्र और सब देवताओं का आश्रय बतलाते हैं तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञान जिसे ऊर्जा नाम से जानता है, वह वैदिक विज्ञान में अग्नि नाम से अभिहित हुआ है। साथ यह कह देना भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि जिस व्यापक सन्दर्भ में वैदिक विज्ञान अग्नि को ग्रहण करता है, अभी तक आधुनिक विज्ञान उस धरातल तक नहीं पहुँच पाया है।

पाद-टिप्पणियाँ

१. यजु०३१.२. पुरुष एवेदं सर्वम्।

ऐ० ब्रा०२.३.

मै०सं०,२.१.४, २.३.१.

काठ०सं०,१०.१.

दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,६२९.

दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,६२९.

दुर्ग, निरुक्तवृत्ति, पृ०,६२९.

७. तै०ब्रा०,३.२.९.

८. ऋ०८.५८.२.

९. ऋ०१०.१२१.१; यजु०१३.४. हिरण्यगर्भः सम॑वर्त्तताग्रे॑ भूतस्य॑ जातः पतिरेक॑ ऽ आसीत्। स दा॑धार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै॑ देवाय॑ हविषा॑ विधेम॥

१०. ऋ०१.१६४.४६. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

११. शत०ब्रा०१४.८.१०.१.

१२. महा०आरण्यपर्व—२११.४.

१३. ऋ०१०.१२९.४. काम॒स्तदग्रे॒ सम॑वर्त॒ताधि॒ मन॑सो॒ रेत॑ः प्रथ॒मं यदासी॑त्।

१४. निरु०७.१४.

१५. ऋ०१.१६४.४.

१६. ऋ०१.११५.१. यजु०७.४२. सूर्य्य॑ ऽ आ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च॒ स्वाहा॑॥

१७. ऋ०१.३५.२.

१८. ऋ०१.१६४.५.

१९. ऋ०१.१६४.२. स॒प्त यु॑ञ्जन्ति॒ रथ॒मेक॑चक्र॒मेको॒ अश्वो॑ वहति स॒प्तना॑मा।

२०. ऋ०१.१६३.४. त्रीणि॑ त आहुर्दि॒वि बन्ध॑नानि॒ त्रीण्य॒प्सु त्रीण्य॒न्तः स॑मु॒द्रे।

२१. ऋ०१.१६४.१.

२२. ऋ०८.५८.१.

२३. तै०सं०१.२.२.२७. अग्निः प्रजापतिः।

२४. शां०आ०५.७.१.२. इन्द्र उ वै प्रजापतिः।

२५. तै०सं०५.७.१.२. असौ वा आदित्य इन्द्र एष प्रजापतिः।

२६. यजु०३१.१९.

२७. शत०ब्रा०६.१.१.११.

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (111-116) July-Dec. 2011

आकाश और समय
(वेद एवं विज्ञान में तुलनात्मक अध्ययन)

पं. शिवनारायण उपाध्याय
73 शास्त्रीनगर, दादाबाड़ी, कोटा (राजस्थान) भारत

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती की विचारधारा में विज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान था, उनके समय तक यह माना जाता था कि वेदों में ज्ञान, कर्म उपासना ही मुख्य विषय हैं परन्तु उन्होंने लिखा कि वेदों में अवयव रूप विषय तो अनेक हैं परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं - 1. एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों का यथार्थ जानना, 2. दूसरा कर्म
3. तीसरा उपासना, और 4. चौथा ज्ञान है। विज्ञान उसको कहते हैं जो इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है।[1]

अब हम उनके द्वारा किये गये वेद भाष्य के आधार पर यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि आकाश एवं समय के विषय में वेद एवं विज्ञान में कितनी समरूपता है। ऋग्वेद मण्डल-1 सूक्त 168 ऋचा 6 में कहा गया है-

क स्विदस्य रजसो महस्परं क्वावरं मतो यस्मिन्नायय।
यच्चावयथ विथुरेव संहितं व्यद्रिणा पतथ त्वेषमर्णवम्।।

भावार्थः- जिसमें यह भूगोल आदि जगत् जाता आता कम्पता उसी को आकाश के समान कारण जानो, जिनमें ये लोक उत्पन्न होते, भ्रमते और प्रलय हो जाते हैं, वह परम उत्कृष्ट निमित्त कारण ब्रह्म है।

वैशेषिक दर्शन में कहा गया है, ''त आकाशे न विद्यते''[2] रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, गुण आकाश में नहीं होते।
फिर कहते हैं- निष्क्रमण प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्[3] निकलना, अन्दर से बाहर आना, प्रवेश करना, बाहर से भीतर जाना, यह इस प्रकार की क्रिया का संभव होना आकाश का, आकाश के अस्तित्व का चिन्ह है।

स्वामी दयानन्द ने आकाश को शून्य माना है। वे लिखते हैं - आकाश शून्य, अदृश्य अवकाश बिन्दु को कहते हैं। आकाश कुछ होता नहीं केवल भासता है। उस परमेश्वर की प्रकृति से आकाश अर्थात् जो कारण रूप, द्रव्य फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से आकाश उत्पन्न होता है।[4]

वैज्ञानिक दृष्टि से आकाश का वर्णन इस प्रकार है - आकाश रिक्त है। उसकी उत्पत्ति क्षेत्र सिद्धान्त के अनुसार होती है। जहाँ कहीं भी वजनदार वस्तु होगी वहाँ पर गुरुत्वाकर्षण बल भी होगा और यह बल उस वस्तु के आस-पास के घुमाव को बदल देगा और आकाश का आभास देगा।

इस प्रकार पदार्थ और आकाश कभी अलग नहीं होने वाले तथा सम्पूर्ण के अन्तर्निर्भर भाग हैं।[5]

इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि

ाकाश के विषय में वेद एवं विज्ञान में पर्याप्त मरूपता है। अब हम समय पर चिन्तन करते हैं।

वैदिक साहित्य में काल एवं समय में अन्तर बताया गया है, काल सतत गतिशील रहता है उसे मापा नहीं जा सकता उसके विभाग नहीं होते हैं, जबकि समय को सूर्योदय से मापा जाता है। विज्ञान में सूक्ष्मतम के माप में क्वान्टम सिद्धान्त तथा स्थूल के माप में सापेक्षता का नियम काम करता है। वेदों में दोनों को स्वीकारा गया है।

न्यूटन आकाश - समय निरन्तरता की धारणा को अस्वीकार करता था, परन्तु 1905 ई. में आइन्स्टीन ने बतलाया कि आकाश-समय की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है ये एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।

The theory of relativity put an end to the idea of absolute time.[6] We must accept that time is not completely separate from and independent of space.

इसी प्रकार की विचारधारा का वेद में वर्णन हुआ है।

ूर्वे अर्द्धे रजसो अप्त्यस्य गवां जनित्र्यकृत ्र केतुम्। व्यु प्रथते वितरं वरीय ओभा ृणन्ती पित्रोरुपस्था॥ ऋ. १.१२४.५

ावार्थ :- प्रभात वेला से प्रसिद्ध हुआ ूर्यमण्डल का प्रकाश भूगोल के आधे भाग में ब कहीं जला करता है, और दूसरे भाग में त्रि होती है। उस दिन रात्रि के बीच में प्रातः मय की वेला विराजमान है ऐसे निरन्तर रात्रि ात वेला और दिन क्रम से विद्यमान हैं। से ज्ञात हुआ कि जितना पृथ्वी का प्रदेश सूर्यमण्डल के आगे होता उतने में दिन और जितना पीछे हो जाता उतने में रात्रि होती तथा सायं और प्रात:काल की सन्धि में उषा होती है इसी उक्त प्रकार के लोकों के घूमने के द्वारा ये सायं प्रातः काल भी घूमते से दिखाई देते हैं।[7] इससे एक बात और सिद्ध होती है चूँकि पृथ्वी अपनी कीली पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती हुई सूर्य की परिक्रमा करती है अतः इसका आधा भाग एक साथ सूर्य के सामने नहीं आता है वरन् धीरे-धीरे सामने आता है इसलिए आधे भाग में ही सर्वत्र एक समय नहीं हो सकता है। इसे एक अक्षांश से दूसरे अक्षांश तक घूमने में चार मिनट लगते हैं। अतः दोनों अक्षांशो में चार मिनट का अन्तर होता है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि पृथ्वी पर सब जगह एक ही समय कभी भी नहीं होगा।

Frit Jof capara कहता है कि सापेक्षतावाद के सिद्धान्त के बाद सम्पूर्ण संसार के लिए कोई निश्चित समय बता देना अब संभव नहीं है।[9] वेद इस विचारधारा को बढ़ाते हुये कहता है-

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्या वत्समुप धपयेते। हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः॥ ऋ. 1.95.1

भावार्थ :- मनुष्यों को जानना चाहिये कि दिन रात कभी निवृत्त नहीं होते किन्तु सर्वदा बने रहते है। अर्थात् एक देश में नहीं तो दूसरे देश में होते हैं।[10] विज्ञान की मान्यता है कि काल का प्रवाह सदैव चलता रहता है वेद में इसका भी समर्थन निम्न मंत्र कर रहा है -

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्त्राक्षो अजरो भूरिरेताः। तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा।। अथर्व. 19.53.1

भावार्थ :- महा बलवान् काल सर्वत्र व्यापी और अति शीघ्रगामी शुक्ल, नील, पीत, हरित, कपिश, रक्त वर्ण, बैंगनी किरणों वाले सूर्य के समान प्रकाशमान है, निरन्तर गतिमान् है। इस काल को बुद्धिमान् लोग सब अवस्थाओं में घोड़े के समान सहायक जानकर अपना कर्त्तव्य सिद्ध करते हैं।[11]

काल की सत्ता सदैव रहती है।[12] इसी भावना को अथर्ववेद 19.53.4 का यह मंत्र व्यक्त कर रहा है-

स एव सं भुवनान्या भरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत्। पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्मार वै नान्यत् परमस्ति तेजः।।

भावार्थ :- काल सब सत्ताओं में व्यापक है। काल ही सृष्टि का पिता एवं पुत्र है। पूर्व वर्तमान और आगामी सृष्टि काल से ही है। नित्य होने से वही पहले और वही पीछे है, इसलिए संसार में वह बड़ा प्रतापी है। इसी भावना को अगले मंत्र में इस प्रकार बतलाया है- काल ने इस आकाश को, काल ने इन पृथ्वियों को उत्पन्न किया है। काल में ही व्यतीत हुआ, होने वाला और वर्तमान विशेष करके ठहरता है। विज्ञान की मान्यता है कि किसी भी कार्य की सम्पन्नता बिना आकाश और समय के नहीं हो सकती। यही विचार वेद में व्यक्त किया गया है-

त्वेषं रूपं कृणुत उत्तरं यत्संपृञ्चानः सदने गोभिरद्भिः। कविर्बुध्नं परि मर्मृज्यते धीः सा देवताता समितिर्बभूव। ऋ. 1.95.8

भावार्थ :- मनुष्यों को जानना चाहिये कि काल के बिना कार्य स्वरूप उत्पन्न होकर और नष्ट हो जाए यह होता ही नहीं और न ब्रह्मचर्य आदि उत्तम समय के सेवन बिना शास्त्र बोध कराने वाली बुद्धि होती है। इस कारण काल के परम सूक्ष्म स्वरूप को जानकर थोड़ा भी समय व्यर्थ न खोंवे किन्तु आलस्य छोड़कर समय के अनुकूल व्यवहार और परमार्थ काम का सदा अनुष्ठान करे।[13] इसी प्रकार समय के परिवर्तन के बिना ऋतुएँ भी नहीं बनती।

त्रीणि जाना परि भूषन्त्यस्य समुद्र एकं दिव्येकमप्सु। पूर्वामनु प्र दिशं पार्थिवानामृतून् प्रशासद्वि दधावनुष्ठु। ऋ. 1.95.3

भावार्थः- दिन रात आदि समय के अङ्गों के वर्ताव के बिना भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालों की संभावना भी नहीं हो सकती और न इसके बिना किसी ऋतु के होने की संभावना है जो सूर्य और अन्तरिक्ष में ठहरे हुए पवन की गति से समय के अवयव अर्थात् दिन रात्रि प्रसिद्ध हैं उन सबको जानकर सब मनुष्यों को चाहिये कि व्यवहार सिद्धि करें।[14] विज्ञान का यह मानना है कि समय भारी वस्तु के पास धीमा चलने लगता है। स्टीफन डब्ल्यू हाकिङ्ग इस विषय में लिखता है-

Another prediction of general relativity is that time should appear to run slower near a massive body like the earth. This prediction was tested in 1962

A.D. using a pair of very accurate clocks at the top and bottom of a water tower, the clock at the bottom which was nearer the earth was found to run slower an exact argument with general relativity.[15]

इसी प्रकार से तेज गति से चलने वाले वाहन में काल धीरे चलने लगता है।

स्टीफन डब्ल्यू हाकिङ्ग कहता है -

The theory of relativity gets rid of absolute time. Consider a pair of twins. suppose that one twin goes to live on the top of a mountain while the other stays at the sea level. The frist twin would age faster than the second. Thus if they meet again one would be older than the other.[16]

Again he writes- "In the theory of relativity there is no unique absolute time but instead each individual has his personal measure of time that depends on where he is and how he is moving.[17]

वैदिक वाङ्मय भी इस विचार का समर्थन करता है। मनुस्मृति में कहा गया है कि पितृगणों का एक दिन-रात्रि हमारे एक मास के तुल्य होता है। एक पखवाड़े का उनका दिन और एक पखवाड़े के तुल्य उनकी रात्रि होती है। इसी प्रकार देवों के दिन के विषय में मनुस्मृति 1.67 में कहा गया है -

देवे रात्र्यहनी वर्ष प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम्।।

मनुष्यों का एक वर्ष एक दैवी दिन रात होता है, उन दैवी दिन-रात का भी फिर विभाग है, उनमें सूर्य की भूमध्य रेखा के उत्तर की ओर स्थिति अर्थात् **'उत्तरायण'** दैवी दिन कहलाता है और सूर्य की दक्षिण की ओर स्थिति अर्थात् **'दक्षिणायन'** देवी रात कहलाती है।

यदेतत्परि संख्यातमादादेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्त्रं देवानां युगमुच्यते। मनु.1.71

जो चार युगों का काल परिमाण है वह बारह हजार दिव्य वर्षों का काल (कलियुग 1200 दिव्य वर्ष, द्वापर 2400 दिव्य वर्ष, त्रेतायुग 3600 दिव्य वर्ष तथा सतयुग 4800 दिव्य वर्ष) देवताओं का युग कहलाता है।

दैविकानां युगानां तु सहस्त्रं परि संख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिमेव च। मनु. 1.72

देव युगों को हजार से गुणा करने पर जो काल परिमाण निकलता है (12000x1000 = 12000000 दिव्य वर्ष) वह ब्रह्मा का दिन और उतने ही दिव्य वर्षों की उसकी एक रात होती है। अर्थात् ब्रह्मा का एक दिन रात 24000000 दिव्य वर्ष या 24000000x360=8640000000 मानक वर्ष का होता है। ब्रह्मा की कुल आयु ऐसे 100 वर्ष अर्थात् 8640000000 x 360 x 100= 311040000000000 वर्ष होती है।

प्रत्येक प्राणी का समय का माप भी अलग-अलग होता है। यह वैदिक पुरातन मान्यता है। आज भी जब किसी भी व्यक्ति की किसी भी आयु में मृत्यु होती है तब यही कहा जाता है कि इसके सौ वर्ष पूर्ण हो गये क्योंकि मनुष्य की आयु 100 वर्ष मानी गई है।

ऋग्वेद 1.95.8 ऋचा के अनुसार काल

की परिभाषा होगी कि किसी भी ध्वन्सनात्मक अथवा निर्माणात्मक कार्य को प्रारम्भ करके एक निश्चित स्थिति तक पहुँचाने में हमें जो प्रतीक्षा करनी पड़ती है उसे समय कहते हैं। यही परिभाषा हेजनबर्ग ने दी है। काल की दूसरी परिभाषा वैशेषिक दर्शन में दी गई है -
अपरस्मिन्न पर युगपच्चिर क्षिप्रमितिकाल लिङ्गानि।[18]

आयु की दृष्टि से छोटा-बड़ा, नया-पुराना, आयु की दृष्टि से समवयस्क, पहले-पीछे जिससे ज्ञात हो उसे समय कहते हैं। सामान्यतया अधिकांश धर्मों की मान्यता है कि पृथ्वी नहीं घूमती है वरन् सूर्य उसकी परिक्रमा करता है। विज्ञान ने इसे असत्य सिद्ध कर दिया है। आश्चर्यजनक बात यह है कि वेद का चिन्तन इस विषय में भी विज्ञान के अनुरूप है।

न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा। पाक्या चिद्वसवो धीर्या चिद्युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्।।[19]

जो (आदित्याः) सूर्य लोक (न) नहीं (दक्षिणा) दक्षिण (न) न (सव्या) उत्तर (न) न (प्राचीनम्) पूर्व (उत) और (न) न (पश्चा) पश्चिम दिशा में भ्रमते हैं। (चित्) और जिनके आधार में (वसवः) पृथिवी आदि वसु (चित्) भी बसते हैं जिनको (धीर्या) धीर विद्वानों से श्रेष्ठजन (विचिकिते) विशेष कर जानता है उनका आश्रय कर (युष्मानीतः) तुम लोगों से प्राप्त हुआ मैं (अभयम्) भयरहित (ज्योतिः) प्रकाश रूप ज्ञान को (अश्याम्) प्राप्त होऊँ।

भावार्थ :- हे मनुष्य जो सूर्य सब दिशाओं में नहीं भ्रमते जिनके आधार से पृथिवी आदि लोक भ्रमते हैं उनके विज्ञान पूर्वक परमात्मा को जानकर अभयरूप पद को प्राप्त होओ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद 1. 95.4 ऋचा के भावार्थ में लिखा है कि समय को कोई विद्वान् ही जान सकता है सब कोई नहीं। अब हम केवल सापेक्षता सिद्धान्त के समर्थन में एक वेद मंत्र देकर विषय को विराम देना चाहेंगे।

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः। इन्द्रश्चया चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति।।[20]

भावार्थः- हे मनुष्यों यहाँ जो नीचे-ऊपर, परे-उरे, मोटे-सूक्ष्म, छुटाई-बड़ाई के व्यवहार हैं, वे सापेक्ष हैं, एक की अपेक्षा से यह इससे ऊँचा जो कहा जाता है वही दोनों कथनों को प्राप्त होता है जो इससे परे है वही और से नीचे है जो इससे छोटा है वह और से बड़ा गुरु है यह तुम जानो। यहाँ कोई वस्तु अपेक्षा रहित नहीं है और न निराधार ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान विज्ञान और वेद विज्ञान में कहीं कोई अन्तर नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम वेद का गहन अध्ययन कर उसमें वर्णित विज्ञान को खोज कर वैज्ञानिकों के सम्मुख प्रस्तुत करें। इति

पाद-टिप्पणियां

1. वेद विषय विचार- ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ- 41
2. वैशेषिक दर्शन- 1.1.5
3. वैशेषिक दर्शन- 1.1.20
4. सत्यार्थ प्रकाश- समुल्लास 8

5. The Tao of physich- By frit Jof capara
6. A Brief History of time- By frit Jof capara
7. A Brief History of time- By frit Jof capara
8. ऋग्वेद भाष्य- स्वामी दयानन्द सरस्वती
9. The Tao of physics- By frit Jof capara
10. ऋग्वेद भाष्य- स्वामी दयानन्द सरस्वती
11. अथर्ववेद भाष्य- क्षेमकरण त्रिवेदी
12. A Brief History of time- By frit Jof capara
13. वेद भाष्य- स्वामी दयानन्द सरस्वती
14. वेद भाष्य- स्वामी दयानन्द सरस्वती
15. A Brief History of time- By frit Jof capara at page:35
16. A Brief History of time- By frit Jof capara at page:35
17. A Brief History of time- By frit Jof capara at page:36
18. वैशेषिक दर्शन- 2.2.6
19. ऋग्वेद- 1.27.11 वेद भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती
20. ऋग्वेद- 1.164.19 वेद भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती
21. मनुस्मृति- 1.67, 1.71, 1.72

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (117-122) July-Dec. 2011

वेदों में पर्यावरण के संदर्भ में वनस्पति

रामगोपाल सिंह
गोविन्द बल्लभ पन्त हिमालय पर्यावरण एवं विकास संस्थान (भारत सरकार का स्वायत्तशासी संस्थान), कोसी कटारमल, अल्मोडा-263643 (उत्तराखण्ड) भारत

परमात्मा की सर्वोत्तम कृति मानव ने जब पृथ्वी पर आँखें खोलीं तो उसने अपने आपको खूबसूरत स्वच्छ व समृद्ध पर्यावरण की गोद में पाया। सामने उतुंग हिम-मण्डित पर्वत शिखर मुस्करा रहे थे और उनसे जल प्रपातों के रूप में उतरतीं, शैल खण्डों पर थिरकती और बलखाती-इठलाती शुभ्र-वर्ण नदियाँ अपनी कल-कल ध्वनि की लोरियों से उसे गुदगुदा रही थीं। वन श्री गलियों से आते मंद पवन के झोंके उसे हौले-हौले सहला रहे थे। जब उसका मन रोने को हुआ तो विभिन्न प्रकार के रंग-बिरंगे पक्षियों ने फुदक-फुदक कर अपने कलरव गान से उसे बहलाया और छोटे-छोटे मृग छोनों ने उछल-उछल कर उसे अन्दर तक हँसाया। भूख लगी तो अरण्यानि ने सुमधुर कन्द-मूल फल दिये, प्यास लगी तो नदियाँ और झरने तैयार थे। ममतामयी प्रकृति ने अपने इस नवागन्तुक को प्यार दिया, दुलार दिया, स्नेह दिया और अपनी सारी ममता को उस पर वार दिया। समय चक्र चलता रहा। माँ प्रकृति की वात्सल्यमयी धारा बहती रही। वन-देवी के अंचल में हमारे आदि ऋषियों अथर्वा, अंगिरा और आदित्यादि के माध्यम से वैदिक विचारों की धारा का जन्म हुआ हमारी आरण्यक संस्कृति का, जो प्राचीनतम धर्म ग्रंथ वेदों से लेकर रामायण, महाभारत और बाद के संस्कृत ग्रंथों में अबाध गति से निरन्तर बहती चली आ रही है।

समय चक्र फिर आगे बढ़ा और भोगवादी सभ्यता की सृष्टि हुई। मानव जाति ने प्रगति की दौड़ में वैदिक सिद्धान्तों को छोड़ भौतिकवाद के सिद्धान्तों की ओर छलांग लगा दी। परिणाम निकला प्रकृति-विनाश। हमारा सांस्कृतिक ध्येय वाक्य पथप्रकृति की ओर से हटकर विकृति की ओर हो चला। विकास प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप प्रकृति का अन्धाधुन्ध अनियोजित दोहन होने लगा। बढ़ते जनसंख्या घनत्व की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु दोहन को और बल मिला जिसके कारण पंच महाभूत समय से पूर्व ही विकार युक्त हो गये। प्रकृति में साम्यावस्था बनाये रखने हेतु यह एक प्राकृतिक नियम है कि उसमें एक का उच्छिष्ट दूसरे का उपभोग बन जाता है। इस तरह प्रकृति में सन्तुलन बना रहता है। किन्तु जब अपशिष्ट की मात्रा उपभोग्य की मात्रा से कहीं अधिक बढ़ जाती है तो प्राकृतिक संतुलन बिगड़ जाता है और साम्यावस्था प्रतिकूलता की ओर अग्रसर हो जाती है। परिणामस्वरूप प्रदूषण की समस्या सामने आती है।

वस्तुतः प्रकृतिपर मानव से अधिक जीव-जन्तुओं का अधिकार है, क्योंकि पृथ्वी पर मानव से पहले जीव-जन्तु आये। किन्तु आज पृथ्वीस्थ जीवों में अत्यधिक विवेकशील इस मानव की अतिशय भोगवादी, अविवेकशील

करनी के कारण प्रदूषण की समस्या सुरसा की भाँति मुँह फैलाये सम्पूर्ण जगत् को निगल जाने के लिए आतुर सी दिखाई देती है। यही कारण है कि आज समूचा संसार मानवता के अस्तित्व के आगे खड़े संकट को देखकर पर्यावरण संरक्षण के प्रति चिंतित दिखाई देता है। अर्थात् पर्यावरण संरक्षण मानवता के प्रति उसका यकीनन उपजा प्रेम नहीं अपितु अपने अस्तित्व को बचाये रखने हेतु उसकी अपरिहार्यता है।

पर्यावरण। आखिर क्या है यह पर्यावरण? जिसके संरक्षण हेतु आज समूचा संसार प्रयत्नशील है।

प्राचीनतम ग्रंथों में पर्यावरण शब्द उपलब्ध नहीं होता। परन्तु इससे मिलते-जुलते शब्द अवश्य मिलते हैं यथा-**परिधि, परिवेश और मण्डल** इत्यादि जिनका भावार्थ **आस-पास का घेरा** है। अर्थात् किसी वस्तु, स्थान अथवा जीव का पर्यावरण वह घेरा है जिससे वह सब ओर घिरा है। इस घेरे में भौतिक, प्राकृतिक आदि सभी प्रकार की वस्तुएँ आ जाती हैं।

वृक्ष पर्यावरण की प्रथम इकाई माना गया है। वृक्ष बिना पर्यावरण की कल्पना ही असम्भव है। सृष्टि के प्रारम्भिक काल में यद्यपि वनस्पतियाँ प्रचुर मात्रा में थीं। फिर भी वैदिक ऋषियों को भविष्य का ज्ञान था। सम्भवत: वे जानते थे कि भविष्य में मनुष्यों द्वारा अनका अन्धा-धुन्ध दोहन किया जाना है। जबकि अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पशु-पक्षी तो क्या मानव भी पूर्ण-रूपेण वनस्पतियों पर ही आश्रित है। अत: वनस्पति विनाश के साथ मानव और जीव-जन्तुओं का जीवन दूभर हो जायेगा। इसलिए अपनी भावी पीढ़ी का जीवन सुनिश्चित करने हेतु ऋग्वेद के ऋषि ने कहा-

मा काकम्बीरमुद् वृहो वनस्पतिमशस्तीर्विहिनीनश:। -ऋग्वेद 6/48/17

वृक्ष काकादि पक्षियों के आश्रय स्थल हैं। पशुओं-पक्षियों व समस्त जीव जगत् के खाद्य सामग्री के स्रोत हैं। वर्षा का हेतु हैं और प्रदूषण के अवशोषक हैं। अत: ऐसे कल्याणकारी वृक्षों को नष्ट मत करो।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उक्त मंत्र का भावार्थ बड़े ही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया है-

''किसी मनुष्य को श्रेष्ठ वृक्ष वा वनस्पति नष्ट नहीं करने चाहिए किन्तु इनमें जो दोष हों, उनका निवारण करके इन्हें उत्तम सिद्ध करने चाहिए।''

वृक्ष वैदिक समाज के अभिन्न अंग रहे हैं। जब वृक्ष बहुतायत में पाये जाते थे तो प्रदूषण की इतनी समस्या न थी। हाँ मानव जनित प्रदूषण अवश्य था, जिसका समाधान यज्ञों द्वारा सम्भव था। जैसा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती **ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका** -वेद विषय विचार में कहते हैं-

जहाँ जितने मनुष्यादि के समुदाय अधिक होते हैं वहाँ उतना ही दुर्गन्ध भी अधिक होता है। वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है.....। इससे क्या आया कि जब वायु और वृष्टि जल को बिगाड़ने वाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तो उसका निवारण करना भी उनको ही योग्य है.......। इससे सबके उपकार के लिए

यज्ञकाअनुष्ठानभीउन्हींकोहीकरनाउचितहै।

किन्तु न तो आज यज्ञों का प्रचलन रहा न वनस्पति संरक्षण की भावना। जबकि यजुर्वेद का ऋषि मानव को आदि काल में ही उपदेश कर चुका है।

अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम। - यजुर्वेद 5/43

अर्थात् जिस क्रम से ये वनस्पतियाँ बढ़ेंगी उसी क्रमानुसार दस गुणा अधिक लाभ संसार को मिलेगा।

बदलते मौसम, बढ़ते प्रदूषण, नंगे होते पर्वतों और बंजर व रेगिस्तान में बदलते मैदानों ने आज वैज्ञानिकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। फलस्वरूप वन-सम्वर्धन ज्ञान के प्रसार हेतु अनुसंधान को विशेष बल दिया जा रहा है। मृदा का शुद्धीकरण कैसे किया जाये, अमुक वृक्ष किस जलवायु तथा मृदा दशा में होता है, उसके वन वर्धनीय अभिलक्षण क्या हैं, बीजों का संग्रह कैसे किया जाये, किन-किन स्रोतों से उसे क्षति की सम्भावना रहती है और उसका उपयोग क्या है, आदि बातों के ज्ञान के बिना वनस्पति संरक्षण और संवर्धन आसान नहीं। वैदिक साहित्य में वन सम्वर्धन के विषय में प्रचुर मात्रा में वर्णन मिलता है -

वनस्पतिं वन आस्थापयध्वम्। ऋ. 10/101/11

वन में और अधिक वृक्षों को आरोपित करो। क्योंकि यदि उनका उपभोग ही होता रहा तो प्राकृतिक पुनर्जन्म द्वारा उसकी भरपाई सम्भव नहीं होगी और वह शनैः शनैः नष्ट होते चले जायेंगे। अतः वन के उपभोग के साथ-साथ उसमें वनस्पतियों के आरोपण भी किया जाना आवश्यक है। परन्तु पौधे लगाने के लिए मृदा का उपयुक्त ज्ञान भी आवश्यक है। मृदा में यदि उर्वरा शक्ति नहीं तो पौधे लगाने के कुछ दिन बाद ही मर जायेंगे अथवा उनका विकास नहीं हो पायेगा। क्योंकि पौधों को पानी के साथ-साथ भोजन भी परमावश्यक है। इसी वैज्ञानिक तथ्य को आचार्य वाराह मिहिर ने बड़े ही सुन्दर ढ़ंग से बताया है-

मृद्वी भूः सर्ववृक्षाणां हिता तस्यां तिलान् वपेत्।
पुष्पितांतांश्च मृद्वीयात् क्रमैर्तत्प्रथमं भुवः॥
(बृहत्संहिता-वृक्षायुर्वेदाध्याय)

सभी प्रकार के वृक्षों के लिए कोमल (भुरभुरी) भूमि उत्तम होती है जिससे उसकी जड़ें स्वाभाविक रूप से विकसित होकर पुष्ट वृक्षों के सम्वर्धन में सहायक होती हैं। जिस भूमि में वृक्षारोपण करना हो उसमें पहले तिल बोयें। जब तिलों पर फूल आ जावें तो उन्हें भूमि में जोत कर दबा लें जिससे रोपित किये जाने वाले पौधों के लिए हरी खाद पहले से ही मृदा में उपस्थित रहे।

वृक्षारोपण के बाद वनस्पति के फलने-फूलने की प्रार्थना ध्यातव्य है -

ओम् उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूता॥ -अथर्व. 12/1/62

हे परमेश्वर! हे पृथिवी! तेरी गोद में स्थापित और तुझसे उत्पन्न ये वनस्पतियाँ सब हमारे लिए आरोग्यकारक और कीट रहित हों। ये कभी सड़े-गले न हों, इनकों कभी कीड़ा न लगे।

वृक्ष का जितना आच्छादन (Biomass) होगा वह जगत् को उतना ही अधिक कल्याणकारी होगा। सूर्य के प्रकाश में (Chlorophyl) की सहायता से उतनी अधिक औषजन उत्सर्जित करेगा। पशु-पक्षियों को, मनुष्यों आदि को फल-फूल और छायादि से उतना ही अधिक लाभकारी होगा। धूलि कणों को रोकेगा और शुद्ध वायु प्रदान कर पर्यावरण का संरक्षण करेगा। यजुर्वेद भी मानव को यही उपदेश दे रहा है -

नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय।

यजु. 16/40

किसी भी वृक्ष के पूर्ण विकास हेतु उसकी उचित देखभाल की आवश्यकता होती है। यह ठीक है कि वन-प्रदेश में मानव सृजित देखभाल सम्भव नहीं। वहाँ का पर्यावरण ही इतना धनी होता है जो वनस्पतियों के स्वभाव विकास हेतु पर्याप्त है। किन्तु जहाँ वनस्पतियों को रोपित किया गया है वहाँ उनकी समुचित देखभाल अवश्य करनी चाहिए और जो इस कार्य में निपुण हों उसको यथा योग्य मानदेय देकर सम्मानित करना चाहिए जिससे वह अपना व अपने परिवार का भली-भाँति भरण-पोषण करते हुए अपने कार्य को मन लगाकर सुचारु रूप से कर सके।

वनानां पतये नमः। वृक्षाणां पतये नमः।

-(यजु. 16/18,19)

रोपित पौधों को कई वर्षों तक, जब तक पौधे स्वयं सक्षम नहीं हो जाते, उनको जलादि की आवश्यकता भी नहीं होती है। जल प्रबन्धन के विषय में निम्न मंत्र द्रष्टव्य हैं-

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः, काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च, नमो नादेयाय च वैशन्ताय च॥ - यजु. 16/37

"मनुष्यों को चाहिये कि नदियों के मार्गों, बम्बों, कूपों, जलप्रायदेशों, बड़े और छोटे तालाबों के जल को चला जहाँ कहीं बाँध और खेत आदि में छोड़ के पुष्कल अन्न, वृक्ष, फल, लता, गुल्म आदि को अच्छी प्रकार बढ़ावें।" (मंत्र का महर्षि द्वारा किया गया भावार्थ)

यजुर्वेद के सम्पूर्ण रुद्राध्याय (16वाँ) में पर्यावरण संरक्षण पर विशेष बल दिया गया है। इस अध्याय में प्रकृति के शिव और रौद्र दोनों रूपों का भेद बताया गया है। अर्थात् पर्यावरण का प्रत्येक तत्व यदि साम्यावस्था में है तो प्रकृति शिव रूप में है और रौद्र रूप में सामने आती है

तथा सब कुछ नष्ट कर डालती है। वेद का ऋषि तो बारम्बार पर्यावरण सुरक्षा हेतु वनस्पति संरक्षण की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहा है-

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलं मा हिꣳसिषम्। - यजु. 1/25

पृथ्वी श्रेष्ठ कार्य करने के लिए है। मनुष्यों को सदा कल्याणकारी कार्य करने चाहिए। वनस्पतियों की जड़े उनके विकास के लिए आवश्यक है अतः पृथ्वीस्थ वनस्पतियों की जड़ों (मूल) को नष्ट नहीं करना चाहिए।

सम्पूर्ण जीवधारी अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वृक्षाश्रित है। अतः

उनका उपभोग अपरिहार्य है। किन्तु हमें उपभोग इस प्रकार करना चाहिए कि हमारा कार्य सिद्ध हो जाये और पर्यावरण के प्रहरी इस तरु का क्रमिक विकास भी होता रहे -

हरौषमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन्।
(अथर्व. 12/3/31)

उषाकाल में वनस्पतियों को जोड़ों (टहनी) मात्र पर से काटना चाहिए उनकी जड़ों को नहीं काटना चाहिए जिससे उनका सतत उपयोग होता रहे। यदि उनकी जड़ ही समाप्त कर दी जायेगी तो वनस्पतियाँ सतत उपयोगी न होकर अल्प उपयोगी बनकर रह जायेंगी और मानव जाति को उतनी कल्याणकारी नहीं हो पायेंगी जितनी कि वे हो सकती थीं। क्योंकि फलती-फूलती वनस्पति अधिक काल तक बहुउद्देशीय बनी रहती हैं।

अथर्ववेद के अनुसार वनस्पति, औषधि और लताएं अत्यन्त गुण सम्पन्न हैं। ठीक इसी प्रकार अग्नि, बृहस्पति (वायु), इन्द्र (वर्षा का हेतु), और सूर्य का भी अत्यन्त कल्याणकारी गुणों से भरे हुए हैं। हमें उनके गुणों का वर्णन करना अभीष्ट है। अर्थात् हमें प्रकृति के उन उपहारों के एक-एक गुण का स्मरण करते हुए ऐसे कार्य करने चाहिए जिससे प्रकृति का कोई उपहार हमें कष्टदायक सिद्ध न हो। अग्नि जलाने से, वनस्पतियाँ, औषधियाँ और लताएं सूख जाने से, इन्द्र (वर्षा) और बृहस्पति (वायु) अतिवर्षण या अवर्षण से सूर्य अतिताप या अतिशीत से जीवन के कष्टमय होने की सम्भावना बनी रहती है। अत: अपने कार्यों को इस प्रकार नियंत्रित करना चाहिए कि हम प्रकृति प्रदत्त इन उपहारों के सतत उपयोग द्वारा उनमें दोष उत्पन्न न होने दें। जिससे प्रकृति की ये शक्तियाँ हमारा हनन न करें अर्थात् प्रदूषण जनित पाप से हमें छुटकारा दिलाती रहें -

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः।
इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥
(अथर्व. 11/6/1)

किं बहुना वेदों के सूक्त के सूक्त वनस्पतियों को समर्पित हैं। वनस्पतियों की उपादेयता को दर्शाते हुए उनके संरक्षण का उपदेश दे रहे हैं। ऋग्वेद का अरण्यानि सूक्त इस विषय का एक प्रतिनिधि सूक्त है। वेदों में पर्यावरण संरक्षण की भावना सर्वत्र विद्यमान है। भले ही वह सामाजिक पर्यावरण हो, सांस्कृतिक पर्यावरण हो अथवा प्राकृतिक पर्यावरण। वैदिक संस्कृति में प्रकृति संरक्षण को जितना अधिक महत्व मिला है उतना अन्यत्र नहीं। अथर्ववेद पृथ्वी को माँ की संज्ञा दे रहा है-

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। अथर्व. 12/1/2

भूमि मेरी माँ है और मैं उसका पुत्र। धन्य है वैदिक संस्कृति जिसमें पृथ्वी को माता कहा गया है। सच ही भूमि माता ही तो है जो समग्र संसार को अपनी गोद में छुपाये हुए नाना प्रकार की वनस्पतियों से उसका लालन-पालन कर रही है। किन्तु भोगवादी प्रकृति के देशों ने माँ पृथ्वी के इस रूप को पहचानने में भूल की और पृथ्वी को मात्र उपभोग की वस्तु ही माना। यही कारण है कि तथाकथित अति सभ्य समझे जाने वाले देश भी अपनी मातृ-भूमि को अमेरिका-माता, रूस-माता, जापान-माता, आदि

नहीं कहते। यह वैदिक संस्कृति ही है जो जन्म भूमि को भारत-माता जैसी संज्ञा प्रादान कर उसके प्रति नम्र-भाव रखती आयी है। भूमि माता है वृक्ष और वनस्पतियाँ उसका श्रृंगार है। अत: हमारे कार्य ऐसे होने चाहिए जिससे वनस्पतियों का स्वाभाविक विकास होता रहे। उसका प्रत्येक अंग आरोग्यता को प्राप्त कर कल्याणकारी बने।

मूलेभ्यः स्वाहा शाखाभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा पुष्पेभ्यः स्वाहा फलेभ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा। (यजु. 22/28)

वृक्ष पर्यावरण के सजग प्रहरी हैं, प्रकृति प्रदत्त अनमोल उपहार हैं, प्राणियों के प्राण हैं। रामायण और महाभारत में वृक्षों को पृथ्वी के रक्षक वस्त्रों के समान बताया गया है। ऋषि-मुनियों द्वारा उनका पुत्रवत् पालन करना भी वर्णित है। यजुर्वेद ने वृक्षों की उपादेयता देखते हुए ही वन के संरक्षण हेतु उसके आस-पास के निवासियों को समुचित मात्रा में आवश्यक वस्तुयें देने का निर्देश दिया है। जिससे वे अपने भरण-पोषण हेतु वनों का अन्धाधुन्ध दोहन न करें और स्वस्थ पर्यावरण से सबका कल्याण होता रहे।

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः -(यजु. 16/34)

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1, No.1 (123-129) July-Dec. 2011

ऋग्वेदानुक्रमणी में स्वर

डॉ० मीरा रानी रावत
संस्कृत विभाग, आर्य कन्या महाविद्यालय, हरदोई-241001 (उत्तर प्रदेश) भारत

वेंकटमाधव ने ऋग्वेदानुक्रमणी में स्वर भेद से उत्पन्न होने वाले अर्थ भेद, पदों के स्वरूप निर्धारण में उदात्तादि स्वरों की भूमिका, विभक्ति तथा लिंग निर्धारण में स्वरों के महत्त्व, तिङन्त, आमंत्रित तथा अवग्रहरहित पदों के स्वरादि विषयों का विवेचन किया है। स्वर सम्बन्धी सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ऋग्वेदानुक्रमणी में स्वरः-

अनुक्रमणी वस्तुतः वेदमंत्रों की क्रमबद्ध सूची है जिसमें विविध मंत्रों से सम्बद्ध देवताओं, विभिन्न शाखाओं से सम्बद्ध अनुवाकों, वर्गों, सूक्तों, विभिन्न मंत्रों के मन्द्र, मध्यम, तथा तार स्वरों आदि की व्यवस्था के नियम हैं। सूत्रात्मक शैली में निबद्ध प्रत्येक वेद की पृथक् अनुक्रमणी है। वैदिक मूलपाठ को सुरक्षित रखने का श्रेय अनुक्रमणियों की सुरक्षात्मक चक्रव्यूह प्रणाली को जाता है। वेंकटमाधव कृत 'ऋग्वेदानुक्रमणी' अनुक्रमणी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

वेदों की अनन्तता का कारण शब्दों की अनेकार्थता है। मंत्रों में प्रयुक्त शब्द कहाँ किस अर्थ का वाचक है, ऋषि ने किस भाव को अन्तर्मन में रखकर किस शब्द का प्रयोग किया है, वाक्य में किस शब्द की प्रधानता तथा अप्रधानता है, प्रत्यय से निष्पन्न शब्दों में प्रत्यय की प्रधानता है या प्रकृति की आदि तथ्यों का ज्ञान सम्प्रति वैदिक ऋषियों के अभाव में स्वर शास्त्र के माध्यम से ही हो सकता है। स्वर के शास्त्र की उपेक्षा से अनेक स्थानों पर अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। स्वर वेदों के लिए रक्षा कवच के समान हैं। स्वरों की दृढ़ व्यवस्था के कारण ही दीर्घकाल के बाद भी वेद का एक भी अक्षर च्युत न हो सका।

वेंकटमाधव ने 'ऋग्वेदानुक्रमणी' में स्वरों के अभूतपूर्व रहस्यों को उद्घाटित किया है उन्होंने स्वर भेद से होने वाले अर्थभेद, पद के स्वरूप निर्धारण में उदात्तादि स्वरों की भूमिका, विभक्ति तथा लिंग निर्धारण में स्वरों का महत्त्व आदि विषयो पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है। ऋग्वेदानुक्रमणी के आठ अध्यायों में तिङन्त पदों के स्वर, आमंत्रित पदों के स्वर; समास स्वर, अवग्रह रहित पदों के स्वर सर्वानुदात्त शब्दों के अर्थ आदि विषयों का वर्णन है।

स्वर तथा अर्थ का सम्बन्ध :-

स्वर भेद से होने वाला अर्थ भेद स्वर और अर्थ के प्रगाढ़ सम्बन्ध को द्योतित करता है। ऋग्वेदानुक्रमणी के प्रारम्भ में ही स्पष्ट शब्दों में समुल्लिखित है कि प्रसिद्ध विभक्ति के अर्थ को कारण बताये बिना मंत्र में न छोड़े। पहले निर्वचन करके यथाशक्ति स्वर को प्रदर्शित करें। मन्त्रस्थ पदों के ज्ञान के पश्चात् ही पदों के स्वरों का अवलोकन करें। उपसर्गों को क्रियावाची शब्दों के साथ संयुक्त कर अर्थ

करने का निर्देश मिलता है।[1] वेंकटमाधव स्वरों से ही अर्थ की व्यवस्था होती है इस कथन के समर्थक हैं।[2] शब्दगत अर्थ स्वरों से निर्धारित होता है। उदाहरणार्थ 'मा' शब्द, माम् तथा निषेधार्थक 'न' दो अर्थों का वाचक है इन दोनों में कौन सा अर्थ प्रसंगत: अभीष्ट है यह स्वर के द्वारा ही निर्धारित होता है। अनुदात्त होने पर **मा** सर्वनाम होगा और उदात्त होने पर निषेध ार्थक। इसके अतिरिक्त पद, विभक्ति तथा लिंग निर्धारण में भी स्वरों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

स्वरशास्त्र के असाधारण विद्वान् वेंकटमाधव ने स्वरों के महत्व को प्रतिपादित करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि 'अन्ध कार में दीपकों की सहायता से चलता हुआ व्यक्ति जिस प्रकार ठोकर खाकर नहीं गिरता उसी प्रकार स्वरों की सहायता से किये गये अर्थ स्फुट अर्थात् सन्देह रहित होते हैं।[3]

वाक्य स्वर:-

स्वर का उदात्तयुक्त होना या सर्वानुदात्त होना अर्थ पर आधारित है तिङन्त पद वाक्य के आदि में प्रयुक्त होने पर उदात्तयुक्त होता है तथा मध्य या अन्त में आने पर कभी सर्वानुदात्त और कभी उदात्तयुक्त होता है।[4] यदि पाद के मध्य या अन्त में तिङन्त पद सर्वानुदात्त है तो वहाँ उसके अर्थ की प्रधानता नहीं होगी। वाक्य के अन्त में उस क्रिया के अर्थ के साथ वाक्य का पर्यवसान करना चाहिये। वाक्य के आदि में प्रयुक्त उदात्त स्वर का अर्थ प्रधान होता है, सर्वानुदात्त तिङन्त पद के अर्थ को वाक्य के अन्त में धीरे से प्रदर्शित करना चाहिये। उदात्तयुक्त तिङन्त पद के अर्थ को वाक्य के आदि में उच्च स्वर से प्रदर्शित करना चाहिये।[5] वाक्य में उदात्त स्वर युक्त पदों के द्वारा पूर्व ही श्रोता के आहत हो जाने पर तिङन्त पद वाक्य के मध्य या अन्त कहीं पर भी विद्यमान हो सर्वानुदात्त ही होता है।[6] पुन:-पुन: उद्बोधन के लिए अर्थ पर बल देने के अभिप्राय से पादादि में क्रियापद को उदात्तयुक्त करते हैं।[7] सम्बोधन पद के द्वारा उद्बुद्ध करने पर भी वाक्यार्थ का उद्बोधन करने के लिए तिङ् पद को उदात्तयुक्त किया जाता है[8]। तिङन्त पद में वाक्यार्थ का पर्यावसान हो जाने पर वह सर्वानुदात्त होता है। वाक्यार्थ समाप्त न होने की स्थिति में उदात्तयुक्त ही रहता है[9]। लुट् के प्रयोग में अन्य के प्रति साकाङ्क्ष न होने पर भी विशेष भाव को प्रदर्शित करने के लिए तिङन्त को उदात्तवान् ही रखा जाता है।[10]

उदाहरणार्थ:-

परा हि मे विमन्यव:[11]

प्रस्तुत ऋक् मंत्र में हि पद से युक्त तिङन्त पद का प्रयोग होने पर वाक्य का पर्यवसान हि के अर्थ में होता है। जिस वर्ण पर तथा समास में जिस पद पर उदात्त व्यवस्थित होता है वहाँ भी काकु होता है।[12] तिङ् में काकु स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है[13] पद तथा वाक्य में काकु की व्यवस्था स्वर से ही सम्भव है अत: वाक्यार्थ के ज्ञान में स्वर का महत्त्व अपरिहार्य है।

आमंत्रित पदों के स्वर:-

वेंकटमाधव ने स्वरानुक्रमणी के द्वितीय अध्याय में आमन्त्रित पदों के स्वरों का निरूपण किया है। उनका कथन है कि उच्च स्वर से

सम्बोधन करने पर आमन्त्रित पद आद्युदात्त होता है इसके विपरीत नीचे स्वर से सम्बोधन करने पर सम्पूर्ण पद अनुदात्त ही रहता है।[14] जब सम्बोधन पद वाक्य के प्रारम्भ में प्रयुक्त होता है तब उसमें प्रथम वर्ण के ऊपर वक्ता बल देता है अत: वहाँ उदात्त स्वर का प्रयोग होता है। पाद के मध्य में सम्बोधन पद आने पर वक्ता उस पर बल नहीं देता अतएव वहाँ सर्वानुदात्त होता है।

यथा:- **ऋतेन मित्रावरुणौ**[15]

इस मंत्र में 'मित्रावरुणौ' आमन्त्रित पद है जो वाक्य के मध्य में स्थित होने के कारण सर्वानुदात्त है। **कवी नो मित्रावरुणा**[16]

यहाँ **मित्रावरुणा** पद वाक्य के मध्य में स्थित है परन्तु आमन्त्रित न होने के कारण सर्वानुदात्त नहीं है। अर्थ स्वभाव के कारण कहीं-कहीं वाक्य के मध्य में भी आमन्त्रित पद का उदात्तत्व तथा अनुदात्तत्व दृष्टिगोचर होता है।[17] माधव का यह भी कथन है कि आमन्त्रित पद कारक के समान वाक्यार्थ के साथ अन्वित नहीं होता है।

समास स्वर:-

समास में स्वरों के महत्त्व पर विचार करते हुए सर्वप्रथम तत्पुरुष समास का वर्णन मिलता है। तदनन्तर द्वन्द, बहुव्रीहि और अव्ययी भाव समास का निरूपण किया गया है। वेंकटमाध व का कथन है कि जिस तत्पुरुष समास में उत्तरपद के अर्थ की प्रधानता होती है वहाँ उदात्त होता है।[18]

यथा:- **द्रविणोदा: द्रविणस:**[19]

यहाँ उत्तरपद के अर्थ की प्रधानता है अत: उत्तरपद में उदात्त वर्तमान है। यदि तत्पुरुष समास में पूर्वपद में स्वर विद्यमान होता है तो पूर्वपद का अर्थ प्रधान रहता है।[20]

उदाहरणार्थ:- **भग भवतस्य ते वयम्**[21]

यहाँ पूर्वपद में उदात्त स्वर है अत: पूर्व पद के अर्थ की प्रधानता है, तत्पुरुष समास में प्रयुक्त नञ् अनुदात्त में उत्तर पद के अर्थ की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।[22]

द्वन्द समास में पूर्व पदार्थ एवं उत्तर पदार्थ का कार्य के साथ सम्बन्ध होता है तथापि पूर्व पद के अर्थ में उत्तर पद के अर्थ का भी संग्रह हो जाता है अत: द्वन्द समास अन्तोदात्त होता है।[23] द्वन्द समास में जहाँ दोनों पदार्थ समान रूप से प्रधान होते हैं वहाँ दोनों ही उदात्त होते हैं।[24]

यथा:- **द्यावापृथिवी मरुत:**[25]

यहाँ **द्यावापृथिवी** में दोनों पदों की समानता है अत: दोनों पद उदात्त है। बहुव्रीहि समास में विशेषण तथा विशेष्य की प्रधानता होती है।[26]

उदाहरणार्थ:- **अग्ने सूपायनो भव**[27]

बहुव्रीहि समास में पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों में उदात्त देखा जाता है अत: उदात्त स्वर के अनुसार अर्थ निर्धारण करना चाहिये।[28] अव्ययी भाव समान अन्तोदात्त होता है।[29]

यथा:- **अनुकाम तर्पयेथाम्**[30]

यहाँ **'अनुकाम'** शब्द में विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास होता है 'अनु' का कोई अर्थ नहीं है यहाँ पश्चात् अर्थ में अव्ययी भाव समास मान सकते हैं। अत: उत्तर पदार्थ की

प्रधानता के कारण अन्त में स्वर है।

प्रतिदोषं गृणानः[31]

'प्रतिदोष' में प्रति शब्द वीप्सा के अर्थ का कथन करता है दोष शब्द उसका वाचक है अतः दोषा शब्द में स्वर विद्यमान है। अव्ययीभाव समास में पूर्वपद अव्यय तात्पर्य ग्राहक होते हैं वाचकत्व उत्तरपद में होता है अतः अन्तोदात्तत्व पाया जाता है।[32] उदात्त ही अर्थबोध में सर्वाधिक सहायक है वेंकटमाधव ने इस तथ्य का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि समासों में जहाँ-जहाँ उदात्त स्वर हो उसके अर्थ की प्रधानता किसी न किसी प्रकार काशकुशावलम्बन्याय से स्पष्ट प्रतिपादित करनी चाहिये।[33]

समास में स्वर व्यत्यास के हेतुः-

अपने स्वाभाविक स्वर का परित्याग करते हुए समासस्थ आद्युदात्त पद अन्तोदात्त हो जाते हैं।[34] समास के अनुसार उसका प्रकृत स्वर परिवर्तित हो जाता है। ऐसी स्थिति में उदात्त स्वर उसी शब्द में रहता है समास में जिस पद की प्रधानता बनी रहती है चाहे वह आद्युदात्त हो या अन्तोदात्त। इतना अवश्य है कि आद्युदात्त रहने से प्रकृत्यर्थ की प्रधानता होती है और अन्तोदात्त होने से प्रत्ययार्थ की प्रधानता रहती है। विश्व शब्द स्वतन्त्र रूप से तो आद्युदात्त होता है परन्तु समास में प्रत्ययार्थ होने पर अन्तोदात्त हो जाता है।

यथाः- **विश्वं समत्रिणं दह**[35]

यहाँ अवलोकन करने पर स्पष्ट है कि विश्व शब्द आद्युदात्त होता है तो प्रकृत्यर्थ की प्रधानता रहती है। यह भी ध्यातव्य है कि जब समासन्त हो जाने से अन्तोदात्त हो जाता है तो प्रत्ययार्थ की प्रधानता हो जाती है।[36] एक अन्य उदाहरण के माध्यम से समस्त पद में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के स्वरगत परिवर्तन को स्पष्ट रूपेण व्यक्त किया जा सकता है।

स्वतन्त्र रूप से वीर शब्द अन्तोदात्त होता है और उसमें प्रत्ययार्थ की प्रधानता रहती है परन्तु बहुव्रीहि समास में प्रयुक्त होने पर वही वीर शब्द आद्युदात्त हो जाता है तब प्रकृत्यर्थ की प्रधानता हो जाती है।

यथाः- **स वा वीरो रिष्यति**[37]

इस मन्त्रांश में वीर शब्द स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त है और अन्तोदात्त है।

रयिं वहत सुवीरम्[38]

यहाँ वीर शब्द समासस्थ होने के कारण आद्युदात्त है। अतः पद के प्रकृत्यर्थ में जिसकी प्रधानता होगी वहीं पर उदात्त स्वर होता है इस सम्बन्ध में वेंकटमाधव का अभिमत है कि जहाँ तात्पर्य की प्रधानता हो वहाँ स्वर को स्थापित करना चाहिये।[39]

निष्कर्षतः पद समस्त हो अथवा असमस्त यदि प्रकृति में स्वर है तो प्रकृत्यर्थ की तथा यदि प्रत्ययांश पर स्वर हो तो प्रत्ययार्थ की प्रधानता वेदार्थ प्रेमियों को सूक्ष्म विवरणोपरान्त स्वीकार करनी चाहिये।[40]

अवग्रह रहित पदों के स्वरः-

जिन समस्त पदों में अवग्रह नहीं होता वहाँ पर भी स्वर के द्वारा अर्थ का निर्णय करना तर्कसंगत प्रतीत होता है। वेंकटमाधव का अभिमत है कि यदि समस्त पद के आदि में स्वर प्रयुक्त है तो उसे बहुव्रीहि के अर्थ में प्रमुख रूप से

वर्णित करना चाहिये और यदि पद के अन्त में स्वर है तो तत्पुरुष समास के अनुसार अर्थ करना चाहिये।[41]

जुष्टोद्रमूना अतिथिर्दुरोणे[42]

इस मन्त्र में अवग्रह रहित पद 'दमूना:' का अर्थ बहुव्रीहि समास के अनुसार होगा दमे मन: अस्य अर्थात् संयम में है मन जिसका।

भराम्याङ्गूषमास्येन[43]

इस ऋक् में अवग्रह रहित पद 'आङ्गूषम्' में अन्तोदात्त स्वर के कारण तत्पुरुष समास के अनुसार अर्थ होगा 'पर्याप्त घोष आङ्गूष' अर्थात् अधिक स्तुति।

कुछ स्थल ऐसे भी है जहाँ स्वर की दृष्टि से बहुव्रीहि समास की प्रतीति होती है। परन्तु अर्थ की दृष्टि से तत्पुरुष समास होता है। इस विषय पर वेंकटमाधव ने अपना मन्तव्य देते हुये कहा है कि यदि स्पष्ट रूप से बोध गम्य हो तो स्वर को नगण्य समझना चाहिये और स्वर की अपेक्षा न करके अर्थ को ही प्रमुखता दी जानी चाहिये।[44]

सर्वानुदात्त शब्दों के अर्थ:-

सर्वानुदात्त शब्दों के अर्थ का वर्णन करते हुए स्वर शास्त्री वेंकट माधव का वैदुष्यपूर्ण कथन है कि युष्मद् और अस्मद् के आदेश वाम् नौ व: न: ते तथा मे यदि वाक्य के मध्य में विद्यमान होते हैं तो सर्वानुदात्त होते हैं।[45] लौकिक संस्कृत में विशेष साधु (व्याकरण सम्मत) तथा असाधु शब्दों के द्वारा अपने अभिप्राय के स्पष्ट प्रतिपादन में कहीं उच्च स्वर से शब्दों का प्रयोग करते हैं तथा अन्य अभिप्रायों को प्रकट करने के लिए नीचे स्वर का प्रयोग करते हैं और अनेक पदों को जो अनुदात्त होते हैं उदात्त प्रयुक्त करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

यथा:- घटश्च रज्जुश्च तथा **स्थाणुर्वा पुरुषो** वा में क्रमश: च और वा वस्तुत: अनुदात्त है इनका प्रयोग उदात्त के रूप में मिलता है।[46] इस सम्बन्ध में वेंकटमाधव ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि शब्दों में उदात्तत्व तथा अनुदात्तत्व अर्थ स्वभाव के कारण होता है।[47]

नूनम् हि एव किलादि निपात उदात्त होते हैं अर्थात् इन निपातों के अर्थ को उच्चता से प्रदर्शित करना उचित है उपसर्ग के सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि यदि उपसर्ग उदात्त हो तो उपसर्ग का अर्थ प्रधान होता है समासस्थ होने पर यदि उपसर्ग अनुदात्त हो तो उसका अर्थ गौण हो जाता है।[48] अन्वादेश का अभिप्राय है एक ही अर्थ को प्रतिपादित करना।

यथा:- **अस्य वामस्य**[49]

इस ऋक् मंत्र में प्रथम 'अस्य' पद उदात्त स्वर वाला है इसी ऋक् में पुन: प्रयुक्त 'अस्य' पद सर्वानुदात्त होता है।[50] अन्वादेश एक ऋक् में ही होता है यह कथन उचित नहीं है क्योंकि भिन्न ऋक् में भी अन्वादेश दृष्टिगोचर होता है इसके अतिरिक्त पूर्व सूक्त में कथित पदार्थ का अन्वादेश उत्तर सूक्त में भी हो सकता है।[51]

पाद के मध्य में सर्वत्र अन्वादेश होता है यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि पाद के मध्य में भी उदात्त दृष्टिगोचर होता है[52] । अन्त में वेंकटमाधव ने अपने मत को स्पष्ट रूप से

प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि पूर्व वाक्य में जो प्रसंग वर्णित हो चुका है उसका परामर्श अर्थ के स्वभाव के कारण नीचे स्वर से किया जाता हैं उस निम्न स्वर युक्त निर्देश को विद्वान् अन्वादेश के नाम से वर्णित करते हैं।[53]

रूप स्वर भेद शब्द वृत्ति:-

ऋग्वेदानुक्रमणी में स्वर भेद से होने वाले अर्थ-भेद का उल्लेख मिलता है माधव का विचार है कि यदि अर्थ की समानता रहती है तो स्वर भेद भी नहीं होता अर्थात् शब्द का स्वर सर्वत्र समान न होने की स्थिति में शब्द का अन्य अर्थ करना चाहिये।[54]

यथा:- **पुरुतमं पुरुणामृक्**[55]

यहाँ पुरुतमम् शब्द में किया गया 'तमप्' प्रत्यय पाणिनि सूत्र 'अनुदात्तौ सुप्पितौ'[56] द्वारा अनुदात्त है अत: प्रत्ययार्थ की ही प्रधानता होती है।

शुष्मिन्तमो हि ते मदो[57]

यहाँ शुष्मिन्तम: में तमप् प्रत्यय में अनुदात्तौ सुप्पितौ द्वारा अनुदात्त होता है अत: यहाँ प्रत्यार्थ गौण होता है प्रकृत्यर्थ की ही प्रधानता होती है। अत: सर्वत्र समान शब्दों के स्वरों के द्वारा ही अर्थ करना चाहिये।[58]

अन्तत: हम कह सकते हैं कि स्वर सम्बन्धी सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से ऋग्वेदानुक्रमणी का अपरिहार्य महत्त्व है। वेंकटमाधव ने यथार्थ रूप से स्वरों के महत्त्व को समझा था। उनका स्पष्ट कथन 'माधवस्य त्वयं पक्ष: स्वरेणैव व्यवस्थिति: अर्थात् स्वर के द्वारा ही अर्थ व्यवस्था सम्भव है।

पाद - टिप्पणियां

1. लोकसिद्धं विभक्त्यर्थमनुक्ते तत्र न त्यजेत्।
   निरुक्तमग्रत: कुर्याद् यावत्प्राणं तथा स्वरम्।।
2. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/1/24-25
3. अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
   एवं स्वरै: प्रणीतानां भवन्त्यर्था: स्फुटा इति।। 1/8/2
4. अथात्र कारणं ब्रूहि वाक्यादौ तिङुदात्तवत्।
   सर्वानुदात्तमन्यत्र नार्थभेदस्तु कश्चन।।
5. निघातलिङ्पदस्यार्थं वाक्यान्ते दर्शयेच्छनै:।
   उदात्ततिङ्पदस्यार्थमुच्चैरादौ प्रदर्शयेत्।। 1/1/5
6. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/1/9
7. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/1/10
8. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/1/12
9. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/1/15
10. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/1/17
11. ऋग्वेद 1/25/4
12. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/1/22
13. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/1/23
14. आमन्त्रिताद्युदात्तत्वमुच्चैरामन्त्रणे भवेत्।
    नीचैरामन्त्रणै कार्ये पदं सर्वं निहन्यते।। 1/2/2
15. ऋग्वेद 1/2/8
16. वही 1/2/9
17. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/2/4
    द्र0 ऋग्वेद 5/26/1, 1/12/5, 1/15/3, 10/63/6, 10/63/11, 10/63/7
18. तत्रोत्तरपदार्थस्य प्राधान्यं यत्र वर्तते।
    उदात्तस्तत्र भवति सुरूपकृत्नुमूतये।।
    ऋग्वेदानुक्रमणी 1/3/3
19. ऋग्वेद 1/15/7
20. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/3/5
21. ऋग्वेद 5/24/5
22. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/3/7
23. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/3/8-9

24. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/3/14
25. ऋग्वेदानुक्रमणी 10/63/9
26. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/3/12
27. ऋग्वेद 1/1/9
28. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/3/14
29. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/3/15
30. ऋग्वेद 1/17/3
31. ऋग्वेद 1/35/10
32. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/3/15-17
33. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/3/23
34. आद्युदात्ताः समासस्था अन्तोदात्ता भवन्ति च।
    अन्तोदात्ताश्चाद्युदात्तास्त्यजन्तः प्राकृतं स्वरम्।।
    ऋग्वेदानुक्रमणी 9/4/2
35. ऋग्वेद 1/36/22
36. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/4/5
37. ऋग्वेद 1/18/4
38. ऋग्वेद 1/34/12
39. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/4/9
40. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/4/10-11
41. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/5/2-3
42. ऋग्वेद 5/4/5
43. ऋग्वेद 1/61/3
44. ऋग्वेदानुक्रमणी 2/5/8
45. भवन्ति सर्वानुदात्ता आदेशा युष्मदस्मदोः।
    भवन्ति चेद्वाक्यमध्ये वाम्नौ वो नश्च तेमयौ।।
    1/6/2
46. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/6/5-6
47. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/6/7
48. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/6/8-9
49. ऋग्वेद 1/64/1
50. 'अस्य' इति प्रथमादेश उदात्तस्मर्यते पदम्।
    अन्वादेशे चानुदात्तम् 'अस्य वामस्य' दृश्यते।।
51. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/7/5-6
52. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/9/7-9
53. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/7/11
54. अर्थाभेदे तु शब्दस्य सर्वत्र सदृशः स्वरः।
    यदा न तं स्वरं पश्येदन्यथार्थं तदा नयेत्।।
    ऋग्वेदानुक्रमणी 1/8/2
55. ऋग्वेद 1/5/2
56. अष्टाध्यायी 3/1/4
57. ऋग्वेद 1/127/9
58. ऋग्वेदानुक्रमणी 1/8/5

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (131-142) July-Dec. 2011

वेदों में विज्ञान-चर्चा

प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार
अनुसंधान विभाग, दयानन्द वाटिका, दिल्ली, भारत

1 अग्नितत्त्व की एकता

निरुक्त अध्याय 7, पाद 6 में वैश्वानर पद के अर्थ-निश्चय के सम्बन्ध में विचार किया गया है। यास्क से प्राचीन काल के नैरुक्ताचार्य यह मानते थे कि वैश्वानर का अर्थ है ''विद्युत्'' जोकि मध्यलोक या अन्तरिक्ष में विद्यमान है। और पूर्वकाल के याज्ञिक लोग वैश्वानर पदका अर्थ ''आदित्य'' करते थे। परन्तु शाकपूणि आचार्य का मत है कि वैश्वानर का अर्थ है ''यह अग्नि'' अर्थात् पृथिवी की अग्नि। यही मत निरुक्तकार यास्काचार्य को अभीष्ट है।

शाकपूणि के मत का पोषण निरुक्त में निम्नलिखित प्रकार से किया गया है। यास्काचार्य कहते हैं कि विश्वानर पद के दो अर्थ हैं, एक तो विद्युत् और दूसरा आदित्य। परन्तु वैश्वानर का अर्थ है ''विश्वानर से उत्पन्न'', अर्थात् ''पृथिवी की अग्नि''। प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह पार्थिव-अग्नि किस प्रकार विद्युत् से और आदित्य से पैदा होता है। इसके उत्तर में निरुक्तकार पहले यह साबित करते हैं कि पार्थिव-अग्नि विद्युत् से पैदा होती है। वे लिखते हैं कि-

''यत्र वैद्युतः शरणमभिहन्ति यावदनुपात्तो भवति मध्यमधर्मैव तावद् भवति, उदकेन्धनः शरीरोपशमनः। उपादीयमान एवायं सम्पद्यते उदकोपशमनः शरीरदीप्ति।''

इसका अर्थ यह है कि ''जब विद्युत् किसी आश्रय में जमा की हुई होती है, तो जबतक उसका उपादान न किया जाय, उसे किसी काम में न लाया जाय, तब तक उस जमा की हुई विद्युत् के वे ही गुण-धर्म होते हैं जो गुण-धर्म कि अन्तरिक्ष में रहने वाली विद्युत् के होते हैं। वे गुण-धर्म ये कि ये दोनों प्रकार की विद्युतें अर्थात् पार्थिव-विद्युत् और अन्तरिक्षीय-विद्युत् 1- उदक द्वारा प्रकट होती है, और 2- कोई पार्थिव पदार्थ इनके साथ स्पर्श करे तो ये शान्त हो जाती हैं, अर्थात् उस पार्थिव पदार्थ में लीन होकर समाप्त हो जाती हैं। परन्तु जब इन दोनों प्रकार की विद्युतों का उपादान किया जाय, अर्थात् व्यवहार में उपयोग किया जाय, तो ये पार्थिव-अग्नि के रूप में बदल जाती हैं। इस समय इनके पहिले गुण-धर्म भी बदल जाते हैं, और बदल कर इनके गुण-धर्म पार्थिव-अग्नि के गुण-धर्मों के सदृश बन जाते हैं। वे ये कि 1- उदक द्वारा शान्त हो जाना, बुझ जाना, और यह कि कोई पार्थिव वस्तु इसके सम्पर्क में आ जाय तो उसे दीप्त कर देना, जला देना।

इस अर्थ का यदि विश्लेषण करें तो निम्नलिखित परिणाम निकलते हैं-

1- निरुक्तकार के समकाल में आर्य लोगों को भूमि पर विद्युत् को उत्पन्न कर लेने की विद्या ज्ञात थी।

2- आर्य लोग विद्युत् को पैदा करके उसे यन्त्रों में जमा कर सकते थे। ऐसे यन्त्रों का नाम है "शरण"।

3- ये अपनी इच्छानुसार उस जमा की हुई विद्युत् का उपयोग कर सकते थे (यावत् अनुपात्त: उपादीयमान:)।

4- प्राय: जल द्वारा यह विद्युत् पैदा की जाती थी (उदकेन्धन:)।

5- और पार्थिव पदार्थों के स्पर्श द्वारा इस जमा की गई विद्युत् को वे खाली करना भी जानते थे, Discharge करना भी जानते थे (शरीरोपशमन:)।

6- आर्य लोगों ने यह भी जान लिया था कि इसी प्रकार की विद्युत् अन्तरिक्ष में रहती है (मध्यम धर्मैव)।

7- पार्थिव-विद्युत् और अन्तरिक्षीय-विद्युत् के गुण धर्म समान हैं, (मध्यम धर्मैव)।

8- अन्तरिक्ष की विद्युत् भी उदक द्वारा उत्पन्न होती है। अर्थात् समुद्रों, नदियों, तालाबों से जब पानी भाप बनकर उड़ता है उस समय यह विद्युत् पैदा होती है, और जब वह भाप बनकर आकाश में जाता है तो पारस्परिक रगड़ के द्वारा भी विद्युत् आकाश में पैदा होती है (उदकेन्धन:)।

9- आर्य लोगों ने यह भी जान लिया था कि Electric conductors, द्वारा आकाश की विद्युत् को शान्त भी किया जा सकता है। जैसे कि मेघों की बिजली से बचाव के लिये मकानों पर ये Electric conductors प्राय: लगा दिये जाते हैं इन द्वारा बिजली सीधी पृथिवी में घुस कर शान्त हो जाती है (शरीरोपशमन:)।

10- आर्य लोग अन्तरिक्षीय विद्युत् का भी यथेच्छ उपयोग करना जान गये थे (उपादीयमान:)।

11- आकाश की विद्युत् को जब काम में लाया जाता था तो इसके गुणधर्म बदल दिये जा सकते थे। उस समय आग के रूप में बदली हुई विद्युत् को पानी से बुझाया जा सकता था, और वह शरीर आदि वस्तुओं को तब जला देती थी। वर्त्तमान समय में Electric heaters, Electric radiators का प्रयोग इसी असूल पर किया जाता है कि इन द्वारा पार्थिव-विद्युत् को आग के रूप में बदल दिया जाता है।

इसी प्रकार आदित्य से पार्थिव अग्नि कैसे उत्पन्न की जा सकती है, इस सम्बन्ध में भी निरुक्तकार यास्काचार्य लिखते हैं कि-

"अथादित्यात्। उदीचि प्रथम-समावृत्ते आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयमसंस्पर्शयन् धारयति तत्प्रदीप्यते। सोऽयमेव सम्पद्यते।"

इसका अर्थ यह है कि "अब आदित्य से पार्थिव अग्नि की उत्पत्ति के प्रकार को कहते हैं। आदित्य जब उत्तर को प्रथम लौटने लगता है, तब किसी काँसे के पात्र को या मणिको खूब साफ करके उनके केन्द्र में जब सूखे गोबर को रख दिया जाता है और वह सूखा गोबर कांसे के पात्र को या मणि को छूए

न, तब वह प्रदीप्त हो जाता है, जलने लगता है। इस प्रकार आदित्य से यह पार्थिव अग्नि सम्पन्न हो जाती है।''

वर्तमान काल में बाजार में आतशी शीशा मिलता है, जिसे लेकर बच्चे कपड़े या कागज आदि को जलाने का खेल करते रहते हैं। उस द्वारा आदित्य से पार्थिव अग्नि पैदा हो जाती है। इस लेख द्वारा निम्नलिखित परिणाम निकलते हैं-

1- आदित्य का दक्षिणायन में जाना और वहां से लौट कर उत्तर की ओर आना इसका परिज्ञान आर्य लोगों को था।

2- जब पहिले 2 आदित्य दक्षिण से उत्तर की ओर लगे तब आदित्य की किरणों में गर्मी बढ़ने लगती हैं, तब आदित्य से पार्थिव अग्नि को उत्पन्न करने का परीक्षण सफल हो सकता है।

3- यह परिस्थिति उत्तर की ओर के भू-भाग में रहने वाले लोगों के लिए कही गई है। दक्षिण भाग में अर्थात् भूमध्य रेखा के दक्षिण भाग में रहने वाले लोगों के लिये इससे उल्टी परिस्थिति होगी। जब दक्षिण की ओर आदित्य की गति होगी तब आस्ट्रेलिया आदि में आदित्य का ताप अधिक चमकेगा।

4- आदित्य से पार्थिव अग्नि को पैदा करने के लिये आर्य लोग कंस या मणि का प्रयोग करते थे।

5- कंस कोई मौलिक धातु नहीं। यह तांबे और जस्ते के मेल से बनाया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि निरुक्तकार के समय के आर्य लोग कांसा बनाना जानते थे।

6- साधारण किसी भी कांसे के वर्त्तन द्वारा यह परीक्षण नहीं किया जा सकता। कांसे का वृत्त या गोला बनाओ जो कि बीच में खाली हो। इस वृत्त के दो वृत्तार्ध बनाओ। तब एक वृत्तार्ध को इस परीक्षण के लिये लो, तब यह परीक्षण सफल हो सकेगा। अर्थात् यह कांसे का पात्र चिलमची के सदृश आकार में होना चाहिये।

7- इसी प्रकार यह परीक्षण ''मणि'' द्वारा भी किया जा सकता है। इस मणि को संस्कृत में ''सूर्यकान्त'' बोलते हैं। वर्तमान समय के बाजारू आतशी शीशे को हम ''मणि'' या ''सूर्यकान्त'' कह सकते हैं। यह शीशा दोनों ओर से उन्नतोदर होना चाहिये, Double convex का यह शीशा होना चाहिये, तभी यह परीक्षण सफल होगा, अन्यथा नहीं। इससे ज्ञात होता है कि आर्य लोग Double convex अर्थात् उभयत: उन्नतोदर शीशा बनाना जानते थे।

8- सामान्य शीशा बनाने के कार्य में तो उस समय के आर्य लोग अच्छे दक्ष और चतुर रहे होंगे।

9- परीक्षण से पूर्व कंस को या मणि को खूब साफ कर लेना चाहिये, ताकि आदित्य रश्मियों का प्रक्षेपण ये ठीक प्रकार से कर सकें। यदि इन पर मिट्टी के कण होंगे तो ये आदित्य-रश्मियों इधर-उधर बिखर जायेंगी, और मिल कर एक केन्द्र पर

जमा न हो सकेंगी। इन किरणों के एक जगह में, एक केन्द्र में, जमा होने पर ही परीक्षण सफल हो सकेगा।

10- कांसे पर या मणि पर आदित्य की रश्मियाँ पड़कर जब ये किसी एक निश्चित केन्द्र में जमा होती हैं तब इस निश्चित केन्द्र को "प्रति स्वर" कहते हैं। इसे अंग्रेजी में Focus कहते हैं।

11- सूखे गोबर आदि को लेकर उसे आदित्य की रश्मियों द्वारा जलाने के लिये गोबर को कांसे या मणि के साथ स्पर्श करते हुए न रखना चाहिये। इससे गोबर आदि जलेगा नहीं। अपितु गोबर के टुकड़े को इधर-उधर खिसका कर, आगे-पीछे खिसका कर देख लेना चाहिये कि किस बिन्दु पर टिकाने से यह गोबर जलता है, वहीं पर सूखे गोबर आदि को रख कर जलाना चाहिये। इसी निश्चित बिन्दु को "प्रति स्वर" या Focus कहते हैं।

इस प्रकार निरुक्तकार के समय में यह सिद्धान्त ज्ञात हो चुका था कि पार्थिव अग्नि, आकाश की विद्युत् और आदित्य की रश्मियों से पैदा की जा सकती है। अतः ज्ञात होता है कि पार्थिव अग्नि, विद्युत् और आदित्य में एक ही अग्नि तत्त्व है- यह आर्य विद्वानों को ज्ञात था।

2. वायुरथ

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 37 वें सूक्त के पहिले मन्त्र में वायुरथ का वर्णन है। वायुरथ से अभिप्राय उस रथ का है जो कि वायु के बल से चलाया जा सके। आज कल की मोटरों को हम वायुरथ कह सकते हैं। ऐसे वायुरथ का वर्णन करने वाला मन्त्र निम्नलिखित है-

क्रीडं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथे शुभम्। कण्वा अभि प्रगायत॥

इस मन्त्र की व्याख्या करने से पूर्व इसका अर्थ दर्शा देना उचित होगा। इसका अर्थ निम्नलिखित है- (कण्वा:) हे मेधावी लोगो! तुम (मारुतं शर्धः) मरुत् अर्थात् वायु सम्बन्धी बल के गुणों धर्म्मों का (अभि प्रगायत) वर्णन करो, गान करो। (अनर्वाणम्) जिस वायु सम्बन्धी बल के होने पर घोड़े की आवश्यकता नहीं रहती, (क्रीडम्) जिस बल का प्रयोग कई प्रकार की क्रीड़ाओं के निमित्त किया जा सकता है। (रथे शुभम्) तथा जो वायु सम्बन्धी बल रथों में लगा कर शोभा देने वाला होता है।

1. इस मन्त्र में परमात्मा कण्वों के प्रति उपदेश देता है कि हे कण्वों! तुम वायु सम्बन्धी बल का गुण गान करो, स्तुति करो, तथा लोगों के प्रति उसका कथन करो। भाष्यकारों ने इस मन्त्र में कण्व का अर्थ किया है 'कण्व गोत्र में उत्पन्न महर्षि।" परन्तु उनका किया यह अर्थ अशुद्ध प्रतीत होता है। कारण यह है कि वैदिक पदों के अर्थ वैदिक कोष के अनुसार होने चाहिये, नकि लौकिक संस्कृत के कोषों के अनुसार। निघण्टु में (जो कि वैदिक कोष है) कण्व शब्द का अर्थ दियागया है, "मेधावी (नि. 3/15)[1] पुरुष, "नकि कणव ऋषि"। निघण्टु का अर्थ मन्त्र के अभिप्राय के अनुकूल भी है। क्योंकि मेधावी लोग ही वायुरथ के गुणों का वर्णन कर सकते हैं। अनपढ़ तथा ना समझ नहीं।

2. इस मन्त्र में मेधावी लोगों को वायु सम्बन्धी बल गुण वर्णन करने का उपदेश दिया गया है, वायु सम्बन्धी बल को इस मन्त्र में ''मारुतं शर्ध:'' वायु ''मारुत'' का अर्थ होता है ''मरुत् सम्बन्धी या वायु सम्बन्धी'' तथा ''शध'' का अर्थ होता है बल (नि. 2/9)। रथों में ''मारुतं शर्ध'' के प्रयोग करने का उपदेश मन्त्रों में दिया है। बल का विशेषण और कोई न रख कर जो ''मारुत'' शब्द विशेषण के रूप में रखा गया है, इसका एक विशेष गहरा अभिप्राय है। ''मारुत्'' शब्द का अर्थ वायु होता है, परन्तु ''मरुत'' शब्द को ''मा+रुत्'' इस प्रकार भी दो शब्दों में विभक्त किया जा सकता है। इस प्रकार ''मा+रुत्'' का अर्थ होगा ''शोर का न होना, आवाज का न होना''। हम आज कल की मोटरों में देखते हैं कि वे चलते समय बहुत शोर करती हैं। शोर कान को सदा बुरा लगता है। पढ़ने लिखने तथा विचार करने वाले के कामों में चलती हुई मोटरों के शोर बाधा डालते हैं। ऊपर के मन्त्र के रथों में जिस वायु का प्रयोग करना लिखा है, उसे ''मरुत्'' कहा है। इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता, कि मन्त्र में ऐसे रथों में ऐसे यन्त्रों को स्थापित करने की ओर निर्देश दिया है, जिससे कि रथ को चलाते समय उसमें शोर न हो, आवाज न हो।

3- कोई ऐसा न समझ ले कि यह रथ जिसका कि इस मन्त्र में वर्णन आया है- घोड़े आदि द्वारा चलने वाला है। इस आशंका को दूर करने के लिये ही मन्त्रों में ''अनर्वाणम्'' शब्द रखा गया है। ''अर्वा'' का अर्थ होता है, ''घोड़ा'' और ''अनर्वा'' शब्द अर्वा अर्थात् घोड़े का निषेध कर रहा है। मन्त्र में ''अनर्वाणम्'' शब्द ''शर्ध'' अर्थात् बल के विशेषण रूप में पढ़ा गया है। इसलिये ''अनर्वाणम्'' शब्द का अर्थ होगा ''वह बल जोकि अश्व सम्बन्धी नहीं है, घोड़े का नहीं है। ऐसे बल को रथ में युक्त करना चाहिए। अब ''मारुतं शर्ध'' और ''अनर्वाणम्''

इन दोनों शब्दों के अर्थों पर युगपत् विचार करने से अर्थ यह होगा ''रथों में प्रयुक्त किया गया बल ऐसा होना चाहिये जो कि घोड़े का न हो, अपितु वायु का हो, तथा जो वायु प्रयुक्त किया गया शोर गुल का कारण न बने।''

मन्त्र में यद्यपि ''अनर्वा'' अर्थात् घोड़े के बल के प्रयोग का निषेध किया गया है, तो भी ''अनर्वा'' पद घोड़े के बल का निषेध करता हुआ अन्य पशुओं के बलों के प्रयोग का निषेध करता हुआ प्रतीत होता है। पशु-बल एक तो उतना कार्य कर ही नहीं सकता जितना कार्य कि वायु का बल कर सकता है। साथ ही पशुबल के प्रयोग से कई बार पशुओं पर अत्याचार भी करना पड़ता है, तथा कार्य की शीघ्रता भी पशुबल से उतनी नहीं हो सकती जितनी शीघ्रता वायु के बल से हो सकती है। इन कारणों से इस मन्त्र में रथों में पशुबल के प्रयोग का निषेध किया गया प्रतीत होता है।

4- मन्त्र में ''क्रीडम्'' पद भी पढ़ा गया है। यह भी ''मारुतं शर्ध:'' का विशेषण है। इसलिये ''क्रीडम्'' ''मारुतं शर्ध:'' का विशेषण है। इसलिये ''क्रीडम्'' ''मारुतं शर्ध:'' का मिला हुआ अर्थ होगा कि न शब्द करने वाल वायु का बल जो कि क्रीड़ा अर्थात् विहार या भ्रमण

आदि के काम में आए। प्रात: काल तथा सायंकाल शुद्ध वायु में विहार करने के निमित्त जिन वायुरथों का प्रयोग किया जाता है उन रथों की ओर मन्त्र में का ''क्रीडम्'' पद निर्देश कर रहा है।

5- मन्त्र का ''रथे शुभम्'' पद और शेष है, जिससे भाव पर अभी तक प्रकाश नहीं पड़ा। यह पद भी ''मारुतं शर्ध:'' का विशेषण है। इसका अर्थ यह है कि वायु का बल, जोकि शोर नहीं करता, विहारोपयोगी रथों में शोभा को प्राप्त होता है। वास्तव में यह बात है भी ठीक। विकार करते समय परमात्मा के ले प्राकृतिक-रचना-सौन्दर्य का भी आनन्द यदि साथ-साथ उठाया जा सके और पारस्परिक बातचीत का आनन्द भी यदि साथ ही साथ लूटा जा सके तब उस विहार में या भ्रमण में एक दिव्य अनुभूति होने लगती है। इस निमित्त ऐसे रथ ही उचित प्रतीति होते हैं जिनके चलने में शोर गुल न हो, इस भाव को समझने के निमित्त मन्त्र के ''क्रीडम्'' तथा ''मारुतं शर्ध:'' उन पदों के अर्थों पर साथ-साथ विचार करना चाहिये।

इस प्रकार इस मन्त्र में ऐसे रथ के निर्माण करने का वर्णन प्रतीत होता है जोकि-

(क) वायु के बल से चलता हो।

(ख) जिसके चलने में शोरगुल न होता हो।

(ग) जिसके चलने से अश्वादि पशुओं के बल का प्रयोग न किया गया हो।

(घ) तथा जिस रथ का प्रयोग क्रीड़ा, विहार तथा भ्रमण के निमित्त किया जाय।

पाठक उपरोक्त वर्णन को पढ़कर जान सकेंगे कि यह रथ आजकल के मोटर-रथ से श्रेष्ठ है। क्योंकि इस रथ के चलने में शोर नहीं होता। यही इस रथ की विशेषता है।

3. **हवाई-नौका**

हवाई-नौका के विषय में ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्रों पर ध्यान देना चाहिये। यथा:-

1- तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहा:। तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभि:।। ऋ०1/116/3।।

2- तिस्र: क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भि: नासत्या भुज्युमूहथु: पतङ्गै:। समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभीरथै: शतपद्भि: षडश्वै:।। ऋ०1/116/4।।

3- अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे। यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवाँसम्।। ऋ० 1/116/5

4- ता भुज्युं विभिरद्भ्य: समुद्रात्तुग्रस्य सूनुमूहथू रजोभि:। अरेणुभिर्योजनेभिर्भुजन्ता पतत्रिभिरर्णसो निरुपस्थात्।। ऋ० 6/62/6

5- युवं भुज्युमर्णसो नि: समुद्राद्विभिरूहथु र्ऋज्रेभिरश्वै:।। ऋ० 1/117/14

6- अजोहवीदश्विना तौग्र्यो वां प्रोळ्ह: समुद्रमव्यथिर्जगन्वान्।
निष्टमूहथु: सुयुजा रथेन मनोजवसा वृषणा स्वस्ति।। ऋ० 1/117/15

7- वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नाव: समुद्रिय: ।। ऋ० 1/25/7

1- ''हे अश्वि देवताओ! तुग्र ने भुज्यु को

समुद्र में त्याग दिया जैसे कि मरा हुआ मनुष्य अपने धन को त्याग देता है। हे अश्वि देवताओ! तुम दोनों ने उसे नौकाओं द्वारा उठाया, जो नौकाएं आत्मा वाली थी, अन्तरिक्ष में उड़ती थीं, और जिनका जल से सम्बन्ध नहीं था।''

2- **''तीन रात और तीन दिन बहुत वेग से चलने वाले पतंगों द्वारा**, हे असत्य रहित दोनों अश्वियो! तुम ने भुज्यु का वहन किया। धन्व अर्थात् अन्तरिक्ष में चलते हुए आर्द्र अर्थात् जल वाले **समुद्र** से पार उसे तुम लाए। वे **पतंग तीन रथ** थे या 6 **अश्व** थे और उनके सैंकड़ों पैर थे।

3- ''टेक रहित, स्थान रहित और पकड़ से रहित समुद्र में तुम वीरता दिखाई थी जब कि सौ चरित्रों वाली **नौका पर बिठला** कर तुम भुज्यु को उसके घर लाये थे।''

4- ''तुम दोनों ने ''**वि**'' या ''**पतत्रियों**'' द्वारा जो कि परस्पर मिलजुल कर संख्या में नाना थे समुद्र की गोनी से धूलि से रहित मार्गो द्वारा, तुग्र के पुत्र भुज्यु का वहन किया।''

5- ''तुम दोनों ने जल-भरे समुद्र से ''वि'' या ''अश्वों'' द्वारा भुज्यु का वहन किया।

6- ''(पिता द्वारा) भेजा गया तुग्र का पुत्र समुद्र को गया, और उसने बिना दु:ख शोक प्रकट किये तुम्हारा आह्वान किया। तुमने उत्तम जुड़े हुएं रथ द्वारा जिसका वेग मन के वेग के सदृश था कल्याणपूर्वक उसका वहन किया।''

7- ''जो (वरुण) अन्तरिक्ष में उड़ते हुए ''वि'' के मार्ग को जानता है, जो समुद्र में रहने वाला नौकाओं के मार्ग को जानता है''।

ऊपर दिये सात मन्त्रों का अर्थ हो चुका। इस अर्थ में **तुग्र, भुज्यु, समुद्र, अश्व, अन्तरिक्ष, रथ, वि, पतंग, नौ, अतिव्रजद्रिः** और **मनोजवसा, तिस्रः क्षपः त्रिरहः** तथा **समुद्रस्य पारे**- आदि शब्दों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। इन अर्थों के सम्बन्ध में सायणाचार्य ने अपने वेद भाष्य में निम्नलिखित आख्यायिका दी है-

''तुग्र राजर्षि था जो कि अश्वि-देवताओं का प्रिय था। द्वीपान्तर वासी शत्रुओं से पीड़ित होकर इसने उन पर विजय पाने के निमित्त अपने पुत्र भुज्यु को सेना समेत नौका द्वारा भेजा। नौका समुद्र के मध्य में जब बहुत दूर चली गई तो वह वायु के वेग से छिन्न भिन्न हो गई। तब भुज्यु ने अश्वि देवताओं की स्तुति की। अश्वि-देवताओं ने सेना समेत भुज्यु को अपनी नौकाओं में चढ़ा कर तीन दिन और तीन रात के समय में उसे उसके पिता के समीप पहुंचा दिया।''

तुग्र और भुज्यु तथा अश्वि-देवताओं के वास्तविक अर्थ क्या हैं- इस पर इस लेख में विचार न किया जायेगा। हम ने यहां केवल दर्शाना यह है कि वैदिक मन्त्रों में इस प्रकार के इशारे मिलते हैं जिन द्वारा कि वेदों में हवाई-नौकाओं का वर्णन प्रतीत होता है।

ऊपर दिये सात मन्त्रों और उनके अर्थों उनके अर्थों का पुन: निरीक्षण करना चाहिये। मन्त्र संख्या 2 में ''आर्द्रस्य समुद्रस्य पारे''

(गीले समुद्र के पार), मन्त्र संख्या 3 में ''समुद्रे'' (समुद्र में), मन्त्र संख्या 4 में ''अद्भ्यः समुद्रात्'' (जलों से अर्थात् समुद्र से), मन्त्र संख्या 5 में ''अर्णसो निः समुद्रात्'' (जल से अर्थात् समुद्र से), तथा मन्त्र संख्या 6 में ''समुद्रे जगन्वान्'' (समुद्र को गया) आदि पद इस सच्चाई की ओर निर्देश कर रहे हैं कि वेदों में समुद्रों में नौकाओं के चलाने का वर्णन निःसन्दिग्ध है।

समुद्र में चलने वाली नौका यदि समुद्र में टूट जाय तो उसके सवारों की रक्षा के नाना साधन हो सकते हैं। उनमें से एक साधन वेद ने दर्शाया है। वह यह है कि उस समय विमानों के सहारे या हवाई-नौकाओं के सहारे उनकी रक्षा करनी चाहिये। मन्त्र का पिछला आधा भाग निम्नलिखित है। यथा:-

'तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः।''

मन्त्र के इस आधे भाग में स्पष्ट कहा है कि अश्वियों ने उसे (भुज्यु को) नौकाओं द्वारा उठाया और पहुंचाया। यह नौकाएँ समुद्र में चलने वाली नहीं, अपितु अन्तरिक्ष में चलने वाली हैं- इस बात का निर्णय करने वाला दूसरा शब्द भी इसी मन्त्र के पिछले आधे भाग में पढ़ा है। वह है ''अन्तरिक्षप्रुद्भिः। इसका अर्थ है ''अन्तरिक्ष में उड़ने वाली'' (नौकाओं द्वारा)। सायणाचार्य ने यहां अर्थ किया है ''जल के ऊपर 2 चलने वाली' (नौकाओं द्वारा)। परन्तु समझ में नहीं आता कि मन्त्र में जब 'अन्तरिक्षप्रुद्भिः। शब्द में अन्तरिक्ष शब्द स्पष्ट सुनाई पड़ता है तब अन्तरिक्ष का अर्थ अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश ही क्यों न लिया जाय। इस शब्द का यहां लाक्षणिक या गौण प्रयोग क्यों माना जाय।

'अन्तरिक्षप्रुद्भिः' के आगे ''अपोदकाभिः'' शब्द पढ़ा है। इस शब्द का अर्थ यह हो सकता है कि ''उदक के साथ जिनका सम्पर्क नहीं'' (अपगतः उदकसम्बन्धो याभ्यः) अन्तरिक्ष में उड़ने वाली नौकाओं का समुद्रीय उदक के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। सम्भवतः समुद्र में चलने वाली नौकाओं से अन्तरिक्ष में चलने वाली नौकाओं का भेद दर्शाने के निमित्त ही मन्त्र में ''अपोदकाभिः'' शब्द पढ़ा हो।

इन हवाई-नौकाओं की नियमित (Controled) क्या चाल होनी चाहिये, ये ऐसी न होनी चाहियें कि अन्तरिक्ष में एक बार उड़कर फिर ये काबू के बाहर हो जाय, हमारे नियन्त्रण में न रहने पाएं इस भाव का प्रदर्शक शब्द ''आत्मन्वतीभिः'' है। आत्मन्वतीभिः का अर्थ है ऐसी नौकाएं मानो जिसमें कि आत्मा विद्यमान है। मनुष्य के शरीर में हम अनुभव करते हैं कि इस शरीर को नियमित चाल तथा गति में रखने वाली शक्ति इस में वास करने वाली आत्मशक्ति है। आत्मा निकल गया तो शरीर मृत हो गया, इसकी चाल तथा गति बन्द हो गई, शान्त हो गई। यह आत्मा इस शारीरिक कला को नियमित रूप में चला रहा है। हवाई नौकाओं का वर्णन मन्त्र ने जो ''आत्मन्वतीभिः'' शब्द द्वारा केवल यह सूचित किया प्रतीत होता है कि हवाई नौकाओं की गतिविधि नियमित होनी चाहिए, उन्हें ऐसे नियम से उड़ना चाहिये जैसे शरीर या पक्षियों का शरीर नियम से गति

करता तथा उड़ता है। इस वर्णन द्वारा वैदिक हवाई-नौकाओं की अवस्था उन्नत प्रतीत होती है।

मन्त्रों में हवाई-नौकाओं का वर्णन वास्तव में है इसके लिये प्रमाण रूप में मन्त्र संख्या 2 (ऋ० 1/116/4) भी पेश किया जा सकता है। इस मन्त्र में कहा है कि ''अश्वि-देवता भुज्यु को पतंगों द्वारा ले गये और इन पतंगों द्वारा उन्होंने भुज्यु को गीले समुद्र से पार किया'' वह वर्णन बहुत गौरव का है। इसमें कहा गया है कि पतंगों द्वारा भुज्यु का वहन हुआ। संस्कृत साहित्य में पतंग का अर्थ होता है- पक्षी। अब सोचना चाहिये कि वेद ने यह वर्णन क्या कर दिया कि अश्वि-देवता भुज्यु को पतंगों पर चढ़ाकर ले आए। पतंग अर्थात् पक्षी आकाश विहारी हैं, समुद्रविहारी नहीं। यदि भुज्यु की नौका टूटने पर अश्वि-देवताओं ने उसे समुद्री नौका द्वारा घर पहुंचाया होता तो उन समुद्री नौकाओं का वर्णन वेद ''पतंग'' शब्द द्वारा न करता। वास्तव में आकाश में उड़ने वाले विमान या हवाई-नौकाएं आकृति में पतंग जैसी ही होती हैं, पक्षी के सदृश ही होती हैं। हवा में उड़ने का प्रथम विचार मनुष्यों ने पक्षियों को उडान से लिया होगा, यह कल्पना नहीं। सम्भवत: विमान की प्राथमिक रचना पक्षियों के देहों और अवयवों की रचना के निरीक्षण और परीक्षण का ही परिणाम हो। वेद हवाई नौकाओं को 'पतंग' कहता है, पक्षी कहता है। यह कथन स्वाभाविक हैं और इन नौकाओं को 'पतंग' कहता हुआ वेद यह सूचित कर रहा है कि ये नौकाएं जिन द्वारा अश्विदेवताओं ने भुज्यु का वहन किया, समुद्र नौकाएं नहीं अपितु हवाई-नौकाएं हैं इस सम्बन्ध में मंत्र संख्या 4 तथा 5 भी (ऋ० 6/62/6; 1/110/4) विशेष महत्त्व के हैं इन मंत्रों में हवाई-नौकाओं के निर्देश के लिये ''विभि:'' तथा ''पतत्रिभि:'' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन मंत्रों में कहा गया है कि ''अश्वि-देवताओं ने जल अर्थात् समुद्र से (मं०सं० 4) नाना ''वि'' तथा ''पतत्रियों'' द्वारा भुज्यु का वहन किया, तथा उसे समुद्र में से निकाल कर (मं०सं० 5) उन्होंने नाना ''वि'' द्वारा उसका वहन किया।'' प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये ''वि'' और ''पतत्री'' क्या वस्तु है। ''वि'' का अर्थ भी पक्षी है और ''पतत्री'' का भी अर्थ पक्षी है। मन्त्र संख्या 2 (ऋ० 1/116/4) में पठित ''पतंग'' शब्द का भी अर्थ पक्षी है। इस प्रकार मन्त्रों में बार-बार और भिन्न 2 नामों द्वारा हवाई-नौका की आकृति को पक्षी की आकृति के सदृश कहा गया प्रतीत होता है। यह समझ नहीं पड़ता कि भुज्यु तो समुद्र में नौका पर चढ़ कर जाय और अश्वि-देवता उसे पक्षियों पर सवार कर वापिस लाएं। उचित यह है यदि किसी जमाने में नौकाओं की सत्ता का प्रमाण मिलता है तो समुद्र में जाने तथा वापिस लौटने के साधनों के सम्बन्ध में एक स्थान में प्राकृतिक साधन की तथा दूसरे स्थान में दिव्य या दैवी साधन की कल्पना न की जाय। एक ओर तो भुज्यु समुद्र में नौकाओं द्वारा जाय और डूबते समय उसे पक्षियों पर चढ़ा कर लाया जाय यह कल्पना परस्पर विरोधिनी प्रतीत होती है। ऐसी अवस्था में सायणाचार्य का कथन है कि अश्वि-देवता भी

अपनी समुद्री नौकाओं द्वारा ही भुज्यु को उसके घर वापिस लाये थे। परन्तु इस सम्बन्ध में वैदिक प्रमाण का अभाव है। क्योंकि अश्विदेवता भुज्यु को जैसी नौकाओं द्वारा वापिस लाए उनके सम्बन्ध में वेद में वर्णन है कि वे नौकाएं (1) अन्तरिक्ष में उड़ने वली थीं। (2) जल के साथ उनका कोई सम्बन्ध न था। (3) वे पतंग, वि, या पातत्र रूप थीं इन सब भावों को इकट्ठा कर यदि इन पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि वेदों के ये वर्णन हवाई-नौकाओं की सत्ता की ओर ही निर्देश करते प्रतीत होते हैं।

इस सम्बन्ध में उपरोक्त मन्त्रों के निम्नलिखित भागों पर पुन: दृष्टि डालनी चाहिये और इन भागों के परस्पर मिलान से जो परिणाम निकले उसे स्वीकार कर लेना चाहिये। यथा:-

(क) तमूह**थुर्नौभि**:[1] (मं०सं० 1 ऋ० 1/116/3)

(ख) भुज्युमूहथु: **पतंगै**: (मं०सं० ऋ० 1/119/4)

(ग) ऊहथुर्भुज्युं नावमात**स्थिवाँसम्**[2] (मं०सं० 3, ऋ० 1/116/4)

(घ) भुज्यु **विभि: पतत्रिभि**: ऊहथु[3]: (मं०सं० 4, ऋ० 6/62/6)

(ङ) भुवं भुज्युं विभिरुहथु: (मं०सं० 5, ऋ० 1/117/4)

(च) तमूहथु: सुयुजा रयेन (मं०सं० 6, ऋ० 1/117/15)

(क) देखो, निरुक्त अ० 2, खं० 11

(ख)

(ग) अ० 2, खं० 10, अ० 5 खं० 5।।

(घ) अ० 9, खं० 18।।

यह तो मानना ही होगा कि अश्वि-देवता जब भुज्यु को बचाकर समुद्र से वापिस लाए, तो वे उसे किसी एक साधन द्वारा लाए होंगे, और वेद में उस एक साधन का वर्णन भी होना चाहिये। उपरोक्त मन्त्र भागों में उस साधन को **'नौ'** भी कहा है, **'पतंग'** भी कहा है, **'वि'** भी कहा हे, **'पतत्री'** भी कहा है और **'रथ'** भी कहा है। अब हमें विचारना चाहिये कि ऐसा साधन कौन हो सकता है जो कि नौकारूप भी हो, तथा उसे पक्षी भी कहा जा सके। विचार करने पर हमें यही प्रतीत होता है कि ऐसा साध न हवाई-नौका ही हो सकता है, समुद्री नौका या आकाशीय पक्षी नहीं। इस सम्बन्ध में एक प्रमाण और पेश किया जा सकता है। मं०सं० 2 (ऋ० 1/116/4) में वचन मिलता है "समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे"। इस वैदिक वचन में "समुद्रस्य पारे" का तो अर्थ है "गीले समुद्र के पार" (ले गये)। वैदिक साहित्य में समुद्र का अर्थ । आकाश भी होता है तथा पृथ्वी के समुद्र का निर्देश किया गया है। इस वैदिक वचन में एक शब्द और है, और वह है "धन्वन्"। यह सप्तमी विभक्ति का एक वचन प्रतीत होता है। निघण्टु में धन्व शब्द अन्तरिक्ष के पर्यायवाची शब्दों में पढ़ा गया है। निरुक्त में भी धन्व शब्द का अर्थ या तो किया है आकाश और या ध नुष।

अत: उपरोक्त वैदिक वचन का अर्थ यह प्रतीत होता है कि अश्वि-देवता उसे "**आकाश के मार्ग में गीले समुद्र** के पार ले आए"। इस प्रकार इस प्रकरण में नौकाओं के साथ "अन्तरिक्ष"

और इसके पर्यायवाची "धन्व" शब्द के वर्णन से प्रतीत होता है कि अश्वि-देवताओं की नौका समुद्री नौका न थी, अपितु हवाई-नौका थी।

इस सम्बन्ध में विचार के योग्य एक और निर्देश उपरोक्त मन्त्रों में मिलता है। मं०सं० 4 (ऋ० 6/62/6) में सायणाचार्य की दृष्टि के अनुसार उन मार्गों का वर्णन है जिन मार्गों द्वारा कि अश्वि-देवता भुज्यु को उसके घर वापिस लाए। उन मार्गों के सम्बन्ध में निम्नलिखित शब्द ध्यान देने योग्य हैं। यथा:- रजोभि:, **अरेणुभि:; योजनेभि:**। 'रजोभि:' का अर्थ सायण ने किया है- मार्गों द्वारा। शेष दो शब्द इन मार्गों के विशेषण प्रतीत होते हैं। अरेणुभि:' का अर्थ रेणु रहित, मट्टी से रहित, और 'योजनेभि:' का अर्थ है- कई योजनों में फैले हुए। इस प्रकार अर्थ यह हुआ कि "रेणु रहित तथा कई योजनों में फैले हुए मार्गों द्वारा अश्वि-देवता भुज्यु को उसके घर वापिस लाए। इस वर्णन में मार्गों को रेणु रहित कहा गया है। समुद्र के मार्ग भी रेणु रहित है और आकाश के मार्ग भी रेणु रहित हैं। रेणु की सत्ता पृथिवी पर के मार्गों में हो सकती है। परन्तु वेदों में अरेणुभि: विशेषण प्राय: उन मार्गों के सम्बन्ध में आता है जो कि अन्तरिक्ष[4] के हैं, जिन मार्गों द्वारा कि सूर्य का रथ आता जाता है। अत: यह निर्देश भी हमारी इसी कल्पना को पुष्ट करता प्रतीत होता है कि अश्वि देवता भुज्यु को उसके घर अन्तरिक्ष के मार्गों के द्वारा ही लाए होंगे।

इस प्रकार उपरोक्त प्रमाणों तथा युक्तियों द्वारा यदि यह सिद्ध हो सके कि वेदों में हवाई-नौकाओं का वर्णन है और वेदों में इन हवाई-नौकाओं को पक्षी-वाची पर्यायों द्वारा भी सूचित किया गया है तब मन्त्र संख्या (ऋ० 1/15/7) का भाव भी और अधिक स्पष्ट हो जाता है। अन्य भाष्यकारों ने इस मन्त्र का अर्थ किया है कि "वह समुद्रवासी वरुण परमात्मा अन्तरिक्ष में उड़ने वाले "वि" अर्थात् पक्षियों के मार्गों को जानता है और समुद्र में चलने वाली नौकाओं को भी। यहां नौकाओं के मार्गों से अभिप्राय है समुद्र के मार्गों का जिन द्वारा नौकाएं आती जाती रहती हैं। परन्तु इस मन्त्र के प्रथम आधे भाग का अभिप्राय इस अर्थ में स्पष्ट नहीं होता। हमारा ख्याल यह है कि इसके प्रथम आधे भाग में भी "वि" शब्द का अर्थ हवाई-नौका ही है।

समुद्र वेद में अन्तरिक्ष और पृथिवी के समुद्र का वाची है इसे पूर्व दर्शाया जा चुका है। इस प्रकार मन्त्र का यह अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है कि "वह समुद्रवीस अर्थात् अन्तरिक्ष तथा पृथिवी के समुद्र में बसने वाला वरुण परमात्मा, अन्तरिक्ष में उड़ने वाली हवाई-नौकाओं के भी मार्गों को जानता है और पृथिवीस्थ समुद्र में चलने वाली समुद्री नौकाअ के भी मार्गों को जानता है"।

शेष बात जिसका इन मन्त्रों में वर्णन है वह है इन हवाई-नौकाओं का वेग। इस के जानने के निमित्त मंत्र सं० 2 (ऋ० 1/116/4) में पतंगों या हवाई-नौकाओं का विशेषण है "अतिव्रजद्भि:" और मंत्र संख्या 6 (ऋ० 1/117/15) में रथ या हवाई-नौकाओं का विशेषण है " मनोजवसा"। इन दोनों विशेषणों

का अर्थ है ' बहुत तेज चलने वाले'' तथा ''मन के से वेग वाले''। इन हवाई जहाजों के वेग को हम इन दोनों विशेषणों द्वारा थोड़ा बहुत समझ सकते हैं। मंत्रों में प्रत्येक घण्टे के हिसाब से इन हवाई-नौकाओं के वेग को नहीं दर्शाया। केवल इतना ही कहा है कि इनका वेग बहुत अधिक है, ये मन के से वेग वाले हैं। मन का वेग कितना होता है इसे प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में अनुभव कर सकता है। अत्यन्त तेजी का दृष्टान्त मन के दृष्टान्त से बढ़कर अन्य कोई नहीं। मन तो आधे सैकण्ड तक में कहीं का कहीं भाग निकलता है। इस दृष्टान्त से प्रतीत होता है कि वेद ने ऐसी हवाई-नौकाओं के निर्माण की ओर इशारा किया है जिनका कि वेग बहुत ही अधिक हो। मंत्र संख्या 2 (ऋ० 1/116/4) में लिखा है कि ''तिस्रः क्षपः त्रिरहाति व्रजद्भिः''। इसका भाव यह है कि अश्वि-देवता तीन दिन और रात लगातार चलती हुई बहुत वेग वाली हवाई-नौकाओं द्वारा भुज्यु को समुद्र के पार ले आए। हवाई-नौकाएं जिनका कि वेग प्रथम ही बहुत अधिक है, जो कि मन के वेग से उड़ती हों वे कितने योजन इतने समय में उड़ सकेंगी, इसकी थोड़ी बहुत कल्पना की जा सकती है। प्रतीत होता है कि बड़े 2 समुद्रों के आर-पार जाने का वर्णन इन मन्त्रों में है।

इस मंत्र में जब रात के समय भी हवाई-नौका के उड़ने का वर्णान मिलता है तो इस वर्णन में वेद में उन साधनों की भी कल्पना कर ली प्रतीत होती है जिन साधनों की रात में उठते समय प्रायः आवश्यकता पड़ती होगी।

इस प्रकार हवाई-नौकाओं की सत्ता के सम्बन्ध में निश्चय कर लेने के अनन्तर हमें एक और कल्पना को भी अवश्य मानना पड़ता है। भुज्यु समुद्री-नौका द्वारा समुद्र में गया। वहां उसकी नौका टूट गई। और अश्वि-देवताओं ने हवाई-नौकाओं द्वारा उसकी रक्षा की। इस वर्णन के आधार पर यह मानना पड़ेगा कि अश्वि-देवताओं ने अपनी हवाई-नौका समुद्र में उतारी तब उन्होंने भुज्यु को उस नौका पर बिठाया। यह वर्णन समुद्र में हवाई नौकाओं के उतर सकने और वहां से उड़कर फिर हवा में जा सकने की विधि की ओर भी इशारा कर रहा है। इस प्रकार हमने देखा कि वैदिक वर्णनों में हवाई नौकाओं की कल्पना अत्युत्कृष्ट है।

पाद-टिप्पणियां -

1. देखो, नि. अ. 2, खण्ड-11
2. अ. 2, खं. 10; अ. 5, खण्ड-5
3. अ. 9, खं. 18
4. ये ते पन्थाः सवितः, पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता व अन्तरिक्ष। यजु. 34 /27
   आत्मानं ते मनसा राद जानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम्।
   शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभिररेणुभि र्जेहमानं पतत्रि।। यजु. 29/71

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (143-156) July-Dec. 2011

वेदों में ओषधीय वृक्ष एवं वनस्पतियाँ

डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार
पूर्व सम्पादक- 'स्वतिपन्था:', आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) भारत

एक सर्वमान्य तथ्य है कि विश्व में उपलब्ध समस्त ज्ञान-विज्ञान का मूलाधार वेद ही है। यद्यपि स्कन्द स्वामी, सायण आदि भाष्यकारों के भाष्यों से पाठकों को यह भ्रान्ति होती है कि वेदों में कर्मकाण्ड के अतिरिक्त कुछ नहीं है, परन्तु महर्षि दयानन्द कृत **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** एवं वेदभाष्य को पढ़ने से यह विश्वास हो जाता है कि वेद में कर्मकाण्ड का तो प्रतिपादन है ही, साथ ही वे अन्य सभी विद्याओं के भी स्रोत हैं। महर्षि दयानन्द ने स्वयं **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में यह घोषणा की है- **'वेदेषु सर्वा विद्याः सन्ति आहोस्विन्न? अत्रोच्यते, सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः'**[1]। उनकी सम्मति में वेदों में अवयव रूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु मुख्य चार हैं: विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान- **'चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञान- कर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्'**[2]। अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, राजविद्या, यज्ञविद्या, कृषिविद्या, जलपोत, वायुयान, शिल्पविद्या आदि विविध विद्याओं का वैदिक प्रमाणों सहित प्रतिपादन किया है तथा स्वरचित वेद भाष्य में भी इनका प्रकाश किया है।

इससे पूर्व मनु ने भी वेदों को सभी विद्याओं का भण्डार माना था- **'सर्वज्ञानमयो हि सः'**[3]। सर मोनियर विलियम्स ने भी इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए लिखा है कि हिन्दू केवल व्याकरणशास्त्र के ज्ञान में ही श्रेष्ठ नहीं थे, अपितु वे ज्योतिष, अंकगणित, बीजगणित, वनस्पतिशास्त्र और ओषधि का ज्ञान भी बहुत पहले ही प्राप्त कर चुके थे।[4]

वेदों में उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान में आयुर्वेद का सर्वप्रमुख स्थान है। आयुर्विज्ञान का सम्बन्ध एक नहीं, चारों वेदों के साथ ही है। ऋग्०, यजु०, साम० और अथर्व० इन चारों वेदों में ही आयुर्वेद विषयक विभिन्न विषयों- आयुर्वेद का उद्देश्य, दिव्य वैद्य के गुण-कर्त्तव्य, शरीर के अवयव एवं उनमें होने वाले रोग, विविध ओषधियों एवं उनसे प्राप्तव्य लाभ, जल चिकित्सा, वायु चिकित्सा, मणि चिकित्सा आदि विविध चिकित्सा पद्धतियों का विशद विवेचन किया गया है। तथापि अथर्ववेद के साथ आयुर्वेद का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके 730 सूक्तों में से लगभग 144 सूक्तों में विभिन्न रोगों, वनस्पतियों एवं कीटाणुओं आदि की चर्चा है। इसमें आयुर्वेद के प्रायः सभी अंगों एवं उपांगों का वर्णन होने के कारण 'आयुर्वेद' को इस वेद का उपवेद या उपांग कहा गया है- **''इह खलु आयुर्वेदमष्टाङ्गमुपाङ्गमथर्ववेदस्य''**[5]। चरक संहिता में भी इस तथ्य की पुष्टि की गई है- **''तत्र भिषज पृष्टेनैवं चतुर्णामृक् सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या। वेदो ह्याथर्वणो दानस्वस्त्यनबलिमंगलहोमनियम**

प्रायश्चित्तोपवासमन्त्रादिपरिग्रहाच्चिकित्सां प्राह। चिकित्सा चायुषो हितायोपदिश्यते''[6]। अथर्ववेद में इस वेद को भेषज या भिषग्वेद नाम भी दिया गया है[7]। गोपथ ब्राह्मण में अथर्ववेद की ऋचाओं को आयुर्वेद से सम्बद्ध बताया गया है और अथर्वा का अर्थ भेषज किया गया है- **''येऽथर्वाणः, तद् भेषजम्''**[8]।

अथर्ववेद और ऋग्वेद में आयुर्वेद का उद्देश्य मृत्यु या रोग के कारणों का निवारण[9], दीर्घायु की प्राप्ति[10], आचार-विचार की शुद्धि[11], आत्मा और शरीर की पुष्टता[12] तथा रोग के कीटाणुओं का नाशन[13] बताया गया है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति कैसे हो सकती है। इस प्रश्न का सीधा उत्तर है कि ओषधियों के प्रयोग द्वारा ही यह सम्भव है। ये ओषधियाँ जिसके भी शरीर में पहुँच जाती हैं वह निरोग हो जाता है- चाहे वह मानव हो या पशुपक्षी[14]।

ओषधियों के अन्तर्गत सभी प्रकार के वृक्ष-वनस्पति आ जाते हैं। सायण के अनुसार, **'ओषः पाकः फलपाकः यासु धीयते इति ओषधयः'** अर्थात् जिनके फल पकते हैं उन्हें ओषधि कहते हैं। निरुक्तकार यास्क की व्युत्पत्ति के अनुसार **'ओषधयः ओषद् धयन्तीति वा ओषत्येना धयन्तीति वा, दोषं धयन्तीति'**[15] जो दाहजनक रोगादि को पी जाती हैं, दाह होने पर जिन्हें रोगी लोग पीते हैं अथवा जो दोष, प्रदूषण आदि को दूर करती हैं वे ही ओषधियाँ हैं। शतपथ ब्राह्मण में भी ओषधि को दोषनाशक कहा है- **ओषं धयेति तत् ओषधयः समभवन्।**[16] अथर्ववेद में ओषधि को पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले रोगोपहारी पदार्थ कहा है-

इमा यास्तिस्त्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा। तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम्।। -अथर्व० 6.21.1

ऋग्वेद के अनुसार, ओषधियाँ शक्ति, ऊर्जा एवं उत्साह देनेवाली होती हैं, शरीर के भीतर के रोगों को बाहर निकालती हैं, उनके प्रवेश को नियन्त्रित करती हैं और इस प्रकार शरीर के सामर्थ्य को अक्षुण्ण रखती हैं[17]। अथर्ववेद में तो कतिपय वृक्षों एवं वनस्पतियों का नामोल्लेख करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि उनकी उपस्थिति मात्र से पानी में विचरण करने वाले विषैले जन्तु तक नहीं रहते हैं-

यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षा शिखण्डिनः। तत्परेता अप्तसरसः प्रति बुद्धा अभूतन।। यत्र वः प्रेङ्खा हरिता अर्जुना उत। यत्राघाटाः कर्कयः संवन्ति।। तत्परेता अप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन।। एयंमगन्नोषधीनां वीरुधां वीर्यावती। अजश्रृंग्यराटकी तीक्ष्णश्रृंगी व्यृषतु।।

- अथर्व० 4.37.4-6

अर्थात् जहाँ पर अश्वत्थ (पीपल), बरगद ये महावृक्ष अपने पत्रों के साथ प्रसन्नता से रहते हैं, अर्जुन, पिलखन, अघाट, कर्करी, अजश्रृंगी, अराटकी, तीक्ष्णश्रृंगी ये वृक्ष एवं वनस्पतियाँ रहती हैं, वहाँ पर पानी में विचरनेवाले विषजन्तु नहीं रहते।

ओषधीय वृक्षों एवं वनस्पतियों का वर्गीकरण :-

वेदों में इन ओषधीय वृक्षों एवं वनस्पतियों का विविध रूपों में वर्गीकरण किया गया है।

अथर्ववेद में चार प्रकार की ओषधियों का उल्लेख मिलता है।

आथर्वणीरङ्गिरसीर्दैवीर्मनष्यजा उत।
ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥

-अथर्व० 11.4.16

अर्थात् अर्थात् आथर्वणी, आङ्गिरसी, दैवी और मानुषी ये चार प्रकार की ओषधियाँ तब उत्पन्न होती हैं जब प्राण उनको तृप्त करता है। सायण के मत में अथर्ववेद ऋषि की बनाई ओषधियाँ आथर्वणी, अङ्गिरा ऋषियों द्वारा निर्मित ओषधयाँ आङ्गिरसी, देवों द्वारा रची दैवी, और मनुष्यों द्वारा स्वयं विचारपूर्वक परस्पर योगों व यन्त्रों से बनाई 'मनुष्यजा'- इस प्रकार ये चार विभाग उनके विशेष-विशेष उपचारों के कारण प्रतीत होते हैं।[18] वेद में ओषधियों के दो भेद-वनस्पति और ओषधि किये गये हैं। वृक्षों के लिए वनस्पति[19] शब्द है और छोटे पौधों के लिए ओषधि शब्द। ऋग्वेद में वृक्ष और वनस्पति के लिए 'वनिन्' शब्द भी आता है-

'तमोषधीश्च वनिनश्च गर्भं भूमिश्च विश्वधायसं बिभर्ति'२०। वनस्पति के पुनः दो भेद हैं- वनस्पति और वानस्पत्य (छोटे वृक्ष)। इसी प्रकार ओषधि के दो भेद हैं- ओषधि (छोटे पौधे के रूप में होने वाली) और वीरुध् (लता, गुल्म आदि के रूप में होने वाली)। इस प्रकार ओषधि के चार भेद हुए, जिनका अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है- **''वनस्पतीन् वानस्पत्यान् ओषधीरुत वीरुधः''।** ऋग्वेद और यजुर्वेद में इससे भिन्न रूपप में चार प्रकार की ओषधियों का वर्णन उपलब्ध होता है- **''या फलिनीर्याऽअफलाऽअपुष्पायाश्च पुष्पिणीः**[२२]'' अर्थात् फल युक्त, फल रहित, फूलयुक्त और फूलरहित। अथर्ववेद में भी ओषधियों के इन प्रकारों का उल्लेख है[23]।

मनु ने बीज और शाखा से उत्पन्न होने वाले स्वथावर जीव, वृक्ष आदि को उद्भिज्ज की संज्ञा देते हुए उन वृक्षों को ओषधि कहा है जिन पर फूल आकर सूख जाते हैं और जिन पर बहुत फूल-फल लगते हैं तथा जिन पर बिना फूल आये फल लगते हें उन्हें 'वनस्पति' कहा है। उन्होंने ओषधियों के कुल मिला कर आठ भेदों का उल्लेख किया है- ओषधि, वनस्पति, वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, तृण जातियाँ, प्रतानाः (उग कर फैलनेवाली दूब आदि) एवं वल्लयः (उग कर किसी का सहारा ले कर चढ़नेवाली बेल आदि)[24]। चरक ने भी उक्त प्रकार के ही भेद-विभेदों की पुष्टि की है। उन्होंने जो पृथिवी को भेद कर निकलते हैं उन्हें उद्‌भिर तथा उनके पंचागों (जड़, छाल, फूल, फल, पत्ती) को औद्‌भिद की संज्ञा देते हुए उन्हें चार प्रकार का बताया है: वनस्पति, वीरुध, वानस्पत्य तथा ओषधि:

वनस्पतिस्तथा वीरुद् वानस्पत्यस्तथौषधिः।
फलैर्वनस्पतिः पुष्पैर्वानस्पत्यः फलैरपि॥
ओषधयः फलपाकान्ताः प्रतानैर्वीरुध स्मृताः॥

-चरक सू० अ० 1.70,72

इनके अनुसार फलवाली ओषधियाँ वनस्पति हैं (इनमें फूल दृश्य नहीं होता, यथा गूलर), पुष्प आने के पीछे जिनमें फल आता है वे वानस्पत्य हैं, फल आने पर जिनका नाश हो जाता है वे ओषधियाँ हैं तथा प्रतानवाली लता आदि वीरुध हैं।

इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में इन ओषधियों का गुण-धर्मो और आकार-प्रकार, रूपादि के आधार पर भी वर्गीकरण किया गया है। यथा-**रंगभेद** से बभ्रु (भूरे रंगवाली), श्वेत, लाल, चितकबरी, नीली, काली ओषधियाँ;[25] **स्वरूपभेद** से प्रस्तृणवती (मूल में से ही अलग-अलग शाखाओं में फलनेवाली), स्तम्बिनी (एक तने वाली), एकशुङ्गा (एक मूल वाली), प्रतन्वती (अनेक मूल वाली), अंशुमती (काटों वाली), काण्डिनी (काण्डों वाली), विशाखा (शाखाहीन) ओषधियाँ[26]; **गुणभेद** से जीवला (जीवनदायिनी), नघारिषा (कदापि हानि न पहुँचाने वाली), जीवन्ती (स्वयं जीवन रखने वाली), अरुन्धती (मर्मस्थलों को बल देने वाली), उन्नयन्ती (उन्नत करने वाली), पुष्पीय, मधुमती (मधुर रस वाली), प्रचेतस् (चेतना देनेवाली), मेदिनी (स्निग्धता देने वाली), विष-दूषणी (विषनाशक), बलासनाशनी (कफनाशक) ओषधियाँ[27]; **उत्पत्तिस्थान** के आधार पर जलमयी (नदी, तालाबों के जल में उत्पन्न), पर्वतीय, भूस्थली ओषधियाँ[28]। यही नहीं, पीपल, दाभ (दर्भ), सोम लता, जल, घृत, चावल, जौ तथा सूर्य-चन्द्र को महौषधि की संज्ञा दी गई है-

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृत हविः।
वीहिर्यवाश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ।।

- अथर्व० 8.7.20

ये सभी ओषधियाँ पृथिवी पर उगती हैं तथा वर्षा जल से सिंचित होकर प्राकृतिक रूप से बढ़ती हैं। `जहाँ तक वैदिक साहित्य में विवेच्य ओषधीय वनस्पतियों की संख्या का प्रश्न है, अथर्ववेद में सर्वाधिक 288 वनस्पतियों एवं उनके पर्याय शब्दों का उल्लेख मिलता है, जबकि ऋग्वेद में 67, यजुर्वेद में 82, ब्रह्मण ग्रन्थों में 129 तथा उपनिषदों में 31 का विवेचन किया गया है। इसके विपरीत चरक संहिता में 341 सस्यजन (वनस्पतीय) द्रव्य वर्णित हैं और सुश्रुत संहिता में 385।

इतनी बड़ी संख्या में वनस्पतियों का समग्र रूप में विवेचन एक विशालकाय शोध प्रबन्ध का विषय है, जिसका प्रस्तुतीकरण समय साध्य है। प्रस्तुत शोध-पत्र के माध्यम से कतिपय प्रमुख ओषधीय वृक्षों एवं वनस्पतियों के विवेचन द्वारा वेदों में आयुर्वेदिक चिकित्सा की एक बानगी देने का प्रयास किया गया है। आइये, प्रतीक रूप में कुछेक ओषधीय वृक्षों एवं वनस्पतियों के वेदोक्त एवं आयुर्वेदिक ग्रन्थोक्त गुण-धर्मों पर दृष्टिपात करें।

अर्जुन (Terminalia aryguna W.&A.)

एक वृक्ष है 'अर्जुन', जिसे संस्कृत में धवल, ककुभ, इन्द्रद्रु, वीरवृक्ष, नदीसर्ज नाम दिये गये हैं[29] तथा हिन्दी में अर्जुन, कहु और कोह कहा जाता है। न केवल आयुर्वेदिक चिकित्साशास्त्र में, वरन् सभी 'पैथियों' में अनेक असाध्य रोगों के निराकरण के परिप्रेक्ष्य में इस ओषधि को व्यापक मान्यता प्राप्त हो चुकी है। आयुर्वेद के मानक ग्रन्थ चरक संहिता और सुश्रुत संहिता में तो इसकी विशद गुणगरिमा का वर्णन है ही, अथर्ववेद में भी 'अर्जुन' के हरे वृक्षों को व्याधियों को दूर भगानेवाला कहा गया है- **''यत्र वः प्रेङ्खा हरिता अर्जुना.......तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्ध अभूतन**[30]**''**। यही नहीं,

इस वृक्ष के काण्ड क्षेत्रिय रोगों को नष्ट करने वाले होते हैं-

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या। वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ - अथर्व० 2.8.3

इसके अनुसार अर्जुन-वृक्ष की भूरी छाल, जौ की मंजरी एवं तिल की मंजरी को मिला कर तैयार की गई ओषधि से क्षेत्रिय रोग नष्ट हो जाते हैं। क्षेत्रिय रोग वे रोग हैं जो वंशानुगत (माता-पिता से आये हुए) होते हैं। हाइपरटेंशन और उसके कारण सम्भावित हृदय-रोग को भी वंशानुगत माना जाने लगा है। यही कारण है कि चिकित्सक प्राय: प्रत्येक रोगी से पहला प्रश्न यही करता है कि मातृ या पितृ-पक्ष में किसी को यह रोग हुआ है?

यजुर्वेदीय काठक संहित में 'अर्जुन' के दो प्रकारों-लोहिततूल और बभ्रूतूल-का उल्लेख है[31]। द्रव्यगुण विज्ञान के अनुसार इसकी काण्डत्वक् बाहर से सफेद और भीतर से रक्तवर्ण होती है, जब कि ''भावप्रकाश निघण्टु:'' में इसकी छाल को गुलाबीपन के लिए धूसर या श्वेताभ बतलाया गया है।

अर्जुन को हृद्य तो कहा ही जाता है, साथ ही यह हृदय के सभी प्रकार के विकारों का निवारक भी है। यह जीर्णज्वर, रक्तपित्त, त्वक् रोग, कतिपय स्त्री रोगों में भी लाभकारी है। ओषधि के रूप में इसकी छाल का उपयोग किया जाता है, जिसको क्वाथ, चूर्ण या क्षीरपाक के रूप में दिये जाने का विधान है। हृदय रोग में क्षीरपाक अधिक लाभकारी बताया गया है। इसके अतिरिक्त अर्जुनघृत का प्रयोग भी उपयुक्त है[32]।

हृदय रोग में अर्जुन-त्वक् का क्वाथ या चूर्ण लेने पर इतने अधिक प्रभावकारी परिणाम सामने आ रहे हैं कि आयुर्वेद-विशेषज्ञ ही नहीं, वरन् एलोपैथिक चिकित्सक भी इसको लेने की संस्तुति करने लगे हैं।

अश्वत्थ (Ficus religiose linn)

भारतवर्ष के विशालकाय वृक्षों में से एक है 'अश्वत्थ' यानि पीपल -**'अश्वत्था: महावृक्षा:'**[33]। इस वृक्ष का हिन्दू समाज में आध्यात्मिक दृष्टि से तो महत्त्व है ही, यह एक परम उपयोगी ओषधीय वृक्ष भी है। वेदों में इसका अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में इसे देवों का निवासस्थल कहा गया है- **अश्वत्थो देवसदन:**[34]। यह अश्वत्थ अन्य बड़े-बड़े वृक्षों पर अपना मूल जमा कर और बड़ा होकर उन सबका रस स्वयं खा जाता है और स्वयं प्रधान बना रहता है- **'अश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन् कृणुषेऽधरान्'**[35]। यही कारण है कि खदिर वृक्ष पर उत्पन्न अश्वत्थ वृक्ष को अत्यधिक गुणशाली माना जाता है- **'पारिजातोऽश्वत्थ:, खदिरादधि'**[36]। इसीलिये तीक्ष्णवीर्य ओषधि की खोज करने वाला वैद्य ऐसे ही पीपल-वृक्ष की खोज करता है।

अथर्ववेद के गर्भाधान एवं प्रजनन विद्या (पुंसवन) सम्बन्धी प्रकरण में शमी वृक्ष पर उगे एवं बढ़े पीपल के वृक्ष को ओषधि बनाकर स्त्री को सेवन कराने पर पुमान् पुत्र होने का उल्लेख मिलता है[37]-

शमीमश्वत्थ आरूढ़स्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि॥

-अथर्व० 6.11.1

ऋग्वेद में भी 'अश्वत्थ' का उल्लेख मिलता है[38]। इसी वेद में इसके लिए 'पिप्पल' शब्द का प्रयोग करते हुए फलों (गोदों) के मीठा होने तथा पक्षियों द्वारा खाये जाने का उल्लेख किया गया है।[39] ऐतरेय ब्राह्मण में इसे वनस्पतियों का सम्राट् कहा गया है।[40] भावप्रकाश निघण्टु में अश्वत्थ की गणना क्षीरिवृक्षपञ्चक में की गई है-

'न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थपारीषप्लक्षपादपाः, पञ्चैतेक्षीरिणो वृक्षोस्तेषां त्वक्पञ्चवल्कलम्'।

आयुर्वेद में अश्वत्थ (पीपल) को कफपित्तशामक, शोथहर, रक्तपित्तशामक, मूत्रसंग्राहक एवं व्रणनाशक कहा गया है। इसके छाल, पत्र, फल तीनों का उपयोग किया जाता है। छाल को क्वाथ या चूर्ण के रूप में प्रयुक्त करते हैं। मूत्रल होने से इसका क्वाथ गुर्दे के रोगों में लाभकारी सिद्ध होता है। यह क्वाथ या स्वरस कुकुरखांसी तथा फल का चूर्ण श्वास रोग तथा गर्भस्थापन में लाभ पहुंचाता है। पीपल के 2-3 कोमल पत्तों को खाने से महिलाओं में जरायु का ट्यूमर ठीक होता पाया गया है तथा इनका लेप व्रण में हितकारक है[41]।

खदिर (Acacia Catechu Willd)

बबूल, माइमोसेसी कुल का वृक्ष है, जिसे संस्कृत में 'खदिर' तथा हिन्दी में 'खैर' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है- श्वेत खदिर (पपरिया खैर) तथा दुर्गन्ध खैर। खदिर में लगभग 35-50 प्रतिशत कत्था (खदिरसार) होता है, अतः कत्था उत्पादक वृक्ष के रूप में इसका व्यावसायिक महत्त्व है। ऋक्, यजुः और अथर्व० तीनों वेदों में 'खदिर' का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में इसका दृढ़ काष्ठवाला 'वृक्ष' के रूप में उल्लेख है[42]। अथर्ववेद में खदिर (खैर) वृक्ष के ऊपर अश्वत्थ के वृक्ष के उगने का वर्णन है- **'खदिरात् अधि अश्वत्थः'**[43]। 'खदिर' शब्द का प्रयोग 'शस्त्र प्रहार करने हारे वीर' अर्थ में भी किया गया है[44]। इसके वृक्षों से लाक्षा की उत्पत्ति होती है[45]। अथर्ववेद में इसका सारभाग मणि के तुल्य तेजस्विता के लिए बाँधने का निर्देश है- **'मणि. ....खदिरमोजसे'**[46]। यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला चम्मच 'स्त्रुव' 'मुसल' तथा खड्गाकृति वज्र खदिर की लकड़ी से निर्मित किये जाने का विधान है- **'अरत्निमात्रः खादिरः स्त्रुवः अङ्गुष्ठपर्वमात्रपुष्करः', 'खादिर मुसलं कार्यं, अरत्निमात्रं खादिरं खड्गाकृतिवज्रम्'[47]।'**

आयुर्वेद में खदिर के त्वक् तथा खदिरसार (कत्था) का प्रयोग विविध रोगों के निवारण के लिए किया जाता है। पैप्पलाद संहिता के अनुसार इसका उपयोग कुष्ठ एवं विषनाशन में किया जाता है[48]। भावप्रकाश निघण्टु तथा द्रव्यगुणविज्ञान के अनुसार यह कफ एवं पित्तशामक, कुष्ठघ्न, तथा दाँतों एवं मसूढ़ों के रोगों के लिए हितकारी है। यह ज्वर, खुजली, प्लीहावृद्धि, मेदोरोग, रक्तविकार, पीलिया आदि रोगों के उपचार में भी प्रयुक्त होता है। मुंह में छाले पड़ने, अतिसार, संग्रहणी, अम्लपित्त आदि रोगों में कत्था उपयोगी है।

उदुम्बर (Ficus glomerata Roxb.)

लोक में 'गूलर' के रूप में प्रख्यात 'उदुम्बर' वटादि वर्ग का एक महत्त्वपूर्ण ओषधीय वृक्ष है। वेद में इसका भिन्न-भिन्न नामों से

उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में इसे महान् मंगलदाता कहा गया है- **महान् भद्र उदुम्बरः**[49]। यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में इसे ऊर्जा का प्रतीक माना गया है, अतः उदुम्बर का ऊर्जा कहा है: **'औदुम्बरीम् अदधाति, ऊर्ग् वा उदुम्बरः'**[50]। उदुम्बर को ब्रह्मवृक्ष भी कहा गया है- **'उदुम्बरः ब्रह्मवृक्षः'**[51], **'ब्रह्मवृक्षः उदुम्बरः'**[52]। अथर्ववेद में स्त्रियों के योनि एवं गर्भ सम्बन्धी रोगों को ब्रह्म-वृक्ष (उदुम्बर) एवं अग्नि (चित्रक-चीता[53]) के योग से निर्मित ओषधि द्वारा दूर करने का विधान किया गया है:

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये॥

- अथर्व० 20.96.11

यही नहीं, यह ब्रह्मउदुम्बर ओषधि गर्भ धारण में होने वाली कठिनाई, गर्भसंस्राव एवं उत्पन्न शिशु की मृत्यु की सम्भावना को भी दूर करती है[54]। अथर्ववेद 19.31 के 14 मन्त्रों में औदुम्बरमणि का महात्म्य वर्णित किया गया है, जो पुष्टिकारक, धन-धान्य दायक, पशुओं के लिए बलवर्धक एवं दुग्धवर्धक कही गई है। रोग विनाशक होने के कारण यज्ञ में इसकी समिधाओं के उपयोग का भी विधान है। बौध ायन श्रौतसूत्र[55] में उन्माद रोग के निवारणार्थ इससे होम करने का निर्देश दिया गया है।

आयुर्वेद-ग्रन्थों के अनुसार उदुम्बर की त्वक् (छाल) स्तम्भन; पके फल शीत, स्तम्भन एवं रक्तसंग्राहक; क्षीर शीतल, स्तंभन, रक्तसंग्राहक, पौष्टिक एवं शोथहर है। रक्तपित्त के लिए इसके फल व छाल का, मधुमेह में फल या मूल के रस का, रक्तातिसार में क्षीर क्वाथ एवं कच्चे फलों के शाक का तथा आंव में मूल के चूर्ण का उपयोग किया जाता है। शोथ, वेदना, व्रण पर उदुम्बर का दूध लगाते हैं तथा वर्ण विकारों में इसके शुंग का लेप करते हैं। दाहरोग में पका फल देते हैं[56]। इस प्रकार इस वृक्ष के सभी अंग उपयोगी हैं।

अपामार्ग (Achyranthes aspera, Linn)

हिन्दी में चिरचिरा, लटजीरा एवं चिंचड़ा नामों से विख्यात अपामार्ग का अथर्ववेद में तीन सूक्तों (4.17-19) में विस्तृत उल्लेख मिलता है। वेद के अनुसार यह एक ऐसा ओषधीय पौधा है जो वनस्पतियों में मुख्य है तथा रोगबीजों का नाशक है- **''अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन्। उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः''**[57] तथा यह अनेक प्रकार से रोगों को दूर करता है और इस ओषधि को अपने पास रखनेवाला भी रोगों को दूर कर सकता है- **'विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन्नाम ते पिता'**[58]। यह अपामार्ग ओषधि उस बल को लेकर उत्पन्न हुई, जिससे देवों ने असुरों को हटाया था[59]। इससे भूख-प्यास की अधिकता इन्द्रियों के दोष, बन्ध्यता, माता-पिता से प्राप्त क्षेत्रिय रोग, चिड़चिड़ापन, यातना बढ़ाने वाले एवं तेज घटानेवाले रोग दूर हो जाते हैं।[60] इससे अर्श, दुःस्वप्न आना, कृमि दोष भी ठीक हो सकते हैं।[61] वेद में अपामार्ग की श्रेष्ठता को दर्शाते हुए समष्टि रूप में यहाँ तक कह दिया है-

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद्वशी।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर॥

- अथर्व० 4.17.8

अर्थात् अपामार्ग ओषधि निश्चय ही

सब ओषधियों को वश में रखनेवाली ओषधि है, उससे शरीर के सब रोग दूर होते हैं और मनुष्य उसके सेवन से नीरोग होकर विचरता है।

यजुर्वेद में इसे पापनाशन, कृत्यानाशन, रोगनाशन एवं कुस्वप्ननाशन में उपयोगी बताया गया है।[62] यजुर्वेद की विभिन्न संहिताओं में अपामार्ग का चूर्ण बनाकर यज्ञ करने का विधान भी उपलब्ध है।

भावप्रकाश निघण्टु एवं द्रव्यगुणविज्ञान के अनुसार इसका बीज उष्ण, तिक्त, कटु, तीक्ष्ण, दीपन, पाचन, पित्तविरेचक, वामक, मूत्रजनक, कफघ्न, विषघ्न, कृमिघ्न, अम्लतानाशक एवं शिरोविरेचक है। इसका उपयोग कफवातरोगों, वेदनायुक्त शोथविकारों, अर्श, मूत्रेन्द्रिय विकारों, चर्म रोगों, हृदय रोगों, सर्प-विष आदि में करते हैं। आँख की फूली में इसकी जड़ को शहद के साथ पीसकर अंजन की तरह लगाते हैं। अत्रिपुत्र ने अपामार्ग को शिरोविरेचन-द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ कहा है[63]। आयुर्वेद-ग्रन्थों में पुत्रोत्पति के लिए ऋतुमती स्त्री द्वारा इसके बाल को दूध के साथ पीने का निर्देश दिया है[64]। कुल मिलाकर यह एक बहु-उपयोगी ओषधि है।

पृश्निपर्णी (Uraria lagopoides DC.)

नेपाल, बंगाल, छोटा नागपुर तथा अन्य उष्ण प्रान्तों के जंगली क्षेत्रों में होनेवाली पृश्निपर्णी को चित्रपर्णी भी कहते हैं हिन्दी में यह पीठवन, पीतवन, पठौनी नामों से जानी जाती है। अथर्ववेद में इस ओषधि का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। यह ओषधि मानवमात्र को सुख देने वाली, व्याधियों को सतानेवाली तथा प्रचण्ड रोग-बीजों की नाशक है-

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः।
उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम्॥

-अथर्व० 2.25.1

यही नहीं पृश्निपर्णी के सेवन से रक्ताल्पता दूर होती है, शरीर में रक्त बढ़ता है, शरीर पुष्ट होता है, गर्भ की कृशता दूर होती है और गर्भ सम्यक् बढ़ने लगता है।[65] भावप्रकाश निघण्टु के अनुसार, यह ओषधि त्रिदोष को दूर करनेवाली, बलवर्धक, उष्णवीर्य, मधुर रस युक्त तथा संग्राही है। यह दाह, ज्वर, श्वास, रक्तातिसार, तृषा और वमन रोगों का निवारण करती है।[66] द्रव्य गुण विज्ञान में इसे वातव्याधि, हृदय-रोग, मूत्रकृच्छ्र, रक्तविकार, कास, श्वास, ज्वर एवं दाह में देने का विधान किया गया है। इसका पंचांग और मूल प्रयोग में लाया जाता है। रॉथ के मतानुसार यह वही पौधा है जो कालांतर में 'लक्ष्मणा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिसे बांझपन की ओषधि माना जाता था।[67] केशव ने कौशिक सूत्र में इसे गर्भस्राव से पीड़ित स्त्रियों के लिए बहुमूल्य ओषधि बताया है।[68]

कुष्ठ (Saussurea lappa, C.B. Clarke)

यह भृंगराज कुल का एक पौधा है, जिसका अथर्ववेद में प्रमुख रूप से उल्लेख मिलता है। हिन्दी में इसे कूठ, कूट, कुष्ट कहा जाता है। यह ओषधि पर्वतों पर, विशेष रूप से सोम वाले हिमालय के उच्च शिखरों पर उगती थी, जहाँ पूर्व में मनुष्य धन खर्च करके जाते थे और इस रोगनाशक ओषधि को लाते थे।[69] सोम की भाँति इसके भी तृतीय द्युलोक में प्रसिद्ध अश्वत्थ वृक्ष के नीचे उगने की बात कही गई

है, जहाँ देवगण इसका संग्रह करते थे और वहीं से यह एक स्वर्ण-यान में लायी जाती थी-

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्य बन्धना दिवि
तत्रामृतस्य पुष्यं देवाः कुष्ठमवन्वत॥
हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया।
नावो हिरण्ययीसन्याभिः कुष्ठं निरावहन्॥

-अथर्व० 5.4.4-5

ओषधि के रूप में इसका जड़ी-बूटियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान है तथा यह बलवर्धक ओषधियों में सबसे अधिक बलवर्धक है- **''वीरुधां बलवत्तमः''**[70]। इसे **'नद्यमार'** और **'नद्यारिष'** जैसे शुभ नामों से पुकारा जाता है[71] तथा 'जीवन्त' और 'जीवला' की सन्तान कहा जाता है- **जीवला नाम ते माता जीवन्तो नाम ते पिता**[72]। यह समस्त रोगों की ओषधि है तथा समस्त रोगों को और पीड़ादायी समस्त विषक्रियाओं को नष्ट करती है[73]। यह कुष्ठ ओषधि सिर सम्बन्धी रोगों, तीसरे दिन आने वाले ज्वर, आँखों के रोग, शारीरिक व्याधियों, क्षय रोग आदि को ठीक करती है[74]। जनसामान्य को इसके गुणों की जानकारी होने के कारण इसे 'विश्व-भेषज' भी कहा जाता है।[75] पैप्पलाद संहिता[76] में इसे शूलहर और विषघ्न तथा कौशिक सूत्र[77] में गर्भदृंहण (गर्भ को स्थिर करनेवाला) कहा गया है। केशवपद्धति के अनुसार कुष्ठ चूर्ण को मक्खन में मिला कर लेप करने से शिरोरोग, राजयक्ष्मा, कोढ़ और सर्वांगवेदना में लाभ होता है।[78]

भावप्रकाश निघण्टु के अनुसार कुष्ठ का मद्यसारीय प्रवाही सत्व 1/2-2 ड्राम या चूर्ण दिन में 3-4 बार देने से 'अस्थमा' में बहुत अधिक लाभकारी सिद्ध हुआ है। अजीर्ण, कुपचन, शूल, आध्मान, अतिसार आदि पाचन विकारों में इससे युक्त अग्निमुखचूर्ण लाभदायक है। इसे गुलाब जल में पीसकर हाथ पैरों की सूजन, उदरवृद्धि, शिरः शूल एवं मोच आदि पर लगाते हैं। द्रव्यगुण विज्ञान में इसे वातव्याधि, अपस्मार, चर्मरोगों, रक्तविकारों, मूत्रकृच्छ्र, कुकुरखांसी, प्रजननसंस्थान के रोगों आदि में उपयोगी बताया गया है।

पिप्पली (Piper longum Linn)

'पिप्पली मागधी कृष्णा वैदेही चपला कणा, उपकुल्योषणा शौण्डी कोला स्यात्तीक्ष्णतण्डुला' इन विविध संस्कृत नामों से ज्ञातव्य पिप्पली यानि पीपल को अथर्ववेद में क्षिप्तभेषजी, अतिविद्धभेषजी, वातीकृतभेषजी कहा गया है-

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू ३ तातिविद्धभेषजी।
ता देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम्॥

-अथर्व० 6.109.1

पिप्पली को उन्माद, वात महाव्याधि की ओषधि कहा गया है। यह एक ही ओषधि आरोग्य और दीर्घ जीवन के लिए पर्याप्त है। जो रोगी व्यक्ति इसका सेवन करता है, वह कभी भी रोग के कारण दुःखी नहीं होता यानि मरता नहीं है-

पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननादधि।
यं जीवमश्नवमहै न स रिष्याति पूरुषः॥

-अथर्व० 6.109.2

आयुर्वेद के मानक ग्रन्थों के अनुसार, यह ओषधि ज्वरनाशक एवं वीर्यवर्धक है। शहद

के साथ खाने पर यह मेद-कफ-श्वास-कास-ज्वर नाशक है, बुद्धि एवं पाचन-शक्ति को बढ़ाती है तथा गुड़ के साथ देने पर (दो भाग गुड़ तथा एक भाग पिप्पली चूर्ण) जीर्ण ज्वर एवं अग्निमान्द्य को दूर करती है। यह अजीर्ण, अरुचि, श्वास, हृदय-रोग, पाण्डुरोग तथा कृमि रोग में भी लाभकारी है[79]। चरक संहिता के अनुसार, घी में भुनी और पलाश के क्षार से मिश्रित पिप्पलियाँ शहद एवं घी के साथ मिलाकर प्रातः एवं भोजनोपरांत 3-3 खाने पर बुद्धिवर्धक सिद्ध होती है[80]। द्रव्यगुणविज्ञान में इसे कुष्ठ रोग में लाभकारी बताया गया है। ध्यातव्य है कि गरम होने से पिप्पली को अधिक मात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए। इससे लाभ के बदले हानि सम्भावित है।

रोहिणी/मांसरोहिणी (Soymida febrifuga)

अथर्ववेद में ओषधि प्रयोग द्वारा शल्य-चिकित्सा यानि घावों को भरने, टूटे को जोड़ने आदि के उपचार का वर्णन है। उसके अनुसार घाव को भरने वाली, कटीहड्डी को भी जोड़ देनेवाली अचूक ओषधि रोहिणी है, जिसे हिन्दी में मांसरोहिणी कहते हैं। यह एक ऐसी वनस्पति है, जिससे मांसादि की शीघ्र वृद्धि होती है और जो टूटे हुए शरीर के अवयव को बढ़ाती है[81]। मज्जा से मज्जा, मांस से मांस, चर्म से चर्म, अस्थि से अस्थि इस वनस्पति द्वारा बढ़ते हैं[82]। शरीर को चोट लगी हो, अंग जला हो, अवयव पीसा गया हो तो इस ओषधि के प्रयोग से हर एक अवयव पूर्ववत् हो जाता है-

यत्ते रिष्टं यत्ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि।
धाता यद् भद्रया पुनः संदधत् परुषा परुः॥

-अथर्व० 4.12.2

यदि आरा गिरने या शत्रु का अस्त्र लगने से अथवा पत्थर लगने से व्रण हुआ हो तो वह भी इस वनस्पति से ठीक हो जाता है[83]।

इसे अरुन्धती और भद्रा भी कहा गया है। सायण ने इसका अर्थ लाक्षा दिया है। आयुर्वेद के ग्रन्थों के अनुसार रोहिणी का चूर्ण या क्वाथ के रूप में उपयोग किया जाता है। यह अतिसार, प्रवाहिका, रक्तपित्त, जीर्णज्वर, विषम ज्वर, अस्थिभग्न एवं उरः क्षत आदि में प्रयुक्त होता है। मलेरिया में इसकी छाल का काढ़ा आधी छंटाक की मात्रा में दिन में तीन बार देते हैं[84]। भावप्रकाश निघण्टु में इसकी छाल के क्वाथ से व्रण धोने, वस्ति देने और गरारे करने का उल्लेख है[85]।

वेद में **'दशवृक्ष'** को बात व्याधियों-गृध्रसी, सन्धिवात, अपस्मार आदि की चिकित्सा के लिए लाभकारी बताया गया है,[86] जहाँ दशवृक्ष से तात्पर्य दशमूल यानि दस वनस्पतियों-बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, काश्मरी, पाटला, शालपर्णी, बड़ी कटेली, छोटी कटेली एवं गोखरू-की जड़ से है।

आयुर्वेद में मृदु विरेचन के लिए **त्रिफला** के प्रयोग की संस्तुति की जाती है, जिसमें हरड़, आंवला और बहेड़ा का समभाग में मिश्रण होता है। वेद में इस 'बहेड़ा' के लिए **'अक्ष'** तथा **'विभीदक'** शब्दों का प्रयोग किया गया है[87]। छान्दोग्य उपनिषद् में भी इसे 'अक्ष' कहा है[88]। अथर्ववेद में शरीर की कान्ति बढ़ाने तथा क्षेत्रिय रोग को दूर करने में सहायक **'भगवती'** और **'तारका'** ओषधियों का उल्लेख

मिलता है,[89] हालांकि आयुर्वेद के ग्रन्थों में इनका वर्णन नहीं है। केशों के सर्वविध दोषों को दूर करनेवाली, गंजेपन का निवारण कर पुन: बालों को उगाने में सहायक एवं केशवध 'क ओषधि के रूप में **नितत्नी**[90] और **केशवर्धनी**[91] का विवरण अथर्ववेद में उपलब्ध है।

अथर्ववेद में ही वीर्यवर्धक, बुद्धिवर्धक, सौभाग्यप्रद एवं वशीकरण ओषधि के रूप में **शंखपुष्पी** न्यस्तिका, सुभंगकरणी, सहस्रपर्णी, समुष्पला, बभ्रु, कल्याणी नामें से विद्यमान है।[92]

आवासों एवं भवनों को हरा-भरा रखनेवाली **दूर्वा** या **दूब** मात्र एक घास नहीं है[93], वरन् कफ-पित्तनाशक, रुधिर-विकारों, चर्मरोगों, मूत्र सम्बन्धी रोगों आदि का निवारण करने में भी समर्थ है। वेदों में यत्र-तत्र इसका उल्लेख है[94]। इसे सहस्रकाण्ड भी कहा गया है[95], जिसमें पाप एवं शापदोष दूर करने की क्षमता होती है[96]। परिपक्व दूर्वा को ऋग्वेद में पाकदूर्वा नाम दिया गया है[97], जिसके गुण दूर्वा की भाँति ही होते हैं। जलीय स्थान में होनेवाली दूब को शाण्डदूर्वा कहा गया है[98], जिसे सायण ने बृहद् दूर्वा कहा है।

अथर्ववेद में श्वतेकुष्ठ एवं श्वेतकेश रोग के निवारण के लिए **रामा, कृष्णा** और **असिक्नी** (असिता) ओषधियों को लाभकारी बताया गया है[99], जिन्हें **नीलिनी-नील** ओषधि भी कहा गया है[100]। अथर्ववेद में **चीपुद्रु** नामक एक ओषधि का उल्लेख है, जिसे खांसी, कफक्षय, फोड़े-फुन्सी, त्वचा पर बढ़नेवाले विसर्प रोग, मांस में उत्पन्न होनेवाले दोषों, गिलटियों के बढ़ने में कारणभूत रोग आदि का निवारक माना है[101]।

अप्सर नामक जलचर सूक्ष्म जन्तुओं एवं कृमियों को भगाने तथा उनके प्रभाव को नष्ट करने में **गूगल, नलदी** (जटामांसी), **वृष्यगन्धा, प्रमदिनी** आदि ओषधियों के उपयोग की भी संस्तुति की गई है[102]। इनसे होम करने, इनका स्वरसपान करने, चूर्ण, गोली आदि का सेवन उपयोगी पाया गया है।

पाटा या **पाठा**[103], एवं विभिन्न वृक्षों से प्राप्त लाक्षा[104] ओषधि आघातों व्रणों एवं घावों को अच्छा करने में हितकारी बतायी गई है। यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता और अथर्ववेद में **'अलाबू'** नामक एक ओषधि का उल्लेख है[105], जिसे सर्पविष एवं अन्य सामान्य विष के प्रभाव को नष्ट करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इसे हिन्दी नाम 'लौकी' देते हुए हृदय के लिए बल्य, रक्तपित्त नाशक एवं वातपित्तहर बताया गया है[106]।

मुनिदेव की जड़ से अपची गण्डमाला (जिसमें गले, कक्षा, वंक्षण में न पकनेवाली, रक्तमय लाल या नीले दूषित रुधिरवाली ग्रन्थियाँ-गांठें हो जाती हैं) के उपचार का उल्लेख अथर्ववेद में उपलब्ध होता है[107]। **'वाका'** को भी गण्डमाला की गाँठों को दूर करने वाला बताया गया है[108]। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस 'मुनिदेव' एवं 'वाका' को **'अगस्त्य'** नाम दिया गया है[109]।

इस प्रकार हमने वेदों के ओषधि-भण्डार में से कतिपय प्रभावकारी, विविध रोगोपहारी ओषधियों का एक विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। आज के परिप्रेक्ष्य में इनमें से

कितनी वनस्पतियों की किस रूप में 'पहचान' प्राप्त है, यह आयुर्वेद-विशेषज्ञों के अनुसन्धान का विषय है।

पाद-टिप्पणियां

1. महर्षि दयानन्द, ऋग्वेददादिभाष्यभूमिका, ब्रह्मविद्याविषय:
2. महर्षि दयानन्द, ऋग्वेददादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार:
3. मनुस्मृति 2.7
4. More than this, the Hindus had made considerable advances in astronomy, algebra, arithmatics, botany and medicine, not to mention their superiority in grammer, long before some of these sciences were cultivated by the most nations of Europe - Monior Wiliam, Sanskrit-English Dictionary P-21.
5. सुश्रुत. रा.सू. 1.9.3
6. चरक सू.अ. 30.21
7. ऋच: सामानि भेषजा, यजूंषि। अथर्व0 11.6. 14
8. गोपथ ब्राह्मण 1.3.4
9. ऋग्0 10.18.2, अथर्व0 12.2.30 'मृज्यो: पदं योपयन्त:'
10. द्राघीय आयु: प्रतरं दधाना:। ऋग्0- 10.18.2, अथर्व0 12.2.30
11. शुद्धा: पूता भवत यज्ञियास:। ऋग्0 10.18.2
12. अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्ट:। अथर्व0 19.60. 2
13. यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निखोत्तमहं त्वत्। अथर्व0 9.8.12
14. ऋग्010.97.17.20
15. निरुक्त 9.27
16. शत0 ब्रा0 2.2.4.5
17. ऋग्वेद 10.97.7,8
18. पं0 जयदेव विद्यालंकार, अथर्ववेद भाष्य 11. 4.16 पर टिप्पणी
19. द्रष्टव्य मैक्डोनल ऐण्ड कीथ, 'वैदिक इण्डैक्स ऑफ नेम्स ऐण्ड सब्जैक्ट्स' का रामकुमार राय कृत हिन्दी अनुवाद, भाग-2 : वनस्-पति (वनों का अधिपति) प्रमुखत: वृक्ष।
20. ऋग्0 7.4.5
21. अथर्व0 8.8.14
22. ऋग्0 10.97.15; यजु. 12.89
23. अथर्व0 8.7.27- पुष्पवती प्रसूमती: फलिनीरफला उत।
24. मनु. 1.46-48
25. या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नय:। असिक्नी: कृष्णा ओषधी: सर्वा अच्छावदामसि।। - अथर्व0 8.7.1
26. अथर्व0 8.7.4
27. अथर्व0 8.7.6, 7, 10
28. अथर्व0 8.7.9, 17
29. ककुभोऽर्जुननामाख्यो नदीसर्जश्च कीर्तित:। इन्द्रदुर्वीरवृक्षश्च वीरश्च धवल: स्मृत:। भावप्रकाशनिघण्टु, वटादिवर्ग:, 26
30. अथर्व0 4.37.3
31. अर्जुनानि लोहिततूलान्यभवन्नथ यो ग्रीवाभ्य: प्रवृढाभ्यो रसस्समस्रवत् तान्यार्जुनानि बभ्रुतूलान्यभवन्.....। - यजुर्वेदीय काठक संहिता 34.3
32. अर्जुनस्य त्वचा सिद्धं क्षीरं योज्य हृदामये। सितया पञ्चमूल्या वा बलया मधुकेन वा।। घृतेन दुग्धेन गुडाम्भसा वा पिबन्ति चूर्ण ककुभत्वचो ये। हृद्रोगजीर्णज्वररक्तपित्तं हत्वा भवेयुश्चिरजीवितस्ते।। - च.द.
33. अथर्व0 4.37.4
34. अथर्व0 5.4.3
35. अथर्व0 3.6.6

36. अथर्व0 3.6.1
37. द्रष्टव्य 1. पं. श्रीपाद् दामोदर सातवेलकर, अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, द्वितीय भाग में 6. 11.1 की व्याख्या। 2. जयदेव विद्यालंकार, अथर्ववेद संहिता भाषाभाष्य, भाग 2 उक्त मन्त्र की व्याख्या।
38. ऋग्0 1.135.8 'अत्राह तद्वहेथे मध्व आहुतिं यमश्वत्थमुपतिष्ठन्त जायवोऽस्मे ते सन्तु जायव:।'
39. ऋग्0 तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्ति। ऋग्0 1.164.22 तस्येदाहु: पिप्पलं स्वाद्वग्रे।
40. ऐतरेय ब्राह्मण 7.33.8.16
41. द्रष्टव्य: द्रव्यगुण विज्ञान, आचार्य प्रियव्रत शर्मा तथा भावप्रकाश निघण्टु:।
42. अभि व्ययस्व खदिरस्य सारमोजो धेहि स्पन्दने शिंशपायाम्।। 3.53.19
43. अथव0 3.6.1
44. अथर्व0 8.8.3
45. भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात्। भद्रान्नयग्रोधात्पर्णात्सा न एह्यरुन्धति।। अथर्व0 5.5.5
46 अथर्व0 10.6.7
47. महर्षि दयानन्द सरस्वती, संस्कारविधि:, सामान्यप्रकरणम् 'अथ पात्रलक्षणानि उच्यन्ते'।
48. पैप्पलाद 2.58.1-6, 16.42.6-8
49. अथर्व. 20.136.15
50. तैत्ति0 संहिता 5.1.10.1
51. नि.र.
52. र.मा. वैद्यकशब्दसिन्धु:
53. चित्रकोऽनलनामा-भावप्रकाश निघण्टु: चित्रकोऽग्नि: राज निघण्टु
54. अथर्व0 20.96.13
55. बौधायन श्रौतसूत्र 14.18
56. भावप्रकाश निघण्टु, वटादिवर्ग:, पृ0 516-517; द्रव्यगुणविज्ञान, पृष्ठ 516
57. अथर्व0 4.19.3
58. अथर्व0 4.11.5
59. यददो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वन्। ततस्त्वध्योषधेऽपामार्गो अजायथा:।। अथर्व0 4. 11.4
60. अथर्व0 4.17.6 एवं 4.17.8
61. अथर्व0 4.17.5
62. अपाघमय किल्विषमप कृत्यामपो रप:। अपामार्ग त्वमस्मदप दु:स्वप्न्यं सुव।। यजु0 35. 11
63. प्रत्यक् पुष्पी शिरोविरेचनानाम्। सू0 अ0 25
64. शिफां वर्हिशिखायास्तु क्षीरेण परिपेषिताम्। पिबेद् ऋतुमती नारी गर्भधारणहेतवे।। शोढल, पृष्ठ 613
65. अथर्व0 1.25.2-5
66. पृश्निपर्णी त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुराऽसरा। हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातीसारतृड्वमी:।। - भाव0 नि0, गुडुच्यादि वर्ग 35
67. मैक्डोनल एवं कीथ, वैदिक इंडैक्स नेम्स ऐण्ड सब्जैक्ट्स, (हिन्दी अनुवाद), भाग 2 पृष्ठ 21
68. कौशिक सूत्र 26.36
69. अथर्व0 5.4. 1-2
70. अथर्व0 5.4.1
71. ''त्रीणि ते कुष्ठ नामानि नघमारो नघारिष:''। -अथर्व0 19.39.2
72. अथर्व॰ 19.39.3
73. स कुष्ठो विश्वभेषज:........तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्य:।।-अथर्व0 19.39.5
74. अथर्व0 5.4.7,9,10
75. अथर्व0 19.39.9
76. पैप्पलाद संहिता 1.31.1-4
77. कौशिक सूत्र 35.21, 38.9
78. केशवपद्धति 28.13
79. भावप्रकाश निघण्टु:, हरितक्यादिवर्ग, 57,58
80. तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्ने भुक्त्वाग्रे भोजनस्य च। पिप्पल्य: किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिता:। प्रयोज्या मधुसर्पिर्भ्यां रसायनगुणैषिणा।। चरक चि0 1

81. रोहण्यसि रोहण्यस्थनश्छिन्नस्य रोहणी। रोहयेदमरुन्धति।। अथर्व0 4.12.1
82. अथर्व0 4.12.3-5
83. अथर्व0 4.12.6
84. द्रव्यगुण विज्ञान, व्रणरोपण प्रकरण पृष्ठ 646
85. भावप्रकाश निघण्टुः, गुडूच्यादिवर्ग
86. अथर्व0 2.9.1-2
87. 'अक्षैर्बध्यासम्'- अथर्व0 7.50.1, 'अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त' अथर्व0 7.50.9, 'विभीदको अचित्तिः' ऋग्0 7.86.6, 'सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्' -ऋग्0 10.34.1
88. द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वा ऽ क्षौ मुष्टिरनुभवति-छान्दोग्य 7.3.1
89. उद्गातां भगवती विचृतौ नाम तारके। वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम्।। -अथर्व0 2.8.1
90. अथर्व0 6.136.1-3
91. यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम्। -अथर्व0 6.137.1
    उतस्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः।। अथर्व0 6.21.3
92. अथर्व0 6.139.1-5
93. आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः। -अथर्व0 6.106.1
94. दूर्वाया इव तन्तवो व्यस्मदेतु दुर्मतिः। -ऋग्0 10.134.5
95. तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः। -ऋग्0 2.7.3
96. अथर्व0 2.7.1
97. कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा। -ऋग्0 10.16.13.
98. अथर्व0 18.3.6
99. नक्तञ्जातस्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च। इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्।। किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृशत्। आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय।। - अथर्व0 1.23.1-2
    ख0 अथर्व0 6.7.1
100. स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र, पृष्ठ 18-22
101. अथर्व0 6.127.1-3
102. अथर्व0 4.37.3
103. अथर्व० 2.27.4-7
104. अथर्व० 5.5.1
105. सर्पा अदुह्न-अलाबुना विषम्। मैत्रायणी सं0 4. 2.13 आसीत् अलाबुपात्रं पात्रम्। अथर्व0 8.10 (5).14
106. भावप्रकाश निघण्टुः, शाकवर्ग, 39 तथा द्रव्यगुण विज्ञान, मेध्य, 13
107. अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम। मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम्।। -अथर्व0 7.74(78).1
108. पञ्चः च या पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि। इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव।। -अथर्व0 6.25.1
109. अथागस्त्यो वङ्गसेनो मुनिपुष्पो मुनिपुष्पो मुनिद्रुमः। -भा0प्रा0 नि0, पुष्पवर्ग, 60 अगस्त्यः शीघ्रपुष्पः स्यादगस्तिस्तु मुनिद्रुमः व्रणारि। -राजनिघण्टु वकः- अगस्ति वृक्षे। वैद्यक शब्द सिन्धुः।

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1, No.1 (157-163) July-Dec. 2011

वेदों में पुरुषार्थ-विचार

प्रो० राजेश्वर मिश्र
संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरयाणा) भारत

'पुरुषार्थ' शब्द पुरुष और अर्थ (पुरुष+अर्थ) दो शब्दों से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है-'**पुरुषस्य अर्थः, प्रयोजनम् वा**'' अर्थात् श्रेष्ठ या परम प्रयोजन की सिद्धि के लिए मनुष्य द्वारा ज्ञानपूर्वक किया गया प्रयत्न या साधना। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर, मन तथा इन्द्रियों की एकाग्रता (योग और तपयुक्त होकर) से देश, काल, पात्रानुसार अभ्युदय, श्रेयस् और सिद्धि को ध्यान में रखकर विवेकपूर्वक जो कार्य किया जाय, वही पुरुषार्थ कहलाता है। यद्यपि पुराणादि ग्रन्थों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पुरुषार्थ कहा गया है[1] तथा सांख्यसूत्र में तीन प्रकार के दुःखों[2] की आत्यन्तिक (पूर्णतः) निवृत्ति को पुरुष का पुरुषार्थ माना गया है[3], परन्तु वैदिक ऋषियों का पुरुषार्थपरक चिन्तन इससे सर्वथा भिन्न, जो लौकिक जीवन से कातर होकर मुक्ति पाने के लिए नहीं, प्रत्युत इस जीवन को समृद्ध एवं सुखमय बनाने के लिए किया जाता था, जिसमें भौतिकता के साथ-साथ आध्यात्मिकता भी थी। वेदों में संकेतित उसी पुरुषार्थ का विवेचन ही प्रस्तुत शोध-पत्र का प्रतिपाद्य है।

पुरुषार्थ मनुष्य-जीवन के सर्वाङ्गीण विकास की आधारभित्ति है। इसी के माध्यम से वह अपना जीवन जीता है और मनोयोगपूर्वक विभिन्न कर्त्तव्यों का पालन करता है। सम्भवतः इसी लिए प्राचीन भारतीय ऋषियों-मनीषियों ने मानव जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक दृष्टि से उन्नत बनाने के लिए चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और सन्यास) की व्यवस्था की थी। उस आश्रम-व्यवस्था की सफलता 'पुरुषार्थ' पर ही निर्भर थी। वैदिक कालीन जनों का भौतिक सुख आध्यात्मिक सुख से समन्वित होता था, जिसमें संयम, नियम, आदर्श और आध्यात्मिक विचारों को सर्वोत्कृष्ट माना जाता था, क्योंकि संयमित जीवन एवम् आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ मनुष्य को सात्विक और निःस्वार्थ जीवन के लिए प्रेरित करती हैं और उसे एक ऐसे वास्तविक आदर्श-जीवन की ओर उन्मुख करती हैं, जिसमें सांसारिकता के साथ-साथ आध्यात्मिकता भी हो, भोग के साथ-साथ योग भी हो तथा कामना के साथ-साथ साधना भी हो। इन दोनों प्रवृत्तियों के सम्मिलित और समन्वित स्वरूप वाले वैदिक जीवन दर्शन को 'पुरुषार्थ' कहा जा सकता है। इस पुरुषार्थ से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास तो होता ही है, साथ समुन्नत समाज का भी निर्माण होता है। इसके अन्तर्गत मनुष्य विवेकपूर्ण लौकिक उपभोग के साथ धर्म का अनुसरण करता हुआ ईश्वरोन्मुख होकर मानव जीवन के लक्ष्य का मार्ग प्रशस्त करता है, क्योंकि पुरुषार्थ से ही मनुष्य बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक, भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष करता है तथा लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवन के लिए क्रमशः उत्साहित एवम् उत्कण्ठित

रहता है। पुरुषार्थ ही लोक एवं परलोक दोनों के निमित्त किये जाने वाले कर्म में आस्था उत्पन्न करता है और दोनों में सामंजस्य स्थापित करने में सेतु का काम करता है। भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि के मध्य का संतुलित दृष्टिकोण ही पुरुषार्थ का वास्तविक स्वरूप है। वैदिक ऋषि भली भाँति इस तथ्य से परिचित थे, तभी उन्होंने जीवन के उस अन्तिम सत्य को उद्घाटित किया है जिसे समझकर तदनुसार दोनों (सांसारिक और आध्यात्मिक) मार्गों पर चलता हुआ मनुष्य अपने जीवन का वास्तविक सुख प्राप्त कर सकता है और अन्ततः जीवन का परम लक्ष्य भी प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है[4]। कालान्तर में महर्षि मनु भी प्रकाशन्तर से वैदिक ऋषियों के इसी मन्तव्य का समर्थन करते प्रतीत होते हैं,[5] क्योंकि जीवन का यथार्थ सत्य यही है।

वस्तुतस्तु पुरुषार्थ का सम्बन्ध कर्म से जुड़ा हुआ है और कर्म का स्वरूप कर्त्ता की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है, जैसा कि बृहदारण्यक के ऋषि का मत है कि जो जैसा कर्म करने वाला होता है, जैसा आचरण करने वाला होता है, वैसा ही हो जाता है।[6] कार्य करने की दो प्रवृत्तियाँ होती हैं- प्रतिभा मूलक या प्रज्ञामूलक (Intuitionistic) और तर्कमूलक (Rationalistic)। वैदिक ऋषि दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों से कर्म किया करते थे।[7] उनके दोनों प्रवृत्तियों की सम्मिलित शक्तियों से चिन्तन करने का परिणाम ही उपनिषदों का अस्तित्व है, जिनमें तत्त्वज्ञान का विवेचन है। उनकी ऐसी मान्यता थी कि जो कर्म विद्या (ज्ञान), श्रद्धा और उपनिषद् (मनोयोग से युक्त होकर)[8] से युक्त होकर किया जाता है, वह अधिक वीर्यवान् अर्थात् अधिक फल प्रदान करने वाला अथवा शक्तिसम्पन्न होता है।[9] इसका तात्पर्य यह है कि उनके अनुसार स्थिरभाव से मनोयोग पूर्वक कर्म को सम्पादित करना ही पुरुषार्थ का आरम्भ है, क्योंकि वे वर्तमान को उत्साहपूर्ण और भविष्य को आशापूर्ण दृष्टि से देखते थे। तभी तो वे कार्य को कल के लिए नहीं छोड़ते थे[10], प्रत्युत **"सत्या मनसो मे अस्तु"** (ऋ० 10.128.4), **"अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या"** (यजु० 2.10) तथा **"तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु"** (यजु० 34.1-6) आदि वचनों में अन्तर्निहित भावना से वे कर्म में प्रवृत्त होते थे, क्योंकि उनका पूर्ण विश्वास था कि शिवसंकल्पयुक्त मन में असीम शक्ति होती है।[11] वे कर्म में उत्तरोतर वृद्धि की भावना रखते थे, तभी सदैव प्रसन्न रहते हुए उदीयमान सूर्य के दर्शन की कामना करते थे[12] तथा कार्य में सर्वत्र सफलता की अभिलाषा रखते थे।[13] वे कर्म (पुरुषार्थ) में विश्वास रखते थे, इसीलिए वे कर्म में प्रवृत्त रहते हुए सौ वर्ष तक जीवन धारण करने की कामना करते थे।[14] इन वैदिक वचनों से स्पष्टतया यह संकेत प्राप्त होता है कि वैदिक ऋषि कर्मयोगी थे, पुरुषार्थी थे और मनोनिग्रहपूर्वक पुरुषार्थ में लगे रहते थे, क्योंकि वे जानते थे कि मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है[15], जिसका संकेत कालान्तर में ऋषि वेदव्यास भी गीता में करते है।[16]

अनेक वैदिक ऋचाओं से ऐसा संकेत प्राप्त होता है कि वैदिक जनों का सांसारिक जीचन कथमपि निराशावादी नहीं था। आशा से

भरा हुआ उनका उत्साह उन्हें सदैव पुरुषार्थ के लिए उद्यत बनाये रखता था। उनका 'चरैवेति' का श्रमोद्घोष अद्वितीय ही नहीं, प्रत्युत आज भी पुरुषार्थ हेतु प्रेरणादायक मन्त्र माना जाता है।[17] तत्कालीन ऋषियों ने अपने पुरुषार्थ के बल पर ही अत्यल्प साधनों के साथ पृथ्वी को कृषि योग्य बनाया, जंगलों को साफ किया, व्रजों की स्थापना की, झाड़-झंखाड़ें से बीहड़ भूमि को समतल कर अन्नोत्पादन के लिए तैयार किया, घर, गाँव आदि से धरती को आबाद किया तथा भूमि के अन्दर छिपे हुए रत्नों को बाहर निकाला।[18] वैदिक ऋषियों को यह ज्ञात था कि निराशा, व्याग्रता, गहरी उदासीनता निश्चय ही स्फूर्ति का विनाश कर देती है, परन्तु इसके विपरीत आशापूर्ण, उल्लोसपूर्ण जीवन अत्यन्त उत्कर्षाधायक होता है; अत: वे सदैव देवों से आनन्द, मोद, प्रमोद, और प्रसन्नता की मन: स्थिति में रहने की कामना करते थे।[19] उत्साह एवम् आनन्द से परिपूर्ण कर्ममय वैदिक जीवन की जैसी झलक वैदिक वाङ्मय में दृष्टिगोचर होती है, उसका मूलाधार या मूल कारण उनका उदात्त उत्साहपूर्ण चिन्तन है, जिसमें वे स्वयं को सम्पूर्ण भुवन को पराभूत करने वाला तथा सूर्य के समान नित्य ज्योति स्वरूप वाला मानते हैं।[20] उनके इस उदात्त संकल्प में उनके पुरुषार्थ का भी अनुमान स्वत: हो जाता है। यही नहीं, वैदिक जनों का आत्मविश्वास भी उनके कर्म की पूर्णता और उनके पुरुषार्थ का परिचायक है। ऋषि अथर्वा का यह वचन कि ''मैं स्वभाव से विजयशील हूँ, पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट स्थान है, विरोधी शक्तियों को दबाकर प्रत्येक दिशा में सफलता पाने वाला हूँ''[21] तथा कृषि ऋषभ वैराज का यह कथन कि ''मैं शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला हूँ, इन्द्र के समान मुझे मारने वाला अथवा कष्ट देने वाला कोई नहीं है, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे सभी बैरी मेरे पैरों तले पड़े हुए हैं''[22] तत्कालीन ऋषियों के आत्मविश्वास को ही प्रकट करते हैं। दीर्घकाल तक कर्म करने के लिए सौ वर्ष से भी लम्बी आयु और स्वस्थ सबल शरीर के लिए देवों से उनकी याचना में भी प्रकारान्तर से उनके पुरुषार्थ की भावना ही प्रतिध्वनित होती है।

एवमेव वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं, जिनसे आर्यों के पुरुषार्थ का रूप भी स्पष्टत: जाना जा सकता है। वे त्रिविध दु:ख से कातर होकर जीवन से पलायन करने में विश्वास नहीं रखते थे, प्रत्युत दिव्य पुरुषार्थ के बल से जीवन को सर्वथा समृद्ध बनाने के लिए साठ हजार घोड़ों, दस हजार ऊँटों, तीन हजार भेड़ों, एक हजार गर्दभियों और दस हजार गायों की कामना करते थे।[23] इसका तात्पर्य है कि वे जीवन को सुखमय बनाने के लिए अधिकाधिक आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने हेतु प्रयत्न करते थे। वैदिक ऋषियों का पुरुषार्थ व्यक्तिपरक न होकर समष्टि परक होता था। उनकी यह अवधारणा थी कि समष्टिगत जीवन का विकास हो जाने पर व्यक्ति का उत्कर्ष हो जाता है और तब उसका पुरुषार्थ भी समुज्ज्वल हो जाता है। ऐसी अवस्था में जीवन की सिद्धियों से ही वह आध्यात्मिक मुक्ति की शक्ति अर्जित करता है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में इस उन्नत पुरुषार्थ

के संकेत प्राप्त होते हैं। गायों के लिए विशाल व्रज (बाड़े) बनवाने, मोटे-मोटे चमड़े की वर्म (कवच) सिलवाने, लोहे के जैसे सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण करवाने हेतु राजा को प्रदत्त ऋषियों के उपदेश में उसी पुरुषार्थ के दर्शन होते हैं।[24] इसी प्रकार **'संग्रामाशिषः'** सूक्त में अभिव्यक्त कवच की महिमा[25], तथा धनुष द्वारा गाय, युद्ध, तीव्र सेनाओं, शत्रुओं, सभी दिशाओं आदि के जीतने की कामना में[26] और संग्राम सम्बन्धी अन्य अस्त्र-शस्त्रादि उपकरणों के दैवीकरण के प्रसंग में व्यक्त विचारों[27] में भी उन्नत पुरुषार्थ द्रष्टव्य है। यही नहीं, देव-सुख के लिए ऋषियों द्वारा खेती हेतु हल जोड़ने, जुआ तानने आदि कर्मों[28] में उनकी प्रवृति उनके पुरुषार्थ को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। कवष ऐलूष ऋषिदृष्ट **'अक्षसूक्त'** के द्वारा कितव को जुआ न खेलने तथा कृषिकर्म द्वारा स्वाभिमानपूर्वक एवं सम्मान पूर्वक जीवन यापन हेतु किये गये उपदेश में[29] भी ऋषियों का पुरुषार्थ ध्वनित होता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सूक्तों एवं मन्त्रों में भी स्पष्टतः पुरुषार्थ की भावना परिलक्षित होती है, जिनसे यह ज्ञात होता है कि वैदिक जन लौकिक जीवन से भागते नहीं थे, बल्कि उसे सुखद एवं समृद्ध बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।[30]

एवमेव अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में भी स्फुटतया पुरुषार्थ करने का उपदेश एवम् उससे होने वाले लाभ-हानि का भी संकेत प्राप्त होता है। ऋषि अंगिरादृष्ट **विजयसूक्त** के एक मन्त्र में तो स्पष्टतः यह भावना व्यक्त की गयी है कि पुरुषार्थ मेरे दाहिने हाथ में है और विजय श्री बाएँ हाथ में तथा इसी पुरुषार्थ से मैं गाय, अश्व, धन और सुवर्ण आदि सांसारिक भोगों को प्राप्त करूँ।[31] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में पशुपालन रूप पुरुषार्थ द्वारा एवम् अपनी शारीरिक और बौद्धिक शक्ति द्वारा दरिद्रता को दूर करने तथा राज सम्मान प्राप्त करने की कामना की गयी है।[32] ऋषि भृगु के अनेक मन्त्रों में पुरुषार्थ की ओर संकेत किया गया है। वे दम्पती को कार्यारम्भ करने तथा उसमें सदैव लगे रहने का उपदेश करते हैं, क्योंकि उनकी दृढ़ मान्यता है कि इसमें (कर्म में) श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति ही सांसारिक सुख भोगता है।[33] उनका यह भी दृढ़ विश्वास है कि यह संसार पत्थरों से भरी नदी है, इसे प्रयत्नपूर्वक एवं शुभ और सुखद पुरुषार्थ से ही पार किया जा सकता है।[34] ऋषि अथर्वा के मत में तो जीवन पुरुषार्थ, दक्षता और सुखपूर्वक जीने के लिए होता है।[35] ऋषि मेधातिथि का ऐसा विश्वास है कि देवता पुरुषार्थी को ही चाहते हैं और आलस्य हीन (कर्मठ) व्यक्ति ही आनन्द प्राप्त करते हैं।[36] ऋषि कृष्ण पुरुषार्थ से अभीष्ट वस्तु प्राप्त करने का उपदेश करते हैं।[37] ऋषि वसिष्ठ का मन्तव्य है कि पौरुष प्राप्ति के लिए हम सब इन्द्र के पौरुष की स्तुति करते हैं।[38] ऋषि सव्य तो ऐसा संकेत करते हैं कि सोते हुए अर्थात् अकर्मण्य का धनादि दूसरों को मिल जाता है।[39] तथा ऋषि सुकक्ष यह उपदेश करते हैं कि आलसी होकर न रहो अर्थात् पुरुषार्थ करो,[40] परन्तु ऋषि सुकीर्ति अथर्ववेद में स्फुट रूप से श्रेष्ठ पराक्रम (पुरुषार्थ) वाले होने के लिए इन्द्र से प्रार्थना करते हैं।[41] इस प्रकार

अथर्ववेदीय उपर्युक्त ऋषियों के वचनों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पुरुषार्थ का ही संकेत प्राप्त होता है। वेदों में ऐसे अनेक मन्त्रांश हैं जिनमें पुरुषार्थ के बल पर भौतिक जगत् को सुखमय बनाने की कामना की गयी है।

वैदिक ऋषियों में सत्य के प्रति गहरी और तीव्र आस्था थी। उन्होंने उस तत्त्व को जान लिया था, जिसको जान लेने के बाद कुछ भी जानने योग्य अवशिष्ट नहीं रहता। वे शोक, मोह से ऊपर उठकर[42] समस्त भूतों में एकात्मदर्शन द्वारा स्वयं को आत्मस्थित जानकर अनासक्त बुद्धि से संसार के कर्मों का निर्वाह करते थे; अत: वे 'मुक्त' जैसे ही थी। उन्हें पुरुषार्थ द्वारा त्रिविध तापों से, छुटकारा पाकर निर्वाण प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं थी। इसीलिए उनका पुरुषार्थ निष्ठा से जागतिक कार्यों के सम्पादन में था, क्योंकि वे यह समझते थे कि पुरुषार्थ की पुरुषार्थता इसी में है कि संसार के जंजाल से हम मुक्त हों, सभी प्रकार के दु:खों से दूर रहें। यह तभी सम्भव हो सकता है जब सांसारिक कर्त्तव्यों का निष्ठा से पालन किया जाय। एतदर्थ वैदिक ऋषियों ने 'ऋत'[43] और 'सत्य'[44] को श्रद्धा पूर्वक एवं पूर्णनिष्ठा से अपनाया था। ऋत अर्थात् प्राकृतिक नियम और सत्य अर्थात् जीवन की वास्तविकता जो स्वयं व्यक्ति है। इसी तथ्य को जानने अथवा प्राप्त करने में ही वे अपने जीवन की सार्थकता मानते थे। ऋषियों के चिन्तन से ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक सिद्धियों की प्राप्ति के लिए तथा आध्यात्मिक मुक्ति के लिए अथवा आत्मोपलब्धि के लिए वे ऋत और सत्य को श्रद्धापूर्वक जीवन के प्रत्येक स्पन्दन में प्रतिष्ठित करना ही पुरुषार्थ मानते थे तथा निष्ठा और श्रध्द्धा से स्वयं को उन दोनों तत्त्वों में समर्पित करने को परम पुरुषार्थ समझते थे। अत: वैदिक ऋषियों का पुरुषार्थ सर्वथा विलक्षण एवं जीवन की सार्थकता से प्रत्यक्षत: सम्बद्ध था। वैदिक ऋषियों के गौरवपूर्ण पुरुषार्थ का पूर्ण चित्र हम गीता के उस श्लोक में देख सकते हैं, जिसमें मोहग्रस्त एवं जीवन से पलायन करने के लिए उद्यत अर्जुन को श्रीकृष्ण उसके क्षात्रधर्म के पालन हेतु युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं।[45] वस्तुत: वैदिक जनों का पुरुषार्थ कुछ ऐसा ही था।

इस प्रकार वैदिक ऋषियों द्वारा उपदिष्ट या संकेतित पुरुषार्थ सम्बन्धी उपर्युक्त वचनों के परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषियों का चिन्तन समृद्ध भौतिक जीवन की पूर्णता में ही आध्यात्मिकता के प्रशस्त मार्ग का अन्वेष्ण करता था। उनका दृढ़ विश्वा सथा कि नियम और संयमपूर्वक पूर्ण निष्ठा से सम्पादित पुरुषार्थों की व्यापकता और महत्ता लौकिक और पारलौकिक जीवन के अन्तर को भर सकती है, क्योंकि कर्त्तव्यों का सुगमतपूर्वक सम्पादन और परमात्मा के प्रति सच्ची भक्ति भावना का प्रदर्शन पुरुषार्थ के माध्यम से ही सम्भव है, जैसा कि गीता भी संकेत करती है।[46] अत: वैदिक ऋषियों का पुरुषार्थ त्रिविध (**आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक**) दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति हेतु नहीं था, प्रत्युत भौतिक समृद्धि को प्राप्त करने के लिए था, जिससे आध्यात्मिक सिद्धि का मार्ग स्वत: प्रशस्त हो ही जाता है।

पाद-टिप्पणियां

1. मनु०, 7.100; धर्मार्थकाममोक्षाश्च पुरुषार्था उदाहृता: (अग्निपुराण)
2. महाभारत, 3.179.27
3. सांख्य-सूत्र, 1.1 : अथ त्रिविध दु:खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थ:।
4. यजु०, 40.14 : विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
   अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।
5. मनु०, 6.96 : एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृह:।
   संन्यासेनापहत्यैन: प्राप्नोति परमां गतिम्।।
6. बृहदारण्यक, 4.4.5 : यथाकारी यथाचारी तथा भवति....।
7. ऋ०, 10.12.2 ; 10.191.2-4 आदि मन्त्र।
8. छान्दोग्योप०, 1.1.10 पर शांकरभाष्य "श्रद्धधानश्च सन्नुपनिषदा योगेन युक्तश्चेत्यर्थ: ...।
9. तदेव, 1.1.10 : यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदैव वीर्यतरं भवति।
10. शत०ब्रा०, 2.1.3.9: न श्व: श्वमुपासीत को हि मनुष्यस्य श्वोवेद। तथा द्रष्टव्य तदेव, 2.3.1.25, 26, 28 भी।
11. यजु०, 34.1-6 मन्त्र।
12. ऋ०, 6.52.5 : विश्वदानीं सुमनस: स्याम, पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्।
13. वही, 10.128.1 : मह्यं नमन्ताप्रदिशश्चतस्र:।
14. यजु०, 40.2 : कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:।
15. वही, 40.2 : एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।
16. गीता, 3.7-8 : यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन:। ......।
    शरीरयात्रापि च तेन प्रसिद्ध्येदकर्मण:।।
17. ऐत० ब्रा०, 33.3 : चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
    सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति।।
18. द्रष्टव्य यजु०, 18.13, 15 आदि मन्त्र एवम् अथर्व०, 8.10 (4).12 आदि मन्त्र।
19. ऋ०, 9.113.11 : यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद: प्रमुद आसते।
    कामस्य यत्राप्ता: कामास्तत्र माममृतं कृधि।।
20. तैत्ति० उप०, 3.10.6 : अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्न ज्योति:।
    य: एवं वेदा इत्युपनिषत्।
21. अथर्व०, 12.1.54 : अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
    अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहि:।।
22. ऋ०, 10.166.2 : अहमस्मि सपत्नहेन्द्र इवारिष्टो अक्षत:।
    अध: सपत्ना मे पदोरिमे सर्वे अभिष्ठिता:।।
23. ऋ०, 8.46.22 : षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं शता।
    दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां दश गवां सहस्रा।।
24. वही, 10.101.8 : वव्रं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि।
    पुर: कृणुध्वमायसीरधृष्टामा व: सुस्रच्चमसो दृंहता तम्।।
25. वही, 6.75.1; यजु० 29.38 : जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद् वर्मी याति समदामुपस्थो।
    अनाविद्धया तन्वा जय त्वं स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु।।
26. वही, 6.75.2; यजु० 29.39 : धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्रा: समदो जयेम्।
    धनु: शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वा: प्रदिशो जयेम।।
27. वही, 6.75 (सम्पूर्ण सूक्त)।
28. वही, 10.101.3-5 : युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
    सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्।

धीरा देवेषु सुम्नया निराहावान् कृणोतन सं वरत्रा दधातन।। इत्यादि।

29. ऋ०, 10.34.13 : अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।।
30. ऋ०, 4.47 ; 5.45.6; 10.108.1; 10.155. 1; यजु०, 34.38; अथर्व०, 3.15.6; 3.17 (सम्पूर्ण सूक्त) आदि द्रष्टव्य हैं।
31. अथर्व०, 7.50.8: कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित्।।
32. वही, 7.50.7: गोभिष्टरेमाममतिं दुरेवा यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे। वयं राजसु प्रथमा ध नान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम्।।
33. वही, 6.122.3: अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्धधाना: सचन्ते।
34. वही, 12.2.26: अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः। तदैव, 12.2.27 : उत् तिष्ठता प्रतरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्। अत्रा जहीत ये आसन्नशिवा: शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान्।।
35. अथर्व०, 18.2.23: उदह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
36. वही, 20.18.3 : इच्छन्ति देवा: सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्रा:।।
37. वही, 20.94.4 : ओजः कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा ....।
38. वही, 20.73.6 : तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः।
39. वही, 20.21.1: नू चिद्धि रत्नं ससतामिवाविदन्न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते।
40. वही, 20.60.3: मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते ......।
41. वही, 20.125.6 : बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सूवीर्यस्य पतयः स्याम।
42. यजु०, 40.7: यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।
43. ऋ०, 4.23.8 : ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति। तदैव, 4. 23.8 : आदि मन्त्र; ऋ०, 10.85.1 : ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति .....।
44. वही, 10.37.2 : सा मा सत्योक्तिः परिपु विश्वतः। वही, 10.85.1 : सत्येनोत्तभिताभूमिः; वही, 9.113.4 : सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन्। वही, 9.113.5 : सत्यमुग्रस्य बृहतः इत्यादि।
45. गीता, 2.37 : हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।
46. वही, 18.46: यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (165-168) July-Dec. 2011

ऋग्वेद में सौन्दर्य-बोध

डॉ० निरुपमा त्रिपाठी

असि. प्रो., संस्कृत विभाग, कानपुर विद्यामन्दिर महिला (पी.जी.) महाविद्यालय स्वरूपनगर, कानपुर (उत्तर प्रदेश) भारत

'सौन्दर्य' विषयक चिन्तन की आधुनिक विचारधारा में यह मान्यता है कि भारतीय वाङ्मय के लिए यह शास्त्र नया है। वस्तुतः 'सौन्दर्य' ही इस शास्त्र का लक्ष्य है। और यह एक ऐसा भाव है जिसके प्रीति और आह्लाद अनिवार्य लक्षण हैं। **अमरकोश** में 'सुन्दर' के निम्नलिखित पर्याय बताए गये हैं -

सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम्।
कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मंजु मंजुलम्।।
अभिष्टेऽभीप्सितं हृदयं दयितं बल्लभं प्रियम्।[1]

यह 'सौन्दर्य' हमारे वाङ्मय के लिए नया है ऐसा कथमपि नहीं कहा जा सकता। यद्यपि पृथक् शास्त्र के रूप में सौन्दर्य की विवेचना नहीं की गई है तथापि विचार और तर्क से परे अनुभूति के स्तर पर सौन्दर्य के विविध पक्ष उद्घाटित हुए हैं। लौकिक संस्कृत काव्य एवं शास्त्र में ही नहीं वैदिक ऋचाओं में भी प्राकृतिक वैभव एवं जीवन के आनन्दपूर्ण भावों के रूप में सौन्दर्य की व्याख्या की गई है।

वैदिक वाङ्मय, विशेष रूप से ऋग्वेद में यद्यपि सुन्दर या सौन्दर्य का शब्दतः प्रयोग नहीं मिलता किन्तु उसके विविध पर्यायों का पुष्कल प्रयोग प्राप्त होता है। जैसे - रूप, दर्शत, दश्यो, रण्वः, राम्या, शोभते, शोभमान, श्री, चारु, चित्र आदि अनेक शब्द हैं जो ऋग्वेद के कवि की सौन्दर्याभिव्यक्ति के सूचक हैं। ये शब्द सौन्दर्य के विविध भावों को प्रकट करते हैं। इन भावों से युक्त ऋचाएँ कवि के सौन्दर्य सम्बन्धी सम्यक् चिन्तन का भी सङ्केत देती हैं।

सौन्दर्य का एक पक्ष रूपात्मक है। रचना अथवा निर्मितिजन्य सौन्दर्य इसी के अन्तर्गत आते हैं। 'रूप' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में प्राप्त होता है। भारतीय दर्शन में चक्षुग्राह्य गुण को रूप की संज्ञा प्रदान की गई है।[2] ऋग्वेद के मन्त्रों में मिलने वाले 'रूप' शब्द के प्रयोग से यही ज्ञात होता है कि वहाँ भी यह शब्द इन्द्रियग्राह्य आनन्द के लिए ही अधिकांशतः प्रयुक्त है। जैसे -

त्वष्टा रूपाणि हि प्रभुः पशून्विश्वान् त्समानजे।[3]

यहाँ त्वष्टा का रूप प्रदान करने के कारण स्मरण किया गया है जो पशुओं का भी रूप व्यक्त करते हैं। वस्तुतः त्वष्टा देव शिल्पी हैं जो अपनी सुन्दर निर्मितियों से जीवन को आनन्दपूर्ण बनातें हैं। अव्यक्त रूप को व्यक्त करना ही शिल्प-कौशल है। सम्भवतः इसी गुण के कारण त्वष्टा का यहाँ स्मरण किया गया है। रूपों की रचना करने का सामर्थ्य वाला देव त्वष्टा है। उसी ने पृथ्वी एवं आकाश को रूपों से सुशोभित किया है - रूपैरपिंशत्।[4] यहाँ अपिंशत् का अर्थ सायण ने 'रूपवत्यौ अकरोत्' किया है।[5] इससे सौन्दर्य-सृष्टि की आवश्यकता एवं उसका महत्त्व प्रकाशित होता है।

प्रीत्यात्मक सौन्दर्य के लिए रूप का प्रकट होना आवश्यक है। इसी आवश्यकता के

कारण सूर्य अपना तेजस्वी रूप धारण करता है - **त्वेषं रूपं कृणुत उत्तरम्।**[6]
मित्र एवं वरुण उसे देख सकें इसलिए सूर्यदेव आकाश में अपना ज्योतिर्मय रूप प्रकाशित करते हैं - **तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुत द्योरुपस्थे।**[7]

रूप का प्रकट होना ही पर्याप्त नहीं है उसका दर्शनीय होना भी अपेक्षित है। इस भाव को दृष्टि में रखकर ही ऋग्वेद के मन्त्रों में दर्शत, दर्श्या आदि विशेषण प्राप्त होते हैं। ये जिसके साथ भी प्रयुक्त हुए हैं उसकी दर्शनीयता प्रकट करते हैं। अग्नि को एक मन्त्र में 'दर्शत' अर्थात् दर्शनीय कहा गया है -
अग्ने जुषस्व प्रतिहर्य तद्वचो मन्द्रस्वधाव ऋतजात सुक्रतो। योविश्वतःप्रत्यङ्ङसि दर्शतो रण्वः संदृष्टौ पितुमाँ इव क्षयः।।[8]
यहाँ 'दर्शत' के साथ ही 'रण्वः' विशेषण भी प्रयुक्त है। इसे भी सौन्दर्य-बोधक शब्द ही मानना उचित प्रतीत होता है, यद्यपि सायण ने इसका अर्थ रमणशील किया है। किन्तु रमणशीलता में आनन्द का भाव है और जिसे देखकर हृदय आनन्दित होता है उसे सुन्दर या सौन्दर्ययुक्त ही कहा जाता है। इस प्रकार **रण्व** शब्द को भी सुन्दर से समीकृत किया जा सकता है। इसी प्रकार उषा के लिए **'राम्या'** विशेषण का प्रयोग हुआ है जो सौन्दर्य के आनन्दात्मक भाव को सूचित करता है -
स इधान उषसो राम्या अनु स्वर्ण दीदेदरुषेण भानुना।[9] ऋग्वेद में शोभते, शोभमान आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। इस शब्द के द्वारा कवि सृष्टि के कण-कण का सौन्दर्य सूचित करता है -
क्षेत्रादपश्यंसनुत श्चरन्तं सुमद्यूथं न पुरुशोभमानम्।[10] अर्थात् क्षेत्र में सञ्चरण करने वाले गो समूह की भाँति अग्नि शोभमान है। इसी प्रकार सोम देवताओं के साथ शोभित होता है - सं दैवे शोभते[11]

इतना ही नहीं इन्द्र के घोड़े अपने मार्गों में शोभित होते हैं -
कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके। बभ्रू यामेषु शोभेते।[12]
यहाँ घोड़ों की शोभा चित्रित शालभञ्जिका के तुल्य दर्शायी गई है।

शोभा के लिए ही ऋग्वेद में **श्री** शब्द का प्रयोग भी द्रष्टव्य है। किसी भी देवता की शोभा के वर्णन में अधिकांश रूप से इस शब्द का प्रयोग किया गया है।
युवं श्रियमश्विना देवता तां दिवो नपाता वनथः शचीभिः।[13] यहाँ अश्विनद्वय को श्री का सम्भोग करने वाला बताया गया है। इस मन्त्र में श्री गरिमा अथवा प्रतिष्ठा को सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँ ध्यातव्य है कि श्री के अनेक अर्थ हैं।[14] जिनमें शोभा भी एक अर्थ है। निम्नलिखित मन्त्र में -
वि सूर्यो अमतिं न श्रियं सादोर्वाद् गवां माता जानती गात्।[15] यहाँ श्रिय शब्द का अर्थ सायण ने 'दीप्ति' किया है - सूर्योदेवः श्रियं दीप्तं विसात्।[16] इस प्रकार सूर्य की दीप्ति का विस्तारित होना उनकी गरिमा एवं ऐश्वर्य युक्त सौन्दर्य का ही सूचक है। इसी प्रकार मरुतों की श्री से पृथ्वी और द्युलोक व्याप्त होती है -
येषां श्रियाधि रोदसी विभ्राजन्ते रथेष्वा।[17]

यहाँ भी श्री कान्ति का ही सूचक है और कान्तिमत्ता सौन्दर्य का। इसी प्रकार श्री

सौन्दर्य-बोधाक रूप में अनेक मन्त्रों में प्रयुक्त है।

सौन्दर्य के मङ्गलकारी भाव के रूप में शुभ शब्द के प्रयोग भी ऋग्वेद में प्राप्त होतें हैं। जैसे - मरुत्गण के लिए - शुभाशोभिष्ठाः[18], अश्विनीदेव के लिए - 'तन्वा शुभाना'[19] आदि शोभा परक शुभ शब्दों का प्रयोग हुआ है जो मङ्गलकारी सौन्दर्य के ही सूचक हैं।

शुभ के समान ही शुम्भ शब्द भी प्राप्त होता है। जैसे -

मेने इव तन्वाशुंभमाने दंपतीव क्रतु विदाजनेषु।[20]
सौन्दर्य के प्रति रुचि का होना भी स्वाभाविक है। इसी आशय से सम्भवतः ऋग्वेद में रुच्, राज् आदि धातुओं से निर्मित रोचते, विराजति, विराजसि आदि शब्द प्राप्त होते हैं जो सुन्दर भावों को प्रकट करते हैं। जैसे -

जातो अग्नी रोचते चकितानो वाजी विप्रः कविशस्तः सुदानुः।[21]

यहाँ 'रोचते' शोभा प्राप्त करने के अर्थ में है। सायण ने इसका अर्थ दीप्यते किया है। इसी प्रकार -

श्रिये रुक्मो न रोचत उपाके[22] यहाँ अलङ्कार की भाँति अग्नि की दीप्ति शोभा पाने वाली बताई गई है। वह अग्नि यजमानों का हर्ष दाता भी है। शत्रुओं को हराकर शोभायमान हो रहा है। उसकी इस शोभा के लिए एक मन्त्र में **'विराजसि'** शब्द का प्रयोग किया है -

अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवान्देवयते यज।
होता मन्द्रो विराजस्यतिस्रिधः।।[23] सौन्दर्य में विलक्षणता का होना उसे और भी स्पृहणीय और आकर्षक बना देता है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में इस प्रकार की सुन्दरता के लिए **चित्र** शब्द का प्रयोग मिलता है। जैसे -

आ यः स्वर्ण भानुना चित्रो विभात्यर्चिषा।[24]
यहाँ अग्नि के लिए प्रयुक्त 'चित्र' विशेषण उनकी विलक्षणता का ही द्योतक है। इसी प्रकार -

मन्द्रं होतारं शुचिमद्वयाविनं दमूनसमुक्थ्यं विश्वचर्षणिम्। रथं न चित्रं वपुषा य दर्शतं मनुर्हितं सदमिद्राय ईमहे।।[25]
इस मन्त्र में **'दर्शतम्'** अर्थात् दर्शनीय विशेषण के साथ ही **'चित्रम'** भी प्रयोग हुआ है जो कि दर्शनीयता को और अधिक बढ़ाने वाला है। इस रूप में **'चित्र'** शब्द को सौन्दर्यपरक शब्द माना जा सकता है। इसी प्रकार -

श्रिये सुदृशो वपुरस्य सर्गाः स्वर्ण चित्र ममिष आ गोः[26] `यहाँ इन्द्र के शरीर के विशेषण के लिए प्रयुक्त 'चित्रम्' का अर्थ सायण ने 'चित्रतमं दर्शनीयतमं वपुः[27] किया है। इसी प्रकार उषा के प्रकाश की विलक्षणता प्रदर्शित करने के लिए 'चित्र' विशेषण का प्रयोग प्राप्त होता है।[28] 'चित्र' के साथ 'चारु' शब्द का प्रयोग भी द्रष्टव्य है जिसका अर्थ सुन्दर और विलक्षण किया जा सकता है। जैसे रुद्र के जन्म के लिए कहा गया है -'चारुचित्रम्'।[29]

केवल शारीरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए ही 'चित्र' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। यह शब्द प्रकृति की विलक्षणता भी द्योतित करता है। सिन्धु नदी के प्रवाह को **'अश्वा न चित्र'**[30] कह कर उसे घोड़ी के समान सुन्दर बताया गया है।

ऋग्वेद में जहाँ प्रकृति के वैविध्य में सौन्दर्य की अनेक प्रकार से अनुभूति की गयी है वहीं भौतिकता में सौन्दर्य का दर्शन करने

वाली ऋचाएँ भी उपलब्ध हैं। मनुष्य जिस घर में निवास करता है वह भी मनोरम होना चाहिए। उसे मनोरम बनाते हैं उसमें निवास करने वाले के गुण। जैसे - दानशील पुरुष का घर देव मन्दिर के समान अद्‌भुत और मनोहर है - **'परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्'**।[31] इसी प्रकार से भौतिक निवास का दिव्य और मनोहारी स्वरूप प्रकट किया गया है।

सौन्दर्यपरक भावों को अभिव्यक्त करने के लिए ऋग्वेद में अनेकशः सु उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। यह ऐसा उपसर्ग है जो वरुण के कर्म[32] , उषा के रूप, अग्नि की जिह्वा[33], उसके शोभन अन्तःकरण[34] , सूर्य के मन, कवि की बुद्धि किसी के लिए भी प्रयुक्त होकर उनमें सौन्दर्य का सञ्चार कर देता है।

इस प्रकार ऋग्वेद में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं जो उसके सौन्दर्य-बोध पर प्रकाश डालते हैं। उसकी ऋचाओं में प्राप्त होने वाले श्रिय, चारु, रूप, वल्गु आदि विशेषणों से जहाँ उनका प्राकृतिक तथा कलात्मक सौन्दर्य-बोध ज्ञात होता है वहीं इन्द्र, रुद्र, विष्णु के तेजस्वी और विराट् रूपों का भी अनेक विशेषणों द्वारा वर्णन प्राप्त होता है। वस्तुतः ऋग्वेद में सौन्दर्य के लौकिक और दिव्य, ऐन्द्रिय और आत्मिक दोनों प्रकारों का वर्णन द्रष्टव्य है।

पाद-टिप्पणियाँ

1. अमरकोश, 3/52,53
2. चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमान् गुणो रूपम्। तर्कभाषा
3. ऋग्वेद, 1/188/9
4. ऋग्वेद, 10/110/9
5. ऋग्वेद , 10/110/9 पर सायण भाष्य
6. ऋग्वेद, 1/195/8
7. ऋग्वेद, 1/116/5
8. ऋग्वेद, 1/144/7
9. ऋग्वेद, 2/2/8
10. ऋग्वेद, 5/1/4
11. ऋग्वेद, 9/25/3
12. ऋग्वेद, 4/32/23
13. ऋग्वेद, 4/44/2
14. 'श्रीर्वेषरचना शोभा भारतीसरलद्रुमे। लक्ष्म्यां त्रिवर्गसम्पत्तौ वेषोपकरणे मतौ' (इति विश्वमेदिन्यौ)। अमरकोश, 2/81
15. ऋग्वेद, 5/45/2
16. ऋग्वेद, 5/45/2 पर सायण भाष्य
17. ऋग्वेद, 5/61/12
18. ऋग्वेद, 7/56/5
19. ऋग्वेद, 7/72/1
20. ऋग्वेद, 2/32/2
21. ऋग्वेद, 3/29/7
22. ऋग्वेद, 4/11/5
23. ऋग्वेद, 3/10/7
24. ऋग्वेद, 2/8/4
25. ऋग्वेद, 3/2/15
26. ऋग्वेद, 4/23/6
27. ऋग्वेद, 4/23/6 पर सायण भाष्य
28. ऋग्वेद, 1/92/5
29. ऋग्वेद, 5/3/6
30. ऋग्वेद, 10/75/7
31. ऋग्वेद, 10/107/10
32. निषसादधृतव्रतोवरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्यायसुक्रतुः।। ऋग्वेद, 1/25/10
33. मधवः सुजिह्वपायय। ऋग्वेद, 1/14/7
34. अग्नेविश्वेभिः सुमनाअनीकैः। ऋग्वेद, 4/10/3

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1, No.1 (169-177) July-Dec. 2011

THE VEGETARIAN FOOD IN THE ṚGVEDA

Prof. Shashi Tiwari
Dept. of Sanskrit, Maitreyi College, Dehli University, Delhi
Email : shashit_98@yahoo.com

Our beliefs and social traditions as recorded in the epics, the Puranas and classical literature, have their roots in the Vedas. The Ṛgveda is certainly the oldest of the Vedic Saṁhitās. To have a glimpse of the cultural and materialistic life of the Ṛgvedic people, a deep semantic analysis of the Ṛgvedic hymns and words is required. Such a study can reveal the hidden aspects of the Vedic culture and civilization in its true form. Food is the urgent and recurrent need of an individual. It dictates their activities in relation to their land at every stage of economical development. Food supply is one of the closest ties between man and his environment. In the present paper, an attempt has been made to decribe the vegetarian food used by the Ṛgvedic people. Economy and environment of *'Sapta-Saindhava'* area of the Ṛgvedic āryans will also be dealt with to some extent.

In the Ṛgveda, certain articles relating to food are mentioned, but only in the context of offering to gods. These may be considered as articles of food used by the Ṛgvedic people. In many prayers, worshipers desire plenty of food. Scarcity of food seems to be a matter of great fear among them, Few articles appear to have been constituted of common food, while others seem to have been delicacies, enjoyed on festive occasions.

The food and drinks of the people of the later Vedic period did not materially differ from what was in use in the Ṛgvedic age. The principal food of the Ṛgvedic Āryans Consisted of barley-flour and its various preparations, rice and other cereals, fruits, honey, clarified butter (ghee), curd and other preparations of milk. Their drink consisted of milk, the Soma-juice and wines, besides other beverages.

I. Words for Food

Bhojana derived from the *bhuj* (to eat, to enjoy) is a name for wealth in Nighantu. But in the Ṛgveda, many times, it is found in the sence of food in general. Some epithets used for *Bhojana* denote the interest of the Ṛgvedic people towards a good and qualitative food.[2] It indicates that cooking was fully developed at that time. What things were exactly mentioned in a food, is not very clear. Food is more frequently called *Anna*. This word is derived from the *ad* (to eat) and thus literally means 'which is eaten by all creatures' or it is derived from *A+nam* (to bind) and literally means 'bent down before creatures'.[3] In Nighantu it is a synonym of water (Udaka).[4] Another word frequently used in the Ṛgveda for food is Pitu.[5] Sāyaṇa has explained it as *'Pālakamannam'*.[6] It has been traced to the *Pā* (to drink) or the *Pyāy* (to increase).[7] So by these derivations food is considered as nourisher and protecter. Sometimes Soma, the intoxic ating drink of the

Āryans, is referred to as *'Pitu'*.[8] So Pitu in the Ṛgveda has the general sence of 'nutriment', whether food or drink.[9] Sometimes food is called *Sina*, derived from the *siñ* (to bind), which literally means that which binds creatures together'.[10] In serveral passages another name given to food is *Andhas*.[11] It is derived from *A+dhyai* (to think), which literally means 'that for which one thinks'.[12] Actually the reference cited by Yāska in this reference shows that *'Andhas'* means a 'liquid substance' or 'a drink'.[13] Moreover, *Andhas* is also a name for Soma plant.[14] It may be stated that the sence of food is very general for this term. Monier Williams mentions the word 'Andhas' in the meaning of food only in the Mahābhārata and Bhāgavata Purāna. Amarakośa has recorded it in this sense. Yāska's adherence to Nighantu and the fact that the 'Andhas' meaning 'Food' has been confined to the Ṛgveda, Vājasaneya Saṁhitā and Satapatha Brahmana, suggests that it was lost in that sence in the time of Yāska. However, Yaska has given other sences of Andhas, which were available in his time i.e. darkness, blinding darkness, blinding etc.[15] Its Indo-European prototype is the noun 'andhos' = flower and Greek 'anthos' = flower.[16]

Another name for food in the Ṛgveda is Sravas.[17], Derived from the Sru (to hear).[18] According to Durgacharya it is so called because people hear about it every where'. Sayana has generally interpreted it as food', when it refers to Soma. During the pressing of Soma, a sound is heard. It hence that, Soma has received this epithet, and Soma being a nourishing herb, was consequently called 'food'.[19] The word Ida is also used in the sense of food.[20] According to Nighantu it is used in the sense of food, earth, speech and cow in the Vedic literature.[21] Ida is derived from the Ad (to eat).[22] There is another simillar word Ida in the sense of food and rainy season, as it products food.[23] Another word Urk has been given as the synonym of food.[24] It is traced to the Urjay (to invigorate), as food increase the strength and breath.[25] Its equivalent this in Indo-European Urg (to swell with energy) approves this etymology.[26] Yaska has given two alternative etymologies of this word from the Pac (to cook) or from Vrasc (to cut) which show that the food is cooked or riped and cultivated.[27]

The word *Isa* occurs in the sense of sacrifical food.[28] and is mentioned in the names of food by Nighantu and Nirukta.[29] Sayana and European scholars have given this sense. But in a verse of the Ṛgveda wealth is desired, which would be with any amount of food and nourisment.[30] According to ritualistic commentators there are two words for food in the Ṛgveda - *Isa* and *Vaja*.[31] *Parimsa* is another word, used in the sense of food, as it gives happiness from all sides.[32] According to Nighantu, the word *Svadha* is used in the Ṛgveda for water and food.[33] Indra is svadhāpati, protector of Anna and soma[34]. The word may be traced to Svadh or to Svad (to sweeten). It rightly appears that divine food or drink (Soma) is called Svadha.[35] The word *Admana* used in the Ṛgveda, traced to thes Ad (to eat), means a meal

which is eaten.[36]

Some other words occur occassionally in the Ṛgveda in the same of food. Among them *Vaja*.[37], *Canas*.[38], *Vayas*.[39], and *Prayas*[40] are important. They are synonyms of food according to Yaska also. All these words, used in the sense of food and thus etymologised and interpreted, give the expressions of the Ṛgvedic Aryans about their food, that which gives delight, strength, nourishment and protection when eaten is called food. Food is inded a domainating matreial in the life of all human beings. It is a binding forse, always heard and thought by the people. In the later Vedic literature *'Anna'* is highly praised as '*Sarvausadha*' i.e. panacea.[41] Elsewhere one is advised to worship food for it enables a man to use all his faculties.[42] We are even told that by food comes the end of all ignorance and bondage.[43]

II. Cereals and Pulses

As now, cereals formed a very significant part of the Ṛgvedic food. Among cereals the most important place was occupied by *Yava*, as it is frequently mentioned in the Ṛgveda.[44] According to Bohtlingk and Roth's Lexicon, it denotes corn in general. But most of the vedic scholars take the term either in the sense of barely or in the sense of general grain. A.C.Das opines, "Yava meant 'barely' and was regularly cultivated by the Vedic Aryans as a principal food grain.[45] The verse says that as one who ploughs with steers brings or produces barely, so may Pusan being the six seasons bound closely, through the Soma drops being of fered to him. The metaphor does not imply that the corn, known as *Yava*, was cultivated in all the six season, but it simply means that as surely as plouging with the help of steers brings fourth the crop of barley, so the offering of the Soma juice to the God brings the six seasons regularly and consecutively. That barley throve well when the land was moistended by a shower of rain probably in winter, has been mentioned in two verses".[46] The sowing.[47] ripening.[48] and plouging.[49] of Yava is mentioned in the Ṛgvedic verses.

The word '*Yava*' is derived from the *Yu* (to separate, to repal or to unite), is evidenced from the Atharveda.[50] and Saptapatha Brahmana.[51] Most probably barley was called *Yava* because its grain, though one has two parts distinctly marked, yet not separated. The grains of *Yava* were probably, also supposed, as now to repal the enemies, insects and evil spirits.[52] By its natural shape barely could very well be a simile for Agni and its flames, inseparably united in one.

Specimens of barely, unearthed from the ruins of Mohenjodaron.[53] shows its use in that region even in the Rgvedic age.[54]

Sometimes the name '*Yava*' is used for other food-grains also in the Ýgveda, as it was the principal food-grains of that times. similarly as the word Dhanya in a later age, implied not only rice or *Dhanya*, but other food grains. It seems that Saunaka has also used the term '*Yava*' in its general appellation in the Brihaddevata.[55] The authors of Vedic Index have supposed the view when they say "*Yava* in the Ṛgveda appears to be a generic term for any sort of '*grain*', and

not merely '*barley*'. The later sense is probably found in the Atharaveda and is regular later".[56]

So it is certain that barely and some other grains were cultivated in the Ṛgvedic times. Barely was offered to gods. In their prayers, Vedic people are found asking gods for this grain. In the Atharaveda it is called one of the two immortal sons of heaven, i.e. barely and rice.[57] These two were the staple crops that were cultivated by the Rgvedic Aryans.[58], one in winter or spring and the other during the rainy season. The word *Dhayana* occurs in the Ṛgveda three times only.[59] This word means the grain of that name, meaning rice. A.C. Das explains, "The word *Vrihi*, in the sense of rice does not occur in the Ṛgveda, but the word *Dhanya* Makes up for its absence. If may be that, as the climate of Punjab was extermely cold in the Ṛgvedic times, the cultivation of barely was more convenient and yielded bumper crops than that of rice, but it does not follow from this that rice was neither known nor cultivated by the Ṛgvedic Aryans."[60] The preparation of rice and milk called Ksiraudana (RV 8.77.10) proves this view. Few scholars think that there is no mention of rice in the Ṛgveda.[61] The Ṛgveda refers '*Vijam*' with '*Dhanyam*' in two passages.[62], by which it may be taken easily in the sense of rice. Sometimes like '*Yava*', this term also may include all other grains of minor importance, but the use of rice by the Ṛgvedic people cannot be ruled out. Some archaeological findings approve this opinion. The excavations at Maheshwara and Navdatoli show that *wheat*, *rice*, *Masura*, *Masa*, *Acahara* *gram*, *peas* and *Kalattha* were used by the people of the region like the Dravidians and photo Australoids as early as 1200 b.c.[63] Moreover '*Vrihi*' meaning rice is frequently referred to in the letter Vedic works.[64] and some types of rice are also mentioned there.[65]

Another word *Dhana*, always used in the plural occurs in several verses in the sense of some particular type of grains or cereals. In some passages, A.C. Das has taken it in the sense of 'grains of corn'.[66] According to Sayana, in the Ṛgvedic verses it occurs in the sense of 'fried barley (Bhrsta yavah).[67] In the opinion of Rahul Samkrtyayana *Dhana* is the name, given to fried cereals in the Ṛgveda, as today is it called *Dana*.[68] Some scholars take it in the sense of parched corn grains.[69] Yaska has etymologised it from the Dha (to place) meaning roasted grains, so called because that is placed in a frying pan or on a frying board.[70] It may be assumed that roasted grains were called *Dhana*, but as barley was in the maximum use of the Ṛgvedic people, the name was given to roasted barley simultaneously. *Dhana* being a dry food was quite useful in travelling or in outings in that time.

Wheat by the name *Godhuma* is mentioned in the other Vedic texts, but it does not figure in the Ṛgveda.[71] Its use in the Ṛgvedic stage is very doubtful. We find no definite mention of pulses in the Ṛgveda, but some are referred to frequently in the post Ṛgvedic literature.[72] The Atharaveda refers to '*Tila*', the sesamum plant and particularly its grains from which a rich oil (*Taila*) was extracted,[73] but in the Ṛgveda it is not

mentioned anywhere.

Thus from above survey, we may assume that in the Ṛgvedic times rice and barley were definitley the dominating careals in the list of known grains.

III. Various Preparations of Food

The Ṛgvedic people enjoyed various preparations of barley and rice in their food. Their food was supplemented by milk (*Payas*) and its varied products, such as clarified butter (*Ghee*) and curd (*Dadhi*). Each family had a number of cows and the Ṛsis also sought their gifts. The principal meal and sacrificial food were prepared from barley and rice, in combination with milk products.

Purodasa is the name of a cake in the Ṛgveda.[74] and later works.[75] used specially for sacrificial purposes offered in Kapalas to deities.[76] The term is traced to '*Puras*' (before) and the *das* (to offer).[77] so called because 'men offer it from front.'[78] Barley was ground and formed into cakes, called *Purodasa*.[79] and later they were dipped into Ghee before eating.[80] Another cooked food preparation named '*Pakti*' is mentioned in the Ṛgveda.[81] According to Sayana and Mahidhara and also Keith, Pakti means a kind of cake, but as in a verse (RV 4.24.5), both Pakti and Purodasa are mentioned, it seems unlikely that the two words are synonymous. It is presumed by some scholars that *Pakti* was a liquid preparation served after *Purodasa*.[82] Shatapatha Brahmana shows that were prepared from both barley and rice flour.[83s]

Parched grains called Dhana was a meal, prepared with curd, clarified butter, Soma juice or water or milk.[84] *Karambha* was a kind of porridge make of slightly fired barley-flour, mixed with curd or Ghee.[85] It was offered to *Pusan*, the pastoral God of the Aryans.[86] and may, therefore, be taken as one of their early prepared foods.[87] The term '*Saktu*' occurs only once in the Ṛgveda.[88] and is frequently mentioned in later Saṁhitās.[89] and the Brahmanas.[90], which denotes parached barley meal. According to Macdonell and Keith, it probably means 'groats' as opposed to fine meal.[91] The Ṛgvedic verse indicates that the Saktu was winnowed by the *sieve* (Titau) before eating. *Yāska* has given two etymologies of this word.[92] Accordingly the word-meaning 'crushed , roasted barley' is traced to the Sac (to cling), so called bacause 'it is *difficult* to wash' or it is also traced to the *Kas* (to go) with methesis, so called because 'it is swollen in size when heated'.[93] In the opinion of Rahul Samkrityayana *Karambha* and *Saktu* are synonymous.[94]

Apupa appears to have been a delicacy in cooked food of the Ṛgvedic Aryans.[95] It was a kind of sweet cake or round bread, prepared from barley-flour and clarified butter, cooked on slow fire.[96] Honey was added to sweeten it.[97] Perhaps it is the earliest sweet preparation of Indian food known to us. Ksiraudana is another special variety in cooked food.[98] Sayana takes it is the sense of 'Payasam'. It was the name of a mess, usually of food grain-barley or rice-cooked or boiled with milk. Some other preparations of Odana are mentioned in later Vedic literature, such as *Dadhi-odana*, Mudgaudana,

Mamsaudana. Vedic *Āryans* were extremnly fond of milk. Germs cooked with milk or Soma juice mixed with milk and barley called Gavasira and Yavasira seems to from their favourite dish.[90] They knew honey.[100] and it was used to sweeten special food preparations. Sugarcane (Iksu) is not clearly mentioned in the Ṛgveda, but is found in all other Samhitas.[101] It is important to note that Salt (Lavana) is also not mentioned in the Ṛgveda, but is frequently mentioned later.[102] Keith and macdonell observe, "it is somewhat surprising, if the regions then occupied by the Indians were the punjab and the Indus valley, where salt abounds; it is however, quite conceivable that a necessary commodity might happen to be passed over without literary mention in a region, where it is very common". R.Samkrityayana has expressed the probability of its use in the Rgvedic times.[103]

IV. Fruits and Vegetables

Flowering and fruit bearing plants are mentioned in the Ṛgveda.[104] The word '*Phala*' denoting fruit of a tree occurs twice in the Ṛgveda.[105] and shows that they were a valuable part of the Rgvedic Aryan's dietary. Climate was good for natural plants and trees. So naturally tasty and rich fruits should be easily available. R.Samkrityayana has presumed the existence of many fruits at that time.

The forests contained many edible fruits, as is referred in a verse. '*Aranyani* (the presiding goddess of the forest) is not herself murderous - if no one else assails - but after eating sweet fruits a man rests there at his pleasure."[106] In another verse "Indra is asked to shower satisfying wealth on his adorers, as a man with a hook shakes down ripe fruits from a tree."[107] Probably the forests were full of wild berries of different species, as berries of *Asvatha* are referred in a verse.[108] but we do not come across specific names of fruits in the Ṛgveda. In later Vedic literature some names as *Bilva, Kharjura, Amalaka*, etc. are found.[109]

In the vegetables cucumber (*Urva-ruka*).[110] and lotus stalks (*Bisa*)[111] were known to the Rgvedic Indians and were used as food. The latter was probably in common use with the edible roots of lotus.[112]

V. Some Other Indications

The Ṛgvedic *Āryans* laid great strees on the substantial and healthy food, as is evidenced from their prayers to deities.[113] Their food was simple and wholesome. It consisted of cereals, milk, honey, fruits and roots. All vegetarian items were prominent in their diet. There is a whole hymn address to Pitu (nutriment), which mentions all the articles of food except meat.[114] So it may be assumed that vegetarianism was not unknown to the Ṛgvedic *Āryans*. In later Vedic period a feeling of revulsion against meat eating is found in almost all works.[115] The Ṛgveda sings praises of plants and speaks of these as mothers.[116] Soma plant and its juice has definitely an important role in the Ṛgvedic drinks and in some other food preparations.

All cooked food was called *Pakva* or *Pacata* in the Ṛgvedic

verses.[117] Before cooking probably all food-grains were ground and winnowed. The mention of *Upalapraksini*, the lady that grinds barley meal by moving stone.[118] and *Titau* i.e. sieve, give this indiction. Feeding a guest was considered meritorious. Agni is called a *Atithi* in the Ṛgveda.[119] It is condemned to take food without feeding a hungry person.[120] Probably Aryans used to recite a prayer to food before they took their meals.[121] From a smile in the Ýgveda, we know that Ā*ryans* took their meals in a sitting posture.[122]

The above mentioned account of the Ṛgvedic evidence thus points out many important factors of food and food-habits of Ā*ryans* of the Ṛgvedic period. No doubt, some changes and additions had taken place gradually in the meals of later Vedic and post-vedic period. In conclusion, it is noteworthly to state that as the subsistance pattern of Indian rural people has not changed much as yet, the food described in the Ṛgveda is still eaten by large segements of present day Indian society in the same traditional way. The survey of vegetarian food in the Ṛgveda is helpful to understand the living style, cattle, economy, natural resources and cultural attitudes of the Ṛgvedic people in general. It also proves that Ṛgvedic civilization.

REFERENCES

1. Nigha. 2.10
2. *Visvasya amrta bhojana* RV 1.44.5. Ma nah priya bhojana RV 1.104.8. Ardrada suskam madhumad dudohitha RV 2.13.6. Citram ha yad vam bhojanam RV 7.68.5. Subhadramarya bhojanam bibharsi RV 8.1.34.
3. *Annam kasmat anatam bhutebhyah* atterva Nir. 3.9.5. Adyate'tti ca bhutani tasmadannam taducyate. Tai. Upa. 2.2; Sata. Bra. 7.5.1.13
4. Nigha. 1.12.
5. RV 1.187.1, 2, 3, etc.
6. RV Sayana, 1.187.2.
7. *Piturityannanama Paterva pibaterva pyayaterva* Nir. 9.24.
8. *Mahah pitum papivancarvanna* RV 1.61.7.
9. Macdonell, *A History of Sanskrit Literature*, p.105; Das, Ṛigvedic India, p.88; Macdonell and Keith, *Vedic Index*, Vol. I, p.526; RV 1.61.7, 1.132.6, 1.187.1, 6.20.4. etc.
10. *Sinamannam bhavati sinati bhutani* Nir. 5.5; Nigha. 2.7; RV 2.30.2, 3.62.1.
11. RV 1.153.4, 1.140.2.
12. *Andha ityannanama adhyaniyam bhavati* Nir. 5.1.
13. *Amaterbhih sincata madyamandhah* RV 2.14.1.
14. RV 1.28.7, 10.115.3; *Shri Aurobindo's Vedic Glossary, 'Andhas'*.
15. Mantrini Prasad, *Language of the Nirukta*, Delhi, 1975, p.416; Nir. 5.1.
16. Varma, *the Etymologies of Yaska*, Hoshiarpur, 1953, p.24.
17. RV 1.40.4, 6.37.3.
18. *Sarva anna nama sruyata iti satah* Nir. 10.3
19. Varma, *The Etymologies of Yaska*, pp.38-39
20. RV 3.59.3, 7.16.8 etc.
21. Nigha . 2.7, 1.1, 1.11, 2.11.
22. *Sa (ida) vai atta bhavati Sata* Bra. 1.8.1.12.
23. *Anna va idah Ai. Bra. 3.4.6.15; Ido yajati varsabi Kau. Bra.* 3.4; Sata Bra. 1.5.3.11.
24. RV 3.3.7, 8.100.10.
25. *Urk ityannama Urjayatiti satah* Nir. 3.8.
26. Varma, *The Etymologies of Yaska*, p.43
27. *Urk pakvam supravrknamiti* Nir. 3.8.
28. RV 1.3.1, 1.9.8, 1.27.7, 1.
29. Nigha. 2.7; Nir. 10.42.1.
30. *Ryim viravatim isam* RV 9.61.6.
31. *Shri Aurobindo's vedic Glossary.*
32. *Yadapamosadhinam parimsam arisamahe* RV 1.187.8.
33. Nigha. 1.12, 2.7; RV 1.51.5, 164.4, 4.33.6, 9.113.10, 1.108.12. 1.144.2.
34. RV 6.44.1, 3.
35. *Devanam ca pitrnam ca savdhaiva ca*

Br.D. 8.112. Savdha ca yatra trptisca RV. 9.114.10.

36. *Admanannam bhavati* Nir. 4.16; RV 1.58.2.
37. Nigha. 2.7; Nir. 10.33.1; RV 1.5.9, 1.91.16, 1.91.18.
38. Nigha 4.3; Nir. 6.16; RV 1.3.6, 1.26.10, 1.107.3.
39. Nigha. 2.7; Nir. 6.4.11; RV 1.104.7, 5.16.1.
40. Nigha. 2.7; RV 3.59.2.
41. Tai. Upa. 2.2
42. Chan. Upa. 7.6.1.
43. Cshan. Upa. 7.26.1.
44. RV 1.23.15, 1.117.21, 1.135.8, 1.176.2, 2.5.6, 2.14.11, 5.85.3. etc.
45. *Uto sa mahyamindubhih sad yuktam anusesidhat Gobhiryavam na carkrsat* RV 1.23.15.
46. RV 2.5.6, 5.85.3; A.C.Das, *Rgvedic Culture*, Delhi, 1979. p. 200
47. *Yavam vrkenasvina vapanta* RV 1.117.21.
48. *Yavo na pakvam* RV 1.66.3, 1.135.8.
49. *Vavam na carksad vrsa* RV 1.176.2.
50. *Agniryava indro yavah somo yavah Vavayavano deva yavayantvenam* AV 9.2.13.
51. *Ta etaih sarvah sapatnanamo-sadhirayuvata.Yada yuvata tasmad yava nama* Sata. Bra. 3.6.1.8, 9.
52. TS. 6.4.10.5; Sata. Bra. 3.6.1.8, 9.
53. Marshall, *Mohejodaro and the Indus Civilization*, Vol. I, p.27.
54. Haripada Chakraborty, *Socio-Economic life of India in the Vedic Period*, Calcutta, 1986, p.169.
55. *Kuruksetre yavanjaksur havimsi Vividhani ca* Br.D. 6.58.
56. Macdonell and Keith., *Vedic Index*, Vol. II, p.187; AV. 2.8.3, 6.30.1. 6.50.1, 2 etc.
57. *Divasputravamartyau* AV 8.7.20.
58. V.B. Mishra, *From the Vedas to Manu Samhita - A Cultural Study*, Delhi, 1982, pp. 5, 28; V.N. Reu, *Ṛgveda par Ek Aitihaska Drsti,* Banaras, 1967, p.194, Om Prakash, *Economy and Food in Ancient India*, Vol. II, P.61.
59. RV 5.53.13, 6.13.4, 10.94.13.
60. A.C. Das, *Ṛgvedic Culture*, p.201.
61. R.Samkrityayana, *Ṛgvedic Arya*, 1957, p.43; Priti Mitra, *Indian Culture and Society in the Vedas*, Calcutta, 1985, p.84.
62. *Dhanyam bhijam vahadhve aksitam* RV 5.53.13. *Vapanto vijamiva dhanyakrtah* RV 10.94.13.
63. *Journal of the Gujarat Res. Society*, Vol XXI, No. 4/84, Culture of Maheshwara and Navdatoli. H.D. Sankalia, p.332.
64. AV 6.140.2, 8.7.20, 9.6.14; TS 7.2.103; KS. 10.6, 11.5; MS. 3.10.2; VS 18.12; Ai. Bra. 2.8.7, 11.12.
65. TS 1.8.10; Sata. Bra. 5.3.3.6; TS 1.8.10; Brha. Upa. 6.3.22.
66. RV 1.16.2, 3.53.3, 3.35.3, 3.52.5, 6.29.4; A.C. Das, Ṛgvedic Culture, p.201
67. RV 1.16.2, 3.53.3, 3.35.7, 3.52.1, 8.91.2, Om Prakash, *Economy and Food in Ancient India*, Delhi 1987, Part II, p.60.
68. R. Samkrityayana, *Rgvedic Arya*, p.44.
69. Varma, *The Etymologies of Yaska*, p.70; Suryakanta, *A practical Vedic Dictionary*, Delhi, 1981, p.363.
70. *Dhana bhrastre hita bhavnati phale hita bhavantiti va* Nir. 5.12.
71. VS. 18.12; 19.22, 21.29; Sata Bra. 12.7.1.2; 5.2.1.6.
72. Masa VS 18.12; TS 5.1.8.1; MS 4.3.2; AV 12.2.53;
    Mudga, VS 18.12
    Masura, VS, 18.12; Brha. Upa. 6.3.22.
    Kulmasa, chan. Upa. 1.10.2.
73. AV 2.8.3, 6.140.2, 18.3.69, 18.4.32.
74. RV 3.82.2, 3.41.3, 3.52.2, 4.24.5, 6.23.7, 8.31.2, etc.
75. AV 9.6.12, 10.9.25, 12.4.35; TS 2.3.2.8, 7.1.9.1; VS 19.85, 28.23. etc.
76. RV 3.82.2, 3.41.3, 6.23.7, 7.18.6.
77. *Tasmat purodasah purodasa purodasa havai namatadyatpurodasa iti* Sata. Bra. 1.5.1.3, 5; 1.6.2.5; Ai. Bra. 2.23.
78. *Purodasam purastad datavyam Sayana on* RV 1.162.3.
79. *Vrihimayah purodaso bhavati MS.* 3.10.2. *Pakvah pistapindah purodasa ityucyate Sayana on* Ai. Bra. 1.12.9.
80. *Purodasavajyenabhidharitau* AV 10.9.25.
81. RV 4.24.5, 4.24.7, 4.25.6, 4.25.7, 6.29.4.
82. Om Prakash, *Economy and Food in Ancient India*, Vol. II. p. 59.
83. Sata. Bra. 2.2.3. 12-13
84. RV 3.35.7; TS 6.5.11.4; AV 18.4.43.
85. *Karambho dadhimisrah saktavah Sayana* of RV 3.52.1.
    Drtasiktam saktvatmbham havih Sayana

on RV 6.57.2.
Dadhimisram saktum karambham Sayana on RV 3.52.7.

86. *Karambhaditipusanam* RV 6.56.1.
87. A.C.Das. *ýgvedic Culture*, p.202; RV. 1.187.16, 3.52.7, 6.57.2, 8.102.2; *Dhanavantam Karimabhanama pupavantamukthinam* RV 3.52.1, 8.91.3.
88. *Saktumiva titauna punantah* RV 10.71.2.
89. VS 19.21; TS 6.4.10.6; KS 15.2.
90. Sata Bra. 1.6.3.16, 9.1.1.8, 12.9.1.5.
91. Keith and Macdonell, *Vedic Index*, Vol. II p.415.
92. *Saktuh sacaterdurdhavo bhavati Kasaterva syed viparitasya vibasito bhavati* Nir. 4.9.1.
93. Varma, *The Etymologies of Yaska*, pp.66, 84.
94. R. Samkrityayana, *ýgvedic Arya* pp. 44-45.
95. RV 352.1, 3.52.7, 8.91.2, 10.45.9.
96. *Yste adya krnavad bhadrasoce'pupam deva ghrtavantamagne* RV 10.45.9.
97. *Apupavana madhumamscaruresidatu* AV 18.4.22.
98. *Minat kanina odanam pacyamanam paro gira* RV 8.69.14. *Satam mahisan krirapakamodanam varahamindra emusam* RV 8.77.10.
99. RV 2.41.3, 7, 8.92.4, 2.22.1 etc.
100. RV 4.43.5, 4.45.3, 10.24.6, 10.106.10.
101. AV 1.34.5, 12.2.54; MS. 3.7.9; VS. 25.1; TS. 3.8.
102. AV 7.76.1; Sata. Bra 5.2.1.16; Brha. Upa. 2.4.12.
103. Keith and Macdonell, *Vedic Index*, Vol. II, p.230; R. Samkrityayana, *ýgvedic Arya*. p.44.
104. RV 6.49.14, 7.34.23, 7.35.57, 10.97.1.
105. RV 3.45.4, 10.146.5.
106. *Na va aranyanirhantyanyascennabhigacchati Savdoh phalasya jagdhvaya yathakamam nipadyate* RV 10.146.5.
107. *Vrksam pakvam phalamnkiva dhunuhi* RV 3.45.4. J.Muir's, Original Sanskrit Texts, Vol. V, p.107.
108. *Tayoranyah pippalam svadvatti* RV 1.164.20.
109. Om Prakash, *Economy and Food in Ancient India*, Vol. II, p.78.
110. *Urvarukamiva banhanmrtyormuksiya mamrtat* RV 7.59.12.
111. *Iyam susmebhirbisakha ivarujati* RV 6.61.2.
112. AV 4.35.5, 8.10.29, 30.
113. *A nah soma samyantam pipyusimisam* RV 9.86.18.
114. *Yadapamosadhinam parimsam arisamahe*
Yatte soma gavasiro yavasiro bhajamahe Karambha osadhe bhava piyo vrkka udharathih RV 1.187.8, 9, 10.
115. Om Prakash, *Economy and Food* in Ancient India, Vol. II, p.73.
116. RV. 10.97.2, 4.
117. RV 6.63.9, 1.61.7, 10.116.8.
118. *Karuaham tato bhisagupalapraksini nana* RV 9.112.3.
119. RV 1.51.6, 1.112.14, 4.47.22.
120. *Kevalagho bhavati kevaladi* RV 10.117.6.
121. *Savdo pita madho pito vayam tva vavrmahe Asmakamavita bhava* RV 1.187.2.
122. *Ni parvata admasado na seduh* RV 6.30.3; Cf. 7.83.7, 8.43.19, 8.44.29, etc.

ISSN 2277-4351
Vol. 1, Jan.-June. 2012, No.2

'वैदिक-ज्योतिः' 'Vaidika-Jyotih'

An International Half Yearly Refereed Research Journal on Vedic Studies

Annual Subscription

Rs. 150.00, US $ 9, Single Copy: Rs. 75.00
Payment Mode :
D.D. in favour of Registrar G.K.V. Haridwar (U.K.)

Published by

Prof. A.K. Chopra
Registrar, GKV, Haridwar - 249 404 (Uttarakhand) India

Printed at

Kiran Offset Printing Press, Kankhal, Haridwar - 249 404 (U.K.) India, Tel: +91- 9837007222, 01334 -245975

Vaidika-Jyotih is a half yearly peer-reviewed International Vedic Journal of Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar . Manuscripts should be submitted to the Editor both in Electronic Form and in Hard Copy (Typed in double spacing on A4 size paper). Research papers of late eminent vedic scholars recommended by reviewers can also be consider for publication.

ISSN 2277-4351

वैदिक-ज्योतिः

Vaidika-Jyotih

An International Half Yearly Refereed Research Journal on Vedic Studies

Vol.1 वर्षम् 1

Jan.-June 2012 जनवरी-जून 2012

No.2 द्वितीयः अङ्कः

सम्पादक

प्रो0 दिनेशचन्द्र शास्त्री

अध्यक्ष, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Haridwar-249404(Uttarakhand), India

http://www.gkvharidwar.org

श्रुति-सुधा

ओं गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥ ऋग्वेद 1/10/1

पदार्थ :- (**गायन्ति**) सामवेदादिगानेन प्रशंसन्ति (**त्वा**) त्वां गेयं जगदीश्वरमिन्द्रम् (**गायत्रिणः**) गायत्राणि प्रशस्तानि छन्दांस्यधीतानि विद्यन्ते येषां ते धार्मिका ईश्वरोपासकाः। अत्र प्रशंसायामिनिः। (**अर्चन्ति**) नित्यं पूजयन्ति (**अर्कम्**) अर्च्यते पूज्यते सर्वैर्जनैर्यस्तम् (**अर्किणः**) अर्का मन्त्रा ज्ञानसाधना येषां ते (**ब्रह्माणः**) वेदान् विदित्वा क्रियावन्तः (**त्वा**) जगत्स्रष्टारम् (**शतक्रतो**) शतं बहूनि कर्माणि प्रज्ञानानि वा यस्य तत्सम्बुद्धौ (**तत्**) उत्कृष्टार्थे। **उदित्येतयोः प्रातिलोम्यं प्राह।** (निरु० 1.3) (**वंशमिव**) यथोत्कृष्टैर्गुणैः शिक्षणैश्च स्वकीयं वंशमुद्यमवन्तं कुर्वन्ति तथा (**येमिरे**) उद्युञ्जन्ति।

निरुक्तकार इमं मन्त्रमेवं व्याख्यातवान् - **गायन्ति त्वा गायत्रिणः प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणो ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्येमिरे वंशमिव।** (निरु० 5.5) **अन्यच्च। अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्त्यर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चत्यर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतान्यर्को वृक्षो सवृत्तः कटुकिम्ना।**

(निरु० 5.4)

अन्वयः - हे शतक्रतोः ब्रह्माणः स्वकीयं वंशमुद्येमिरे इव गायत्रिणस्त्वां गायन्ति, अर्किणोऽर्कं त्वामर्चन्ति॥1॥

भावार्थ :- अत्रोपमालङ्कारः। यथा सर्वैर्मनुष्यैः परमेश्वरस्यैव पूजा कार्य्या, अर्थात्तदाज्ञायां सदा वर्तितव्यम्, वेदविद्यामप्यधीत्य सम्यग्विदित्वोपदेशेनोत्कृष्टैर्गुणैः सह मनुष्यवंश उद्यमवान् क्रियते, तथैव स्वैरपि भवितव्यम्। नेदं फलं परमेश्वरं विहायान्यपूजकः प्राप्तुमर्हति। कुतः, ईश्वरस्याज्ञाभावेन तत्सदृशस्यान्यवस्तुनो ह्यविद्यमानत्वात्, तस्मात् तस्यैव गानमर्चनं च कर्त्तव्यमिति॥1॥

- **स्वा.दयानन्दकृतऋग्वेदभाष्यम्**

ज्योतिषां ज्योतिरेकं (यजु. 34.1)
वैदिकज्योतिः समुज्जृम्भताम्

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1(2), No.2 (III-X) Jan.-June 2012

सम्पादकीय

भाग्य और पुरुषार्थ विषयक वैदिक दृष्टि

दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404 (उत्तराखण्ड) भारत
Email : dineshcshastri@gmail.com

दार्शनिक दृष्टि से भूतकाल में किये गये कर्मों का फल जाति, आयु, भोग के रूप में मिलना भाग्य कहलाता है और जो वर्तमान में कर्म किये जा रहे हैं वह पुरुषार्थ कहलाता है। उस पूर्व जन्म में किये कर्मों के आधार पर ईश्वर ने हमें किसी देश के प्रान्त विशेष, नगर और ग्राम विशेष के किसी परिवार विशेष में मनुष्य का जन्म दिया है; यह भाग्य है। माँ के पेट में बने शरीर, इन्द्रिय गोलकों के आधार पर पूर्व जन्मों के कर्मों के संस्कारों के आधार पर जो-जो कार्य करने का सामर्थ्य, बल, साधन आदि मिलते हैं वे भी भाग्य के अन्तर्गत आते हैं। भाग्य का वैदिक आर्ष दार्शनिक दृष्टि से उपर्युक्त स्वरूप ही है। किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि इस जन्म में वही मिलता है जो पिछले जन्म में किया था तथा कुछ व्यक्ति ऐसा मानते हैं इस जन्म में वही मिलता है जो इसी जन्म में किया जाता है। वस्तुतः ये दोनों ही मान्यताएं मिथ्या हैं। सत्य वैदिक सिद्धान्त यह है कि पिछले जन्म के कर्म (प्रारब्ध/भाग्य) और वर्तमान जन्म के कर्म ये दोनों ही इस जीवन में परिणाम, प्रभाव और फल प्रदान करते हैं। भाग्य और पुरुषार्थ दोनों ही कार्य की सफलता के कारण हैं। भाग्य शुभाशुभ कर्मों से बनता है वही पुरुषार्थ सिद्धि में प्रतिबन्धक अथवा सहयोगी होकर सफलता तथा असफलता प्रदान करता है। मनुष्य को छोड़कर शेष प्राणियों में केवल पुरुषार्थ की अथक लगन देखी जाती है। चीटियाँ निरन्तर अपने बिलों में से मिट्टी के लघुकण उठाकर बाहर फेंकती रहती हैं। दीमक बार-बार अपनी बाल्मीकों को उठाता रहता है। महापराक्रमी वनराज भी अपनी क्षुधाशान्ति के लिए प्रकृति प्रदत्त पुरुषार्थ करता है। परन्तु मनुष्य कदाचित् क्वचित् कथंचित् फलने वाले भाग्यवाद = नियतिवाद (Fatal-ism) को देखकर अपनी अकर्मण्यता से दैवश्रमी होने की अभिलाषा करने लगता है। वैदिक चिन्तन के अनुसार पुरुषार्थी के हाथों में पथरेखाएं अंकुरित होती हैं और भाग्यवादी के चक्रवर्ती चिन्ह संशय और प्रतीक्षा के वातावरण में धूमिल हो जाते हैं। एक निर्माता और दूसरा भोक्ता। एक स्वोपजीवी है दूसरा परोपजीवी। एक आश्रयदाता है दूसरा आश्रयापेक्षी। मानव अपना निर्माता स्वयं बने इसके लिए पुरुषार्थ परायणता पहली प्रतिज्ञा है। भाग्य के दुर्ग का ध्वंस करके पुरुषार्थ के प्रसाद का निर्माण किया जाता है। उल्लू के भाग्य में भी अंधकार है और जुगनू अंधेरी रातों भी अपना तन जलाकर प्रकाश उत्पन्न कर लेता है। उद्यम की राह में देवता जागते हैं और भाग्य के दिन में अकर्मण्य दिवा स्वप्न देखते हैं। वेद का संदेश है कि तुम वीर, पुरुषार्थी, कर्मण्य बनो, ओजस्वी, निर्भय, आशावादी बनो, अत्याचार को न सहो, पिशाचों को कुचल डालो। वेद की यह शिक्षा नहीं है कि तुम संसार में अकर्मण्य होकर, निष्क्रिय बैठे रहो। पुरुषार्थहीन भक्तिवाद और भाग्यवाद के प्रचार

से मानव जाति को बहुत हानि उठानी पड़ी है। ऋग्वेद में कहा गया है-

यो जागार तमृचः कामयन्ते।
यो जागार तमु सामानि यन्ति॥
यो जागार तमयं सोम आह।
तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥ ऋग्0 5.44.14

अर्थात् जो जागा हुआ है वही ऋचाओं से कुछ लाभ ले सकता है, जो जागा हुआ है उसी की सामवेद के मन्त्र सहायता करते हैं। जो जागा हुआ है उसी के आगे चांद मैत्री के लिए हाथ पसारता है। उसी की यह सारी प्रकृति दासी बनती है जो जागा हुआ है। इसलिए-

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥ अथर्व0 19-63-1

अर्थात् हे ज्ञानी! उठ खड़ा हो जाग जा, यज्ञ द्वारा अपने अन्दर देव भावों को जगा ले अपनी आयु को, प्राण को, प्रजा को, कीर्ति को बढ़ा, यज्ञ करने वाले को बढ़ा। ऋग्वेद 10.22.8 में कर्म न करने वाले को दस्यु कहा गया है- **अकर्मा दस्युः**। यजुर्वेद 20.07 में वर्णन आता है कि मेरी भुजाओं में इन्द्र का सा बल है। हाथों में कर्म और सामर्थ्य है। मेरा आत्मा दुखियों के कष्ट को दूर करने वाला है, मेरी छाती चोटों को सहने वाली है- **बाहु मे बल मिन्द्रियं, हस्तौ मे कर्म वीर्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम॥**

डा0 रामनाथ वेदालंकार ने **वैदिक वीर गर्जना** में ऋग्वेद 10.119 सूक्त के अनुसार वीरता की तरंग में सरावोर मनुष्य का वर्णन करते हुए लिखा है- अरे, मैं तो आकाश में उदित साक्षात् महातेजस्वी सूर्य हो गया हूँ। मैंने वीरता के रस का पान कर लिया है, बहुत-बहुत पान कर लिया है। मैं वीर हूँ! वीर हूँ!! वीर हूँ!!!

अथर्व0 2.11.5 में जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप दर्शाते हुए ऋषि कहता है **-शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम[1]॥**

इस मंत्र के पूर्वार्ध में जीवात्मा के असली स्वरूप को दर्शाकर मंत्र के उत्तरार्ध में मनुष्य के लिए दो कर्तव्य कर्मों का उपदेश किया गया है। पहला यह कि- अपने से अधिक गुणी जनों को प्राप्त होओ, उनका सत्संग करो (आप्नुहि श्रेयांसम्)। दूसरा यह कि उन जैसे बनो, उनके बराबर हो जाओ, पुनः उनसे भी आगे बढ़ो (अति समं क्राम)। जिस अवस्था में तुम हो उसी को परमावधि मानकर वहीं मत टिके रहो। अपितु उस अवस्था से निकलो और उससे भी ऊँची अवस्था पर जाओ, और उसे भी फिर पीछे छोड़ो तथा कदम और आगे बढ़ाओ। यही उन्नति का मार्ग है। यह तभी हो सकता है जब मनुष्य कर्मशील हो, पुरुषार्थी हो, भाग्यवादी न हो।

परमात्मा ने देह और उसके अवयव कर्म करने के लिए ही दिये हैं। अतः परमात्मा को हमारे लिए कर्म मार्ग अभीष्ट है। कर्म त्याग नहीं। यदि परमात्मा को कर्म त्याग ही अभीष्ट होता तो वह हमें देह के भिन्न-भिन्न अवयव न देता। जिस मनुष्य के देह और देहावयवों (हाथों, पैरों, अंगुलियों तथा अन्य अंगो) में काम करने की शक्ति तो है, परन्तु आलस्य के वशीभूत होकर भाग्य (Fatalism) के अधीन[2] हो काम नहीं करता वह अपने हाथ पैर आदि अवयवों

को निकम्मा बना लेता है। कालान्तर में उसके हस्तपाद आदि अवयव उसे यथेच्छ काम न दे सकेंगे। मानो कि उसके हाथ पैर टूट गये हैं, वह अपने हाथ पैर से मुक्ति पा गया है[3]। इसीलिए अथर्ववेद का ऋषि कहता है -

यश्चकार न, शशाक कर्तुं, शश्रे पादमङ्गुरिम्।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः॥

4.18.6

अर्थात् जिसने कर्म किये नहीं, परन्तु जो कर्म करने की शक्ति रखता था, उसने अपने पैरों और अंगुलियों को तोड़ लिया। हमारे लिए और अपने लिए भद्र कार्य जिसने किये हैं वह तो सूर्य सम है।' इस मंत्र में **चकार, शशाक** और **शश्रे** इन शब्दों में भूतकाल का प्रयोग है। इसका अभिप्राय यह है कि भूतकाल में जिस-जिस ने अवयवों से उचित कार्य नहीं लिया तत्तंत् अपने अवयव निकम्मे कर लिये हैं। अतः वर्तमान काल के लोगों को इन घटनाओं से शिक्षा लेकर अपने- अपने जीवनों को कर्म प्रधान बनाना चाहिए।

अथर्ववेद में वर्णन आता है कि प्रत्येक मनुष्य शतहस्त होकर वस्तुओं की प्राप्ति करे उत्तम रीति से और सहस्रहस्त होकर उन वस्तुओं का दान करे। इस प्रकार संग्रह करना और दान करना दोनों ही वैदिक आज्ञायें है - **शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह** (3.24.5) इस मंत्र में एक उपदेश यह भी है कि किये हुए उत्तम कर्मों तथा भविष्यत् में करने योग्य कर्मों की संख्या में वृद्धि करो। प्रतिदिन किये हुए उत्तम कर्मों की सूची में और नये-नये उत्तम कर्मों को दाखिल करते जाओ। तथा इसी प्रकार जिन-जिन नये कर्मों का भविष्यत् में करना तुमने निश्चित किया है उस दूसरी सूची में भी और-और उत्तम-उत्तम कर्त्तव्य कर्मों को जमा करो ताकि शुभ कर्मों का बहुत बड़ा संग्रह हो जाये। उत्तम कर्मों के करने की समाप्ति कहीं भी नहीं हो सकती। अतः यह सूची दिनों दिन बढ़ती ही जाएगी। कर्म मार्ग सम्बन्धी यह उपदेश बहुत ही उत्तम है।

वेद में 'मनुष्य कर्मशील हो, निरुद्यमी न हो' - ऐसा उपदेश है। मनुष्य परमात्मा की आज्ञा में रहकर ही कर्म करे - **देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः** अथर्व 6.23.3 अर्थात् दिव्य गुणों वाले तथा जगत् उत्पादक प्रभु की प्रेरणा अर्थात् आज्ञा में रहकर सब मनुष्य कर्म करें।'

अथर्ववेद में जीवन का मार्ग बताते हुए ऋषि कहता हैं -

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः।
आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्॥

5.30.7

अर्थात् मार्ग के चढ़ाव को जानता हुआ और पुनः प्रोत्साहित किया हुआ तू फिर इस पद पर आ। अतः इस ऊँचे पथ पर चढ़ना और पग आगे बढ़ाना प्रत्येक प्राणधारी का मार्ग है।

परमात्मा निरुत्साही और हताश व्यक्ति के प्रति उपदेश देते हैं कि हे जीव! यदि तू अपने पहले प्रयत्नों में असफल हुआ है तो इससे हतोत्साह मत हो। तू फिर आशा की डोर हाथ में पकड़। आ, मैं तुझे फिर उत्साहित करता हूँ। इस चढ़ते हुए रास्ते पर फिर पग धर। क्योंकि तू इस बात को अच्छे प्रकार समझ ले कि जीवन के लिए रास्ते का चढ़ाव ही नियत है, उतराव नहीं। भाग्य और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में वेद का यह चिन्तन महत्त्वपूर्ण है। पहाड़ी

रास्ता शिखर को लक्ष्य में रखकर चढ़ाव की ओर चढ़ा रहता है और नीचे की दृष्टि से उतराव की ओर झुका रहता है। मन्त्र में जीवन मार्ग का सादृश्य इस पहाड़ी रास्ते के साथ दर्शाया है। जीवन यात्रा में श्रेयोमार्ग चढ़ता हुआ रास्ता और प्रेयोमार्ग उतरता हुआ रास्ता है। जीव के लिए आवश्यक है कि वह प्रेयोमार्ग का त्याग और श्रेयोमार्ग का अवलम्बन करे। उद्देश्य की चोटी पर पहुँचने के लिए प्रत्येक जीव को चाहिए कि वह आशा और उत्साह से इस चढ़ते हुए मार्ग पर पग रखे, इस पर चढ़े और पग आगे बढ़ावे। पग का पीछे फेंकना जीवन मार्ग से उल्टा चलना है। परमात्मा ने प्रत्येक जीव के लिए चढ़ता हुआ मार्ग ही नियत किया है। यही जीवन मार्ग है। जो कि पुरुषार्थ के आधीन है। और इससे विपरीत भाग्याधीन मृत्यु का मार्ग है। पुरुषार्थाधीन पथ वेद मार्ग है और इससे उल्टा पितृ मार्ग। इसे ही देवयान कहते हैं और इससे उल्टे को पितृयान।

वेद में **पुरुषार्थ** के प्रकरण में उद्यम और सावधानता को दो ऋषि बताया गया है। वे दोनों मनुष्य जीवन के रक्षक हैं - **ऋषि बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः। तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्।** (अथर्व 5.30.10)। मन की तीन अवस्थायें होती हैं 1. जाग्रत 2. स्वप्न 3. सुषुप्ति। जाग्रत अवस्था सावधानता की सूचक है। स्वप्न में बाह्य इन्द्रियाँ तो कार्य नहीं करतीं परन्तु मन चंचल रहता है, जिससे सोया हुआ मनुष्य स्वप्नों को देखता रहता है। यह अवस्था आलस्यमयी कही जा सकती है। जागते हुए जिस प्रकार आलसी मनुष्य बाह्य इन्द्रियों को कर्त्तव्यों से शून्य किये रखता है और मानसिक पुलाव पकाया करता है। इसी प्रकार स्वप्नावस्था में भी मनुष्य बाह्य इन्द्रियां अपने-अपने कामों से पृथक् रहती हैं। उस समय केवल मन ही सक्रिय होता है। अतः मन्त्र में **अस्वप्न** शब्द से **उद्यम** और **जागृवि** शब्द से **सावधानता** [illegible] अर्थ लिया है। सुषुप्ति में मन भी निष्क्रिय तथा शान्त हो जाता है। उद्यम और सावधानता के बिना जीवन नहीं है। उद्यमी जीव कर्त्तव्य योग के पथ पर, पुरुषार्थ के मार्ग पर चल सकता है और सावधानता का दीपक हाथ में लिए मार्ग की ठोकरों से अपने आप को बचा सकता है। वेद कहता है हे मनुष्य! जाग उठ, जाग उठ, सोया मत पड़ा रह। देख -

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं, न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥ ऋग्. 8.2.18

अर्थात् जो व्यक्ति जागकर शुभ कर्मों में लगता है उसी को देवता चाहते हैं। सोये पड़े रहने वाले से वे प्रीति नहीं करते। अच्छी तरह समझ ले, प्रमादी की कोई सहायता नहीं करता। वेदों के अनुसार वीर भावना से ओत-प्रोत जो कार्य प्रारम्भ करते हैं, वे मध्य में आने वाली सब विघ्न बाधाओं को चीरते हुए आगे बढ़ते चलते हैं, और अन्त में कार्य सिद्धि तथा विजय लक्ष्मी के भागी बनते हैं। वेद के निम्न मंत्र में पुरुषार्थ की भावना का नस-नस में संचार कर देने का वर्णन कर्म योग के प्रतीक के रूप में हुआ है, इस मत्र में भाग्यवाद (Fatalism) का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता है-

कृतं मे दक्षिणे हस्ते, जयो मे सव्य आहितः। गोजिद् भूयासमश्वजिद्, धनञ्जयो हिरण्यजित्॥ अथर्व0 7.50.8

अर्थात् मैं हाथ पर हाथ धरकर बैठने वाला नहीं हूँ। मेरे दाहिने हाथ में कर्म है और बायें हाथ में विजय रखी है। इस 'कर्म' अर्थात् पुरुषार्थ रूपी जादू की छड़ी हाथ में लेते ही गौ, घोड़े, धनधान्य, सोना, चाँदी जो चाहूँगा सो मेरे आगे हाथ बाँध कर खड़ा हो जायेगा। पुरुषार्थ का उपदेश करते हुए वेद का ऋषि कहता है - **'इतो जयेतो वि जय, सं जय जय स्वाहा** (अथर्व. 8.8.24) अर्थात् तू इधर विजय पा, उधर विजय पा, कमाल की विजय हासिल कर। जीत, जीत, जीत, हर क्षेत्र में जीत, शाबाश!

अथर्ववेद में एक स्थान पर आता है कि **अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तरः** अर्थात् मेरा एक हाथ भगवान् है और दूसरा हाथ भगवान् से भी बढ़कर है। यह बात पुरुषार्थ के प्रसंग में कही गयी है। यदि वेद तथाकथित भाग्य को मानते तो यह बात नहीं कही जा सकती थी। वेद में तो यहाँ तक कहा है कि व्यक्ति जब तक पुरुषार्थी होकर अपने शरीर को नहीं तपाता अर्थात् कठोर परिश्रम नहीं करता तब तक उसे अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता- **अतप्ततनूर्न तदामोऽश्नुते।** ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है कि जो मनुष्य घर में बैठा रहता है, उसका भाग्य भी खड़ा हो जाता है। जो सोया रहता है, उसका भाग्य भी सो जाता है। जो चलता फिरता रहता है, उसका भाग्य भी चलने फिरने लगता है।'

उपर्युक्त भाग्य और पुरुषार्थ विषयक वैदिक दृष्टिकोण के आधार पर ही महाभारत के अनुशासन पर्व में भी विचार किया गया है। इस पर्व के छठे अध्याय के प्रारम्भ में पितामह भीष्म से युधिष्ठिर पूछते हैं- **दैवे पुरुषकारे च किंस्वित्श्रेष्ठतरं भवेत्** (1) अर्थात् भाग्य और पुरुषार्थ में कौन बड़ा है? इस प्रश्न का वैदिक दृष्टि से उत्तर देते हुए भीष्म कहते हैं[4] कि- बीज के बिना कुछ भी पैदा नहीं होता, बीज के बिना फल भी नहीं लगता। बीज से बीज प्रकट होता है और बीज से ही फल की उत्पत्ति मानी जाती है। ।।5।। किसान खेत में जाकर जैसा बीज बोता है, उसी के अनुसार उसको फल मिलता है। उसी प्रकार पुण्य या पाप जैसा कर्म किया जाता है, वैसा फल मिलता है। ।।6।। जैसे बीज खेत में बोये बिना फल नहीं दे सकता उसी प्रकार दैव (प्रारब्ध) भी पुरुषार्थ बिना नहीं सिद्ध होता। ।।7।। पुरुषार्थ खेत है और दैव को बीज बताया गया है। खेत और बीज में संयोग से ही अनाज पैदा होता है। ।।8।। शुभ कर्म करने से सुख और पाप कर्म करने से दुख मिलता है। अपना किया हुआ कर्म सर्वत्र ही फल देता है। बिना किये हुए कर्म का फल कहीं नहीं भोगा जाता। ।।10।। पुरुषार्थी मनुष्य सर्वत्र भाग्य के अनुसार प्रतिष्ठा पाता है, परन्तु जो अकर्मण्य है, वह सम्मान से भ्रष्ट होकर घाव पर नमक छिड़कने के समान असह्य दुख भोगता है। ।।11।। मनुष्य को तपस्या से रूप, सौभाग्य और नाना प्रकार के रत्न प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कर्म से, पुरुषार्थ से सबकुछ मिल सकता है; परन्तु भाग्य के भरोसे बैठे रहने वाले को कुछ नहीं मिलता। ।।12।। इस जगत् में पुरुषार्थ करने से स्वर्ग, भोग, धर्म में निष्ठा और बुद्धिमता - इन सबकी उपलब्धि होती है। ।।13।। जो पुरुषार्थ नहीं करते वे धन, मित्रवर्ग, ऐश्वर्य, उत्तम कुल तथा दुर्लभ लक्ष्मी का भी उपभोग नहीं कर-

सकते।।15।। यदि अपने कर्मों का फल न प्राप्त हो तो सारा कर्म ही निष्फल हो जाये और सब लोग भाग्य को ही देखते हुए कर्म करने से उदासीन हो जायें।।19।। मनुष्य के योग्य कर्म न करके जो पुरुष केवल दैव का अनुसरण करता है, वह दैव का आश्रय लेकर व्यर्थ ही कष्ट उठाता है। जैसे कोई स्त्री अपने नपुंसक पति को पाकर भी कष्ट ही भोगती है।।20।। किया हुआ पुरुषार्थ ही दैव का अनुसरण करता है; परन्तु पुरुषार्थ न करने पर दैव किसी को कुछ नहीं दे सकता।।22।। देवताओं का आश्रय पुण्य ही है। पुण्य से ही सब कुछ प्राप्त होता है। पुण्यात्मा पुरुष को पाकर दैव क्या करेगा? ।।29।। जैसे थोड़ी सी भी आग वायु का सहारा पाकर बहुत बड़ी हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ का सहारा पाकर दैव का बल विशेष बढ़ जाता है।।43।। जैसे तेल समाप्त हो जाने से दीपक बुझ जाता है, कर्म के क्षीण हो जाने पर दैव भी नष्ट हो जाता है।।44।। मनुष्य दैव के उत्थान से आरम्भ किये हुए पुरुषार्थ से उत्तम विधि और शास्त्रोक्त सत्कर्म से ही स्वर्ग लोक का मार्ग पा सकता है।।49।।

नारायण स्वामी जी ने अपने **कर्म रहस्य** ग्रन्थ में भाग्यवाद की निम्न दो शाखाओं का उल्लेख किया है। एक है एक जन्मवादियों की, और दूसरी है आवागमन को मानने वालों की। **राशडाल** के अनुसार भाग्यवादी अकर्मण्यता का आश्रय लेने वाले हुआ करते हैं। जैसे कि किसी के घर में आग लग जाये तो वह हाथ पर हाथ रक्खे बैठा रहेगा और घर को देखा करेगा। आग बुझाने का यत्न न करेगा। यदि परमात्मा की इच्छा होगी तो आग बुझेगी यदि न होगी तो नहीं बुझेगी। यह सब ईश्वरेच्छा के आधीन है। बचना न बचना ईश्वराधीन है। इस तरह की मानसिकता वाले लोग भाग्यवाद की पहली कोटि (शाखा) में आते हैं। इस तरह के लोग स्वयं तो गर्त में गिरते हैं औरों को भी गर्त में गिराते हैं। इस तरह का भाग्यवाद पौराणिक मान्यता के अन्तर्गत होता है, यह एक विश्वास कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त में दार्शनिक तर्क का अभाव प्रतीत होता है जो कर्मों का नियत विपाक है, उस फल भोगने के अवसर को ही भाग्य कहना उचित है। वास्तव में वह हमारे संचित कर्मों का भोगारूढ़ फल है। दैव वास्तव में होता ही नहीं है, केवल कल्पना मात्र ही है। **योग वाशिष्ठ** में स्पष्ट किया गया है कि मन्द बुद्धि के लोगों ने दैव की कल्पना की है। इस बात को स्पष्ट करते हुए मीमांसा की गयी है कि जो लोग कर्म न करके भाग्य के भरोसे बैठे रहते हैं, वे अपना धर्म, अर्थ और काम सभी नष्ट कर देते हैं। वे दैव को ही सब कुछ मान पुरुषार्थ हीन हो जाते हैं। ऐसे लोगों के यहाँ से लक्ष्मी भी वापस लौट जाती है अर्थात् वे निर्धन बन जाते हैं। इसलिए पौरुष (पुरुषार्थ) प्राक्तन और अद्यतन नाम से दो प्रकार का होता है। इसे ही पिछले जन्म का और इस जन्म किया हुआ कर्म कहा जाता है। वास्तव में पुरुषार्थ (पौरुष) ही सर्वत्र कर्म करता है, भाग्य नहीं। पिछले जन्म का किया हुआ कर्म या इसी जन्म का कर्म ही भोगते समय अदृष्ट कहाता है। अदृष्ट कोई दैव नहीं है। वह प्राक्तन कर्म ही है। हाँ यह अवश्य तथ्य पूर्ण है कि किस कर्म का फल क्या होगा? यह इदमित्थम् कहना बड़ा ही दुष्कर है क्योंकि कर्मों के फल का

निर्धारण जानना बहुत कठिन है। वास्तव में वैदिक दृष्टि में मनुष्य इस संसार में जो कुछ प्राप्त करता है वह न तो अकारण है और न नियति द्वारा पूर्ण निर्धारित। वस्तुतः वह तो स्वयं उसके कर्मों का ही अनिवार्य परिणाम है। अतएव वेद में कहा गया है कि इस संसार में मनुष्य को कर्म करते हुए ही अपनी पूरी आयु को भोगना चाहिए- **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः।** यजु0 40.2

डा0 जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल ने **भाग्य** शब्द को उदासीन बताते हुए दैववादी और पुरुषार्थवादी में अन्तर करते हुए लिखा है कि दो पात्र समान रूप से आधे आधे भरे हुए हैं। उनमें एक भाग्यवादी के हाथ में है और दूसरा पुरुषार्थ परायण के। भाग्यवादी अपने भाग्य को कोसते हुए कहता है कि मेरा आधा पात्र खाली है किन्तु पुरुषार्थी कहता है कि मेरा आधा पात्र भरा हुआ है, एक निराशावद से अभिभूत है और दूसरा आशान्वित है। आशाधर उसकी पूर्णता की ओर लक्ष्य करता है और निराशा हुआ दैववादी आधे रिक्त होने को रोता है। इस संसार में जन्म के साथ ही पिता, पुत्र, परिवार, सुख, दुख, भोग, क्लेश आदि कर्मानुबन्ध से उदय में आते हैं। अनन्त मनुष्यों के अनन्तविध कर्म फलोदय को देखकर यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। इस कार्मण शरीर के परिणामों का भोक्ता मनुष्य दैववाद के चक्कर में पड़ जाता है तो द्वार पर आये हुए पुरुषार्थ के अवसर लौट जाते हैं। क्योंकि मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता है। एक बूढ़ा व्यक्ति लकड़ी के सहारे चलता है। उसके चलने में लकड़ी उदासीन है। तथापि यदि वह लकड़ी को ही अपने चलने में मुख्य मान ले तो क्या वह उचित है या यदि लकड़ी स्वयं गति दे सकती है तो मृतक को भी उसका अवलम्ब मिल जाता। बिना पुरुषार्थ के भाग्य का आश्रय लेना भी इसी प्रकार है।

पाद-टिप्पणियां

1. हे नर तू (शुक्रः असि) शुद्ध है (भ्राजः असि) भ्राजमान है, (स्वः असि) आनन्द स्वरूप है, (ज्योतिः असि) ज्योति स्वरूप है। (श्रेयासंम्) श्रेष्ठों तक (आप्नुहि) पहुँच, (समम्) बराबर वालों से (अतिक्राम) आगे बढ़। (डा0 रामनाथ वेदालंकार, वैदिक वीर-गर्जना, पृष्ठ 30)

2.- अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काज।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम।
- ह्वै है वही जो राम रचि राखा। को कर तर्क बढ़ावे शाखा।
- यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं प्रोज्झितुं कः समर्थः?
- लिखना लिखी ललाट में, छटी रात के अंक। राई घटै न तिल बढ़ै, रहरे जीव निशंक।।
- दादू दुनिया बावरी, फिरि-फिरि मांगत सोन। लिखने वाला लिख गया, मटेन वाला कौन।।
- तुलसी जस भवितव्यता तैसी मिले सुहाय। आप न आवै ताहि पै नाहि तहाँ ले जाये।।

3. अमर स्वामी जी महाराज ने **निर्णय के तट पर**, भाग-4 में इस प्रकार के भाग्यवादियों को भावुक व्यक्ति कहा है।

4. नाबीजं जायते किंचिन्न बीजेन बिना फलम्।
बीजाद्बीजं प्रभवति बीजादेव फलं स्मृतम्।।5।।
यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षकः।
सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम्।।6।।

यथा बीजं बिना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम्।
तथा पुरुषकारेण बिना दैवं न सिध्यति।।7।।
क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम्।
क्षेत्रबीजसमायोगात् ततः सस्यं समृध्यते।।8।।
कर्मणः फलनिवृत्ति स्वयमश्नाति कारकः।
प्रत्यक्षं दृश्यते लोके कृतस्याप्यकृतस्य च।।9।।
शुभेन कर्मणा सौख्यं दुखं पापेन कर्मणा।
कृतं सर्वत्र लभते नाकृतं भुज्यते क्वचित्।।10।।
कृती सर्वत्र लभते प्रतिष्ठां भाग्य विवक्षितः।
अकृती लभते भ्रष्टः क्षते क्षारावसेचनम्।।11।।
तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना।।12।।
तथा स्वर्गश्चभोगश्च निष्ठा या च मनीषिता।
सर्वं पुरुषकारेण कृतेनेहोपपद्यते।।13।।
अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम्।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः।।15।।
स्वं चेत् कर्मफलं न स्यात् सर्वमेवाफलं भवेत्।
लोको दैवं समालम्ब्य उदासीनो भवेन्न तु।।19।।
अकृत्वा मानुषं कर्म यो दैवमनुवर्तते।
वृथा श्राम्यति संप्राप्य पतिं क्लीबमिवाङ्गना।।20।।
कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते।
न दैवमकृते किंचित्कस्यचिद्दातुमर्हति।।22।।
देवानां शरणं पुण्यं सर्वं पुण्यैरवाप्यते।
पुण्यशीलं नरं प्राप्यं किं दैवं प्रकरिष्यति।।29।।
यथाग्निः पवनोद्धूतः सूक्ष्मोऽपि भवते महान्।
तथा कर्म समायुक्तं दैवं साधु विवर्धते।।43।।
यथा तैलक्षयाद्दीपः प्रम्लानिमुपगच्छति।
तथा कर्मक्षयाद्दैवं प्रम्लानिमुपगच्छति।।44।।
अभ्युत्थानेन दैवस्य समारब्धेन कर्मणा।
विधिना कर्मणा चैव स्वर्गमार्गमवाप्नुयात्।।49।।

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1(2), No.2 (1-8) Jan.-June 2012

वेदों का पुरुषार्थ प्रेरित यथार्थवाद

भवानीलाल भारतीय
पूर्व चेयरमैन, महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसंधान पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, भारत

आर्य जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस पुरुषार्थचतुष्टय को मानव का चरम लक्ष्य या साध्य कहा है। आर्य शास्त्रों में धर्म शब्द का प्रयोग विविधार्थ-बोधक तथा विभिन्न संकेत देते हुए हुआ है। कहीं पर इसे कर्त्तव्य का बोधक तो अन्यत्र व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ का स्वभाव-बोधक माना है। नैतिक मानदण्डों के लिए भी धर्म शब्द का प्रयोग मिलता है। धर्मपूर्वक अर्थोपार्जन और वित्त संचय को ही श्रेयस्कर कहा गया है। इसी प्रकार धर्मपूर्वक सांसारिक कामनाओं को पूरा करना मनुष्य के लिए हितकारी माना गया है। मोक्ष या निश्रेयस प्राप्ति मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। इसे प्राप्त कर सांसारिक दुखों और कष्टों से त्राण पाना मनुष्य के लिए अभीष्ट कहा गया है।

आर्य शास्त्रों में पुरुषार्थचतुष्टय की व्याख्या करते हुए विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। आध्यात्मिक और पारलौकिक उन्नति के लिए धर्मशास्त्रों में मनुष्य के लिए करणीय नाना प्रकार के कर्त्तव्य कर्मों का विधान किया गया है। मनु, शुक, कामन्दक और कौटिल्य आदि मनीषियों ने मानव जीवन के भौतिक और आर्थिक पहलू को व्याख्यात करने के श्लाघनीय प्रयास किये हैं। काम तत्त्व की मीमांसा के भी भूरिशः उद्योग हुए हैं। उपनिषद्, वेदान्त आदि के माध्यम से मोक्ष शास्त्रों की व्याख्या और विवेचना हुई है।

हमारे देश का मध्यकालीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि पराधीनता के पाशों में जकड़े जाने के पश्चात् भारत के जन-समुदाय में हताशा, निराशा, दैन्य, आत्मग्लानि और विषाद के घातक कीटाणुओं को ही समाप्त कर दिया था। राजनैतिक दासता का अवश्यम्भावी परिणाम था मानसिक और बौद्धिक गुलामी की शृंखलाओं में देशवासियों का बंध जाना। फलतः देशवासी अपने जीवन में पुरुषार्थ, परिश्रम, उद्यम और कर्मण्यता जैसे दैवी भावों के महत्त्व को भूलने लगे और अकर्मण्यता, पुरुषार्थहीनता, भाग्यवाद और नैराश्य के पाशों में बँध गये। वैदिक संहिताओं में मानव को आशा, उद्यम और पुरुषार्थ का जो संदेश दिया है, उसे भुलाकर हम स्वयं के लिए **''पापोऽहम् पाप कर्माऽहम् पापात्मा पापसम्भवः''**[1] जैसे वाक्य बोलने लगे, आत्मा के दिव्य गुणों और शक्तियों का अवमूल्यन कर बैठे। मध्यकालीन वैष्णव भक्तों और सन्तों ने भी मानवी जीवन और मनुष्य की देह के सम्बन्ध में हीनता, दीनता और अपवित्रता की खान तथा नितान्त हेय, जुगुप्साजनक तथा निंद्य ठहराया। सूरदास जैसे भक्त कवियों ने दैन्य भावना की अति करते हुए यहाँ तक कह दिया -

हौं सब पतितन को टीको।
और पतित सब घौस चारि कै,
हौं तो जनमत ही को।।

मनुष्य के शरीर के प्रति जहाँ वेदों में अत्यन्त उदात्त भाव व्यक्त किये गये हैं और उसे आठ चक्रों और नव द्वारों वाली देवताओं की अजेय और दुरतिक्रम्य अयोध्या नगरी कहा

है वहाँ अवैदिक और अनार्य ग्रन्थों ने इसे अत्यन्त निकृष्ट ठहराया है। कर्मफल सिद्धान्त को पूर्वजन्मकृत पापों को ही दोषी माना गया और सब प्रकार के कर्म, पुरुषार्थ और उद्यम को त्यागकर भगवान् भरोसे बैठे रहने को ही श्रेयस्कर कहा गया।

युक्ति और तर्क के स्थान पर श्रद्धा, आस्था, विश्वास और अनन्य शरणागति जैसे नये शब्द और उनके अर्थ ढूंढे गये जबकि वेदार्थ में सर्वाधिक सहायक आचार्य यास्क ने स्पष्ट घोषणा की थी -

पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को नः ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्यः एतंतर्कमृषिम्प्रायच्छन्। मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्मात् यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षन्तद् भवति॥ निरु.13.12

अर्थात् जब ऋषिगण पृथ्वी से उठ गये तो मनुष्यों ने देवों से पूछा कि अब हमारा ऋषि कौन होगा? देवों ने उनके लिए तर्क को ही ऋषि बनाकर भेजा। मनु की इस स्पष्ट उद्घोषणा को भी हमने विस्मृत कर दिया जिसमें कहा गया था--

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मो वेद नेतरः॥[2]

अर्थात् जो तर्क से धर्म का अनुसंधान करता है, वही वास्तविक धर्म को जान सकता है।

वेदों में जिस पुरुषार्थ युक्त यथार्थवादी धर्म की व्याख्या की गई है उसमें धर्माचरण के लिए सत्य, दृढ़ता, तप, श्रम और विवेक की आवश्यकता समझी गई है जबकि मध्यकाल में सब काम सस्ता हो गया। डॉ0 सम्पूर्णानन्द के शब्दों में, सस्ते का यह अर्थ नहीं कि पैसा कम लगने लगे, वरन् यह कि ऐसे-ऐसे लटके निकल आये जिनसे बात की बात में स्वर्ग और विष्णु आदि लोक प्राप्त हो जाते हैं, सब पापों का क्षय हो जाता है, झूठ, कपट आदि को छोड़ने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। आलस्य, प्रमाद, तर्कहीन आचरण और मिथ्याचारों को प्रश्रय देने वाली पौराणिक दृष्टि के अन्तर को स्पष्ट करते हुए एक विचारक ने लिखा है- ''एक और वेदों की मीमांसा करने वाले महामुनि जैमिनी यह कहते हैं कि विश्व में सुख, दुःख, इहलोक, परलोक, केवल वेदोक्त धर्माधर्म पालन पर निर्भर करता है, यहाँ तक कि वेदों में प्रदत्त प्रेरणा को ही धर्म का प्रधान लक्षण माना गया है, वहाँ मध्यकालीन धर्म विवेचकों की दृष्टि में: 'रामनवमी के दिन जो मनुष्य **'उपोषणं न कुरुते कुम्भपाकेषु पच्यते'** व्रत नहीं रखता वह कुम्भीपाक नरक में पड़ता है'।'' एक ओर वेद कहता है-

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्॥[3]

तपस्वी और पापरहित, जागृत योगी ही विष्णु परमात्मा के परम पद को प्राप्त करते हैं, तो दूसरी ओर यह उपदेश दिया जाता है-

यः करोति तृतीयायां विष्णोश्चन्दनपूजनम्। वैशाखस्य सितेपक्षे स याति हरिमंदिरम्॥

जो वैशाख के शुक्लपक्ष की तृतीया को विष्णु का चन्दन पूजन करता है वह विष्णुलोक को जाता है।

निश्चय ही पुराण-साहित्य इसी प्रकार की अवैदिक तथा पुरुषार्थवाद से विरुद्ध भाग्यवाद, अकर्मण्यता तथा सस्ते में अधिक लाभ प्राप्त करने की भावनाओं को प्रश्रय देता है।

वेदों में सत्, चित्, आनन्दस्वरूप परमात्मा को आराध्य और उपास्य कहा गया है- उसे ही आत्मज्ञान, शारीरिक शक्ति, शक्ति

एवं सामाजिक बल का दाता माना गया है जबकि मध्यकालीन आस्थाएँ बचपन से ही हिन्दू को प्रत्येक जड़ चेतन के आगे मस्तक झुकाने के लिए प्रेरित करती हैं। उसे पता ही नहीं कि उसकी वंदना प्राप्त करने के अधिकारी कौन है? हर प्रकार के धातु, पाषाण और मृत्तिका से निर्मित मूर्ति, प्रत्येक चैत्य और देवल, पीपल और बट-वृक्ष, गंगा-यमुना आदि स्रोतस्विनियाँ, पुष्कर, मानसरोवर आदि जलाशय और पर्वतश्रृंग उसके पूज्य एवं उपास्य बने हुए हैं। इससे मानव जीवन और उसकी गरिमा, मर्यादा को प्रचण्ड आघात लगा है। हिन्दू को हर किसी के आगे सिर झुकाने में लज्जा नहीं रह गई। जो प्रत्येक पेड़ पत्थर के सामने घुटने टेक सकता है, वह परकीयों के आगे साष्टांग दण्डवत् करने में क्यों संकोच करेगा? हमारे भीतर व्याप्त हीनभावना इतनी अधिक थी कि हमने विदेशी, विधर्मी और प्राय: म्लेच्छ कहलाने वाले गोरे शासकों को भी 'धर्मावतार' जैसे गौरवास्पद शब्द से सम्बोधन करने में ग्लानि अनुभव नहीं की।

इस मध्यकालीन भाग्यवादी विचारधारा के विपरीत हम वेदों में उल्लिखित पुरुषार्थ प्रधान विचारधारा पर चिन्तन करें तो ज्ञात होता है कि यहाँ मानव (जीव) को अत्यन्त गौरव प्रदान किया गया है। अथर्ववेद में कहा गया है -**'शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि'**[4] हे जीव तू शुद्ध है, तेज स्वरूप है। वेद में सन्तान के वीर और बलवान् होने की कामना की गई है -

अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु। यजु017/43

वैदिक संहिताओं में आशावाद का स्वर सर्वत्र सुनाई पड़ता है। वेदों के मन्त्रद्रष्टा ऋषि के शब्दों में -

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिंधवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥[5]

वायु हमारे लिए मधु को प्रवाहित करती है, नदियाँ मधु बहा रही हैं, औषधियाँ भी मधुयुक्त हैं। यहाँ तक कि दिन और रात, द्यौ और पृथिवी सर्वत्र मधुर भाव ही व्याप्त है। अन्न और वनस्पतियाँ, प्राणदाता सूर्य और दुग्ध प्रदान करने वाली गाएँ भी मधु बरसाती हैं। यहाँ हताशा और अवसाद के लिए कोई स्थान नहीं है।

वैदिक पुरुषार्थवाद का इससे बढ़कर प्रमाण और क्या होगा कि यहाँ मनुष्य को सौ वर्ष जीवित रहकर पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी गई है।

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवाः। -यजु.25/22

तथा

तच्चक्षुर्देवहितं ...... -यजु. 36/24

आर्य जीवन मीमांसा में धर्म के साथ अर्थ और काम को समुचित महत्त्व प्रदान किया गया है। धनोपार्जन के लिए वेद का आदेश है: **'शतहस्त समाहर सहस्र हस्त संकिरः'** सैकड़ों हाथों से कमाओ और हजार हाथों से खर्च करो। अर्थ की ही भाँति काम को भी मनुष्य की सभी लौकिक प्रवृत्तियों का मूल माना गया है-

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सकाम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ - अथर्व0 19/52/1

वैदिक चिन्तन में मनुष्य जीवन की सफलता उसके सर्वप्रिय होने में मानी गई है। अतः कहा गया है -

प्रियो देवानां भूयासम्। प्रियः प्रजानां भूयासम्। प्रियः पशूनां भूयासम्। प्रियः समानानां भूयासम्॥
- अथर्व0 17/1/2-5

मनुष्य देवों, प्रजाओं, पशुओं और अपने समवयस्कों का प्यारा बने। अथर्ववेद काण्ड 10, सूक्त 3 के मंत्र 17-25 की शृंखला में मनुष्य को कीर्ति, तेज और यश प्राप्त करने वाला कहा गया है -

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम्।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नियच्छतु॥ मं.-17

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं कि वेद की दृष्टि बुद्धि, विवेक और मानवी प्रज्ञा को जागृत करती है। यहाँ अंध धारणा, मूढ़ विश्वास, कूपमण्डूकत्व एवं गतानुगति के लिए कोई स्थान नहीं है। इसीलिए वैदिक उपासक अग्निस्वरूप दिव्य एवं तेजस्वी परमात्मा से उस मेधा बुद्धि की कामना करता है जो हमारे प्राक् कालीन देवों, पितरों, मनीषियों और विद्वानों द्वारा धारण की जाती रही है। मेधा की यही प्रार्थना हम वरणीय वरुण, तेजोनिधान अग्नि, बलशाली इन्द्र तथा सर्वाधार धाता परमात्मा से भी करते हैं।

यां मेधां देवगणाः तथा **मेधां मे वरुणो ददातु।**
- यजु0 32/14-15

मानवी जीवन की सार्थकता पारस्परिक आदान-प्रदान के कारण है। **'केवलाघो भवति केवलादी'**[6] के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला वेद कहता है-

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।

तू मुझे दे और मैं तुझे दूँ। तू मुझमें उत्तम गुण धारण करा और मैं तुझे उत्तम आदर्श प्रदान करूँ।

वैदिक अध्यात्मवाद में परम तत्त्व को महान् पुरुष, आदित्य तुल्य प्रकाशमान तथा अंधकार से परे कहा गया है -

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं-यजुः 31/18

हमारा मध्यकालीन चिन्तन बहुत-कुछ पारलौकिक फलों की कामना पर बल देता रहा जबकि वेद की दृष्टि इसी लोक में आनन्द, आमोद-प्रमोद तथा अमृत की कामना से युक्त रही-

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ता कामस्तत्र माममृतं कृधिः॥
-' ऋ0 9/113/11

वैदिक जीवन मीमांसा में गृहस्थ आश्रम को सर्वत्र महत्त्व मिला है। मिथ्या वैराग्य और संसार से पलायन की ऐकान्तिक दृष्टि को जब हमारे देश में महत्त्व मिला तो वर्णाश्रम की स्वस्थ मर्यादाओं का ह्रास हुआ।

'नारी मुई घर सम्पत्ति नासी।
मूड मुडाय भये सन्यासी॥'

गोस्वामी तुलसीदास की इस उक्ति का अनुसरण करने वाली खाखी, वैरागी, कनफटे जोगी, अघोरी, औघड़ तथा इसी श्रेणी के तथाकथित साधुओं से पूर्ण हमारे देश का जनसमाज त्रस्त तथा व्याकुल हो उठा। इसीलिए स्वामी दयानन्द को लिखना पड़ा - ''जो किसी ने मूर्ख अविद्या की मूर्ति न देखी हो तो खाखी जी का दर्शन कर आवे। अविद्या, पाखण्ड, अनाचार, दुराचार और आडम्बरों की साक्षात् प्रतिमा तुल्य ये खाखी जी वे हैं जिन्होंने इधर-उधर से पूछकर ही अठारह अध्याय गीता रगड़ मारी और गुरु एक भी नहीं किया।''

किन्तु वैदिक विधान में गृहस्थ की महिमा को निम्न प्रकार दर्शाया गया है-

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥
- ऋ0 10.85.42

हे गृहस्थो, तुम्हारा परस्पर विरोध न हो,

तुम गृहस्थाश्रम में रहते हुए पूर्ण आयु प्राप्त करो, पुत्र और पौत्रों के साथ क्रीड़ा करते हुए अपने ही घरों में रहो और इस घर को मोद से युक्त करो। और भी कहा गया है-

समञ्जन्तु विश्वे देवाः ....।

-ऋग्010.85.47

गृहस्थाश्रम में जल, घृत. दूध, रसयुक्त अन्न और सुपक्व तथा शाखाच्युत मीठे फलों की धारा प्रवाहित होती है। ये सभी पदार्थ पुरुषार्थ से ही प्राप्त होते हैं।

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्।। -यजु0 2/34

इसी गृहस्थ में माता, पिता, पितामह, पितामही, मातामह, मातामही, पितृत्व, मातुल, श्वसुर आदि पितर निवास करते हैं और उपर्युक्त रससिद्ध पंदार्थों का भक्षण कर पूर्ण तृप्ति प्राप्त करते हैं। वेद का जीवन दर्शन व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व मानवता में सांमजस्य तथा सौमनस्य स्थापना का लक्ष्य स्थापित करता है। इसीलिए अथर्ववेदीय सांमनस्य सूक्त में कहा गया है-

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।।
और
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।

- 3/30

वेद में सामाजिक यथार्थवादिता इस प्रकार लक्षित होती है -

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।।

-अथर्व0 19/62/1

तथा

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।।

-यजु0 18.48

वैदिक समाजवाद में लोगों के भोजनालयों और पानी पीने के स्थानों में भी समानता तथा एकता के लिए आह्वान है-

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। अथर्व. 3/30/6

विश्व विधाता ने हम मनुष्यों को एक ही कर्त्तव्य के धुरे से बाँधा है। इसलिए अथर्ववेद का यह मन्त्र एक-दूसरे के प्रति पूर्ण सहृदयता, सौमनस्यता तथा स्नेह दिखलाने की आवश्यकता पर बल देता हुआ कहता है -

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।
अथर्व. 3/30/1

सद्यः जात वत्स के प्रति गाय का जैसा वत्सल भाव होता है उसी प्रेम भावना से समाज के लोग एक-दूसरे के प्रति स्नेह, सहानुभूति और सौमनस्य का व्यवहार रक्खें।

वैदिक पुरुषार्थवाद के अन्तर्गत परिश्रम पूर्वक अर्थोपार्जन को ही महत्त्व दिया गया है। ऋग्वेद के **ऐतरेय ब्राह्मण** में रोहित के प्रति इन्द्र के उपदेश में कहा गया है-

हे रोहित, हमने सुना है कि जो यात्रा नहीं करता, उसको श्री नहीं मिलती। इन्द्र उसी का सखा है जो निरन्तर विचरण करता है। अतः **चरैवेति चरैवेति**। इसी प्रकरण में आगे कहा गया- बैठे हुए का भाग्य बैठता है, खड़े हुए का खड़ा रहता है, जो पड़ा रहता है उसका भाग्य भी पड़ा रहता है किन्तु जो विचरता है उसका भाग्य भी चलता है। अतः **चरैवेति चरैवेति** तथा कलि जमीन पर पड़ा रहता है, द्वापर

अंगड़ाई लेने के तुल्य है, त्रेता खड़ा रहता है, और सतयुग चलता रहता है, इसलिए **चरैवेति।**

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीतिरोहित शुश्रुम।
पापोनृषद्वरोजन इन्द्र इच्चरतः सखा। -चरैवेति
आस्ते भगआसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्यचरातिचरतो भगश्चरैवेति।
कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन्॥
-चरैवेति-चरैवेति

वैदिक पुरुषार्थवाद की अवधारणा जहाँ मनुष्य को निरन्तर कर्म करने के लिए प्रेरित करती है, और

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
यजु0 40/2

के रूप में सौ वर्ष पर्यन्त कर्मठ जीवन यापन करने की प्रेरणा देती है, यहाँ अवैदिक विचारधाराओं में आत्मपीड़न, देहमण्डन, संसार से पलायन और सामाजिक दायित्वों से विमुख होने की सीख दी गई है। पौराणिक धारणाएँ मनुष्य की इन्द्रियों की निन्दा करती हैं और उन्हें विषय-लम्पट कह कर उनके मिथ्या दमन की बात करती हैं जबकि वेदों में कानों से भद्र सुनने, नेत्रों से भद्र दृश्यों को देखने तथा अपने अंगों को सुदृढ़ तथा स्थिर बनाने का उपदेश दिया गया है -

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। -यजु0 25/21

मनुष्य जीवन को पापपूर्ण, पाप से उत्पन्न, पापाचार कहनेवाली मध्यकालीन अवधारणा के विपरीत वेदों ने पाप का तिरस्कार करते हुए अपने उदात्त स्वर को निम्न प्रकार से मुखरित किया-

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ।
-अथर्व0 6.45.1

हे मन में आने वाले पाप, तू मुझ से दूर हो जा।

वेद मंत्रों में जिस दिव्य वातावरण का निर्माण किया गया है वह हमें मानव जीवन की क्षुद्रता से दूर ले जाकर देवताओं की-सी सुमति प्राप्त करने तथा देवताओं से सख्य में विचरने की प्रेरणा करता है-

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां। यजु.25/15
तथा
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्। यजु.25/15

इसी प्रकार **वयं देवानां सुमतौ स्याम** कहकर मनुष्य को देवों की सुबुद्धि में ही रहने के लिए कहा गया है।

वस्तुतः वैदिक जीवन मीमांसा और अर्थ, अध्यात्म और भौतिकता, श्रेय और प्रेय, इहलोक और परलोक के बीच समुचित सामंजस्य और समन्वय पर बल देती है। वेद में कृषि कर्म को ही श्रेयस्कर माना है क्योंकि कृषि श्रम, पुरुषार्थ और अध्यवसाय पर आधारित है, जबकि द्यूत क्रीड़ा को वेद में गर्हित माना है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का द्यूत सूक्त जुआरी की अभिशाप भरी कहानी तथा उसके पश्चात्तापपूर्ण उद्‌गारों से युक्त एकालाप है। निष्कर्षतः वेद ने कहा-

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व। ऋग्.10/34/13
हे मनुष्य, तू अक्ष क्रीड़ा जैसा पुरुषार्थहीन कार्य मत कर अपितु श्रमयुक्त कृषि-कर्म में जुट आ।

वैदिक यथार्थवाद मनुष्य को अपने राष्ट्र कर्त्तव्यपालन के लिए भी उन्मुख करता है। वैदिक राष्ट्रीय भावनाओं से ही अनुप्राणित

होकर स्वामी दयानन्द ने स्वराज्य की अर्चना करने का उपदेश दिया, माता-पिता के समान सुखदायक तथा पक्षपात शून्य विदेशी राज्य की तुलना में स्वदेशी राज्य को वरीयता प्रदान की तथा **आर्याभिविनय** जैसे भक्ति-भावापन्न ग्रन्थ में वेद-मन्त्रों का अर्थ करते हुए परमात्मा से आर्यों के अखण्ड चक्रवर्ती, सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना तथा स्वदेश को पराधीनता के पाशों से मुक्त करने की कामना व्यक्त की।

अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त (12/1) में मातृभूमि की महिमा, उसके नैसर्गिक सौन्दर्य तथा उसमें रहने वाले मनुष्यों की भाषा, संस्कृति, कला, जीवन पद्धति, विचार सम्पदा तथा भाव सम्पत्ति का जैसा हृदयग्राही चित्रण मिलता है वैसा अन्यत्र संसार के किसी साहित्य में दुर्लभ ही है। **माता भूमिः पुत्रो अहम् पृथिव्याः**[7] की घोषणा करने वाला राष्ट्र का नागरिक और भूमि का पुत्र इस धरती को विश्वम्भरा, वसुधानी, हिरण्यवक्षा तथा प्रतिष्ठा जैसे सम्बोधनों से सम्बोधित करता है। इस धरती की शिलाएँ, प्रस्तर खण्ड तथा धूलिकण सब कुछ उसके लिए सुखद बन जाते हैं क्योंकि यह पृथ्वी सम्यक् प्रकार से धारण की जाती है। यहाँ के वृक्ष और वनस्पतियाँ, यहाँ की लोहित, कृष्ण और बभ्रु वर्णयुक्त धरा उसके लिए आदरणीय और वंदनीय है। यही वह धरती है जिस पर उसके पूर्वजों ने विचरण कर अपने वीरतापूर्ण और गौरवयुक्त कृत्य किये थे, यहीं पर उन्होंने आसुरी संस्कृति को पराजित किया था-

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।[8]

अतः हम इसी मातृभूमि से ऐश्वर्य और वर्चस् की कामना, याचना करते हैं-

भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु

जिस धरती पर किये गये पूर्वजों के नृत्यों और गीतों की ध्वनि आज भी हमारे कर्ण-कुहरों में समाई हुई है, वैदिक ऋचाओं का गान करने वाले ऋत्विकों के स्तोत्र पाठ और सामगान आज भी हमारे मनों में पूत भावनाओं का संचार करते हैं वह पृथ्वी हमारे शत्रुओं को पराभूत कर हमें अभय बनाये। 63 मन्त्रों का प्रभविष्णु शैली में लिखा गया धरतीमाता का यह गीत वेद के अत्यन्त ओजस्वी एवं उदात्त स्थलों में से एक है।

राष्ट्र रक्षा, राष्ट्र संचालन तथा सुशासन के कतिपय महत्त्वपूर्ण सूत्र वेदों में उल्लिखित हुए हैं। अथर्ववेद में सभा और समिति को प्रजापति की दुहिताएँ बताया है और ऋग्वेद का संज्ञान सूक्त मनुष्यों के मंत्र, समिति, मन, चित्त, आकूति और हृदय में एकतानता स्थापित करने के लिए कहता है और एक साथ चलने, एक ही वाणी का उच्चारण करने और मनों को एक सा रखकर देवों के आचरण का अनुकरण करने का उपदेश देता है। राष्ट्रार्चन तथा राष्ट्र के अभ्युदय के लिए जैसे स्वर्णिम सूत्र हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं वैसे वैदिकेतर साहित्य में तो सर्वथा दुर्लभ ही हैं।

वेद की प्रेरणाएँ और वेद के उपदेश देश, काल, सम्प्रदाय, वर्ण, लिंग की कृत्रिम सीमाओं का अतिक्रमण कर सार्वजनीन सौहार्द, सार्वदेशिक भ्रातृभाव तथा दिव्य मनुष्यत्व की प्रतिष्ठापना करते हैं। यही कारण है कि वेदों में इस समस्त विश्व-प्रपंच को परमात्मा से परिपूर्ण ईश का आवास कहा गया है-

ईशावास्यम् इदं सर्वं।[10]

इसी पुनीत और व्यापक आस्तिक भाव को जब मनुष्य अपने भीतर धारण कर लेता है तो वह स्व और पर के भेद को भूल जाता है और इस स्थिति में -

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मन्नैवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।।[11]

जब सब प्राणियों को अपने जैसा और अपने को अन्यों के तुल्य मान लिया तो न तो कोई विचित्सा ही शेष रहती है और न मोह एवं शोक के लिए ही अवकाश रहता है - आत्मा के एकत्व को देखने वाले के लिए शोक और मोह की गुंजाइश ही कहाँ रहती है-

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।।[12]

यही विराट् मानववाद **मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे** की बात कहता है और अनार्य भावनाओं का विनाश कर विश्व को आर्य-श्रेष्ठ बनाने के लिए प्रेरित करता है -

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।[13]

वस्तुतः वैदिक पुरुषार्थवाद की पुनः प्रतिष्ठा से ही विश्व मानव की सुरक्षा और उसका अभ्युत्थान सुनिश्चित किया जा सकेगा। वैदिकेतर तांत्रिक, पौराणिक, मध्यकालीन गलदश्रु भावुकता से परिपूर्ण भक्तिवाद और संसार को मिथ्या और आभास मात्र बताने वाले मिथ्या वेदान्तवाद ने मानव का अहित ही किया है यह हमारी सुदृढ़ धारणा है।

पाद-टिप्पणियां

1. तु. मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि। एवं ज्ञात्वा महादेवि यथायोग्यं तथा कुरु।। 12।।
   - दुर्गासप्तशती, देव्यपराधक्षमापन स्तोत्रम्, पृ.230, गीता प्रेस गोरखपुर, 18वां संस्करण, 2052 संवत्।
2. मनुस्मृति
3. यजुर्वेद 34/44
4. अथर्ववेद 17/1/20, 2/11/5
5. यजुर्वेद 13/27
6. ऋग्वेद 10/117/6
7. अथर्ववेद 12/1/12
8. वही 12/1/5
9. वही
10 यजु. 40/1
11. वही 40/6
12. वही 40/07
13. ऋग्वेद 9/63/5

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351 Vol. 1(2), No.2 (9-13) Jan.-June 2012

वैदिक देवतावाद का स्वरूप

स्वतन्त्र कुमार
कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) भारत

वैदिक देवताओं का क्या स्वरूप है? यह प्रश्न अत्यधिक जटिल एवं विषम है। वेदों का अध्ययन करने वाले विद्वान् इसकी जटिलता को अच्छी तरह जानते हैं। इसी के सम्बन्ध में मतभेद होने से विद्वानों की वेदों के सम्बन्ध में सम्मति का बड़ा भेद हो जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने इस सम्बन्ध में विचार करते हुए क्रमिक विकास ढूंढने का प्रयत्न किया है। प्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर मैक्समूलर का कथन है कि आर्य लोगों ने जब प्राकृतिक घटनाओं को देखा तो उनके हृदय में यह स्वाभाविक प्रश्न उठा कि इन घटनाओं का कर्ता कौन है? इस समस्या पर विचार करते हुए वे इसी परिणाम पर पहुँचे कि इन सब घटनाओं के पीछे एक-2 एजेन्ट (देवता) है, जो इस प्रकार के विविध कर्म कर रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने वर्षा का देवता इन्द्र, ज्योति का द्यौः, नील आकाश का वरुण, आग का अग्नि तथा विद्युत् और आंधी का रुद्र देवता माना। परन्तु पीछे से उन्हें उनमें परस्पर सम्बन्ध दिखाई देने लगा और उन्होंने 'विश्वेदेवा' देवता की कल्पना करके सब देवताओं को एक श्रेणी में बांध दिया। तदनन्तर वे एक कदम और आगे बढ़े। उन्होंने देखा कि अग्नि देवता केवल इन्द्र और सविता के साथ कार्य ही नहीं करता, प्रत्युत कभी-2 अग्नि अपने कई कार्यों द्वारा इन्द्र तथा सविता का रूप धारण कर लेता है। तब उन्होंने युग्म-देवताओं (Duel Gods) की - इन्द्राग्नी, अग्निषोमौ, मित्रावरुणौ इत्यादि की कल्पना की। इसी प्रकार तीन और तीन से अधिक देवताओं का एकीकरण प्रारम्भ हुआ। इस एकीकरण को Syncretism नाम देते हैं, वैदिक देवतावाद पर विचार करते हुए प्रो0 मैक्समूलर ने एक नवीन शब्द का अविष्कार किया है। वह है Henotheism या Kathenotheism उनके कहने का तात्पर्य है कि शनैः-शनैः आर्यो का दृष्टिकोण विशाल होता गया और वे एक-2 देवता की शक्ति को विस्तृत रूप में देखने लगे। इस कारण जब वे इन्द्र अग्नि या वरुण की स्तुति करने लगे तो उस समय के लिए उसी एक देवता की ही एकमात्र सत्ता समझते हुए सब कुछ उसे ही बना देते थे और दूसरे देवताओं को भूल जाते थे। इस अनुभूति के कारण उनके विचार-क्रम में एक देवतावाद (Monotheism) तथा एकत्ववाद (Monism) का जन्म हुआ। इस प्रकार वैदिक आर्य लोग प्रकृति का निरीक्षण करते-2 बहुदेवतावाद से क्रमशः एकत्ववाद पर पहुँचे। ऐसा ही प्रायः बहुत से पाश्चात्य विद्वानों का विचार है।

पाश्चात्य विद्वानों की उपर्युक्त विचारशैली का आधारभूत कारण वेदों में इतिहास मानना तथा विचारों का क्रमिक विकास स्वीकार करना है। इन दो दृष्टियों के मुख्य होने के कारण वे लोग इस तरह विचार करते आये हैं। परन्तु वे

स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि कोई ऐसी प्रामाणिक कसौटी उनके पास नहीं जिस के आधार पर वे निश्चयपूर्वक कह सकें कि अमुक सूक्त पूर्व का है और अमुक सूक्त बाद का, मिस्टर H.W. Wallis अपनी पुस्तक 'The cosmology of Rigveda में लिखते हैं कि Even if we were able to determine the dates of the hymns, we would still be very far from deciding the relative ages of the ideas contained in them. The cosmological guesses strung together in the other Vedic collections and even in Brahmans, occasionaliy bear a more premitive character than those in the Rigveda.'

इस लिए जो विचार उन्नत न प्रतीत होते हों वे पहले के हैं, और जो उन्नत हों, वे वेद के होंगे, ऐसा भी हम आग्रहपूर्वक नहीं कह सकते। अतएव पाश्चात्य विद्वानों का वेदों में बहुदेवतावाद एक देवता या एकत्ववाद के प्रतिपादक मन्त्रों को देखकर ऐतिहासिक दृष्टि से एक विशेष क्रम का निश्चय करना प्रामाणिक नहीं समझा जा सकता। यदि इनके अन्दर परस्पर विरोध हो तो कथञ्चित् इनके पौर्वापर्य का विचार किया जा सकता है। इसलिये हम समझते हैं कि वेद में ऐतिहासिक क्रमिक विकास की कल्पना न करके तदनुसार बहुदेवतावाद, एकदेवतावाद या एकत्ववाद आदि सिद्धान्तों का पृथक् रूप से प्रतिपादन करने की आवश्यकता है।

देवताओं का स्वरूप

वेदों में बहुदेवतावाद है, ऐसा प्रयः सभी विद्वानों का मत है। याज्ञिक सम्प्रदाय का भी यही मत है। इसका कारण स्पष्ट है, क्योंकि निम्न मन्त्रों में बहुत से देवताओं की स्तुति की गई है। उदाहरणार्थ -

ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन्।। ऋ0 8/28/1

इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च। मनोर्देवा यज्ञियासः।। ऋ0 8/30/2

त्रीणि शता त्री सहस्रा ण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्। औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त।। ऋ0 3/9/9 तथा 10/52/6

परन्तु इनके अतिरिक्त बहुत से ऐसे मन्त्र हैं, जो एकदेवतावाद के प्रतिपादक हैं। यथा -

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः। तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्यदेव नमस्ते अस्तुदिवि ते सधस्थम्।।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव। य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

स नः पिता जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्याः।।

य एक इत्तमुष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः। पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः।।

इन में बताया है कि वह देवता एक ही है। परन्तु कुछ मन्त्रों में बहुत से देवताओं का स्तवन करना और कुछ मन्त्रों में एक ही देवता का प्रतिपादन करना विरोधी प्रतीत होता है। अतएव कुछ विद्वान् दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का स्वतन्त्र अस्तित्व वेदों में स्वीकार करते हैं। परन्तु वेदों का कुछ गंभीर पारायण किया जावे और इन देवताओं का व्यापक स्वरूप समझने का प्रयत्न किया जावे तो हम किसी अन्य

परिणाम पर ही पहुँचेंगे।

इस समस्या का हल निम्नलिखित मन्त्रों से बड़े स्पष्ट रूप से हो जाता है। इनमें इस बात पर प्रकाश डाला है कि देवता एक है या अनेक –

**इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यःस सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्न भुवना यन्त्यन्याः॥**

इनमें बड़े स्पष्टरूप में उपर्युक्त समस्या को सुलझा दिया गया है। वस्तुतः वह एक है, परन्तु ज्ञानी पुरुष उसे भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते हैं। यह सब देवों के नाम को धारण करने वाला है अर्थात् सब देवताओं के नाम से उसकी स्तुति की जाती है। यह क्यों? इस तथ्य प्रपञ्च (Phenomena) में ज़ितनी शक्तियाँ हैं, उन्हें वेद में देवता नाम से पुकारा गया है, (देखो यजु0) इसी कारण इन्द्र, मित्र, वरुण, आपः, अग्नि प्रभृति भौतिक पदार्थो में जो विशेष-2 शक्ति है वह उस देव की दी हुई है, जो उसका अधिष्ठाता है। वह इनका प्राण है- 'ततो देवानां समवर्ततासुरेकः' अग्नि में प्रकाश की शक्ति, विद्युत् में चमकने की शक्ति, आपः में शीतलता की शक्ति उस सर्वशक्तिमान् एक द्वारा प्राप्त है। अतएव वेद में बहुत से स्थानों पर उस परमात्मा को इन्द्र आदि नामों से पुकारा गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी एक देवता की स्तुति करते हुए कुछ समय के लिये उसे ही सब कुछ क्यों समझ लिया जाता है। वस्तुतः अग्नि की स्तुति के समय आग में रहने वाले परिमित शक्ति वाले किसी अधिष्ठातृ देवता अग्नि की स्तुति नहीं की जा रही होती,, प्रत्युत उसमें भी प्राण देने वाले महान् देव की विभूति का वर्णन किया जा रहा होता है। इसलिये Henotheism आदि पृथक् नाम देने की विशेष आवयकता नहीं।

वैदिक देवतावाद को स्पष्ट करने के लिये निरुक्तकार यास्काचार्य ने इस प्रकार लिखा है –

"प्रत्यक्षदृश्यमेतद्‌भवति महाभाग्याद्देवतायाः एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति"

अर्थात् वेद द्वारा यह स्पष्टतया देखा जा सकता है कि इस संसार का आत्मा एक है, परन्तु वह अपनी शक्ति के ऐश्वर्य के महत्त्व के कारण बहुत नामों से पूजा जाता है। उस एक महान् आत्मा के अन्य देव अंग प्रत्यंग रूप हैं।

इसी बात को ऋग्वेद में प्रकारान्तर से निम्न शब्दों में कहा गया है-

रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम्॥ ऋ0 3/53/58 रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ....॥

इस में बताया है कि वह अपनी शक्ति के प्रभाव से नाना रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। इसी प्रकार अथर्ववेद में लिखा है -

मरुद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। तस्मिन् छूयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्ध परित इव शाखाः॥ 10/7/38, यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजरे। ...10/7/87

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिता॥ 10/7/13

इस स्कम्भ सूक्त में अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिनमें पुरुष या वृक्ष की उपमा देकर उस महान् आत्मा (स्कम्भ या यक्ष) तथा अन्य देवों में अंगांगिभाव बताया गया है। इसी सूक्त में उस स्कम्भ के विराट् स्वरूप का वर्णन करते हुए इस संसार को शरीर तथा उसे शरीरी बताया गया है। जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा का प्रकाश या अभिव्यक्ति इस स्थूल शरीर द्वारा होती है। उसी प्रकार उस निराकार सर्वव्यापक महान् आत्मा का प्रकाश भी इस ब्रह्माण्ड (Cosmos) द्वारा ही सर्वसाधारण को हो सकता है। जिस प्रकार इस शरीर में चेतनता तथा क्रिया उत्पन्न करने वाला महान् आत्मा है, उसी प्रकार इस विराट् शरीर (संसार) में जीवन तथा क्रिया पैदा करने वाला वह महान् आत्मा है। सूर्य चन्द्र पृथिवी अग्नि उसके अंग तुल्य हैं।

इन सब मन्त्रों के उपस्थित करने का अभिप्राय केवल इतना है कि वेद में बहुत से स्वतन्त्र देवताओं (Gods) का प्रतिपादन नहीं। परन्तु वास्तव में एक महान् देव है जिसकी शक्ति (माया या रूप) विविध रूपों में इस दृश्य प्रपञ्च (Phenomena) द्वारा प्रस्फुरित हो रही है और जिन-2 पदार्थों द्वारा उस विभूति का अंश होने से उन्हें देव या देवता नाम से पुकारा गया है। वे अग्नि आदि देवता उस महती देवता के एजेन्ट ही समझने चाहियें। हमारे इन भौतिक देवताओं को **Natural Gods** न कहकर **Agents of Phenomena** ही कहना चाहिए। इसलिये इन इन्द्र आदि को महान् देव भी कह सकते हैं और उसके अंग भी। जिस प्रकार राजा के प्रतिनिधि राजकर्मचारियों को राजा की मूर्ति (Embodiment) भी कहते हैं और उसके अंग (Hands of government) भी।

इसलिये यदि हम वैदिक देवताओं के स्वरूप को इस तरह समझ लेंगे तो वेदों में बहुदेवतावाद, एक देवतावाद या एकत्ववाद का संमिश्रण दिखाई न देगा। परन्तु यह संसार एक जीवित शरीर (Living organ) दिखाई देगा और इस का एक अधिष्ठाता अपनी भिन्न-2 शक्तियों के साथ संसार का संचालन करता हुआ प्रतीत होगा। वस्तुतः इसी रूप में सर्वोच्च शक्ति (Higher Power) का स्वरूप मनुष्य समाज के लिए उपयोगी हो सकता है।

परन्तु इस प्रकार परमात्मा के सम्बन्ध में अंगांगिभाव के वर्णन में परमात्मा साकार या सीमित स्वीकार किया गया है। यह तो केवल आलंकारिक वर्णन है। वस्तुतः तो वह शरीर व इन्द्रिय रहित है। उदाहरणार्थ दो तीन मन्त्र पर्याप्त होंगे।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम्.....।
न किः ददृशे इन्द्र इन्द्रियं ते ....।

इसके अतिरिक्त पुरुष सूक्त में उस परमात्मा का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह परमात्मा केवल इस संसार में ही व्याप्त नहीं परन्तु वह तो वस्तुतः इस सारे संसार से भी बहुत बड़ा है। उसका केवल एकांश इस संसार में अपनी विभूति को प्रकाशित कर रहा है।

एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥

इन मन्त्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्मा के विचार को बहुत सीमित नहीं किया गया। जहाँ महती शक्ति की अनुभूति कराने के लिए अंगांगिभाव से उसका वर्णन किया गया है, वहां साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वह परमात्मा केवल इस संसार में ही सीमित नहीं, वह तो असीम है। इस संसार से केवल उसके स्वरूप की कुछ झलक मिलती है, उसकी महिमा के एकांश मात्र का प्रतिभास होता है। यही भाव स्कम्भ सूक्त में तथा कतिपय स्थानों में ओतप्रोत है। परन्तु यहां पर उसकी अधिक व्याख्या करने की आवश्यकता न होने के कारण हम उसे यहीं छोड़ते हैं।

अन्त में, एक बात और कह कर हम अपने विषय को समाप्त करते हैं। कतिपय विद्वानों का ऐसा विचार है कि वेद में उपादान कारण की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन नहीं किया गया। ब्रह्म (चेतन तत्त्व) ने अपने सामर्थ्य मात्र से सृष्टि को रचा और उसमें उसने प्रवेश कर लिया। परन्तु हमारी सम्मति में ऐसी बात नहीं। स्थान-2 पर ऐसे बहुत से मन्त्र मिलते हैं, जिनमें एक निन्द्य उपादान कारण का निर्देश किया गया है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्र पर्याप्त हैं।

आपो अग्रे विश्वमावन् गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः।अ0 4/2/6, एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव॥ अ010/8/30 आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न पर किंचनास॥ ऋ0 10/129/3

जिस प्रकार बीज के अन्तर्निहित एक बिन्दु रूप गर्भ ही विकसित होकर आकार बनता है। उसी प्रकार इस जगत् में रोह होने की शक्ति उसी ब्रह्म की दी हुई है। वही ब्रह्म गर्भ रूप होकर प्रकृतिरूप उपादान कारण को बाह्य शरीर बनाकर विकसित होता है। ऋग्वेद में 'तन्वं वृधानः' इत्यादि जो प्रयोग आते हैं उनका अभिप्राय भी यही है कि वह परमात्मा प्रकृतिरूपी शरीर के विकसित होने के कारण बढ़ता हुआ प्रतीत होता है।

यह विषय समय तथा स्थान की बहुत अपेक्षा करता है। परन्तु स्वल्प रूप में दिग्दर्शन करने के उद्देश्य से हमने अति संक्षेप से इसका कुछ विवेचन कर दिया है।

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1(2), No.2 (14-24) Jan.-June 2012

वैदिक ईश्वरवाद

धर्मदेव विद्यामार्तण्ड

[गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक, वेदों के प्रकाण्ड विद्वान्, देश-विदेश की अनेक भाषाओं के ज्ञाता, ख्यातिप्राप्त पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड ने हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी में कुल मिलाकर दो दर्जन से अधिक कृतियों का सृजन किया। अपनी कृतियों एवं लेखों में पण्डितजी पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों के वेद विषयक उन भ्रान्त विचारों का तर्कपूर्ण ढ़ंग से खण्डन-मण्डन करते रहे जो वेदाविर्भाव काल, वैदिक यज्ञवाद, वैदिक भाषा, वेदों के कर्तृत्व आदि को लेकर समय-समय पर प्रस्तुत किये जाते रहे। प्रस्तुत लेख में उन्होंने अपने वैदिक प्रमाणों तथा योरोपीय विद्वानों के मतों को उद्धृत करते हुए 'एकेश्वरवाद' का प्रतिपादन किया है।]

वेदों का निष्पक्ष होकर यदि हम अनुशीलन करें तो हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि वेद एक ही ईश्वर की पूजा का प्रतिपादन करते हैं, जो सच्चिदानन्द स्वरूप, सर्वव्यापक, सर्वत्र, सर्वशक्तिमान्, निराकार, निर्विकार, अजन्मा, अविनाशी, न्यायकारी, दयालु, जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता और संहर्त्ता है।

य एक इत् तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः।
पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः॥ -ऋ0 6.51.16

इस मन्त्र में स्पष्ट उपदेश है कि हे मनुष्य! (यः) जो (एकः इत्) एक ही (कृष्टीनां विचर्षणिः) सब मनुष्यों का ठीक-ठाक देखनेवाला सर्वज्ञ (वृषक्रतुः) सुखों की वर्षा करनेवाले कर्म या ज्ञानवाला सर्वशक्तिमान् (पतिः जज्ञे) सबका स्वामी (तम उ स्तुहि) तू सदा उसी की स्तुति कर।

'एकः इत्' इन शब्दों से एक परमेश्वर की ही स्तुति और पूजा का भाव अत्यन्त स्पष्ट है। अन्य भी हजारों वेदमन्त्र इसी बात का उपदेश करते हैं जिनमें से विस्तारभय से केवल कुछ ही मन्त्रों का यहाँ निर्देश किया जाता है। ऋग्वेद 8.1.1 में कहा है-

मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥

हे (सखायः) मित्रो! (मा चिद् अन्यद् विशंसत) तुम किसी अन्य की विशेष स्तुति अर्थात् प्रार्थना उपासना न करो और इस प्रकार अन्यों की स्तुति प्रार्थना करके (मा रिषण्यत) मत दुःख उठाओ। सदा एकान्त में और (सचासुते) मिलकर किये हुए यज्ञों में (वृषणम्) सुख, शान्ति और आनन्द की वर्षा करनेवाले (इन्द्रम् इत्) एक परमेश्वर की ही (स्तोता) स्तुति करो (च) और (मुहुः) बारबार उसी के (उक्था शंसत) स्तुति वचनों का उच्चारण करो।

कितने स्पष्ट शब्दों में इस मन्त्र में एक परमेश्वर की ही स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना करने का विधान करते हुए, जो सुख-शान्ति-आनन्द का वर्षक है, अन्यों की स्तुति का

निषेध किया गया है और उसे दुःखों का कारण बताया गया है, इस बात को पाठक ध्यान से देखें। 'इदि परमैश्वर्ये' धातु से इन्द्र शब्द बनता है अतः उसका अर्थ परमेश्वर है, इसमें सन्देह का कारण ही नहीं। श्री सायणाचार्यादि पौराणिक भाष्यकारों को भी बहुत स्थानों पर इन्द्र का परमेश्वर यही अर्थ करने को विवश होना पड़ा है। उदाहरणार्थ -

इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा। शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

इस सामवेद के मन्त्र 246 के भाष्य में सायणाचार्य ने लिखा है- ''(इन्द्र) अनेक गुण विशिष्ट परमात्मन्''।

इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, मातरिश्वा आदि शब्दों को देखकर कई लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और समझने लगते हैं कि वेद अनेकेश्वरवाद के समर्थक हैं, किन्तु वेदों के निष्पक्ष अनुशीलन से यह भ्रम सर्वथा दूर होता है। ऋग्वेद के प्रथम ही मण्डल में यह स्पष्टतया बताया गया है कि -

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो,
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं,
यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ0 1.164.46

अर्थात् (विप्राः) विद्वान् ज्ञानी लोग (एकं सद्) एक ही सत्यस्वरूप परमेश्वर के विविध गुणों को प्रकट करने के लिए उसे इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। परमैश्वर्य सम्पन्न होने से पहले उस परमेश्वर को इन्द्र, सबका स्नेही होने से मित्र, सर्वश्रेष्ठ और अज्ञानान्धकार निवारक होने से (वरणीयः, अज्ञानान्धकार-निवारको वा) वरुण, ज्ञानस्वरूप और सबका अग्रणी नेता होने से अग्नि (अञ्चु-गति पूजनयोः), सबका नियामक होने से यम, आकाश वा जीवादि में अन्तर्यामिरूपेण व्यापक होने के कारण मातरिश्वा आदि नाम से उस एक की ही स्तुति की जाती है।

यूरोप के संस्कृतज्ञों में अपने समय में सबसे अधिक सुप्रसिद्ध प्रो0 मैक्समूलर को भी- जिन्होंने अपने पहले ग्रन्थों में वेदों की हीनोथीइज्म अथवा अति-स्तुति देवतावाद का प्रतिपादक बताने का प्रयत्न किया था यह बात अपने अन्तिम ग्रन्थ **The Six Systems of Philosophy** में जो महर्षि दयानन्दकृत **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** के पढ़ने के बाद लिखा गया था - स्वीकार करनी पड़ी कि वेदों में इन्द्र, मित्र, अग्नि, वरुण, मातरश्विा, प्रजापति आदि शब्दों द्वारा वस्तुतः एक ही ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है जो अनन्त और निर्विकार है।

प्रो0 मैक्समूलर तथा यूरोप के कई अन्य विद्वान् इस प्रकार के स्पष्ट एकेश्वरवाद प्रतिपादक वेदमन्त्रों को ईसाइयत अथवा विकासवाद के पक्षपात के कारण पीछे की रचना बताने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु उनकी मनघड़न्त कल्पना है, जो सर्वथा निराधार है। इस पक्षपात का प्रमाण प्रो0 मैक्समूलर के "Vedic Hymns" नामक ग्रन्थ के निम्नलिखित लेख से मिलता है। यहाँ हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋ0 10.121.10) का अनुवाद करते हुए

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्।।
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक
इद् राजा जगतो बभूव।।
यो देवेष्वधिदेव एक आसीत्
कस्मै देवाय हविषा विधेम।।,
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः
कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

इत्यादि मन्त्रों में अत्यन्त स्पष्ट और प्रबल शब्दों में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन है, जैसे कि स्वयं प्रो0 मैक्समूलर ने **'History of Ancient Sanskrit Literature'.** में लिखा है कि मैं एक सूक्त (ऋ0 10.121) का उल्लेख करना चाहता हूँ जिसमें एक ईश्वर का भाव इतनी प्रबलता और स्पष्टता के साथ प्रकट किया गया है कि हमें अत्यन्त संकोच करना पड़ेगा, पूर्व इसके कि हम आर्यों के एक नैसर्गिक एकेश्वरवाद से इन्कार करें।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव। (ऋ0 10.121.10) इस मन्त्र पर प्रो0 मैक्समूलर टिप्पणी चढ़ाते हैं -

"This last verse is to my mind the most suspicious of all".

अर्थात् यह अन्तिम मन्त्र जिसमें परमेश्वर को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि तुम्हें छोड़कर अन्य कोई भी इस सारे जगत् में व्यापक और इसका स्वामी नहीं है, मेरी सम्मति में सबसे अधिक सन्देहास्पद है।

यह सन्देह इसलिए किया गया है कि ईसाइयत के पक्षपात के कारण, प्रबल प्रमाण होते हुए भी, ये लोग इस बात को मानने में संकोच करते हैं, और इसके लिए उद्यत नहीं होते कि वेदों में एकेश्वरवाद की उच्च शिक्षा पायी जाती है।

ऋ0 6.22.1 में कितनी स्पष्टता से एक सर्वव्यापक सर्वज्ञ परमेश्वर कि स्तुति और उपासना का विधान है। इसको देखिए -

य एक इद् हव्यश्चर्षणीनाम्,
इन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः।
यः पत्यते वृषभो वृष्णयावान्,
सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान्।।

अर्थात् (यः) जो (इन्द्र) परमेश्वर (चर्षणीनाम्) सब मनुष्यों का (एकः इत्) एक ही (हव्यः) पूजनीय है, (तम्) उसकी (आभिः गीर्भिः) इन वाणियों से (अभि अर्च) चारों ओर से प्रेमपूर्वक पूजा कर। (यः) जो (वृषभः) सुख, शान्ति, आनन्दवर्षक (वृष्णयावान्) सर्वशक्तिमान् (सत्यः) सत्यस्वरूप (सत्वा पुरुमायः सहस्वान् पत्यते) अत्यधिक बुद्धिशाली, सर्वज्ञ तथा सब प्रकार के बल से सम्पन्न होने के कारण सबको पराजित करनेवाला सारे जगत् का स्वामी है, वही परमेश्वर एकमात्र पूजनीय है।

इस प्रकार मन्त्र में परमेश्वर को सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सारे जगत् का स्वामी बताते हुए उसकी मानस पूजा का विधान किया गया है। क्या इससे स्पष्ट एकेश्वरवाद का प्रतिपादन नहीं हो सकता है, इसे निष्पक्ष पाठक विचारें।

ऋ0 10.82 में एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन सभी मन्त्रों में विश्वकर्मा अर्थात् जगत्कर्ता के नाम से परमेश्वर का स्मरण करते हुए किया गया है। 8 मन्त्रों के इस छोटे से सूक्त में 3 बार 'एक:' शब्द का परमेश्वर के लिए प्रयोग हुआ है (मन्त्र 2,3,6 में)।

मन्त्र 2 में विश्वकर्मा अर्थात् जगत्कर्ता परमेश्वर के गुणों का निम्न प्रकार वर्णन करते हुए उसके एक होने का प्रतिपादन है-

विश्वकर्मा विमना आद् विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्। तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन् पर एकमाहु:।।ऋ.10.82.2

इस मन्त्र का तात्पर्य है कि वह (विश्वकर्मा) जगत्कर्ता परमेश्वर (विमना आद् विहाया:) विविध मनों का स्वामी, आकाश के तुल्य व्यापक, (धाता) संसार का धारण करनेवाला, (विधाता) विशेष रूप से सूर्य, चन्द्र तथा लोक-लोकान्तरों को धारण और पोषण करनेवाला (परम:) अत्यन्त उत्कृष्ट, (उत) और (संदृक्) सर्वज्ञ है, (यत्र) जिस परमेश्वर के विषय में विद्वान् (आहु:) कहते हैं कि (सप्तऋषीन् परे) वह सात इन्द्रियों से परे (एकम्) एक ही है, और (यत्र) जिस परमेश्वर के आश्रय में (तेषाम्) उन इन्द्रियादि के (इष्टानि) अभिलषित सब भोग्य पदार्थ (इषा) उस प्रभु की प्रेरक शक्ति से (संमदन्ति) भली प्रकार हर्ष के कारण बनते हैं।

यहाँ ईश्वर के जगत्कर्ता, धर्ता और सर्वज्ञ होने का प्रतिपादन करते हुए इसे इन्द्रियातीत और एक ही बताया गया है। यह अति स्पष्ट है जिसमें सन्देह का अणुमात्र भी कारण नहीं।

इस सूक्त का मन्त्र 3 तो इस प्रकरण में अत्यधिक आवश्यक और महत्वपूर्ण है, जिसमें परमेश्वर को एक और देवों के सब नामों को धारण करनेवाला बताया गया है। मन्त्र इस प्रकार हैं -

यो न: पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।। -ऋग्0 10.82.3

अर्थात् (य: न: पिता) जो परमेश्वर हमारा पालक है, (जनिता) उत्पादक है, और (य:) जो (विधाता) विशेष रूप से हमारा धारण करनेवाला और (विश्वा धामानि) सब स्थानों, लोकों और (भुवनानि) उत्पन्न पदार्थों को (वेद) जानता है, (य: देवानां नामधा एक: एव) जो सब देवों - इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम इत्यादि के नाम को प्रधानतया धारण करनेवाला एक ही देव है (तम्) उस (संप्रश्नम्) अच्छी प्रकार से जानने योग्य परमेश्वर की ओर ही (अन्या भुवना) अन्य सब लोक और प्राणी (यान्ति) गति कर रहे हैं।

यहाँ परमेश्वर को पालक, उत्पादक, पिता, सर्वज्ञ, सर्वधारक बताते हुए स्पष्ट कहा है कि वह एक ही है, जिसके अनेक नाम हैं अर्थात् अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, रुद्रादि नाम प्रधानतया उस एक गुणसमुद्र परमेश्वर के हैं, गौण रूप से अन्यों के हैं। उससे बढ़कर एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और अनेकेश्वरवाद का निराकरण और हो क्या सकता है?

उसी सूक्त के मन्त्र 6 में पुन:

एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन निम्न शब्दों में किया गया है, जो अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे। अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥

इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में प्रकृति और उसके परमाणुओं को सबसे पूर्व धारण करनेवाला वही परमेश्वर है यह कथन कर उत्तरार्ध में बताया है कि इस अज प्रकृति, सत्व या प्रधान की (नाभा) नाभि में (एकम्) एक ब्रह्मतत्व ही (अधि अर्पितम्) ऊपर अधिष्ठाता रूप से विराजमान है, (यस्मिन्) जिसके आधार पर (विश्वानि भुवनानि तस्थुः) सब लोक स्थित हैं - जो सारे जगत् का संचालक और अध्यक्ष है। इस प्रकार न केवल एकेश्वरवाद का मन्त्र में प्रतिपादन है, किन्तु अज के नाम से प्रकृति तत्त्व का, और 'यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे' अर्थात् जिसके साथ सत्यनिष्ठ सब ज्ञानी लोग अपने को उपासना द्वारा संयुक्त करते हैं, यह कहकर, पृथक् आत्माओं की सत्ता मन्त्र के शब्दों से स्पष्ट सिद्ध होती है।

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥'

इस ऋग्0 1.164.46 के एकेश्वर प्रतिपादक वचन को मैं इस लेख से पहले उद्धृत कर चुका हूँ, उसी के समान वचन ऋ0 10.114.5 में भी है, जहाँ कहा है :-

'सुपर्णा विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति॥'

अर्थात् (कवयः) क्रान्तदर्शी तत्वज्ञानी लोग, (सुपर्णाम्) सुन्दर कर्म करनेवाले परमेश्वर को, (एकं सन्तम्) एक होते हुए भी (वचोभिः) वैदिक वचनों से (बहुधा कल्पयन्ति) अनेक रूपों में - गुणसूचक अनेक नामों के द्वारा वर्णित करते हैं, अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि इत्यादि अनेक नामों से उसी एक परमेश्वर का ही ज्ञानी लोग वर्णन करते हैं। काव्यमयी भाषा में भी उसी का अनेक कल्पनाओं द्वारा सर्वसाधारण को बोध देने के लिए प्रतिपादन करते हैं।

ऐसे स्पष्ट मन्त्रों के विषय को टालने का एक प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने निकाल रखा है कि यह मन्त्र ऋग्वेद के दशम मण्डल का है जो पीछे से बनाया गया। वस्तुतः यह भी एक मनघड़न्त कल्पना है, जिसका **'वेदों का यथार्थ स्वरूप'** नामक पुस्तक में मैंने सप्रमाण निराकरण किया है। तथापि अन्य मण्डलों में से कुछ और स्पष्ट प्रमाण देने में कोई हानि नहीं। ऋग्0 8.25.16 मन्त्र आता है -

अयम् एक इत्था पुरूरु चष्टे वि विश्पतिः। तस्य व्रतान्यनु वश्चरामसि॥

अर्थात् (अयम्) यह (विश्पतिः) प्रजाओं का स्वामी (एकः) एक ही है, (इत्था) इस प्रकार निश्चय से वह एक ही संसार का स्वामी, (पुरु उरु विचष्टे) सब प्रजाओं का ठीक ठीक निरीक्षण करता है - सब कुछ जानता है। हम (वः) तुम प्रजाओं के कल्याण के लिए (तस्य व्रतानि अनुचरामसि) उसके व्रतों का अनुसरण करते हैं - उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं। यहाँ भी स्पष्टतया परमेश्वर को एक और सारी प्रजाओं का स्वामी बताते हुए उसकी आज्ञा पालने का आदेश है।

ऋ0 8.1.27 में भी परमेश्वर को एक बताते हुए उसके गुणों का वर्णन इन शब्दों में किया गया है-

य एको अस्ति दंसना महां उग्रो अभि व्रतैः।

-ऋग्0 8.1.27

अर्थात् जो परमेश्वर एक, अत्यन्त आश्चर्यजनक, महान् और अपने व्रतों के कारण अति तेजस्वी और दुष्टों क लिए भयंकर है उसी का ध्यान सबको करना चाहिए। ऋग्0 1. 100.7 में भी - **स विश्वस्य करुणस्येश एकः॥**

यह कहकर परमेश्वर को सब करुणापूर्ण शुभ कर्मों का एक मात्र स्वामी बताया गया है। ऋग्0 1.7.9 का निम्न मन्त्र भी परमेश्वर को सारे संसार का और सब मनुष्यों का एक ही सम्राट् घोषित करता हुआ एकेश्वरवाद का प्रबल समर्थक है-

य एकश्चर्षणीनां वसूनाभिरज्यति।
इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम्॥

अर्थात् (यः) जो (इन्द्रः) परमैश्वर्य सम्पन्न परमात्मा (चर्षणीनाम्, पञ्च क्षितीनाम्) सब मनुष्यों का जो ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र, अतिशूद्र इन विभागों में बंटे हुए हैं और (वसूनाम्) सारे ऐश्वर्यों का स्वामी है, उसी की उपासना करो। यह ऋग्वेद के दशम मण्डल का नहीं, जिसको कई पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी मनघड़न्त कल्पना से पीछे की रचना बताने का यत्न किया है, किन्तु प्रथम मण्डल का मन्त्र है। इसी प्रथम मण्डल के सूक्त 54 का 14वाँ मन्त्र भी परमेश्वर को एक और अनुपम बताते हुए कितनी स्पष्टता से एकेश्वरवाद का विशुद्ध रूप में प्रतिपादन करता है-

न यस्य द्यावापृथिवी अनुव्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः। नोत स्ववृष्टिं सदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक्॥

-ऋग्0 1.54.14

अर्थात् जिस परमेश्वर के आकाश और पृथिवी, समुद्र और अन्य लोक-लोकान्तर अन्त नहीं पा सकते वह सब में ओतप्रोत है। मेघ, बिजली आदि भी गरजते या वृष्टि करते हुए उसकी महिमा को सूचित करते हैं, किन्तु उसका अन्त पाने में असमर्थ हैं। ऐसा वह परमेश्वर (एकः) एक ही है। उसने (आनुषक्) सब में व्याप्त होकर (अन्यत्) अपने से भिन्न इस (विश्वम्) संसार को (चकृषे) बनाया है।

इससे न केवल एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रतिपादन होता है, बल्कि अद्वैतवाद का स्पष्ट निषेध भी होता है, क्योंकि अद्वैतवाद के अनुसार तो केवल ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है।

सामवेद मन्त्र 372 में बड़ी उत्तमता से परमेश्वर के एकमात्र पूज्य होने का प्रतिपादन है। यही मन्त्र अथर्ववेद में भी है (अथर्व0 7. 21.1):

समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम्। स पूर्व्यो नूतनम् आजिगीषन् तं वर्तनीरनु वावृत एकमित् पुरु॥

अर्थात् हे मनुष्यो! तुम सब सरल भाव और आत्मिक बल के साथ परमेश्वर की ओर- उसका ध्यान भजन करने के लिए आओ, जो (एकः इत्) एक ही मनुष्यों में अतिथि की तरह पूजनीय अथवा अतसातत्यगमने सर्वव्यापक

है, वह सनातन-नित्य है और नये उत्पन्न पदार्थों के अन्दर भी व्याप्त रहा है। ज्ञान, कर्म, भक्ति के सब मार्ग उसकी ओर जाते हैं वह निश्चय से एक ही है।

इससे स्पष्ट वैदिक एकेश्वरवाद का प्रतिपादन हो रहा है। तथापि आश्चर्य की बात है कि प्रो0 मैक्समूलर आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों में विशुद्ध एकेश्वरवाद (Monotheism) के स्थान पर Henotheism वा उपास्य-श्रेष्ठतावाद का प्रतिपादन किया है। उनका कथन यह है कि वैदिक ऋषि अनेकेश्वरवादी थे, किन्तु वे जिस देव की स्तुति करने लगते थे, भाटों की तरह उसी को सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा जगत् का स्वामी मान लेते थे और उस समय अन्य सबको उसके आश्रित तथा उसकी अपेक्षा ही न समझते थे। इस प्रकार वे इन्द्र, मित्र, वरुणादि भिन्न-भिन्न देवों की स्तुति करते रहते थे। इस कल्पितवाद का एक तो ऊपर उद्धृत स्पष्ट प्रमाणों से निराकरण हो जाता है और दूसरा निम्न प्रकार के सैकड़ों मन्त्रों से जो वेदों में स्थान-स्थन पर पाये जाते हैं, उस कल्पना की भित्ति सर्वथा चकनाचूर हो जाती है जिनमें वरुण, मित्र, इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, रुद्र, महादेव इत्यादि को अभिन्न वा एक बताया गया है।

यथा -

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः। त्व ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या॥ - ऋ0 2.1.3

त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म इड्यः। त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य सम्भुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः॥ -ऋग्0 2.1.4

इन मन्त्रों में परमात्मा को अग्नि (ज्ञान स्वरूप नेता) के नाम से सम्बोधित करते हुए कहा है कि तू ही इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा और ब्रह्मणस्पति है। तू ही वरुण, मित्र, अर्यमा आदि नामों से पुकारा जाता है, अर्थात् परमैश्वर्य सम्पन्न होने से वही परमेश्वर इन्द्र, सर्वव्यापक होने से विष्णु, सबसे बड़ा होने से ब्रह्म, ज्ञान का स्वामी होने से ब्रह्मणस्पति, सर्वोत्तम व अज्ञानान्धकार निवारक होने से वरुण, सबका स्नेही होने से मित्र और न्यायकारी होने से अर्यमा के नाम से याद किया जाता है।

सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः महादेवः।
सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः॥

-अथर्व0 13.4.4.5

इस मन्त्र में भी कहा गया है कि वही परमात्मा अर्यमा, वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, सूर्य महायम इत्यादि नामों से पुकारा जाता है।

वह एक परमात्मा ही नमस्कार करने के योग्य है, इस बात को

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिः एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः। तं त्वा यामि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्॥
-अथर्व0 2.2.1

मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिः एक एव नमस्यः सुशेवाः॥ -अथर्व0 2.2.2

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते स एष एक एकवृदेक एव॥-अथर्व.13.4.20

इत्यादि में भी स्पष्टतया बताया गया है:

'एक एव नमस्यः विक्षु ईड्यः एक एव नमस्य सुशेवाः' ये शब्द स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हें, जिनसे जीवेश्वर भेद भी स्पष्ट है। इनमें कहा गया है कि वह 'एकः एव नमस्यः' एक परमात्मा ही नमस्कार के योग्य है। 'वह विक्षु ईड्यः' सारी प्रजाओं में पूजनीय है, क्योंकि सुशेवाः अर्थात् उत्तम सुखदाता है। वही 'भुवनस्य पतिः' - सारे संसार का स्वामी और रक्षक है। वह परमात्मा एक ही है- दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ, दस परमेश्वर नहीं। वह (एकः) एक है, (एकवृत्) एक होकर वह सर्वव्यापक है, (एकः एव) वह एक ही है। इससे अधिक स्पष्ट एकेश्वरवाद का प्रतिपादन और क्या हो सकता है?

वैदिक ईश्वर का स्वरूप

यदि वैदिक ईश्वरवाद के विषय में कोई एक ही मन्त्र उद्धृत करना हो, जिसमें सागर को गागर में भर दिया गया है तो वह निःसन्देह यजु0 41.8 है जहाँ -

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धम-पापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथा-तथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

इन शब्दों द्वारा बताया गया है कि ज्ञान उस परमेश्वर को प्राप्त करता है जो सर्वशक्तिमान्, सर्वथा शरीर रहित, नसनाड़ी के बन्धन से रहित, निराकार, निर्विकार, शुद्ध, पवित्र तथा सर्वथा पाप रहित है। वह सर्वज्ञ, मन का भी साक्षी, सर्वव्यापक स्वयम्भू है, जो (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) अनादि जीवरूप प्रजाओं के कल्याणार्थ (याथातथ्यतः) यथार्थ रूप से सब पदार्थों को बनाता है और वेद द्वारा उनका उपदेश करता है। यहाँ 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' इन शब्दों से अनादि नित्य जीवों की सत्ता और 'यथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्' से जगत् की यथार्थता सिद्ध होती है। 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' इस अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्तानुसार उसका मिथ्यात्व भी स्पष्ट है।

जीवेश्वर भेद का अत्यन्त स्पष्ट प्रतिपादन

वेदों में जीवेश्वर भेद का स्पष्ट प्रतिपादन सैकड़ों मन्त्रों में है, क्योंकि इस बात को सभी जानते हैं कि वेदों में अधिकतर मन्त्र प्रार्थना के हैं और प्रार्थना उपास्य-उपासक, स्वयं-सेवक, पिता-पुत्र आदि का भेद मानकर ही सम्भव है। तथापि लेख के विस्तार भय से अभी निम्नलिखित अति स्पष्ट मन्त्रों का निर्देश मात्र ही पर्याप्त है, जिनके अर्थ के विषय में भी सन्देह का अवकाश नहीं, बशर्ते कि निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाये।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व-जाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ -ऋग्0 1.164.20

इस मन्त्र में जीवात्मा और परमात्मा की दो पक्षियों से उपमा देते हुए, जो दोनों चेतन और नित्य होने के कारण सहयोगी मित्र के समान होते हुए, नित्यता की दृष्टि के समान प्रकृतिरूप वृक्ष पर बैठे हैं यह कहा है कि

(तयोः) उन दोनों में से एक कर्मानुसार (स्वादु पिप्पलम्) स्वादु व अस्वादु फल का भोग करता है और (अन्यः) दूसरा कर्मफल का भोग न करता हुआ (अभि चाकशीति) सर्वज्ञ साक्षी बनकर जीवकृत कर्मों को चारों ओर से देखता है। इस प्रकार मन्त्र के शब्दों में जीवात्मा और परमात्मा का भेद स्पष्ट है।

स्वामी आत्मानन्द नामक प्रसिद्ध अद्वैतवादी विद्वान् ने भी अस्यवामीय सूक्त (ऋग्0 1.164) की व्याख्या करते हुए इसी जीवात्मा परमात्मा भेदपरक अर्थ को स्वीकार किया है।

श्री सायणाचार्य ने भी शब्दार्थ लगभग उपर्युक्त प्रकार से करते हुए अद्वैतवाद के पक्षपातवश निम्न टिप्पणी दे दी है जो सर्वथा अमान्य है, कोई सम्बन्ध नहीं। वे लिखते हैं -

''अयं मन्त्रः औपाधिकभेदं वास्तवा भेदं चापेक्ष्य प्रवृत्तः। .... अनेन वास्तवभेदोऽपि निरस्तः। न च जीवस्य वस्तुत ईश्वरत्वे कथं जीवबुद्ध्या संसार-शोकाविति वाच्यं तयोर्मोहकृतत्वात्। .....तस्माद् वस्तुत एक एव भेदस्तु मोहकृत इति प्रसिद्धम्। अनु भवदशायां लौकिकबुद्ध्या भेदमभ्युपेत्योच्यते 'तयोरन्य' इति। तस्माद्वास्तव भेदमुपजीव्य 'तयोरन्य' इत्युक्तम्।।'' इत्यादि।

अर्थात् इस मन्त्र में औपाधिक भेद, किन्तु वस्तुतः अभेद को मानकर 'तयोः अन्यः' इत्यादि कहा है। यदि जीव वास्तव में ईश्वर है तो संसार शोक इत्यादि क्यों दिखाई देते हैं, इस प्रश्न का उत्तर यह सब मोह के कारण होता है, वास्तव में कोई भेद नहीं। कल्पित लौकिक भेद मानकर 'तयोरन्यः' ऐसा मन्त्र में कहा गया है।

मुण्डकोपनिषद् में उपर्युक्त वेदमन्त्र को उद्धृत करके इसकी व्याख्या रूप में जो वचन दिये गये हैं वह भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं-

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम् अस्य महिमानमिति वीतशोकः।। -मुण्डक उपनि0 3.2

अर्थात अनादि नित्य होने से अपने समान प्रकृति-रूप वृक्ष में फंसा हुआ जीव शरीर, इन्द्रिय, मन आदि पर अपने स्वामित्व को खोकर मोह अज्ञानवश शोक करने लगता है। किन्तु जब वह अपने से भिन्न (अन्यम्) (जुष्टम् ईशम्) अपने आनन्दमय प्रेमी स्वामी ईश्वर के दर्शन करता है और उसकी महिमा का चिन्तन करता है तब वह शोक-रहित हो जाता है।

यहाँ भी जीवेश्वर भेद का स्पष्ट प्रतिपादन है, यद्यपि श्री शंकराचार्य जी आदि ने उसे अवास्तविक बताने का प्रयत्न किया है।

ऋग्वेद 10.82.6 के मन्त्र में जीवेश्वर भेद का अति स्पष्ट प्रतिपादन है:

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति।।

अर्थात् हे जीवो! तुम उस परमात्मा को नहीं जानते जिसने इन सब पदार्थों को उत्पन्न किया है। वह ब्रह्म तुम जीवों से (अन्यत्)

भिन्न, किन्तु साथ ही (युष्माकम् अन्तरं बभूव) तुम्हारे अन्दर विद्यमान है। तुम अज्ञानान्धकार से आवृत, स्वार्थी तथा कपटी दम्भी होने के कारण उस सर्वव्यापक ब्रह्म को नहीं जानते, ऐसा मन्त्र के उत्तरार्ध में कहा गया है। इस प्रकार परमेश्वर का जीवों से और सांसारिक पदार्थों से (जिनका परमेश्वर उत्पादक है) सम्बन्ध वेद मन्त्र में स्पष्टतया निरूपित किया गया है। यही मन्त्र यजुर्वेद 17.31 में भी पाया जाता है। बृहदारण्यकोपनिषत् के-

''य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। य आत्मनि तिष्ठन्नन्तरो यमयत्येष न आत्माऽन्तर्याम्यमृतः॥''

इत्यादि वचन इस मन्त्र के व्याख्यान रूप प्रतीत होते हैं, जिनमें कहा गया है कि जो परमात्मा आत्मा के अन्दर रहता हुआ भी आत्मा में स्थित होकर सबको वश में रखता है। हे गार्गी! वह तुम्हारा अन्तर्यामी अविनाशी परम आत्मा है। इस मन्त्र के अर्थ में श्री सायणाचार्य, उव्वट, महीधरादि अद्वैतवादी आचार्यों को जो खैंचातानी इसको जैसे-तैसे करके अद्वैतवाद समर्थक बताने के लिए करनी पड़ी है, उसका मैं फिर कभी निर्देश करूँगा।

ऋग्0 8.66.6 का निम्न मन्त्र भी जीव, ईश्वर और प्रकृति तथा प्रकृति से उत्पन्न जगत् के भेद को स्पष्टतया प्रतिपादित करता है।

तमु ष्टवाम य इमा जजान विश्वा जातान्यवरण्यस्मात्। इन्द्रेण मित्रं दिधिषेम गीर्भिरुणे नमोभिर्वृषभं विशेम॥

इस मन्त्र में कहा गया है कि (तम् उ स्तवाम्) ईश्वर की स्तुति करें (यः इमा जजान) जिसने इन सब सूर्यादि पदार्थों को बनाया है, (विश्वा जातानि अवराणि अस्मात्) ये उत्पन्न सब पदार्थ इस परमेश्वर की अपेक्षा बहुत ही हीन हैं। (इन्द्रेण) आत्मा के द्वारा हम (मित्रेण दिधिषेम) सबके सच्चे मित्र परमेश्वर का ध्यान करें, (नमोभिः गीर्भिः) नमस्कार युक्त वाणियों से (वृषभम्) सुखों के वर्षक परमात्मा के (उपविशम) समीप बैठ जाएँ उसकी सच्ची उपासना करें, इस मन्त्र द्वारा ब्रह्म और जगत् का भेद अत्यन्त स्पष्ट है।

ऋग्वेद 8.95.3 के निम्न मन्त्र में परमेश्वर को, जीवरूप सनातन प्रजाओं का स्वामी बताया गया है। जो उनके परस्पर भेद को स्पष्ट सिद्ध करता है।

त्वं हि शश्वतीनां पती राजा विशामसि।

अर्थात् हे परमेश्वर (त्वं हि) तू ही निश्चय से (शश्वतीनां प्रजानाम्) जीवरूप नित्य प्रजाओं का (पतिः असि) स्वामी है।

निम्न सुप्रसिद्ध मन्त्र भी जीवेश्वर भेद अत्यन्त स्पष्टतया प्रमाणित करता है, जहाँ भगवान् से प्रार्थना की गई है कि -

इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा। शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

-ऋग्0 7.32.26 सा0 मं0 256 ऐन्द्र पर्व

हे (इन्द्र) परमेश्वर (पिता पुत्रेभ्यः यथा) जिस प्रकार पिता पुत्रों को उत्तम ज्ञानः प्रदान करता है इसी प्रकार तू (नः) हमें (क्रतुम्

आभर) उत्तम ज्ञान और बुद्धि दे। हे (पुरुहूत) अनेक भक्तों द्वारा पुकारे गये प्रभो! (अस्मिन् यामनि) इस संसार-मार्ग में (नः शिक्ष) तू हमें शिक्षा दे, जिससे हम (जीवाः) जीव (ज्योतिः अशीमहि) ज्ञान ज्योति वा ज्योतिः स्वरूप तुझको प्राप्त करें।

ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर।

यजुर्वेद अध्याय 40 का मन्त्र भी (जो ईशोपनिषद् में ज्यों का त्यों पाया जाता है, इस प्रसंग में उल्लेखनीय है, जहाँ स्पष्ट कहा है कि हे (क्रतो) कर्मशील जीव तू (ओ३म् स्मर) ओं पदवाच्य सर्वरक्षक परमेश्वर का स्मरण कर, (क्लिबे स्मर) शक्ति की प्राप्ति के लिए परमेश्वर का स्मरण और (कृतं स्मर) अपने किये हुए को याद कर आत्मनिरीक्षण कर। यहाँ भी जीवेश्वर भेद का स्पष्ट प्रतिपादन है।

इस प्रकार हजारों मन्त्रों को जीवेश्वर भेद दिखाने के लिए उद्धृत किया जा सकता है, किन्तु लेख का कलेवर ही बहुत अधिक बढ़ गया है, अतः उस विचार को किसी और अवसर के लिए छोड़ते हुए मैं इस लेख को यहीं समाप्त करता हूँ। सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, एक परमेश्वर की उपासना और उसकी आज्ञानुसार शुभकर्म करने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है अन्यथा नहीं, इस बात को हमें कभी न भूलना चाहिए। वार्ल्स कोलमैन, अर्नेस्ट वुड, ब्राऊन, कौन्ट ब्जौन्सजर्ना इत्यादि पाश्चात्य विद्वानों, दादाचान् इत्यादि पारसी, और सर् यामिन खाँ आदि मुसलमान विद्वानों ने वेदों में एकेश्वरवाद का किस प्रकार प्रतिपादन किया है, इस विषय को फिर कभी दिखलाया जाएगा।

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1(2), No.2 (25-27) Jan.-June 2012

ब्रह्म स्वानुभूतिमात्रगम्य है

विजयपाल शास्त्री
अधिष्ठाता, प्राच्य विद्या संकाय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) भारत

शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्म की सत्ता में केवल श्रुति ही एक प्रमाण है। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण भी उसकी सिद्धि में कृतकार्य हो सकते हैं, किन्तु श्रुति की तुलना में अन्य प्रमाण बड़े दुर्बल प्रतीत होते हैं। **'शास्त्रयोनित्वात्'** सूत्र द्वारा महर्षि बादरायण श्रुति की सर्वातिशायिता को ही सिद्ध कर रहें हैं, किन्तु विचार करने पर श्रुति प्रमाण भी ब्रह्म की सत्ता सिद्ध करने में स्वयं को असमर्थ पा रहा है।

मुण्डकोपनिषद् कहती है -

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेध्या न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य -
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।

- मुण्डक - 4/3

अर्थात् यह आत्मा या ब्रह्म विद्वानों के प्रवचनों को सुनकर नहीं जाना जा सकता। प्रखर से प्रखर मेधा अर्थात् बुद्धि भी उसका ज्ञान नहीं करा सकती। शास्त्रों का अध्ययन भी उसका अपरोक्ष ज्ञान नहीं करा सकते। यह तो ब्रह्म ही जिसका वरण कर ले वही उसे जान सकता है। उसी के समक्ष यह आत्मा अपने को अनावृत कर देता है।

कुछ विज्ञानवान् पुरुष श्रुति की अपेक्षा तर्क को अधिक बलवान् मानते हैं। उदयनाचार्य जयन्त भट्ट आदि तार्किक विद्वान् तर्क के आधार पर ईश्वर की सिद्धि करते हैं किन्तु कठ में तर्क का भी निषेध किया गया है। आचार्य यम नचिकेता को कह रहे हैं - ''नैषा तर्केण मतिरापनेया'' - कठ 1/2/7 अर्थात् आत्म बुद्धि तर्क से प्राप्त करने योग्य नहीं है।

इस सबके पश्चात् पुनः जिज्ञासा होती है कि यदि श्रुति और तर्क दोनों ही ब्रह्म की सत्ता में प्रमाण नहीं हैं तो फिर वास्तविक प्रमाण क्या है? इसका उत्तर आचार्य शंकर देते हैं कि ब्रह्म की सत्ता में कवेल अनुभूति प्रमाण है।

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः।।

- विवेक चूडामणि

भाव यह है कि मनुष्य अपने से भिन्न दूसरी वस्तुओं को जान सके या न जान सके किन्तु अपनी सत्ता का अपलाप वह कदापि नहीं कर सकता। अपनी अपरोक्ष अनुभूति वह सदा करता है। इसीलिए श्रुति उसे **''यः साक्षादपरोक्षात्''** कह रही है। अपने अन्तःकरण की अनदेखी कोई कर ही नहीं सकता। यह जो अपनी होने की अनुभूति है वही तो आत्मा है। यदि व्यक्ति अपनी भी अनुभूति नहीं करता तो किसी का निषेध भी नहीं कर सकता। जब वह स्वयं ही नहीं है तो यह भी कैसे कह सकता है कि अन्य वस्तु नहीं है। वह अपना भी निषेध नहीं कर सकता, यह जो विधि और निषेध का

कर्त्ता है वही तो आत्मा है। तभी तो आचार्य कह रहे हैं कि वह स्वानुभूत्येकमान है। दिशा, काल और आकाश की सीमाओं से भी अधिक सीमा है उसकी। वह तो अनन्त है। वह सर्वत्र है, किन्तु सर्वत्र होने पर भी उसकी अपरोक्ष अनुभूति सर्वत्र नहीं होती। केवल अन्तःकरण में ही होती है। चित्त अणु परिमण है। चित्त की अणुता को ध्यान में रखकर ही श्रुति कभी-कभी आत्मा को अणु कह बैठती है। आत्मा अणु नहीं है वह सर्वत्र व्याप्त है। किन्तु अणु चित्त से वेद्य होने के कारण आत्मा को भी उपचार से अणु कह दिया जाता है -

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" -मुण्डक 3/1/7

अणु के समान ही कभी-कभी आत्मा को अंगुष्ठ मात्र भी कह दिया जाता है-

"अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।

-कठ 2/1/12

अब यदि कोई यह चाहे कि आत्मा को हाथ पर रखे हुए आँवले के समान चक्षुओं से दिखा दिया जाये तो यह कभी सम्भव नहीं। तिलों में तेल रहता अवश्य है किन्तु जब तक तिलों में है तब तक पृथक् से उसे नहीं देखा जा सकता। तिलों से बाहर आने पर ही तेल का दर्शन किया जाता है। तेल को बाहर आने से पहले तिलों को पिसना पड़ता है मिटना पड़ता है अपनी अस्मिता को खोना पड़ता है। इसी प्रकार दधि में घृत रहता है, स्रोतों में जल रहता है काष्ठ में अग्नि छिपी रहती है किन्तु घृत जल तथा अग्नि को देखने के लिये इनका मन्थन करना पड़ता है। इसी प्रकार आत्मा सबके देह में रहता है, किन्तु इतना निगूढ़ है कि अन्तःकरण से पृथक् उसका दर्शन नहीं हो सकता। उसके लिये सत्य और तप के द्वारा देह को तपाना पड़ता है। ध्यान द्वारा मन्थन करना पड़ता है। यही बात श्रुति कह रही है-

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पि-
रापः स्रोतस्वरणीषु वह्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ,
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥

-श्वेताश्वतर 1/15

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम्॥

- श्वेताश्वर 1/16

अपने अन्तःकरण को अरणि बनाकर और ओंकार को उत्तर अरणि बनाकर ध्यानरूपी मन्थन दण्ड रूप से जब मन्थन क्रिया की जाती है, तब जाकर आत्मा की अपरोक्ष अनुभूति उभरकर आती है-

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥

- श्वेताश्वतर 1/14

श्रुति की स्पष्ट घोषणा है कि अवर अर्थात् साधारण साधकों के द्वारा ब्रह्म की साक्षात् अनुभूति शक्य नहीं है।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष, सुविज्ञेयः - कठ 1/2/8

साधारण लोगों को तो आत्मा का श्रवण भी सुलभ नहीं होता। जिनको श्रवण सुलभ होता है उनमें भी कुछ लोग सुनकर भी उसे नहीं जान सकते। कोई विरला भाग्यशाली पुरुष

ही इसका व्याख्यान कर सकता है। कोई कुशल व्यक्ति ही उस व्याख्यान का ग्रहण करता है और कोई आश्चर्यजनक पुण्यशाली ही उसे तत्वतः जान सकता है।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः,
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा,
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।

-कठ 1/2/7

निष्कर्ष यह है कि श्रवण मनन आदि उपाय अपरोक्षानुभूति के साधन नहीं हैं। ये केवल लोक में पदार्थ ज्ञान कराते हैं। स्वानुभूति का साधन तो केवल स्वात्मा ही है। आचार्य शंकर कहते हैं कि शास्त्र और गुरुजन तो नदी के तट पर खड़े होकर केवल नदी की गहराई बताते हैं, नदी से पार नहीं कराते। पार जाने के लिए तो अपनी प्रज्ञा ही काम आती है -

तटस्थिता बोधयन्ति शास्त्राणि गुरवस्तथा।
प्रज्ञयैव तरेद् विद्वानात्मानुगृहीतया।।

- विवेक चूड़ामणि

अतः श्रुति हो या प्रत्यक्षादि प्रमाण सभी अंकिचित्कर हैं। आत्मा से ही आत्मा को जाना जा सकता है। आत्मा ईश्वर या ब्रह्म को जानने के लिये किसी बाह्य उद्योग की अपेक्षा नहीं है। वह तो सबके हृदय में सर्वदा विद्यमान है, यही बात गीता कह रही है, **''ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति''**। देखना यह है कि वह स्वानुभूति कब होती है। जब ब्रह्म ही हमारा वरण करेगा। तभी यह सम्भव होगा। उस वरण के लिये प्रतीक्षा करनी होगी।

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1(2), No.2 (28-34) Jan.-June 2012

ऋषि दयानन्द की भाष्यशैली पर कुछ आक्षेप और उनका समाधान

प्रियव्रत वेदवाचस्पति
पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी वि.वि., हरिद्वार-249404 (उत्तराखण्ड) भारत

जो लोग ऋषि दयानन्द की भाष्यशैली का गहराई में जाकर अध्ययन नहीं करते और उसके गम्भीर रहस्य को नहीं समझ पाते, केवल ऊपर-ऊपर से उनके वेद-भाष्य आदि का अवलोकन करते हैं, वे उनकी भाष्यशैली पर कई प्रकार के आक्षेप करते हैं, जिनमें से मुख्य निम्न हैं-

(क) ऋषि दयानन्द ने वैदिक शब्दों को विशेषकर इन्द्र आदि देवतावाची शब्दों को, यौगिक मानकर उनके राजा, सेनापति, ईश्वर, बिजली आदि काल्पनिक अर्थ कर दिये हैं। इसलिए उनका भाष्य प्रामाणिक नहीं है।

यह आक्षेप वही लोग कर सकते हैं जिन्होंने वैदिक वाङ्मय का व्यापक अध्ययन नहीं किया है। सारे ब्राह्मण ग्रन्थ इन्द्र आदि देवतावाची शब्दों सहित वैदिक शब्दों के यौगिक अर्थों से भरे पड़े हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में एक ही वैदिक शब्द के प्रकरणानुसार स्थान-स्थान पर यौगिक पद्धति को अपना कर अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं। वेदों के समझने और मन्त्रों के अर्थ करने में अत्यन्त उपयोगी यास्काचार्य का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ निरुक्त भी वैदिक शब्दों के यौगिक अर्थों से ही भरा हुआ है। निरुक्त में ब्राह्मण ग्रन्थों की भाँति देवतावाची वैदिक शब्दों के अनेकानेक यौगिक अर्थ किए गए हैं और साथ ही इस ग्रन्थ की यह भी मान्यता है कि वैदिक शब्दों के अर्थ होते ही यौगिक हैं तथा यह ग्रन्थ वैदिक शब्दों के यौगिक अर्थ करने की विधि की शिक्षा भी देता है। महाभाष्य के प्रणेता महर्षि पतंजलि भी वैदिक शब्दों को यौगिक ही मानते हैं।[1]

स्कन्द स्वामी, वेंकटमाधव, सायणाचार्य, उवट और महीधर आदि जितने भी भाष्यकार हैं, वे सभी मन्त्रार्थ करते हुए अनेक स्थानों पर वैदिक शब्दों के यौगिक अर्थ भी करते हैं और अपने अर्थ के समर्थन में ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त आदि के यौगिक अर्थों का भारी संख्या में स्थान-स्थान पर उद्धरण भी देते हैं। इन सब ग्रन्थों का अध्ययन करने वाला कोई भी पाठक इस बात को भली प्रकार जान सकता है। इस सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों आदि से उन द्वारा किये गये यौगिक अर्थों को उद्धृत करके यहाँ विस्तार में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। ऋषि दयानन्द ने अपने भाष्य में जहाँ मन्त्रों में प्रयुक्त देवतावाचक शब्दों, देव, इन्द्र, अग्नि, अश्विनौ, रुद्र, मरुत्, सरस्वती आदि के यौगिक पद्धति द्वारा ईश्वर, मनुष्य राजादि परक अर्थ किये हैं, वे केवल अपनी कल्पना के आधार पर नहीं प्रत्युत मन्त्रों के प्रकरणों को और देवतावाचक पदों के मन्त्रों में प्रयुक्त विशेषणों को ध्यान में रखकर किये हैं। जिस बात का ध्यान उनके पूर्ववर्ती अन्य भाष्यकारों ने नहीं रखा। इसके

अतिरिक्त इन अर्थों के समर्थन में ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त आदि के प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। इन देवतावाची पदों का परमात्मापरक अर्थ करने में तो ऋषि दयानन्द ने अनेक वेदमन्त्रों को भी प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।[2] इसलिए ऋषि दयानन्द की वेदभाष्य की यौगिक शैली को काल्पनिक और अप्रामाणिक कहना सर्वथा असंगत है।

(ख) एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि ऋषि दयानन्द एक ही सूक्त में एक ही देवता विषयक मन्त्रों का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार का करते हैं। एक ही सूक्त में कहीं इन्द्र का अर्थ ईश्वर करते हैं तथा कहीं सूर्य, वायु, सभापति तथा सेनापति आदि।

यह आक्षेप भी कोई बल नहीं रखता। एक ही सूक्त में एक ही देवतावाची पद के अनेक अर्थ हो जाने पर भी उनमें एक प्रकार का एकत्व या समानता बनी रहती है। इन इन्द्र आदि देवतावाची शब्दों के बीसियों भिन्न-भिन्न अर्थ, ब्राह्मण ग्रन्थों आदि में किये गये हैं। अतः उन अर्थों के आधार पर एक सूक्त में आये इन्द्रादि की अनेक प्रकार की व्याख्या या अर्थयोजना हो सकती है। इन्द्र के उन सभी अर्थों में 'इन्द्रत्व' अर्थात् इन्द्रपन समान रूप से रहेगा। जैसे कि ऋषि दयानन्द ने दस मन्त्रों के ऋ० 1. 5 सूक्त के भाष्य में इसके प्रथम तीन मन्त्रों की व्याख्या ईश्वर और वायुपरक की है। अगले दो मन्त्रों की व्याख्या ईश्वर और सूर्यपरक, छठे तथा सातवें मन्त्रों की व्याख्या विद्वान् व्यक्तिपरक और अन्तिम तीन मन्त्रों की व्याख्या केवल ईश्वरपरक की है। इन्द्र के इन सभी अर्थों में इन्द्रत्व अर्थात् इन्द्रपन समान है, क्योंकि वे सभी इन्द्र हैं, ये सब अपने-अपने गुणों से अपने ढंग के परमैश्वर्यशाली हैं। इस प्रकार महर्षि की इस सूक्त की व्याख्या में ऊपर से भिन्नता-सी प्रतीत होते हुए भी आन्तरिक समानता या एकरूपता भी विद्यमान है। वैदिक शब्दों की व्याख्या को लौकिक शब्दों की व्याख्या के ढंग से नहीं देखना चाहिए।

(ग) ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य पर एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि उन्होंने वेदों में भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञान दिखाने का व्यर्थ प्रयत्न किया है। वेद को जैसे-जैसे धर्म का मूल तो माना जा सकता है परन्तु उसे ज्ञान-विज्ञान का ग्रन्थ कभी भी नहीं माना जा सकता।

ऋषि दयानन्द पर यह आक्षेप करना भी एक व्यर्थ की बात है। प्राचीन ऋषि मुनि और आचार्यों की सारी भारतीय आर्य परम्परा वेदों को भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञानों का ग्रन्थ मानती रही है। भारतीय आर्य मनीषा वेद को निरन्तर ज्ञान-विज्ञान का आदिस्रोत मानती रही है। याज्ञिक विनियोगकारों, अनुक्रमणिकाकारों और उनके पीछे चलने वाले ऋषि दयानन्द से पूर्ववर्ती भाष्यकारों ने वेद की इस ज्ञान-विज्ञानमयी छवि को सर्वथा विलुप्त कर दिया था। ऋषि दयानन्द ने वेद के इस स्वरूप को पुनः उज्ज्वल करने का प्रयत्न किया है।

(घ) ऋषि के भाष्य पर एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि उन्होंने अपने वेदभाष्य में यज्ञ शब्द का, जो कि अग्निहोत्रादि यज्ञों के अर्थ में प्रसिद्ध है, जो अध्ययन-अध्यापन, शिल्प,

सभा-सम्मेलन और जगत् आदि अर्थ किया है, वह प्रामाणिक न होकर केवल कल्पना मात्र है, यज्ञ शब्द के इतने व्यापक अर्थ नहीं हो सकते।

ऋषि दयानन्द की यज्ञ शब्द की सभी प्रकार के लोकोपकारी कर्मों के अर्थ में व्याख्या करने को अप्रामाणिक या कल्पनामात्र वे ही लोग कह सकते हैं जिन्होंने वैदिक साहित्य का व्यापक अध्ययन नहीं किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ शब्द के बहुत व्यापक अर्थ दिये गये हैं। यथा–'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (शत० 1.7.1.5), 'यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म' (तैत्तिरीय ब्रा० 3.2.1.4) अर्थात् सभी उत्तम और श्रेष्ठ कर्मों को यज्ञ कहते हैं। 'यज्ञो वै महिमा' (शत० 6.3.1.18) अर्थात् सभी प्रकार के महत्त्वपूर्ण उत्तम कर्म यज्ञ कहलाते हैं। 'पुरुषो वै यज्ञः' (कौ० 17.7) अर्थात् पुरुष का जीवन अपने आप में एक यज्ञ है। इस कथन का भाव यह है कि पुरुष का जीवन उत्तम श्रेष्ठ कर्म करने के लिए मिला है और जो व्यक्ति इस प्रकार के श्रेष्ठ कर्म करता रहता है, उसका जीवन यज्ञमय जीवन होता है। 'यज्ञो वै भुवनम्' (तै० 3.3.7.5) अर्थात् यह सारा संसार ही एक महान् यज्ञ है जिसे परमात्मा ने चला रखा है। 'यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति' (श० 9.4.1.11) अर्थात् यज्ञ द्वारा सब प्राणियों को उनके लिए आवश्यक भोग्य पदार्थ प्राप्त होते हैं। इस कथन का भाव यह है कि लोगों के जिन कार्यों से दूसरों को भोग्य पदार्थों की, सुख मंगलों की प्राप्ति होती हो, वे सभी यज्ञ हैं। 'यज्ञो वा ऋषिः ऋतस्य योनि' (शत० 1.3.4.16) ऋषियों का जीवन भी यज्ञमय होता है जो कि संसार में सत्य प्रचार के कारण होते हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि ऋषि इसलिए बन जाते हैं कि वे अपने जीवन द्वारा लोगों के कल्याण के लिए उत्तम श्रेष्ठ कर्म करके यज्ञमय जीवन बिताते हैं तथा अपने जीवन को सत्य के प्रचार में लगाये रखते हैं। 'यज्ञो वै वसुः' (शत० 1.7.1.9.1) अर्थात् वसु अर्थात् सब प्रकार के धन-ऐश्वर्य का नाम यज्ञ है, और इस कारण जिन कार्यों या संगठनों द्वारा धन-ऐश्वर्य उत्पन्न किया जायेगा, वे तो स्वतः ही यज्ञ कहलाएंगे। 'यज्ञो वै बृहन्विपश्चित्' (श० 3.5.3.12) महान् विद्वान् लोगों का नाम यज्ञ है। सामान्य अग्निहोत्रादि यज्ञ कर्म तो जड़ क्रिया मात्र हैं। वे विद्वान् नहीं हो सकते। इस ब्राह्मण वाक्य में स्पष्ट ही परोपकारी विद्वान् महापुरुषों को यज्ञ कहा गया है।

वेदों के पुरुष सूक्तों में परमात्मा-रूप पुरुष को यज्ञ नाम भी दिया गया है और इस यज्ञ-रूप परम पुरुष से इन सूक्तों में हवा में उड़ने वाले पक्षियों, जंगली और ग्राम्य पशुओं, गौवों, घोड़ों, ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के मनुष्यों, आकाश, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, भूमि आदि सम्पूर्ण विश्व ब्राह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, यह कहा गया है। वेदों का ज्ञान भी उसी यज्ञ-रूप परम पुरुष से मनुष्यों को प्राप्त हुआ है। यह सम्पूर्ण रचना पुरुष सूक्तों के इस यज्ञ-रूप परम पुरुष ने प्राणियों के कल्याण के लिए की है। इन सूक्तों में परमात्मा को यज्ञ कहना और उसके इस प्रकार के कल्याणकारी कार्यों का वर्णन करना यह ध्वनित करता है कि परोपकार के जन कल्याणकारी कार्य करने वाले को यज्ञ-रूप कहा जाता है। अभेदान्वय से ऐसा

यज्ञकर्ता और उसके कार्य दोनों ही यज्ञ कह दिये जाते हैं। पुरुष सूक्तों के इस संकेत से भी यह स्पष्ट रूप में प्रकट होता है कि यज्ञ शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ है और जितने भी जनकल्याण के लोकोपकारी कार्य हैं, वे सब यज्ञ हैं।

मनु ने तो ब्रह्मयज्ञ का अर्थ ही अध्यापन अर्थात् पढ़ना-पढ़ाना किया है।[3] गीता में भी यज्ञ शब्द का प्रयोग पर्याप्त व्यापक अर्थ में किया गया है। वहाँ यज्ञशील लोगों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि कुछ लोग तो द्रव्ययज्ञ होते हैं जोकि सामग्री द्रव्यों के द्वारा अग्निहोत्रादि यज्ञ करते हैं। कुछ लोग तपोयज्ञ होते हैं जो कि तपस्या रूपी यज्ञ को करते हैं। कुछ लोग साधना-रूप यज्ञ को करते हैं, कुछ यति लोग स्वाध्याय यज्ञ होते हैं और ज्ञान यज्ञ होते हैं, जो कि स्वाध्याय रूप यज्ञ करते हैं और ज्ञान-संग्रह रूप यज्ञ करते हैं।[4]

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से स्पष्ट पता लगता है कि यज्ञ शब्द का प्रयोग अग्निहोत्रादि यज्ञों के अतिरिक्त अन्य जन कल्याणकारी श्रेष्ठ कर्मों के लिए भी होता है।

ऋषि दयानन्द ने इसी आधार पर अपने ग्रन्थों में यज्ञ शब्द को बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त किया है—उदाहरणार्थ उन्होंने यजु० 1.2 मन्त्र के भाष्य में यज्ञ शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है कि "यज्ञ शब्द जिस यज् धातु से निष्पन्न होता है, उसके तीन अर्थों के आधार पर यज्ञ शब्द के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं। यज्ञ शब्द का एक अर्थ होता है—इस लोक और परलोक के सुख प्राप्त करने के लिए देवों अर्थात् विद्याज्ञान और धर्मानुष्ठान में उन्नत और बढ़े हुए विद्वान् लोगों का सेवा-सत्कार करना। इसका दूसरा अर्थ होता है—विभिन्न भौतिक पदार्थों के गुण-धर्मों को जानकर उन्हें आवश्यकतानुसार परस्पर मिलाकर या वियुक्त करके शिल्प-विद्या द्वारा भांति-भांति के नवीन उपयोगी पदार्थ बनाना, और इसके लिए कुशल विद्वानों की संगति करना, तथा इसका तीसरा अर्थ होता है—अपना और दूसरों का शुभ करने वाले, विद्या धर्म आदि गुणों का तथा धनादि का नित्य दान करना, जिससे लोगों का सुख बढ़े।"[5]

यज् धातु के देवपूजा, संगतिकरण और दान, ये तीन अर्थ होते हैं। धातु के तीनों अर्थों के व्यापक भाव को ध्यान में रखकर ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में यज्ञ शब्द के उक्त प्रकार के विस्तृत यौगिक अर्थ किये हैं। गहरे और गम्भीर चिन्तन से वेद के शब्दों के हृदय तक पहुँचने पर ही उनके वास्तविक रहस्य खुलते हैं। इसीलिए 'अथर्व० 7.5.5' में कहा गया है कि हमें तो उस तत्त्वज्ञ को बताओ जो यज्ञ को मन की गहराई से सोचता और विचारता हो।[6] ऋषि दयानन्द ने मन की गहराई से ही यज्ञ शब्द पर विचार करके उसके इतने व्यापक अर्थ किये हैं।

(ङ) महर्षि दयानन्द की भाष्यशैली पर एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि उसमें अर्थों की खींचातानी बहुत है। ऋषि दयानन्द वैदिक शब्दों के कुछ-कुछ अर्थ कर देते हैं।

यह आक्षेप करने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि वेद की भाषा लौकिक संस्कृत भाषा से अनेक अंशों में बहुत भिन्न है। यास्काचार्य

द्वारा संगृहीत वैदिक कोश **निघण्टु** को देखने से, जिसकी व्याख्या यास्क ने निरुक्त में स्वयं की है, यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद की भाषा और लौकिक संस्कृत भाषा में कितना अन्तर है। लौकिक संस्कृत में पृथिवी शब्द का अर्थ भूमि होता है किन्तु निघण्टु में इसका अर्थ अन्तरिक्ष भी किया गया है। लौकिक संस्कृत में समुद्र शब्द सागर के अर्थ में आता है परन्तु निघण्टु में वह अन्तरिक्ष का भी वाचक है। लौकिक संस्कृत में अद्रि, पर्वत, गिरि आदि शब्द पहाड़ का बोध कराते हैं किन्तु निघण्टु में वे मेघ नामों में पढ़े गये हैं। लोक में वराह, चमस्, ओदन, अश्मा और असुर शब्द प्रायः सुअर, चमसा, चावल, पत्थर और राक्षस अर्थों के बोधक हैं किन्तु निघण्टु में ये मेघ के नामों में भी आये हैं। पुरीष, विषम्, नमः, हेम, इन्द्रः, सत्यम्, आयुधानि इन शब्दों का लोक में, मल, विष, नमन, स्वर्ण, चन्द्र, सत्य तथा हथियार अर्थ होता है किन्तु निघण्टु में ये शब्द जल के वाचक भी हैं।

इसी प्रकार लौकिक संस्कृत में अश्व शब्द केवल घोड़े का वाचक है किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में वीर्य, यजमान, विद्युत्, सूर्य, अग्नि, वज्र, क्षत्र तथा ईश्वर आदि भी अश्व शब्द का अर्थ किया गया है।[7]

लोक में आज्य शब्द का अर्थ केवल घी होता है किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में तेज, रस, पशु, यज्ञ, यजमान, वज्र, काम, सत्य, प्राण, रेतस् तथा छन्द आदि आज्य शब्द के अर्थ दिये गये हैं।[8]

इस प्रकार के अन्य भी अनेक उद्धरण ब्राह्मण ग्रन्थों से दिये जा सकते हैं जिसके विस्तार में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। लौकिक संस्कृत में शब्दों के जो अर्थ प्रसिद्ध हैं, वेद में उनसे भिन्न अर्थ कर देने के कारण ऋषि दयानन्द पर अर्थों की खींचातानी का आक्षेप नहीं लगाया जा सकता। उन्होंने वेदभाष्य में वैदिक शब्दों के जो लोक से भिन्न अर्थ किये हैं, उनकी पुष्टि में ब्राह्मण ग्रन्थों, निघण्टु, निरुक्त तथा व्याकरण आदि के प्रमाण यदि न मिल सकते तब तो उन पर यह आक्षेप लग सकता था, परन्तु इन ग्रन्थों से ऋषि के अर्थों के समर्थन में प्रचुर मात्रा में प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं। इसलिए ऋषि पर इस प्रकार का आक्षेप लगाना वैदिक साहित्य से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है।

ऋषि दयानन्द ने अपने भाष्य में शब्दों के यौगिक अर्थ करने की पद्धति का आश्रय लिया है। इस कारण भी अनभिज्ञ लोग उन पर खींचातानी का आक्षेप लगा देते हैं। ऋषि दयानन्द की यौगिक पद्धति के समर्थन में अभी ऊपर इस विषयक आक्षेप के समाधान में हम यथोचित लिख आये हैं।

जैसा हम अभी ऊपर लिख आये हैं, श्री सायणाचार्य आदि सभी भाष्यकारों ने अपने भाष्यों में वैदिक शब्दों के यौगिक अर्थ करने की पद्धति का यथेष्ट रुप में आश्रय लिया है, और इस पद्धति से उन्होंने अनेक स्थानों पर तो शब्दों के लोक प्रसिद्ध अर्थों की तुलना में बहुत ही विचित्र अर्थ किये हैं। यहाँ केवल इसका एक ही नमूना दे देना पर्याप्त होगा। श्री सायण ने ऋ० 5.64.7 मन्त्र में 'हस्ति' पद का, जोकि

लोक में हाथी के अर्थ में प्रसिद्ध है, घोड़ा अर्थ किया है। संस्कृत की 'हन्' धातु का गति अर्थात् चलना अर्थ भी होता है। सायण ने अपने भाष्य में लिखा है कि जिससे चला जाये, वह 'हस्त' अर्थात् पाद (पैर), हस्त=पाद (पैर), जिसके हों वह हस्ती अर्थात् मित्र वरुण के घोड़े।[8]

ऋषि दयानन्द ने अपने भाष्य में वैदिक व्याकरण के व्यत्यय के नियम का भी अनेक स्थानों पर आश्रय लिया है जिससे कि मन्त्र का अर्थ सुबोध और शिक्षाप्रद बन सके। व्यत्यय का आश्रय लेना कोई ऋषि दयानन्द ही की अपनी नयी मान्यता नहीं है। उनके पूर्ववर्ती सायणाचार्य आदि सभी भाष्यकार स्थान-स्थान पर व्यत्यय का आश्रय लेते रहे हैं। उदाहरणार्थ, सायणाचार्य ने अथर्व० 1.9.2 मन्त्र के भाष्य में 'अधिरोहय' इस एकवचनान्त क्रियापद को व्यत्यय से 'अधिरोहयत प्रापयत' ऐसा बहुवचनान्त पद माना है। इसी मन्त्र में आये 'अस्मत्' पद को सायणाचार्य ने 'अस्मात्' ऐसा पंचमी विभक्ति का रूप भी माना है और लिखा है कि 'व्यत्यय' से अस्मात् के 'आकार' को छान्दस् ह्रस्वत्व हो गया है। अथर्व० 1.11.1 के भाष्य में आचार्य सायण ने 'अस्मिन्' इस पुल्लिंग सप्तमी विभक्ति के शब्द का अर्थ व्यत्यय से 'अस्याम्' ऐसा स्त्रीलिंगपरक किया है। अथर्व० 1.11.4 के भाष्य में उन्होंने 'शुने' इस चतुर्थी विभक्त्यन्त पद को व्यत्यय से 'शुनः' ऐसा षष्ठी विभक्त्यन्त पद माना है। यजुर्वेद 34.42 के भाष्य में उवट ने 'परिपति' शब्द का अर्थ 'अधिपति' किया है और लिखा है कि व्यत्यय से अधि उपसर्ग के स्थान पर परि उपसर्ग हो गया है। यजु० 29.8 के भाष्य में 'धत्त' इस मध्यम पुरुष के बहुवचनान्त क्रियापद को व्यत्यय से 'दधतु' ऐसा प्रथम पुरुष का बहुवचनान्त क्रियापद माना है। इन लोगों के भाष्य से जितने चाहें उतने व्यत्यय के इस प्रकार के उदाहरण दिये जा सकते हैं। यहाँ विस्तारभय से हम ऐसा नहीं कर रहे। श्री सायणाचार्य ने तो अपने ऋग्वेदभाष्य में अनेक स्थानों पर स्वरों तक का व्यत्यय माना है।

इसलिए अनेक स्थानों पर व्यत्यय के नियम के आधार पर मन्त्रार्थ करने के कारण ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य पर खींचातानी का आरोप लगाना केवल दुराग्रह और पक्षपात मात्र है।

पाद-टिप्पणियां

1. नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे च शकटस्य च तोकम्।
2. उदाहरणार्थ, इन्द्रं मित्रं वरुणम्०। ऋ० 1/164/46 तथा तदेवाग्निस्तदादित्य०। यजु० 32/1 आदि मन्त्रों को देखा जा सकता है।
3. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः। मनु० 3.70
4. द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथा परे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।। गीता 4.28
5. धात्वर्थाद्यज्ञार्थस्त्रिधा भवति। विद्याज्ञानधर्मानुष्ठानवृद्धानां देवानां विदुषामैहिकपारमार्थिकसुखसम्पादनाय सत्करणं, सम्यक् पदार्थगुणसंमेलविरोधज्ञानसंगत्या शिल्पविद्याप्रत्यक्षीकरणं नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं, शुभविद्या

सुखधर्मादिगुणानां नित्यं दानकरणमिति।

6. य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः–अर्थ० 7.5.5

7. वीर्यं वा अश्वः (श० 2.3.4.23), यजमानो वा अश्वः (तै० 3.9.37.4), इन्द्रो वा अश्वः (कौ० 15.4), असौ वा आदित्योऽश्वः (तै० 3.9.23.2), अग्निरेष यदश्वः (श० 6.3.3.32), वज्रो वा अश्वः (श० 4.3.4.27), क्षत्रं वा अश्वो (शत० 13.2.2.15), ईश्वरो वा अश्वः (तै० 3.8.9.3; 3.8.12.2 आदि)।

8. तेजो वा आज्यम् (तां० 12.10.18), रस आज्यम् (श० 3.7.1.13), पशव आज्यम् (तै० 1.6.3.4), यज्ञो वा आज्यम् (तै० 3.3.4.1), यजमानो वा आज्यम् (तै० 3.3.4.4) वज्रो ह्याज्यम् (श० 1.3.2.17), काम आज्यम् (तै० 3.1.4.15), सत्यमाज्यम् (श० 11.3.1.1), प्राणो वा आज्यम् (तै० 3.8.15.2–3), रेतो वा आज्यम् (श० 1.9.2.7), छन्दांसि वा आज्यम् (तै० 3.3.5.3)।

9. हस्तिभिः हस्तवद्भिः। हन्तेर्गतिकर्मणो हस्तशब्दः। गमनसाधनपादवद्भिरित्यर्थः। षड्भिः पादवद्भिश्च पादचतुष्टयोपेतैरश्वैः। सायण ऋ० 5.64.7

--

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1(2), No.2 (35-42) Jan.-June 2012

स्वामी दयानन्दकृत 'संस्कारविधि' का पाठालोचन (1)

राजवीर शास्त्री (सम्पादक- दयानन्द सन्देश)
भूपेन्द्रपुरी, मोदीनगर-201204, गाजियाबाद, उ0प्र0, भारत

मानव-जीवन की उन्नति में संस्कारों का विशिष्ट महत्त्व है। मानव की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति के लिए जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त भिन्न-भिन्न समय पर संस्कारों को व्यवस्था प्राचीन ऋषि-मुनियों ने बहुत ही सुन्दर ढंग से की है। संस्कारों से ही मानव को द्विज बनने का अधिकार मिलता है। महर्षि मनु ने इस विषय में बहुत ही सत्य लिखा है-

(क)वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैनिषेका दिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥

मनु. 2/26

अर्थः- द्विजों के गर्भाधानादि संस्कार वैदिक पुण्य कर्मों के द्वारा सम्पन्न होने चाहिए। क्योंकि इस लोक तथा परलोक में पवित्र करने वाले संस्कार हैं।

(ख) गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

(मनु0 2/27)।

अर्थः - गर्भ सम्बन्धी हवन (गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन संस्कार) जातकर्म, चूड़ाकर्म और उपनयन संस्कारों के द्वारा द्विजों के गर्भ एवं वीर्य-सम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं।

इस प्रकार मनु जी का संस्कारों के विषय में स्पष्ट निर्देश है कि माता-पिता के वीर्य एवं गर्भाशय के दोषों को गर्भाधानादि संस्कारों से दूर किया जाता है। अतः संस्कार शरीरादि की शुद्धि करते हैं। इससे अगले श्लोक में तो (मनु0 2/28) में लिखा है कि यज्ञ, व्रतादि से मानवशरीर व आत्मा को ब्रह्म प्राप्ति के योग्य बनाया जाता है।

महर्षि दयानन्द ने संस्कारों को परमोपयोगी समझकर ही प्राचीन ऋषि-मुनियों की पद्धति का अनुसरण करके संस्कारविधि की रचना की है। उसमें महर्षि ने संस्कारों का महत्त्व इस प्रकार बताया है-

(क) जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं। इसलिए संस्कारों का करना सब मनुष्यों को अति उचित है।' (सं0 वि0 भूमिका)

(ख) **संस्कारैस्संस्कृतं यद्यन्मेध्यमत्र तदुच्यते।**
असंस्कृतं तु यल्लोके तदमेध्यं प्रकीर्त्यते॥4॥
अतः संस्कारकरणे क्रियतामुद्यमो बुधैः।
शिक्षयौषधिभिर्नित्यं सर्वथा सुखवर्धनः॥5॥

(संस्कार0 पृ0 1)

अर्थात् संस्कारों से संस्कृत ही पवित्र तथा असंस्कृत को अपवित्र कहते हैं। अतः शिक्षा तथा ओषधियों से सुखवर्धक संस्कारों के करने में बुद्धिमानों को सदा उद्यम करना चाहिए।

जीवात्मा अमर तथा नित्य है। जन्म-जन्मान्तरों में उसके साथ सूक्ष्मशरीर मुक्तिपर्यन्त रहता है। और यही सूक्ष्मशरीर जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों या वासनाओं का वाहक होता है। ये संस्कार शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के होते हैं। जब जीवात्मा दूसरे शरीर में प्रवेश करता है, उसको नई परिस्थिति के भी बहुत से शुभाशुभ प्रभाव मिलते हैं। उनमें बुरे प्रभावों को अभिभूत

करने तथा शुभ प्रभावों को उन्नत कराने के लिए संस्कारों तथा स्वच्छ वातावरण की परमावश्यकता है। महर्षि दयानन्द ने इसलिए माता-पिता को सचेत करते हुए लिखा है -

"माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य मद्य, दुर्गन्ध, रूक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़ के जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करें, वैसे घृत, दुग्ध, मिष्ट, अन्नपानादि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें, जिससे रजस् वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुण युक्त हों।" (स0 प्र0 द्वि0 समु0)

अतः माता-पिता के शुद्धाहार व शुद्ध विचारों का बालक पर बहुत प्रभाव होता है। बालक के पूर्वजन्मस्थ अशुभ संस्कार पवित्र वातावरण को पाकर वैसे ही ओझल हो जाते हैं, अथवा दग्धबीजवत् प्रसवगुणरहित हो जाते हैं, जैसे पोदीना या धनिया के पौधे वर्षा की प्रतिकूल परिस्थिति को पाकर मुर्झा जाते हैं, और वर्षा के बाद अनुकूल परिस्थिति पाकर फिर से प्रस्फुटित तथा विकसित हो जाते हैं। संस्कारों में प्रथम तीन संस्कार तो बच्चे के जन्म से पूर्व ही किए जाते हैं, जिनका पूर्ण उत्तरदायित्व माता-पिता पर ही है। यदि बच्चे के पूर्वजन्म के संस्कार उत्तम हों, गर्भावस्था में भी माता-पिता के उत्तम संस्कार पड़े हों और जन्म के बाद भी उत्तम वातावरण प्राप्त हो जाए, तो ऐसे बच्चे महाभाग्यशाली होते हैं। महर्षि ने इनके विषय में ही लिखा है- 'वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्, जिसके माता और पिता धार्मिक और विद्वान् हों।' (स0 प्र0 द्वि0 समु0)

स्वयं संस्कार शब्द भी संस्कारों की महत्ता को बताता है। संस्कार शब्द में सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय है। और पाणिनि के 'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे' सूत्र से अलंकार अर्थ में सुडागम होता है। इसके अनुसार भी संस्कार शब्द का अर्थ है- जिसके शरीरादि सुभूषित हों, उन्हें संस्कार कहते हैं। अथवा भाव में 'घञ्' प्रत्यय करके -

'संस्करणं गुणान्तराधानं संस्कारः' अर्थात् अन्य गुणों के आधान को संस्कार कहते हैं। संस्कारों से मानव की सर्वाङ्गीण उन्नति तो होती ही है, साथ ही पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति से मानव अपने जीवन-लक्ष्य को प्राप्त करने में भी समर्थ हो जाता है। अतः आर्यों के जीवन में संस्कारों को विशेष महत्त्व दिया गया है।

संस्कारविधि की आवश्यकता - महर्षि दयानन्द ने संस्कारविधि की आवश्यकता बताते हुए लिखा है-

कृतानीह विधानानि ग्रन्थग्रन्थनतत्परैः।
वेद-विज्ञानविरहैः स्वार्थिभिः परिमोहितैः॥

(सं0 वि0 पृ0 1)

प्रमाणैस्तान्यनादृत्य क्रियते वेदमानतः।
जनानां सुखबोधाय संस्कारविधिरुत्तमः॥

(सं0 वि0 पृ0 1)

अर्थात् वेदादि शास्त्रों से अनभिज्ञ, स्वार्थी तथा मुग्ध मनुष्यों ने संस्कारों के सम्बन्ध मेंग जो मिथ्याग्रन्थों की रचना की है, उनका वेदादि के प्रमाणों से खण्डन करके लोगों को सरलता से बोध कराने के लिए यह उत्तम संस्कारविधि की रचना की है। इससे स्पष्ट है कि आर्यजाति में वेदादि शास्त्रों में विहित संस्कारों में जो दूषित मान्यताएँ प्रविष्ट हो गई थीं, अथवा जिन शुद्ध परम्पराओं को लोग भूल गये थे, उन दोषों को दूर करके आर्यजाति के पुनरुत्थान के लिए इन

अलौकिक **संस्कारविधि** ग्रन्थ की महर्षि ने रचना की है।

आजकल के नवीन वेदान्ती जो यह मिथ्याप्रचार करते रहते हैं कि कर्मकाण्ड तो जगत् में फँसाता है, अतः मुमुक्षु जनों का ज्ञानकाण्ड को तो अपनाना चाहिए और कर्मकाण्ड की उपेक्षा करनी चाहिए। ऐसी मिथ्या भ्रान्तियों का खण्डन करते हुए महर्षि ने लिखा है-

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।

(यजु0 40/14)

अर्थात् अविद्या = कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या = अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है। (सत्यार्थ0 नवम0)

इस वेदप्रमाण के अनुसार ज्ञानकाण्ड व कर्मकाण्ड की आवश्यकता बताकर महर्षि ने खण्डन किया है। इसी प्रकार ईश्वर के सच्चे स्वरूप तथा उसकी सच्ची उपासना-पद्धति बताने के साथ-साथ इस **संस्कारविधि** में संस्कारों का सच्चा स्वरूप बताकर संस्कारों के महत्त्व को अक्षुण बनाया है। और भ्रान्तिपूर्ण अविद्याग्रस्त आर्य-सन्तति को संस्कारों की सत्य-पद्धति का सप्रमाण दर्शन कराकर एक अतीव प्रशस्त कार्य किया है।

क्या स्वस्तिवाचन व शान्तिकरण के मन्त्रार्थ ईश्वर-परक ही हैं?

संस्कारविधि के प्रारम्भ में स्वामी जी ने ईश्वरस्तुति प्रार्थना तथा उपासना के आठ मन्त्र लिखकर 'स्वस्तिवाचनम्' तथा 'शान्तिकरणम्' के मन्त्र लिखे हैं। इन दोनों प्रकरणों के मन्त्रों का अर्थ स्वामी जी ने **संस्कारविधि** में नहीं लिखा है। इनके अर्थों के विषय में स्वामी जी ने स्पष्ट निर्देश किया है।

''मन्त्रों के यथार्थ अर्थ मेरे किये वेद-भाष्य में लिखे ही हैं। जो देखना चाहें, वहाँ से देख लेवें।'' (सं. वि0 भूमिका)

इन दोनों प्रकरणों के ग्रन्थों के विषय में प्रायः यह भ्रान्ति बनी हुई है कि इन मन्त्रों में भी ईश्वर-स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना का ही वर्णन किया है। इसके लिए मन्त्रों के विविध अर्थ मानकर विद्वान् या पुरोहित अर्थ करने की चेष्टा भी करते रहते हैं। किन्तु उनकी यह धारणा सत्य नहीं। यदि ये समस्त मन्त्र ईश्वर-स्तुत्यादि के ही होते, तो तीन प्रकरण बनाने की क्या आवश्यकता थी? और स्वामी जी के वेदभाष्य में इनके जो अर्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें स्वामी जी ने भी सब की ईश्वरपरक व्याख्या नहीं की है। 'स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण' जो इन मन्त्रों का नामकरण किया है, उससे भी यही स्पष्ट होता है, कि सु+अस्ति=स्वस्ति अर्थात् शुभ कर्म क्या हैं और अशुभ क्या हैं? इसका वर्णन स्वस्तिवाचन में किया है। और शान्ति तीन प्रकार की मानी जाती है -1.) आध्यात्मिक, 2.) आधिदैविक, 3.) आधिभौतिक। अतः शान्तिकरण में तीनों प्रकार के मन्त्रों का संग्रह किया गया है। और दोनों प्रकरणों के रखने का एक क्रम है। जब मनुष्य शुभ कर्म करता है तभी उसे सुख व शान्ति प्राप्त होती है।

यथार्थ में त्रिविध-प्रक्रिया से मनुष्यों को बड़ी भ्रान्ति हुई है कि प्रत्येक मन्त्र के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं, यह एक अवैदिक धारणा है। प्रत्येक मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय देवता के रूप में ऋषियों ने निश्चित किया हुआ है। उसके अनुसार ही मन्त्रार्थ की संगति उचित है। और प्रत्येक पदार्थ में सामान्य व विशेष धर्म होते हैं। विशेष-धर्मों से अर्थनिर्णय

में बहुत सहायता मिलती है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि प्रकृतिवर्णन परक मन्त्रों का अर्थ ईश्वरपरक मन्त्रों का अर्थ ईश्वरपरक और ईश्वरपरक मन्त्रों का अर्थ प्रकृतिपरक कर दिया जाए। अतः जहाँ मन्त्र के अनेक अर्थ सम्भव हों, वहीं करने चाहिए, सर्वत्र नहीं। जिन विद्वानों ने त्रिविध प्रक्रिया को मानकर वेदार्थ करने का संकल्प किया, वे सब अपनी मान्यता का पूर्णतया पालन करने में सर्वथा असफल रहे हैं। श्री आचार्य वैद्यनाथ जी शास्त्री का 'सामवेद भाष्य' इस विषय का प्रबल प्रमाण है। वे अपनी इस प्रतिज्ञा का सर्वत्र निर्वाह नहीं कर सके कि सामवेद के मन्त्रों में उपासना प्रकरण ही है। श्री आचार्य जी की तो अपनी त्रिविध प्रक्रिया से ईश्वर-परक अर्थ करने ही चाहिए थे। परन्तु वैदिक नियमों तथा मन्त्रार्थ की संगति के आगे उन्हें नतमस्तक होना पड़ा और ईश्वर से भिन्न पदार्थों के वर्णन में ईश्वरपरक अर्थ वे नहीं कर सके।

स्वस्तिवाचन व शान्तिकरण के मन्त्रों का महर्षिकृत अर्थ इस विषय में बहुत ही स्पष्ट कर देता है कि ये सब मन्त्र ईश्वर-स्तुत्यादि के ही नहीं हैं। महर्षिकृत कुछ मन्त्रों के विषय देखिये -

(1) ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां०॥

(ऋ० 7/35/15)

इस मन्त्र के विषय में महर्षि लिखते हैं - मनुष्यों को किनसे विद्याध्ययन और उपदेश सुनना चाहिए। इस मन्त्र का देवता 'विश्वेदेवाः' है।

(2) स्वस्तये वायुमुपब्रवामहै सोमम्०

(ऋ० 5/51/12)

इस मन्त्र का विषय है - मनुष्य कैसे विद्यावृद्धि करें।

(3) विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये०

(ऋ० 5/51/13)

इस मन्त्र का विषय है- विद्वान् क्या करें!

(4) स्वस्ति पन्थामनुचरेम० (ऋ० 5/51/15)

इस मन्त्र का विषय है-मनुष्य विद्वानों के संग से धर्ममार्ग से चलें।

(5) देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां०

(यजु० 25/15)

विषय- मनुष्यों को किन की इच्छा करनी चाहिए? विद्वांसो देवताः॥

(6) भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं०

(यजु० 25/21)

विषय- मनुष्यों को क्या करना चाहिए? विद्वांसो देवताः॥

(7) शं नो वातः पवतां० (यजु० 36/10)

विषय- मनुष्य क्या करें? वातादयो देवताः॥

शान्तिकरण के कुछ मन्त्रों के विषय महर्षि-भाष्य में देखिये-

(1) शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः०

(ऋ० 7/35/1)

विषय- मनुष्य सृष्टिपदार्थों से क्या-क्या ग्रहण करें।

(2) शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु०

(ऋ० 7/35/2)

विषय- मनुष्य वैसे कर्त्तव्य करें, जिनसे ऐश्वर्य सुख करने वाले हों।

(3) शं नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु०

(ऋ० 7/35/3)

विषय- मनुष्यों को सृष्टि से कैसा उपकार लेना चाहिए।

(4) शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु०

(ऋ० 7/35/4)

विषय- मनुष्यों को क्या कर्त्तव्य है?

इस प्रकार **शान्तिकरण** के 1-13 मन्त्रों में से एक भी मन्त्र ऐसा नहीं है, जिसका अर्थ महर्षि ने ईश्वरपरक किया हो।

महर्षि द्वारा परिमार्जित सन्ध्या और अग्निहोत्र का विधान -

संस्कारविधि का प्रामाणिक द्वितीय संस्करण सं0 1941 विक्रमी में प्रकाशित हुआ। जिसके विषय में महर्षि लिखते हैं -

"विक्रमादित्य के संवत् 1932, कार्तिक कृष्ण पक्ष 30, शनिवार के दिन संस्कारविधि का प्रथमारम्भ किया था, उसमें संस्कृत पाठ सब एकत्र और भाषापाठ एकत्र लिखा था। इस कारण संस्कार करने वाले मनुष्यों को संस्कृत और भाषा दूर-दूर होने से कठिनता पड़ती थी। ...इसलिए..... सं0 1940, आषाढ़ बदि 13, रविवार के दिन पुनः संशोधन करके छपवाने के लिए विचार किया। .... अबकी बार जो जो अत्यन्त उपयोगी विषय हैं, वह-वह अधिक भी लिखा है।" (सं0 वि0 भूमिका)

इससे महर्षि के भावों का बहुत ही स्पष्टीकरण हो जाता है कि महर्षि का यह **संस्कारविधि** सबसे बाद का ग्रन्थ है। और यह निर्विवाद बात है कि लेखक की अन्तिम पुस्तक अधिक प्रामाणिक होती है। और महर्षि ने यह भी स्पष्ट लिखा है कि जो अधिक उपयोगी विषय है, वह इसमें बढ़ाया गया है।

महर्षि के ग्रन्थों में सन्ध्या व हवन की विधियों में एकरूपता न देखकर प्रायः सन्देह ही बना रहता है कि किस विधि को प्रामाणिक माना जाए। हमारा विचार है कि **संस्कारविधि** की सन्ध्या तथा हवन की विधियाँ ही सर्वाधिक प्रामाणिक तथा पूर्ण हैं। हमारे इस पक्ष की पुष्टि निम्न तथ्यों से होती हैं।

1. महर्षि के ग्रन्थों में सन्ध्या-हवन विषयक कृतियों में यह **संस्कारविधि** अन्तिम कृति है। अन्तिम कृति में लेखक जो भी परिवर्तन करना चाहता है, कर सकता है। और वह प्रामाणिक होता है।

2. संस्कारविधि से भिन्न सन्ध्या तथा हवन की पुस्तकों की विधियों में ऐसी पूर्णता नहीं है, जैसी इसमें है। जैसे दैनिक अग्निहोत्र की 16 आहुतियाँ **सस्कारविधि** के आश्रय के बिना पूर्ण नहीं होतीं।

3. महर्षि ने भी अपने जीवन के अन्तिम समय में इसी की विधियों को मानने का आदेश दिया है- "सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म नीचे लिखे प्रमाणों यथाविधि उचित समय में किया करें। इन नित्य क्रर्मों में लिखे हुएए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण पञ्चमहायज्ञविधि में देख लेवें।" (सं0 वि0 गृहाश्रम0)

4. ऋषि ने जिन विधियों में परिवर्तन करना उचित नहीं समझा, उनको संस्कारविधि में न लिखकर दूसरे ग्रन्थों में ही देखने को लिख दिया है। जैसे पितृयज्ञ व अतिथियज्ञ का विशेष उल्लेख संस्कारविधि में नहीं किया गया। इससे भी ऋषि का मन्तव्य स्पष्ट है कि सन्ध्या व हवन में उन्होंने संशोधन आवश्यक समझकर ही किया है।

5. जो विद्वान् यह मानते हैं कि पञ्चमहायज्ञों के लिए **पञ्चमहायज्ञविधि** ही प्रामाणिक पुस्तक है। उनसे हमारा विनम्र निवेदन है कि वे हमारी उपर्युक्त बातों पर पुनर्विचार करें। और सन्ध्या तो **पञ्चमहा0** के अनुसार कर लेते हैं किन्तु हवन करने में **संस्कारविधि** का आश्रय क्यों लेते हैं? क्या हवन की विधि पञ्चमहा0 में पूर्ण

है। अतः उनका पक्ष सत्य तथा महर्षि के मन्तव्य से विपरीत ही है।

6. जो विद्वान् यह मानते हैं कि **संस्कारविधि** की सन्ध्या गृहस्थियों के लिए ही है, तो उनसे हमारे दो प्रश्न हैं - 1. सन्ध्या की भाँति हवन भी तो संस्कारविधि में गृहस्थियों के लिए होगा? आप हवन में संस्कारविधि का आश्रय क्यों करते है? 2. सं0 वि0 के गृहाश्रम प्रकरण में प्रातःकालीन मन्त्र भी लिखे हैं। उन मन्त्रों को भी गृहस्थियों के लिए ही मानकर सन्ध्या -हवन की पुस्तकों में प्रकाशित क्यों करते हो? क्या एक बात को मान लेना और दूसरी को छोड़ देना अर्धजरतीन्याय के तुल्य नहीं है?

7. **संस्कारविधि** व **पञ्चमहायज्ञविधि** की सन्ध्या-हवन की विधियों में परस्पर कहीं भी विरोध नहीं है। अपितु सं0 वि0 में कुछ विशेष विधियों का उल्लेख है। जो महर्षि ने परिवर्धन करके ही लिखी है। ऋषियों की यह शैली होती है कि जहाँ परस्पर विरोध न हो वहाँ विशेष वाला पाठ ही मान्य होता है।

8. **संस्कारविधि** से भिन्न पुस्तकों में ईश्वरस्तुति, प्रार्थनोपासना, अयन्त इध्म0 मन्त्र से पाञ्च आहुतियाँ, विश्वानि देव0 तथा अग्ने नय0 मन्त्रों से दैनिक अग्निहोत्र में आहुति देना नहीं लिखा। जो विद्वान् संसकारविधि की सन्ध्या को प्रामाणिक नहीं मानते, वे सं0 वि0 की सन्ध्या की तरह हवन का परित्याग भी क्यों नहीं करते।

अतः हमारा यह स्पष्ट तथा निश्चित अभिमत है कि **संस्कारविधि** की सन्ध्या व हवन की विधियाँ ही पूर्ण प्रामाणिक हैं। हमारे दैनिक जीवन क्रिया-कलापों में एकरूपता लाने के लिए इन विधियों को ही, अपनाना उचित है। हमें आश्चर्य तो तब होता है कि दयानन्दीय विचारधारा के पुरोहित विद्वान् अपनी तरफ से बढ़ाकर तो कुछ विधियाँ कराते रहते हैं किन्तु महर्षि की विधियों को अपनाने में पता नहीं क्यो संकोच करते हैं? आर्यविद्वानों को इस विषय में निष्पक्ष विचार करना चाहिए।

संस्कारविधि के प्रमाणभाग में पाठभेद क्यों?

संस्कारविधि के प्रमाण भागों पर भी कुछ व्यक्ति आक्षेप किया करते हैं। महर्षि ने प्रमाण भागों पर पते दिए हैं। आक्षेपकर्त्ता संस्कारविधि के प्रमाणभागों को वर्तमान में उपलब्ध पुस्तकों से मिलान करके आक्षेप किया करते हैं कि स्वामी जी ने ये पाठ कल्पित लिखे हैं। किन्तु उन्हें महर्षि-कालीन पुस्तकों में इन प्रमाणभागों की खोज करनी चाहिए अथवा महर्षि की शैली को समझकर निर्णय करना चाहिए। अन्यथा भ्रान्तियों का निराकरण सम्भव नहीं है। जैसे -

1. **संस्कारविधि** के विवाह-प्रकरण में 'ओम् अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि0' (ऋ0 10/85/44) मन्त्र में महर्षि ने 'देवृकामा' पद लिखा है किन्तु सायण तथा मैक्समूलरादि ने 'देवृकामा' पाठ लिखा है इससे सन्देह अवश्य होता है। किन्तु महर्षि लिखित पाठ ही ठीक प्रतीत होता है। विवाह-प्रकरण में देवृकामा = देवर की कामना करने वाला पाठ युक्तियुक्त तथा सुसंगत भी है। और अथर्ववेद (14/2/17) में कुछ पाठभेद से यही मन्त्र पठित है, उसमें भी देवृकामा ही पाठ है। विदेशी विद्वान् 'ह्विटने' ने भी निजानुवाद में यही पाठ माना है। अजमेर वैदिक यंत्रालय में छपे ऋग्वेद में भी यही पाठ छपा है। 'ह्विटने' ने यह भी अपनी टिप्पणी में लिखा है कि 'पिप्पलाद शाखा' में देवृकामा पद का ही पाठ है।

2. **संस्कारविधि** के गर्भाधान-प्रकरण में महर्षि ने गर्भाधान-विधायक पारस्करगृह्यसूत्र का निम्न सूत्र दिया है -

'अथ गर्भाधानं स्त्रियाः पुष्पवत्याश्चतुरहादूर्ध्वंस्नात्वा विरुजायास्तस्मिन्नेव दिवा आदित्यं गर्भमिति।' महर्षि ने इस सूत्र को पारस्कर गृह्यसूत्र का लिखा है। परन्तु आजकल उपलब्ध गृह्यसूत्रों में यह पाठ नहीं मिलता। शास्त्रार्थादि के समय पौराणिक विद्वान् इस पर बहुधा आक्षेप किया करते हैं। किन्तु महर्षि झूठा क्यों लिखते? इस पाठ का अभाव कैसे हुआ? यह एक अन्वेषणीय तथ्य है, किन्तु यही पाठ पारस्करगृह्यसूत्र में विद्यमान है। वैदिक कानकौरडैंस (Vedic-concordance) वैदिक बृहत्कोष में इसी 'आदित्य गर्भम्' (यजु0 13/41) वाले मन्त्र का उद्धरण देकर मौरिस ब्लूमफील्ड ने पारस्कर गृह्यसूत्र (अ0 1 कं0 13) का पता दिया है। गर्भाधान का प्रकरण भी इसी कण्डिका में है। इससे स्पष्ट है कि ब्लूमफील्ड के पास पारस्कर गृह्यसूत्र की जो पुस्तक या हस्तलेख था उसमें यह पाठ अवश्य होगा। वैभव प्रेस मुम्बई से वि0 1974 संवत् में ईडर प्रदेशान्तर्गत मुडेति ग्राम निवासी पं0 दुर्गाशंकर ने जो पारस्कर गृह्यसूत्र छपवाया था, उसमें यही मंत्र गर्भाधान-प्रकरण में कात्यायन परिशिष्ट मानकर छपा है। और ज्येष्ठाराम मुकुन्द जी बम्बई वाले ने भी जो पारस्कर गृह्यसूत्र छपवाया था, उसमें भी यही पाठ गर्भाधान प्रकरण में कात्यायन परिशिष्ट मानकर दिया है। स्वामी दयानन्द ने भी **संस्कारविधि** के प्रथम संस्करण में कात्यायन पारस्कर गृह्यसूत्र का वचन लिखा था और द्वितीय संस्करण में केवल पारस्कर का वचन लिखा है। आजकल उपलब्ध समस्त पारस्कर गृह्यसूत्रों में कात्यायन परिशिष्ट भाग छोड़ दिया गया है। यह बहुत ही दुःखद बात है। यह रहस्य का उद्घाटन श्री पं0 राम गोपाल जी शास्त्री ने 'संस्कारविधिमण्डनम्' में किया है। विद्वान् अनुसन्धानकर्त्ताओं को इसकी खोज करनी चाहिए।

3. **संस्कारविधि** के सामान्यप्रकरण में स्थालीपाक बनाने के लिए महर्षि ने निम्नलिखित प्रमाण दिया है-

''ओं देवस्त्वा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।''

इस समग्र पाठ को किसी एक मन्त्र में न देखकर प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि स्वामी जी का यह प्रमाण किसी वेद में नहीं है। आक्षेपकों को यह भ्रम स्वामी जी की शैली को न जानने तथा विरामचिन्ह के अभाव में हुआ है। स्वामी जी की शैली यह भी रही है कि अनेक मन्त्रों के अंशों को लेकर प्रमाणार्थ एकत्र लिख देते हैं। यथार्थ में **देवस्त्वा सविता पुनातु** यह पूर्व का अर्धभाग यजु0 1/3 का और उत्तर का आधा भाग **'अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः'** यजु0 1/31 का है। संस्कारचन्द्रिका में केवल पूर्व अर्धभाग ही रखकर उत्तरभाग को हटा दिया है। किन्तु यह टीकाकारों की अनधिकार चेष्टा ही है। उन्हें मूलपाठ में घटत-बढ़त करने का कोई अधिकार नहीं है। संदेहास्पद स्थलों की संगति की अवश्य खोज करनी चाहिए। यह बात श्री रामगोपाल जी शास्त्री ने ही स्पष्ट की है।

4. श्री रामगोपाल शास्त्री जी ने महर्षि के कुछ पाठों की संगति लगाकर प्रशंसनीय कार्य किया है। किन्तु **संस्कारविधि** के कर्णवेध संस्कार के निम्न पाठ को अशुद्ध बताया है -

'कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा।'

इस पाठ के विषय में शास्त्री जी ने लिखा है कि सं0 वि0 के प्रथम संस्करण में उपर्युक्त प्रमाण के आरम्भ में 'अथ' शब्द छपा है, अतः 'अथ' शब्द होना चाहिए। और स्वामी जी ने इस प्रमाण को आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन लिखा है। शास्त्री जी ने इसे कात्यायन पारस्करगृह्यसूत्र का पाठ लिखा है। और यह भी लिखा है कि इस संस्कार में कर्ण के साथ नासिका का वेध भी छपा है, यह पाठ भी भूल से छपा है। इन तीनों बातों के विषयों में भी विद्वानों को खोज करनी चाहिए। सम्भव है उसका भी उचित समाधान मिल जायेगा। नासिका-वेध की बात भी सम्भव है, कन्याओं की दृष्टि से स्वामी जी ने लिखी हो। क्योंकि संस्कारों का अधिकार दोनों को ही है। विद्वानों को इस पर भी विचार करना चाहिए।

(क्रमशः, अगले अंक में)

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1(2), No.2 (43-47) Jan.-June 2012

दयानन्द यजुर्भाष्य में यज्ञ का अर्थ-विस्तार

वीरेन्द्र कुमार अलंकार
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़-160014, भारत

स्वामी दयानन्द सरस्वती अद्भुत प्रतिभा के धनी हैं। वेद हो या दर्शन, लोक हो या धर्म-सर्वत्र वे समन्वयात्मक दृष्टि रखते हैं। ऐसी दृष्टि जिसमें तर्क उपकारक है तथा अपने मन्तव्य के प्रति वे पूर्वाग्रहग्रस्त दिखाई नहीं देते, बल्कि वेद का प्रामाण्य उपस्थित करते हैं। किन्तु वेद के नाम पर निरंकुशता से वे अत्यन्त व्यथित हैं। वे सम्पूर्ण मानव जाति के लिए एक सर्वग्राह्य समाधान खोजकर उसे एक सूत्रता में बाँधना चाहते थे। उनकी विश्वात्मक दृष्टि में प्राणिमात्र समाया हुआ है, पुनरपि वे विखण्डित भारत से अतीव क्षुब्ध दिखाई देते हैं। उनके निष्कर्ष केवल गम्भीर ही नहीं, असन्दिग्ध भी हैं। वे नमन के लिए एक शब्द, एक उपास्य, एक भाषा की प्रमुखता, एक सम्राट्, एक मात्र वेद का ही सम्पूर्ण प्रामाण्य तथा एक ही उपासना पद्धति के पक्षधर थे। यह उपासना पद्धति वैदिक परम्परा में 'यज्ञ' कहलाती है।

दयानन्द साहित्य में 'यज्ञ' एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। इसमें मनुष्य की प्रमुख प्रतिज्ञा है- **इदं न मम**। इस दृष्टि से जब कुछ भी आचरण किया जाता है, तब वह आचरण यज्ञ का रूप ले लेता है। इस दृष्टि से दयानन्द साहित्य में यज्ञ का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। यद्यपि वे वैदिक यज्ञ विधि के आचार्य हैं, किन्तु वे वैदिक यज्ञ की जिस स्तर पर व्याख्या करते हैं, वहाँ वह केवल ईश्वरोपासना न होकर सामाजिक अभ्युदय भी हो जाता है। इस प्रकार लोक तथा अध्यात्म का अविलक्षण तारतम्य दयानन्द साहित्य में उपलब्ध होता है।

प्रस्तुत पत्र का आधार यजुर्वेद के यज्ञदेवताक मन्त्र[1] ही हैं। यजमान देवताक मन्त्रों[2] का भी यथाशक्य उपयोग है। यद्यपि अन्यत्र भी यज्ञ सम्बन्धी प्रसङ्ग यजुर्भाष्य में भरे पड़े हैं, किन्तु अल्प-सामर्थ्यवशात् उनका यहाँ समावेश किंचिन्मात्र ही हो पाया है।

यजुर्भाष्य में यज्ञ शब्द का अर्थ है- विद्याज्ञानधर्मानुष्ठानवृद्धानां देवानां विदुषामैहिक पारमार्थिक सुख सम्पादनाय सत्करणं सम्यक् पदार्थगुणसंमेलविरोधज्ञान संगत्या शिल्प विद्या प्रत्यक्षीकरणं नित्यं विद्वत्समागमानुष्ठानं शुभविद्यासुखधर्मादिगुणानां नित्यं दानकरणमिति।[3]

यजुर्वेद का विषय किसी यज्ञ विशेष की विधि प्रदर्शित करना नहीं है। किन्तु यज्ञ विषयक प्रसङ्ग अनेकत्र उपलब्ध हैं, जहाँ स्वामी जी ने यज्ञ के प्रयोजन, उद्देश्य और फल को इंगित किया है। यज्ञपरक इस विवेचन को निम्न शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है-

(क) यज्ञ का अर्थ और अभिप्राय :-

स्वामी जी ने कई स्थलों पर त्रिविध यज्ञ का उल्लेख किया है। इन स्थलों में त्रिविध का अभिप्राय देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान प्रतीत होता है- **सर्वसुखोत्पादिकायै राजलक्ष्म्यै**

त्रिविधो यज्ञः।[7] देव पूजा से उनका अभिप्राय विद्या ज्ञान धर्म के अनुष्ठान में लगे विद्वानों का सत्कार है, संगतिकरण का अर्थ वे विज्ञानपरक करते हैं - पदार्थों के गुणों के मेल और विरोध के ज्ञान से शिल्पविद्या का प्रत्यक्षीकरण और दान का अर्थ है शुभगुण, विद्या, धर्म और सत्य का नित्य दान करना। ध्यातव्य है कि दयानन्द भाष्य में देवताओं के त्रिविध रूप गृहीत होते हैं- आधिभौतिक, आध्यात्मिक और अधिदैविक। वस्तुतः अग्नि में घी डाल देना यज्ञ नहीं है। **अग्निमीळे पुरोहितम्** (ऋ. 1.1.1) में हवन कुण्ड की अग्नि की उपासना ही अभिप्रेत नहीं है। एक साथ तीन यज्ञ यहाँ चलते हैं- एक भौतिक अग्नि की उपासना, किन्तु वही आत्मिक और पारमार्थिक अग्नि की प्रतीक भी है। इसलिए दूसरा यज्ञ आत्माग्नि को प्रज्वलित करना है तथा तीसरा यज्ञ ब्रह्म के साथ ही अग्नि स्वरूप विद्वान् तथा प्रकाश स्वरूप ईश्वर की पूजा के अतिरिक्त अग्निपरक विज्ञान का अविष्कार एवं यज्ञफल का मनुष्यमात्र व प्राणिमात्र के लिए दान करना भी है। इसी त्रिविध यज्ञ के नित्यानुष्ठान की चर्चा स्वामी जी करते हैं - **त्रिविधो यज्ञों नित्यमनुष्ठेयः।**[5]

(ख) यज्ञ-सम्पादन एवं प्रक्रिया :-

यज्ञ-सम्पादन की प्रक्रिया का व्यवस्थित रूप निश्चयेन **संस्कार विधि** आदि में उपलब्ध है, पर कुछ संकेत यजुर्भाष्य में भी उपलब्ध हैं। यज्ञ के पहली व्यवस्था यह है कि वेदमन्त्रों से ही यज्ञ होना चाहिए, इतना ही नहीं, वेद-मन्त्र के अर्थ के साथ भी सम्पूर्ण भावात्मक सामञ्जस्य होना चाहिए, तभी यज्ञ की अर्थवत्ता है। इस सामञ्जस्य के लिए यह भी आवश्यक है कि इस पृथिवी में वायु, जल तथा औषधियों को दूषित करने वाले दुर्गन्ध अपगुण तथा दुष्ट मनुष्यों का भी निवारण हो।[6] यहाँ स्वामी जी ने स्पष्ट निर्देश किया है कि यज्ञीय सामग्री शुद्ध वा रोगहारक होनी चाहिए। होमकर्त्ता एवं सामग्री दोनों में उत्तमता होनी चाहिए। उनका मानना है कि जो वेद आदि शास्त्रों के द्वारा यज्ञक्रिया और उसका फल जानके शुद्धि और उत्तमता के साथ यज्ञ करते हैं, तब वह सुगन्धि आदि पदार्थों के होम द्वारा परमाणु अर्थात् अति सूक्ष्म होकर वायु और वृष्टि जल में विस्तृत हुआ सब पदार्थों को उत्तम करके दिव्य सुखों को उत्पन्न करता है।[7]

स्वामी जी ने मनुष्यमात्र को यज्ञ करने का उपदेश किया है- **यज्ञसम्पदनाय ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राणां चतुर्विधा वेदाध्ययन संस्कृता सुशिक्षिता वाग् गृह्यते।**[8] वस्तुतः मनुष्य हो या राष्ट्रपुरुष- उसकी पूर्णता इन चार वर्णो के बिना सम्भव नहीं है। यह चातुर्वर्ण्य संस्कृति ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है। प्रत्येक मनुष्य में परात्पर तत्व के अन्वेषण की प्रवृत्ति उसका ब्राह्मणत्व है, असत्य के विरुद्ध लड़ने की प्रवृत्ति क्षत्रियत्व है, भोग और अपवर्ग की साधना के निमित्त संसाधनों को जुटाना वैश्यत्व है तथा कर्मशीलता शूद्रत्व है। इन सभी के समन्वय में शरीर-यज्ञ की पूर्णता है। इसीलिए प्रतयेक यज्ञ में प्रत्येक मनुष्य की भूमिका भी स्वीकार्य है। तभी यज्ञकर्ता की सन्तानें शारीरिक, मानसिक और वाचिक रूप से निश्चल सुखवाली होंगी। इसलिए यज्ञ से भागना अपनी प्रजा (सन्तान) को सुख से

विहीन करना है- **नैव केनापि मनुष्येण यज्ञसत्याचारविद्याग्रहणस्य सकाशाद् भेतव्यम्।**[9] पत्नी की पूर्णता यज्ञ में हैं। स्वामी जी ने पत्नी शब्द का अर्थ यज्ञसहायक किया है।[10]

(ग) यज्ञ के प्रयोजन तथा फल :-

यज्ञ किस प्रयोजन से किया जाए अथवा यज्ञ का फल क्या है - यह विचार दयानन्दभाष्य में कवेल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही सुदृढ़ नहीं है। अमुक यज्ञ करके अमुक स्वर्गादि पारलौकिक फल का निर्देश स्वामी जी ने इन स्थलों में नहीं किया है। उनकी दृष्टि में यज्ञ का फल समस्त संसार में सुख की वृद्धि करना है। **अनुष्ठितोऽयं यज्ञो जगति रक्षा हेतुः।**[11] यह यज्ञ वृष्टि का हेतु है। इसलिए ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि सुख देने योग्य घर को बना के वर्षा का हेतु यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि होती है।[12] वेदचतुष्टयी ईश्वर की वाणी है और उस वाणी का प्रत्यक्ष यज्ञ और पुरुषार्थ से ही सम्भव है।[13] इस प्रकार स्वामी जी ने रोगनाश, जीवनधारण, बल प्राप्ति, शुभगुणों के धारण, पूर्ण आयुवधन, एवं अन्न-जल-वायु आदि शोधन के लिए यज्ञ का प्रयोजन बताते हुए कहा है कि यज्ञकार्य से कभी भी भागना नहीं चाहिए।[14] वस्तुतः भौतिक अग्नि के संयोग से वह यज्ञ सूर्य की किरणों में स्थिर होता और पवन उसको धारण करता है, वह सर्वोपकारक होकर हजारों सुखों को प्राप्त कराके दुःखों का विनाश करने वाला होता है।[15] यज्ञ से आकाश और वायु की शुद्धि ही नहीं बल्कि प्रकाश भी शुद्ध होता है।[16] यह विचारणीय व अनुसन्धेय प्रसङ्ग है। विद्या और भौतिक विज्ञान की सिद्धि भी यज्ञ से करणीय है। यज्ञ से शिल्पविद्या की उत्पत्ति की चर्चा स्वामी जी ने अनेकत्र की है।[17] यह यज्ञ अपत्य और धन तथा उत्तम वीरों का योग कराने वाला है।[18]

वस्तुतः स्वामी जी की दृढ़ धारणा कि यज्ञ के बिना सुख-कल्पना व्यामोहमात्र है। यह यज्ञ मन्त्रोच्चारणमात्र नहीं है और न ही अग्नि में घृतादि आहुति डालना ही यज्ञ है। यज्ञ पहले अन्तस् में होना चाहिए। अन्धाधुन्ध आहुति डालना यज्ञ नहीं है। इसीलिए वे स्थाने स्थाने **विद्याक्रियामय यज्ञ** कहते हैं। पूरे ज्ञान पूर्वक यह प्रक्रिया होनी चाहिए। तभी वह लौकिक विज्ञान भी यज्ञीय प्रक्रिया हो जाएगा और ऐसा विज्ञान किसी के लिए भी विनाशक नहीं होगा।

(घ) यज्ञ अर्थ का विस्तार :-

निःसन्देह दयानन्द से पूर्व यज्ञ के इतने पक्षों पर विचार सुदुर्लभ है। 'यज्ञ' अपने पारिभाषिक अर्थ अग्निहोत्रादि तक ही सीमित था। दयानन्द ने यज्ञ के जिस व्यापक स्वरूप पर उदारता से विचार किया है, उससे सब कुछ ही यज्ञमय सा हो गया है। दयानन्द की यज्ञीय व्याख्या ने ही यह सिद्ध किया कि - **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** (शतपथ) यज्ञवाची शब्दों के अर्थो का संकलन किया जाए और उनकी दयानन्दीय व्याख्या का अनुशीलन किया जाए तो उससे पर्याप्त याज्ञिक स्वरूप स्पष्ट होने की सम्भावना है। दयानन्द का यजुर्भाष्य यह संकेत करता है कि समष्टिभाव से किया जाने वाला कर्म यज्ञमय हो जाता है। इसलिए सम्पूर्ण सृष्टि ही यज्ञमय है। राजा का सुराज्य भी यज्ञ है।

शिल्पविद्या भी यज्ञ है, स्वामी जी ने तो गृहस्थ जीवन को यज्ञ कहा है। ईश्वर, विद्वान् और ईश्वराज्ञा की पालना भी यज्ञ है। इतना ही नहीं दुष्टों का विनाश भी यज्ञ है। इन्द्र-वृत्र का युद्ध भी यज्ञ है। मन्त्रविद्या भी यज्ञ है।[19]

इस प्रकार स्वामी जी ने यज्ञ को एक संस्कृति, जीवन जीने की कला माना है। यज्ञवेदी को आकाश किं वा ब्रह्माण्ड तथा यज्ञाहुति से उस ब्रह्माण्ड में होने वाले विज्ञान को भी स्वामी जी ने इङ्गित किया है।[20] ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्माण्ड में होने वाली वैज्ञानिक प्रक्रिया का प्रतीक ही यह यज्ञ है। यज्ञकुण्ड की गंभीरता कदाचित् भूगर्भ विद्या की भी सूचिका है।[21]

यज्ञ के उपर्युक्त अर्थों का आधार खोजना कठिन कार्य भले ही हो पर उन्हें नकारा भी नहीं जा सकता। इसमें तो निश्चय ही कोई सन्देह नहीं है कि दयानन्द ने जो यज्ञविषयक अर्थवाद पैदा किया है, उससे यज्ञीय अध्ययन में एक क्रान्ति ने जन्म लिया है। इस क्रान्ति में उनके प्रयास की सफलता को सहज ही देखा जा सकता है।

यजुर्वेद में उपलब्ध यज्ञपरक सभी सन्दर्भों का अध्ययन किया जाए तो यह विषय और अधिक व्यवस्थित होकर उभरेगा। 'यज्ञ' देवता अप्, सूर्य, अग्नि, सविता आदि देवताओं के साथ भी दिखाई देता है।22 उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यज्ञ देवताक मन्त्रों के भाष्य में निम्न निष्कर्ष तो रेखांकित किए ही जा सकते हैं :-

1. पाणिनीय धात्वर्थ को स्वीकार करके यज्ञ शब्द में यज् धातु के अर्थ देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थ की समन्विति सर्वत्र विद्यमान है।
2. अग्निहोत्र आदि यज्ञों की स्थापना की गई है।
3. यज्ञीय अर्थ का विस्तार करके प्रत्येक कर्म को यज्ञमय करने का सन्देश है।
4. शिल्प, मन्त्र, भूगर्भ, वृष्टि-पुत्रादि याग और अन्य अर्थ भी स्वामी जी ने गृहीत किए हैं।
5. अग्निहोत्रादि यज्ञ वेदमन्त्रों से हो सम्पादित होने चाहिए।
6. घृतादि सामग्री ही शुद्ध नहीं है, बल्कि यजमान सम्पूर्ण रूप से पवित्र होकर मन, वाणी और कर्म से यज्ञ करें।
7. यज्ञ केवल पारलौकिक सुख का ही साधन नहीं है, बल्कि ऐहलौकिक सुखों का भी यज्ञ है।
8. याज्ञिक विधि में आध्यात्मिक, आधिभौतिक और पारमार्थिक - ये त्रिविध यज्ञ एक साथ होने चाहिए।
9. यज्ञ का प्रयोजन का फल पूर्णायुष्य-प्राप्ति, बलवृद्धि, अन्न, जल, वायु, आकाश और प्रकाश की शुद्धता, रोगनाश तथा अन्य सभी लौकिक सुख-समृद्धि है।
10. यज्ञकुण्ड को खगोल और भूगर्भ स्वीकार करके आहुतियों से ब्रह्माण्ड की गति और प्रक्रिया का प्रतीक माना है।
11. उपर्युक्त सभी अर्थ परम सुख की ओर ले जाते हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि स्वामी

जी ने जो यज्ञ शब्द का अर्थ विस्तार किया है, उसका आधार यजुर्वेद में विभिन्न प्रसङ्गों में आए 'यज्ञ' शब्द ही प्रतीत होते हैं, तद्यथा - **यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा। एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा॥ (८.२२)**

तथा

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः (31वां अध्याय) इन दोनों मन्त्रों में क्या यज्ञ का एक ही अर्थ स्वीकार किया जा सकता है? इसी प्रकार 'यज्ञीयो गर्भः (यजु - 8.29)= यज्ञ के योग्य गर्भ यहाँ यज्ञ शबद अग्निहोत्रवाची नही है। इन प्रसङ्गानुरूप अर्थों को देखना ही दयानन्द का ऋषित्व है। इस प्रकार यज्ञ का व्यापक स्वरूप दयानन्द यजुर्भाष्य में निरूपित हुआ है।

पाद-टिप्पणियाँ

1. यज्ञदेवताक मन्त्र निम्न हैं - 1.2, 1.7, 1.14, 1. 15, 1. 21, 1.22, 1.27-32, 2.1, 2.2, 2.5, 3.48, 3.49, 4.5, 4.6, 4.10, 4. 24, 4.26, 4.37, 5.3, 5.13, 5.23, 5. 25-28, 5.43, 6.34, 7.20, 7.26, 8. 62, 8.63, 9.21,
2. यजमान देवताक मन्त्र निम्न हैं - 4.34, 9.40, 10.8, 10.10-14, 10.18, 10.28 (यज्ञपतिदेवताक मन्त्र हैं - 7.27, 7.28)।
3. दयानन्द यजुर्भाष्य- 1.2
4. वही - 1.22
5. वही - 1.21
6. द्र0-वही- 1.27, 2.16
7. द्र0-वही- 1.15
8. वही- 1.15
9. वही - 9
10. द्र0-वही- 6.34
11. वही - 1.4
12. द्र0-वही- 1.14, 3.49
13. द्र0-वही- 8.22
14. द्र0-वही- 1.23
15. द्र0-वही- 1.24
16. द्र0-वही- 4.6
17. द्र0-वही- 2.16, 4.7, 4.10
18. द्र0-वही- 4.37
19. द्र0-वही- 1.25, 1.29, 1.13, 2.3, 4. 10, 8.62, 8.63
20. द्र0-वही- 2.1, 2.2
21. द्र0-वही- 5.23
22. द्र0- 1.21, 6.23

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1(2), No.2 (48-57) Jan.-June 2012

यजुर्वेद-मीमांसा

रामनाथ वेदालंकार (सामवेद भाष्यकार)
पूर्व आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) भारत

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार वेद कहलाते हैं। कालक्रम से इनकी अनेक शाखाएँ भी प्रचलित हो गयीं। पातञ्जल महाभाष्य के पस्पशाह्निक में ऋग्वेद की 21, यजुर्वेद की 101, सामवेद की 1000 तथा अथर्ववेद की 9 शाखाओं का उल्लेख मिलता है[1], किन्तु वहाँ केवल संख्या ही दी गयी है, शाखाओं के नाम नहीं लिखे हैं। वहाँ सामवेद को सहस्रवर्त्मा कहा गया है, जिसका अर्थ होता है सहस्र मार्गोंवाला। पं0 सत्यव्रत सामश्रमी आदि कतिपय विद्वानों का विचार है कि सामगान के सहस्र भेदों वाला होने से सामवेद को सहस्रवर्त्मा कहा गया है, इसकी सहस्र शाखाएँ थीं, यह आशय नहीं है। स्वयं सामवेद में ही 'गाये सहस्रवर्तनि (1829)' ऐसा एक ऋचा में कहा गया है, अर्थात् सहस्र मार्गोंवाले गायत्र आदि सामों को गाता हूँ। उक्त शाखाओं में से अनेक शाखाएँ लुप्त हो गयीं। सम्प्रति ऋग्वेद की केवल शाकल संहिता उपलब्ध है। इसके पदपाठ आदि पर शाकल्य मुनि ने श्रम किया था, अतः उसके नाम से यह शाकल संहिता कहलाती है। यजुर्वेद दो प्रकार का मिलता है - शुक्ल और कृष्ण। शुक्ल और कृष्ण नाम इस कारण हैं कि शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्रभाग होने से वह मूल या शुक्ल वेद है और कृष्ण यजुर्वेद विनियोग, मन्त्र व्याख्या आदि से मिश्रित होने के कारण मूल न होकर मिश्रित या कृष्ण है। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ सम्प्रति मिलती हैं, वाजसनेयि माध्यन्दिन संहिता और काण्व संहिता। दोनों में 40 अध्याय हैं, काण्व संहिता का 40वाँ अध्याय ईशोपनिषद् के रूप में प्रख्यात है। कृष्ण यजुर्वेद की 4 शाखाएँ मिलती हैं - तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक और कठ कपिष्ठल। सामवेद की कौथुम, राणायनीय और जैमनीय संहिताएँ प्राप्त हैं। अथर्ववेद की शौनकीय तथा पैप्पलाद संहिताएँ उपलब्ध हैं। महाभाष्यप्रोक्त शाखाएँ कुल मिलाकर 1131 होती हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती उपलब्ध सब संहिताओं की परीक्षा करके इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि इनमें से ऋग्वेद की शाकल संहिता, यजुर्वेद की वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल संहिता, सामवेद की कौथुम संहिता और अथर्ववेद की शौनकीय संहिता ही प्रामाणिक मूल वेद हैं। इन चार संहिताओं को महाभाष्योक्त 1131 शाखाओं में से निकाल देने पर शाखाओं की संख्या 1127 रह जाती हैं। शाखाओं की यही संख्या उन्होंने अपने **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** तथा **सत्यार्थ-प्रकाश** ग्रन्थों में लिखी है। कुछ विद्वान् शाखाओं, ब्राह्मणग्रन्थों और उपनिषदों को भी वेदों के अन्तर्गत मानते हैं, किन्तु स्वामी दयानन्द ने इन्हें वेदों का व्याख्यान माना है तथा वेद संज्ञा केवल चार संहिताओं की ही स्वीकार की है।

ऋग्वेद की मन्त्रसंख्या कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार 10552, वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद की 1975, सामवेद कौथुम संहिता की 1875 और शौनकीय अथर्ववेद की 5987 है। इस प्रकार चारों वेदों के कुल

मन्त्र 20389 होते हैं।

यजुर्वेद की कर्मकाण्डिक व्याख्या

कर्मकाण्डिक व्याख्यानुसार वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद के प्रथम दो अध्यायों में दर्श एवं पौर्णमास यागों का वर्णन है। दर्श याग अमावस्या के पश्चात् आनेवाली प्रतिपदा से और पौर्णमास याग पूर्णिमा से सम्बद्ध हैं। अध्याय 3 में अग्निहोत्र और चातुर्मास्य इष्टियों का विवरण है। चातुर्मास्य इष्टियाँ चार-चार मास बाद ऋतु-परिवर्तन होने पर की जाती हैं। अध्याय 4 से 8 तक अग्निष्टोम और सोमयाग का प्रतिपादन है। अग्निष्टोम यज्ञ स्वर्ग की कामनावाला यजमान करता है। इसमें 16 पुरोहित होते हैं और यह पाँच दिन चलता है। सोमयाग में सोमरस और दूध मिलाकर आहुति देते हैं। यह प्रात:, मध्याह्न और सायं तीन बैठकों में होता है, जिन्हें प्रात:सवन, माध्यान्दिन सवन और सायं-सवन कहते हैं। अध्याय 9 और 10 में वाजपेय तथा राजसूय यागों की विधियों का वर्णन है। 9 अध्याय की 1 से 34 तक की कण्डिकाओं में वाजपेय याग तथा अध्याय 9 की 35वीं कण्डिका से 10म अध्याय की कण्डिका 30 तक राजसूय याग है। अध्याय 11 से 15 तथा 17-18 में अग्निचयन और विविध वेदियों के निर्माण से सम्बद्ध मन्त्र हैं। यज्ञवेदि की रचना 10800 ईंटों से होती थी। वेदियों की आकृति त्रिकोण, चतुष्कोण, गोलार्द्ध, गोल, श्येन पक्षी आदि की होती थी। अध्याय 16 रुद्राध्याय कहलाता है, इसमें विभिन्न रुद्रों का वर्णन है। अध्याय 19 से 21 तक सौत्रामणि याग का विवरण प्राप्त होता है। इसमें सोम और सुरा को मिलाकर उससे आहुति दी जाती है और उसका पान किया जाता है। सोम से सोमरस अभिप्रेत है और सुरा से अन्य विविध औषधियों का रस। अध्याय 22 से 25 तक अश्वमेध यज्ञ का सुदीर्घ वर्णन है। अश्वमेध का अधिकार अभिषिक्त राजा को ही है। वह दिग्विजय के लिये उत्कृष्ट घोड़े को छोड़ता है, उसके साथ रक्षक भी होते हैं। सार्वभौम आधिपत्य के लिए यह यज्ञ किया जाता है। अध्याय 30 में पुरुषमेध का वर्णन है। इसमें समाज को एक विशाल पुरुष मानकर 184 व्यवसायों का उल्लेख किया गया है। अध्याय 31 पुरुषसूक्त हैं, जिसमें विराट् पुरुष का वर्णन हैं। अध्याय 33 में सर्वमेध तथा अध्याय 35 में पितृमेध का विवरण प्राप्त होता है। अध्याय 39 में अन्त्येष्टि प्रकरण है।

यज्ञिय कर्मकाण्ड अति विस्तीर्ण, गूढ़ और जटिल है, प्रत्येक की इसमें रुचि नहीं हो सकती है, न ही सबको इसका अधिकार है। इसके विधि-विधानों से, आध्यात्मिक, राजनीतिक और व्यावहारिक सूचनाएँ भी प्राप्त होती है।

विविध यज्ञों का विस्तृत ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों में मिलता है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथब्राह्मण है, जिसके रचयिता याज्ञवल्क्य मुनि हैं। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय ब्राह्मण है, जिसकी रचना तित्तिरि आचार्य ने की है। श्रौतसूत्र शुक्ल यजुर्वेद का कात्यायनकृत है, जो कात्यायन श्रौतसूत्र कहलाता है। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध आठ श्रौतसूत्र हैं -

1. बौधायन, 2. आपस्तम्ब, 3. सत्याषाढ़ या हिरण्यकेशी, 4. वैखानस, 5. भरद्वाज, 6. वाधूल, 7. वाराह, 8. मानव श्रौतसूत्र। इनमें जिन यज्ञों का विशद विवरण है, वे यज्ञ कब से प्रारम्भ हुए यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। इनका यजुर्वेद से नित्य सम्बन्ध नहीं है, अर्थात्

ऐसा नहीं है कि यजुर्वेद की रचना इन्हीं यज्ञों के प्रतिपादनार्थ हुई हो। प्रतीत होता है कि इन यज्ञों का आविष्कार और इनके विस्तृत विधि-विधानों का निर्माण ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता महिदास ऐतरेय, कौषीतकि ब्राह्मण के रचयिता ऋषि शांखायन एवं यजुर्वेदीय ब्राह्मणग्रन्थों के रचियता मुनि याज्ञवल्क्य तथा आचार्य तित्तिरि ने मिलकर किया होगा। उसके बाद अन्य आचार्यो ने भी इसमें रुचि लेनी आरम्भ कर दी होगी तथा विभिन्न विधियों के रहस्यार्थ का भी अन्वेषण किया गया· होगा। ब्राह्मणकाल से लेकर श्रौतसूत्रकाल तक और उसके कुछ बाद तक भी इन यज्ञों का प्रचार व्यापक रूप में रहा, किन्तु उपनिषत्काल में इनका ह्रास हो गया। इन यज्ञों की जटिलता और महात्मा बुद्ध की इन यज्ञों के विषय में प्रतिक्रिया भी इनके ह्रास में कारण बनी।

यजुवेद के कर्मकाण्डिक भाष्यकार

शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता पर उवट और महीधर के कर्मकाण्डपरक भाष्य मिलते हैं। उवट ने भाष्य के अन्त में अपना परिचय स्वयं दिया है। ये आनन्दपुर के निवासी वज्रट के पुत्र थे। इन्होंने अवन्ती में रहते हुए राजा भोज के प्रशासनकाल में भाष्य लिखा था। इनका काल 11वीं शती ईस्वी है। महीधर का काल 16वीं शती ईस्वी का उत्तरार्ध है।

इन्होंने अपने भाष्य का नाम 'वेददीप' रखा है। इनके भाष्य का आधार उवट का भाष्य है। ये स्वयं लिखते हैं कि मैंने उवट और सायण के भाष्य को देखकर अपना भाष्य लिखा है।[2] इन्होंने सायण का काण्वसंहिता का भाष्य देखा होगा। इनके भाष्य में विनियोग और मन्त्रार्थ प्रायः उवट भाष्य के समान हैं, व्याकरण-प्रक्रिया तथा शतपथ-ब्राह्मण, कात्यायन श्रौतसूत्र आदि के प्रमाण अधिक हैं।

काण्व संहिता पर हलायुध (20 वीं शती ईस्वी) का तथा सायणाचार्य (14वीं शती ईस्वी) का भाष्य प्राप्त है। हलायुध के भाष्य का नाम 'ब्राह्मणसर्वस्व' है। ये बङ्गाल के नरेश राजा लक्ष्मणसेन के धर्माधिकारी थे। सायण विजयनगर के संस्थापक महाराज बुक्क और हरिहर के अमात्य और सेनानी थे। इनका भाष्य अभी तक काण्व संहिता के प्रथम 20 अध्यायों पर ही प्रकाशित हुआ है।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता पर भट्ट भास्कर (11वीं शती ईस्वी) का ज्ञानयज्ञ नामक भाष्य और सायणाचार्य (14वीं शती ईस्वी) का भाष्य उपलब्ध है। सायण ने सर्वप्रथम अपना भाष्य तैत्तिरीय संहिता पर ही लिखा था, तत्पश्चात् ऋग्वेद आदि का भाष्य लिखा।

हम पहले लिख चुके हैं कि स्वामी दयानन्द के अनुसार मूल वेद शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता ही है। उवट और महीधर ने इस पर भाष्य लिख कर इस दृष्टि से विशेष उपकार किया है कि इससे यह सिद्ध हो जाता है कि शतपथ ब्राह्मण में यज्ञों की विधियों में किये गये विनियोग मन्त्रार्थानुसृत हैं। विनियोग वे ही प्रामाणिक माने जाते हैं जो मन्त्रार्थानुसृत हों, अतः शतपथ ब्राह्मण के विनियोगों की प्रामाणिकता इससे सिद्ध हो जाती है। परन्तु इन दोनों के भाष्यों में छाग (बकरे) और अश्व (घोडे) के काटे गये अङ्गों की एवं इनके रक्त की बूंदों की तथा गाय की चर्बी की यज्ञाग्नि में आहुति देना लिखा है और 23वें अध्याय के 19 से 31 तक की कण्डिकाओं के अर्थ अत्यन्त अश्लील किये हैं, जिन्हें पढ़ते-सुनते

लिखते हुए भी लज्जा अनुभव होती हैं। इस क्वचित् आनेवाली पशुबलि तथा अश्लीलता के कारण उवट एवं महीधर के भाष्य कलङ्कित हो रहे हैं। इस विषय में इन भष्यों के निम्न स्थल[3] द्रष्टव्य हैं-

(क) अग्नीषोमीय पशुप्रयोग - अध्याय 6, कण्डिका 7-22।

(ख) अश्वमेध - अध्याय 23-25

(ग) पितृमेध - अध्याय 35, कण्डिका 20, गाय की चर्बी से पितरों की तृप्ति।

स्वामी दयानन्द की दृष्टि

स्वामी दयानन्द श्रौत यज्ञों को स्वीकारते हैं। अपने ग्रन्थों में कई स्थलों पर 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त' यज्ञों को उन्होंने स्वीकृति दी है। वे उन्हीं यज्ञिय विनियोगों से सहमत हैं, जो युक्तिसिद्ध, वेदादिप्रमाणानुकूल तथा मन्त्रार्थानुसृत हों। मन्त्र बोल रहे हैं **'स्वधिते मैनं हिंसीः'** अर्थात् 'हे छूरे, तू इसकी हिंसा मत कर', किन्तु पशु का पेट काटकर कर रहे हों हिंसा- इससे स्वामीजी सहमत नहीं है। स्वामी जी यह नहीं मानते कि शतपथब्राह्मण के अनुसार यज्ञों में पशुबलि दी जाती है। वे तथाकथित पशुबलि के प्रकरणों का भिन्न अर्थ करते हैं। वे इस बात से भी असहमत हैं कि वेदों की रचना श्रौत कर्मकाण्ड के लिए ही हुई है। स्कन्द, उवट, सायण, महीधर आदि के वेदभाष्यों में एकमात्र श्रौत या गृह्य कर्मकाण्ड को देखकर उनके मानस में विक्षोभ उत्पन्न हुआ और उन्होंने स्वयं वेदभाष्य करने का विचार किया, जिससे वेद अनेक विद्याओं के भण्डार सिद्ध हो सकें। वे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'प्रतिज्ञा' विषय में अपने करिष्यमाण वेदभाष्य के विषय में लिखते हैं कि इसमें कर्मकाण्ड (मानव कर्त्तव्य) का वर्णन शब्दार्थतः किया जायेगा, किन्तु अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञों में वेदमन्त्रों के जो विनियोग और विधि-विधान किये गये हैं, उनका विचार नहीं किया जायेगा, क्योंकि कर्मकाण्ड के अनुष्ठान का विषय ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, पूर्व मीमांसा, श्रौतसूत्र आदि में पहले ही प्रतिपादित किया हुआ है। उनके ग्राह्य विनियोग तथा विधि-विधान ग्रहण कर लेने चाहिएँ। वे अपने भाष्य के विषय में यह भी कहते हैं कि जिन वेदमंत्रों के सप्रमाण पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों अर्थ सम्भव होंगे, उनके दोनों अर्थ प्रदर्शित किये जायेंगे। पारमार्थिक से आध्यात्मिक अर्थ अभिप्रेत हैं। सायणाचार्य आदि के उपलब्ध भाष्यों की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं स्वेच्छाचार से तथा लोकप्रवृत्ति की अनुकूलता देखकर लोकप्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए लिखे गये हैं और इनसे महान् अनर्थ हुआ है।

संवत् 1934, मार्गशीर्ष शुक्ला 6 (सन् 1877) को स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य आरम्भ कर दिया। इसके साथ साथ संवत् 1934, पौष शुक्ला 13 (सन् 1877) से वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता का भाष्य भी करने लगे। ऋग्वेदभाष्य मण्डल 7, सूक्त 61, मन्त्र 2य तक हो पाया, किन्तु यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण हो गया। छठे मण्डल तक ऋग्भाष्य पूर्ति के पश्चात् महर्षि का अनुमान था कि 'एक वर्ष में सब ऋग्वेदभाष्य पूरा हो जायेगा और एक या डेढ़ वर्ष साम और अथर्व में लगेगा।' यह अपने पत्र में स्वामी जी ने 23 अगस्त 1883 को मुंशी समर्थदान को लिखा था, किन्तु 30 अक्टूबर 1883 को स्वामीजी का शरीरान्त हो गया।

श्रौत और गृह्य विनियोगों का वेदमन्त्रों के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं है, प्रचलित कर्मकाण्ड से स्वतन्त्र होकर भी वेदार्थ किया जा सकता है, यह देन मुख्यरूप से स्वामी दयानन्द सरस्वती की ही है। उन्होंने अपने वेदभाष्य में नवीन मानवकर्त्तव्यशास्त्ररूपी कर्मकाण्ड प्रदर्शित कर दिया है। साथ ही योग तथा ईश्वरोपासना की आध्यात्मिक धारा भी प्रवाहित की है और विविध विद्याओं का निरूपण भी किया है।

कण्डिका और मन्त्र

यजुर्वेद में जिन्हें हम मन्त्र कहते हैं, वे याज्ञिक कर्मकाण्ड के अनुसार कण्डिकाएँ हैं, मन्त्र नहीं। उन कण्डिकाओं में कई छोटे-छोटे मन्त्र हो सकते हैं, जिनका विनियोग पृथक्-पृथक् विधियों में किया जाता है। उदाहरणार्थ प्रथम अध्याय की **'इषे त्वोर्जे त्वा'** आदि प्रथम कण्डिका में कर्मकाण्डिक व्याख्या के अनुसार 5 मन्त्र हैं, जिनका विनियोग पृथक्-पृथक् विधियों में किया गया है। यथा-

1. इषे त्वा - इस मन्त्र का शाखा देवता है। विनियोग पलाश या शमी की एक शाखा को वृक्ष से काटने की क्रिया में किया गया है। मन्त्र का अर्थ है - 'हे शाखा, वृष्टि के लिए तुझे वृक्ष से काटता हूँ।'

2. ऊर्जे त्वा - इसका भी शाखा ही देवता है। काटी हुई शाखा में लगी हुई धूलि आदि झाड़कर उसके ऋजूकरण (सीधा करने) की क्रिया में विनियोग है। मन्त्र का अर्थ है- 'हे शाखा, वृष्टि से जो अन्न, दूध आदि रस उत्पन्न होगा, उसके लिए तेरी धूलि आदि झाड़कर तुझे सीधा करता हूँ।'

3 वायव स्थ - वायु इस मन्त्र का देवता है। अनेक बछड़ों में से एक बछड़े को शाखा से स्पर्श करने में इसका विनियोग है। मन्त्र का अर्थ है - 'हे बछड़ो, तुम अपनी माता गौओं के पास से अन्यत्र जाओ, (क्योंकि माताओं के साथ जाने से सायंकाल का दूध हमें नहीं मिलेगा, सारा दूध तुम पी जाओगे।'

4. देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशꣳसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीः -

इस मन्त्र का इन्द्र देवता है। अनेक गौओं में से एक गौ को पृथक् करके उसे शाखा से स्पर्श करने में इसका विनियोग है। मन्त्र का अर्थ है - हे गौओ, 'सविता देव (प्रेरक परमेश्वर), तुम्हें यज्ञरूप श्रेष्ठतम कर्म के लिए वन में ले जाये। वहाँ (घास आदि चरकर) तमु इन्द्र के भाग रूप दूध को अपने अन्दर बढ़ाओ। तुम सन्तानोंवाली, निरोग, राजयक्ष्मारहित होवो। चोर और पापी हिंसक व्याघ्र आदि तुम्हें अपने वश करने में समर्थ न हो सके। इस गोपति यजमान के पास स्थिर निवास करती हुई तुम संख्या में बहुत हो जाओ।'

5. यजमानस्य पशून् पाहि - इस मन्त्र का भी शाखा देवता है। अनेक गोशालाओं में से किसी एक गोशाला के सामने शाखा को ऊँचाई पर खड़ा कर देने में इसका विनियोग है। मन्त्र का अर्थ है- 'हे शाखा, तू वन में चरती हुई गौओं की रक्षा करती रह, (जिससे वे वन से सकुशल लौटकर आ सकें)।'

इसी प्रकार कण्डिकाओं के अन्तर्गत मन्त्र हैं। मन्त्रों की संख्या भिन्न-भिन्न है, किसी कण्डिका में एक ही मन्त्र है, अर्थात् वे पूरी कण्डिका ही मन्त्र का काम करती है। उदाहरणार्थ दशम अध्याय की कण्डिका 1 में

1 मन्त्र, कण्डिका 2 में 4 मन्त्र, कण्डिका 3 में 10 मन्त्र, कण्डिका 4 में 21 मन्त्र, कण्डिका 5 में 13 मन्त्र, कण्डिका 6 में 3 मन्त्र, कण्डिका 7 में 1 मन्त्र, कण्डिका 8 में 1 मन्त्र, कण्डिका 9 में 7 मन्त्र कण्डिका 10 में 2 मन्त्र हैं। इस प्रकार वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेदसंहिता में कुल कण्डिकाएँ 1975 और कुल मन्त्र 3988 हैं।

स्वामी दयानन्द कण्डिकाओं को मन्त्र कहते हैं तथा उन्होंने यजुर्वेद में कुल मन्त्रसंख्या गणना करके 1975 लिखी है। यजुर्वेद में कोई-कोई मन्त्र दो या अधिक छन्दों से मिलकर बना है, वहाँ भी स्वामीजी उन्हें दो या अधिक मन्त्र नहीं मानते, प्रत्युत यह लिखते हैं, कि इस मन्त्र के अमुक भाग में यह छन्द है और अमुक में यह छन्द है। यथा अध्याय 4 मन्त्र 25 पर लिखते हैं - **'पूर्वस्य विराड् ब्राह्मी जगती छन्दः। सुक्रतुरित्युत्तरस्य निचृदार्षी गायत्री छन्दः'**, अर्थात् इस मन्त्र के पूर्व भाग का विराड् ब्राह्मी जगती छन्द है और 'सुक्रतुः' से प्रारम्भ होने वाले उत्तर भाग का निचृद् आर्षी गायत्री छन्द है। अध्याय 2, मन्त्र 25 के विषय में उनका लेख है -

'दिवीत्यारभ्य द्विष्म इत्यन्तस्य निचृद् आर्ची। तथा ऽन्तरिक्ष इमत्यारभ्य द्विष्मः पर्यन्तस्यार्ची पङ्क्तिश्छन्दः। पृथिव्यामित्यारभ्यान्तपर्यन्तस्य जगती छन्दः।' अर्थात् 'दिवि' से लेकर 'द्विष्मः' पर्यन्त का निचृद् आर्ची छन्द, 'अन्तरिक्षे' से लेकर 'द्विष्मः' पर्यन्त का आर्ची पङ्क्ति छन्द 'पृथिव्यां' से लेकर अन्त तक का जगती छन्द है।

ऋषि, देवता और छन्द

वेदों में सूक्तों, वर्गों, अध्यायों, दशतियों, खण्डों आदि के प्रारम्भ में मन्त्रों के ऋषि, देवता और छन्द लिखे रहते हैं। कई पुस्तकों में प्रत्येक मन्त्र के साथ दिये होते हैं। प्रश्न उठता है कि इनसे क्या तात्पर्य है। अतः इसके संक्षिप्त परिचयार्थ यह प्रकरण लिखा जा रहा है।

ऋषि -

ऋषियों के सम्बन्ध में मुख्यतः दो पक्ष हैं। एक पक्ष यह है कि ऋषि मन्त्रकर्त्ता हैं, अर्थात् जिस वेदमन्त्र के साथ जिस ऋषि का नाम लिखा है, उसने उस मन्त्र की रचना की है। द्वितीय पक्ष यह है कि ऋषि पहले से ही रचे हुए मन्त्रों के अर्थद्रष्टा हैं, मन्त्र तो ईश्वररचित हैं। ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता मानने पर कई दोष आते हैं। कई मन्त्र वेदों में एक से अधिक बार आये हैं। यदि ऋषि मन्त्रों के रचयिता होते, तो सर्वत्र उनका एक ही ऋषि होना चाहिए था, परन्तु अनेक पुनरुक्त मन्त्रों में ऋषि परस्पर भिन्न हैं। यथा, **'आ भारती भारतीभिः सजोषाः'** आदि ऋ0 3.4.8-11 पाँच मन्त्र ऋ0 7.2. 8-11 में पुनरुक्त हैं, किन्तु प्रथम स्थान में उनका ऋषि विश्वामित्र है और द्वितीय स्थान में वशिष्ठ है। तीन मन्त्रों के एक सूक्त ऋ0 9.66 के ऋषि शत वैखानस (एक सौ वानप्रस्थ मुनि) हैं। एक सौ मुनियों ने मिलकर इस सूक्त की रचना की हो, यह सम्भव नहीं है। अन्य भी अनेक आपत्तियाँ इस मत पर आती हैं।

द्वितीय मत के अनुसार ऋषि मन्त्रों के रचयिता न होकर मन्त्रार्थद्रष्टा हैं। स्वामी दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रश्नोत्तरविषय में लिखते हैं -**''ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे। फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र**

का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस उसका नाम उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिए लिखा गया है।'' इसके लिए उन्होंने यास्कीय निरुक्त का निम्नलिखित प्रमाण भी दिया है-

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। -निरु0 1/20

अर्थात् वेदमन्त्रों के अर्थो का साक्षात्कार करनेवाले ऋषि थे, वे उन्हें जिन्हें मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार नहीं हुआ था, उपदेश द्वारा मन्त्रार्थ प्रदान करते थे।

सत्यार्थप्रकाश समुल्लास 7 में स्वामी दयानन्द लिखते हैं - **''जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस-जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिये अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा-लिखाया आता है। जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्ता बतलावे, उनको मिथ्यावादी समझें, वे तो मन्त्रों के अर्थ-प्रकाशक हैं।''**

स्वामी दयानन्द ने अपने यजुर्वेदभाष्य में वेदमन्त्रों के जो ऋषि लिखे हैं, वे यजुर्वेदीय सर्वानुक्रमसूत्र से लिये हैं। यथा प्रथम दो अध्यायों के मन्त्रों का ऋषि 'परमेष्ठी प्रजापति' लिखा है।

देवता -

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रश्नोत्तरविषय में स्वामीजी ने 'मन्त्रों पर देवता क्यों लिखे जाते हैं?' यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर यह दिया है- **''यस्य यस्य मन्त्रस्य यो यो ऽर्थो ऽस्ति स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते। एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम्।।''** अर्थात् वेदमन्त्रों के देवता इस हेतु से लिखे हैं कि जिस-जिस मन्त्र का जो-जो अर्थ होता है, उस-उस अर्थ का अभिप्राय देवता-वाचक शब्द से विज्ञात हो जाता है। इससे देवता का यह लक्षण सूचित होता है कि जिससे किसी का अभिप्रायार्थ विज्ञात हो वह उस मन्त्र का देवता होता है। इससे हम इस परिणाम पर वहुँचते हैं कि मुख्यतः देवता दो प्रकार के हो सकते हैं, एक तो वे जिनका नाम उस मन्त्र में या उसके आस-पास के मन्त्रों में पठित हो, यथा अग्नि, वायु, सविता, सूर्य, मित्र, वरुण, अश्विनौ, मित्रावरुणौ, मरुतः, ऋभवः आदि; दूसरे ऐसे भी देवता हो सकते हैं, जिनका नाम तो उस मन्त्र में या उसके आस-पास के मन्त्रों में उल्लिखित न हो, किन्तु उनके विषय का वर्णन उस वेदमन्त्र में पाया जाता हो, यथा परमात्मा, जगदीश्वर, सभेश, सेनेश, राजा-प्रजा, राजपत्नी, न्यायाधीश आदि। अपने यजुर्वेदभाष्य में स्वामीजी ने मन्त्रों के जो देवता लिखे हैं, उनमें से कुछ प्रथम प्रकार हैं, कुछ द्वितीय प्रकार के। यथा प्रथम प्रकार के - अग्निः 1.5, वायुः 7.7, सविता 1.1, 3.20, सूर्यः 23.10, इन्द्रः 20. 28-31, विष्णुः 2.6, रुद्रः 3.58, अश्विनौ 28.7, सोमः 7.2, मरुतः 3.44, वरुणः 12. 12, उषाः 34.33। द्वितीय प्रकार के - परमात्मा 10.15, 22.6-8, परमेश्वरः 23.1, ईश्वरः 4. 8, जीवेश्वरौ 12.14, विद्वांसः 6.12,7.3, सेनेशः 20.33, गृहपतयः 8.14,18, योगी 7.6, वैद्याः 88-93, विदुषी 15.58,63, पत्नी 8.42,43,

यज्ञः 1.2,7, जिज्ञासुः 23.11, प्रष्टा 23.53, सभापतिः 20.4, दम्पती 8.27-32, मनुष्याः 19.6, स्त्रियः 19.30,31, वीराः 19.40-46, महावीरः सेनापतिः 19.51, प्रजा 23.40, राजा 23.43,44।

स्वामीजी ने शतपथ, श्रौतसूत्र, सर्वानुक्रमसूत्र आदि में प्रोक्त कर्मकाण्ड के देवता अपने भाष्य में नहीं लिये हैं, क्योंकि उन्होंने अपना भाष्य कर्मकाण्ड से स्वतन्त्र होकर किया है।

छन्द -

वैदिक छन्दों के तीन सप्तक हैं- गायत्र्यादि सप्तक, अतिजगत्यादि सप्तक और कृत्यादि सप्तक। गायत्र्यादि सप्तक में गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप् और जगती ये सात छन्द आते हैं। ये सातों गायत्र्यादि छन्द आर्ष, दैव, आसुर, प्राजापत्य, याजुष, साम्न, आर्च और ब्रह्म के भेद से आठ प्रकार के होते हैं। इनके संक्षिप्त परिचयार्थ तालिका नीचे दी जा रही है।

छन्द-नाम	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पङ्क्ति	त्रिष्टुप्	जगती	अक्षरों में वृद्धि-ह्रास
१. आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८	वृद्धि ४ अक्षर
२. दैवी	१	२	३	४	५	६	७	वृद्धि १ अक्षर
३. आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	ह्रास १ अक्षर
४. प्रजापत्या	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२	वृद्धि ४ अक्षर
५. याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२	वृद्धि १ अक्षर
६. साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४	वृद्धि २ अक्षर
७. आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६	वृद्धि ३ अक्षर
८. ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२	वृद्धि ६ अक्षर

आर्षी गायत्री 24 अक्षर की होती है, आगे उष्णिक् आदि में 4-4 अक्षरों की वृद्धि होती चलती है। दैवी गायत्री 1 अक्षर की होती है, यथा ओ३म्, श्रीः, आगे 1-1 अक्षर की वृद्धि होती चलती है। आसुरी गायत्री 15 अक्षर की होती है, आगे के छन्दों में क्रमशः 1-1 अक्षर का ह्रास होता चलता है। इसी प्रकार प्राजापत्या आदि छन्दों को तालिका के अनुसार जानना चाहिए।

इसके अतिरिक्त अतिजगत्यादि सप्तक और कृत्यादि सप्तक के छन्द निम्न प्रकार से होते हैं -

अतिजगत्यादि सप्तक		कृत्यादि सप्तक	
अतिजगती	52 अक्षर	कृति	80 अक्षर
शक्वरी	56	प्रकृति	84
अतिशक्वरी	60	आकृति	88
अष्टि	64	विकृति	92
अत्यष्टि	68	संकृति	96
धृति	72	अभिकृति	100
अतिधृति	76	उत्कृति	104

इस प्रकार प्रत्येक छन्द में 4-4 अक्षर की वृद्धि होती है। अब तक हमने जो भी छन्द देखे हैं, उन सभी में एक अक्षर कम होने पर उनके साथ **निचृद्** विशेषण लगता है और एक अक्षर अधिक होने पर **भुरिक्**। दो अक्षर की न्यूनता होने पर उनके साथ **विराट्** विशेषण प्रयुक्त होता है और दो अक्षर की अधिकता होने पर **स्वराट्**। तथा 24 अक्षर वाली गायत्री में यदि 23 अक्षर हों, तो वह निचृद् गायत्री कहलायेगी तथा यदि 25 अक्षर हों तो भुरिग् गायत्री। इसी प्रकार 32 अक्षर वाले अनुष्टुप् छन्द में 30 अक्षर हों, तो वह विराट् अनुष्टुप् कहलायेगा और 34 अक्षर होने पर स्वराड् अनुष्टुप्। यहाँ यह शङ्का उठ सकती है कि बृहती छन्द में 36 अक्षर होते हैं, दो अक्षर कम मानकर 34 अक्षर वाले छन्द को विराड् बृहती क्यों कहें? इसका उत्तर यह है कि पूर्व और पश्चात् की ऋचाओं को तथा पादों को देखकर

इसका निर्णय करना होता है। यदि आस पास की ऋचाएँ अनुष्टुप् की हैं, तथा विचारणीय मन्त्र में पाद अनष्टुप्-सदृश हैं तो उसे स्वराड् अनुष्टुप् कहेंगे और यदि प्रकरण बहती का है तथा विचारणीय मन्त्र के पाद बृहती-सदृश हैं तो उसे विराड् बृहती कहा जायेगा।

किसी छन्द में कोई एक पाद 5 अक्षर का होने पर उसके साथ **शंकुमति** विशेषण लगता है और कोई एक पाद 6 अक्षर का हो तो **ककुम्मती** विशेषण। तीन पादों वाले छन्द में यदि मध्य का पाद इतर पादों से छोटा हो, तो उसकी चींटी-जैसी आकृति होने के कारण उसे **पिपीलिकामध्या** विशेषण से युक्त करते हैं, और मध्य का पाद यदि अन्य पादों से मोटा हो, तो उसकी यव (जौं) जैसी आकृति होने के कारण उसके साथ **यवमध्या** विशेषण लगाते हैं। यथा- पिपीलिकामध्या गायत्री अथवा यवमध्या गायत्री। छन्द के निर्णय में अक्षरसंख्या सबसे बलवान् हेतु माना गया है। एक सम्प्रदाय ऐसा भी है, जो सन्धि तोड़कर या अन्य उपायों से छन्द की अभीष्ट अक्षरसंख्या पूर्ण कर लेता है। उस स्थिति में निचृद्, भुरिग् आदि लगाने की आवश्यकता नहीं होती। इसके नियम भी छन्दः शास्त्र में दिये हैं। ऋग्वेद में कुछ अपवादों को छोड़कर आर्ष गायत्र्यादि सप्तक के छन्दों का ही प्रयोग हुआ है, किन्तु माध्यन्दिन यजुर्वेद में आर्ष गायत्र्यादि सप्तक के अतिरिक्त अन्य छोटे-बड़े सप्तकों के भी विविध छन्द प्रयुक्त मिलते हैं। कोई-कोई मन्त्र एकाधिक छन्दों से मिलकर भी बने हैं।

स्वामी दयानन्द का यजुर्वेदभाष्य

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद और यजुर्वेद का भाष्य प्रारम्भ करने से पूर्व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका लिखी। उनका चारों वेदों का भाष्य करने का विचार था और चारों वेदों के भाष्य की भूमिका यही थी। इसमें उन्होंने ईश्वरप्रार्थना करके वेदोत्पत्ति, वेदनित्यत्व, वेदविषयविचार, वेदसंज्ञाविचार, ब्रह्मविद्या, वेदोक्त धर्म, सृष्टिविद्या, पृथिव्यादिलोकभ्रमण, आकर्षणानुकर्षण, प्रकाश्यप्रकाशक, गणितविद्या, ईश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पण, ईश्वरोपासना, मुक्ति, नौविमानादिविद्या, पुनर्जन्म, विवाह, नियोग, राजप्रजाधर्म, वर्णाश्रम, पञ्चमहायज्ञ, ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य, वेदाध्ययनाधिकारानाधिकार, पठनपाठन, भाष्यकरणशङ्कासमाधानादि, भाष्यविषयप्रतिज्ञा, वेदविषयक, प्रश्नोत्तर, वैदिकप्रयोग, स्वरव्यवस्था, व्याकरणनियम, अलंकार-भेद तथा ग्रन्थसङ्केत विषयों का सप्रमाण प्रतिपादन किया है। इस भूमिका का स्वामीजी की दृष्टि में बहुत महत्त्व था। अतएव उन्होंने यह नियम निर्धारित किया था कि "जो कोई भूमिका के बिना केवल वेदभाष्य ही लिया चाहें सो नहीं मिल सकते, किन्तु भूमिका पृथक् मिल सकती है।"

स्वामी दयानन्द के स्वलेखानुसार शतपथ, निरुक्त आदि के प्रमाणों से युक्त यजुर्वेदभाष्य के लेखन का आरम्भ विक्रम संवत् 1934 पौष सुदि 13 गुरुवार के दिन प्रातः हुआ था। भाष्य के अन्त में मुद्रित पङ्क्ति के अनुसार मार्गशीर्ष कृष्ण 1, शनिवार संवत् 1939 को लेखन समाप्त हुआ। इस प्रकार इस भाष्य के लेखन में लगभग 4 वर्ष 10 मास लगे थे। इस भाष्य का मुद्रण अनुमानतः ऋग्वेदभाष्य के मुद्रण के आस-पास श्रावण संवत् 1935 वि0 में आरम्भ

हुआ होगा और भाष्य के अन्त में मुद्रित पङ्क्ति के अनुसार वैशाख शुक्ल 11, शनि, संवत् 1946 में छप कर समाप्त हुआ। इस प्रकार छपने में लगभग 11 वर्ष लगे। स्वामीजी के जीवनकाल में 15वें अध्याय के 11वें मन्त्र तक यह भाष्य छपा था, शेष सारा भाष्य उनके महाप्रयाण के पश्चात् छपा।

यजुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय में स्वामीजी भाष्य के प्रारम्भिक प्रकरण में लिखते हैं कि ईश्वर ने जीवों को गुण-गुणी के विज्ञान के उपदेश के लिए ऋग्वेद में सब पदार्थों की व्याख्या करके यजुर्वेद में यह उपदेश किया है कि उन पदार्थों से यथायोग्य उपकार ग्रहण करने के लिए कर्म किस प्रकार करने चाहिएँ। उसके लिए जो-जो अङ्ग और जो-जो साधन अपेक्षित हैं, उन सबका प्रकाश यजुर्वेद में किया गया है। जब तक ज्ञान क्रियानिष्ठ नहीं होता, तब तक उससे श्रेष्ठ सुख कभी प्राप्त नहीं होता। विज्ञान क्रिया में निमित्त बनता है, प्रकाशकारक होता है, अविद्या की निवृत्ति करता है, धर्म में प्रवृत्ति करता है और धर्म तथा पुरुषार्थ का मेल कराता है। जो-जो कर्म विज्ञाननिमित्तक होता है, वह-वह सुखजनक हो जाता है। अतः मनुष्यों को चाहिए कि विज्ञानपूर्वक ही नित्य कर्मानुष्ठान करें। जीव चेतन होने से बिना कर्म किये नहीं रह सकता। कोई भी मनुष्य आत्मा, मन, प्राण और इन्द्रियों के सञ्चालन कि बिना क्षणभर भी नहीं रह सकता। **'यजुर्भिः यजन्ति'** इस प्रमाण से यजुर्वेद के मन्त्रों से यजन किया जाता है। 'यजुः' में देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान अर्थ वाली यज धातु है। जिससे मनुष्य ईश्वर का धार्मिक विद्वानों का पूजा-सत्कार करते हैं, अपनी सब चेष्टाओं में परस्पर सङ्गति उत्पन्न करते हैं, पदार्थों के सङ्गतिकरण द्वारा शिल्पविद्या की सिद्धि करते हैं, शुभ विद्या और शुभ गुणों का दान करते हैं, यथायोग्य सबके उपकार में, शुभ व्यवहार में और विद्वानों में धनादि का व्यय करते हैं, वह यजुः है। इस प्रकार यजुर्वेद में कर्मकाण्ड का वर्णन है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में स्वामीजी लिखते हैं कि कर्मकाण्ड के मुख्य दो भेद हें, एक वह जो परमपुरुषार्थ की सिद्धि के लिए होता है, अर्थात् जो इश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना, आज्ञापालन, धर्मानुष्ठान द्वारा मोक्ष की सिद्धि के लिए प्रवृत्त होता है और दूसरा वह जो लोकव्यवहार की सिद्धि के लिए धर्मपूर्वक अर्थ तथा काम की पूर्ति के लिए किया जाता है। यह दूसरा भी जब परमेश्वर की प्राप्तिरूप फल के उद्देश्य से होता है तब सकाम कहा जाता है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ, वर्णाश्रमधर्म, राजा-प्रजा के कर्त्तव्य आदि सब कर्मकाण्ड इसी में आता है।

पाद-टिप्पणियां

1. एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, एकशतम् अध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, नवधाऽऽथर्वणो वेदः।
2. प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं गणेशं भाष्यं विलोक्यौवटमाधवीयम्।
3. द्रष्टव्य : लेखक की पुस्तक 'आर्ष-ज्योति' का लेख 'स्वामी दयानन्द के यजुर्वेदभाष्य पर एक तुलनात्मक दृष्टि'।

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1(2), No.2 (58-66) Jan.-June 2012

वेदमन्त्रों के तथाकथित भद्दे और अश्लील अर्थों की आर्षसमीक्षा

दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्ष, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404 (उत्तराखण्ड)भारत
Email : dineshcshastri@gmail.com

मध्यकालीन विनियोगकारों, अनुक्रमणिकाकारों तथा उनके पीछे चलने वाले सायणाचार्य, उवट और महीधर आदि भाष्यकारों ने जहाँ वेद को जड़याज्ञिक कर्मकाण्ड का ग्रन्थ बनाकर रख दिया वहाँ उन्होंने वेद के कुछ प्रकरणों को बीभत्स अश्लीलता का पिटारा भी बना दिया है। ये कुत्सित बातें ईश्वरीय ज्ञान वेद को कलंकित करने वाली हैं। ये सब घृणित बातें वेदों में नहीं है। ये बातें वेद के सही तात्पर्य को न समझने वाले लोगों के द्वारा थोप दी गयी हैं। यहां हम कुछ मन्त्रों पर विचार करके यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि किस प्रकार ये सब बातें वेद के अपने आशय के सर्वथा विपरीत हैं।

विनियोगकारों तथा अनुक्रमणिकाकारों के आधार पर श्री सायण आदि भाष्यकारों ने कितने ही वेदमन्त्रों के बड़े अश्लील अर्थ किये हैं, जिन्हें पढ़कर लज्जा आ जाती है तथा महान् गौरवशाली धर्मग्रन्थ वेद की महिमा धूल में मिल जाती है और यह ग्रन्थ एक निम्नकोटि का गर्हणीय घृणापूर्वक त्याज्य ग्रन्थ बन जाता है। ये लोग जो कि वेद को ईश्वरीय ज्ञान भी मानते हैं, वेद के इस प्रकार के अत्यन्त भद्दे और अश्लील अर्थ करने का कैसे साहस कर सके, यह बात किसी सच्चे आस्तिक वेदानुयायी की समझ से बिल्कुल परे की है। ऋग्वेद के 1.126 सूक्त के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इसमें भावयव्य (भाव्य या भावयु का पुत्र स्वनय) राजा और उसकी पत्नी रोमशा का सम्वाद है। कहा जाता है कि सूक्त के प्रथम पाँच मन्त्रों का देवता भावयव्य है क्योंकि उसमें उसी की स्तुति या वर्णन है। छठे मन्त्र का देवता भी भावयव्य है तथा सातवें मन्त्र का देवता रोमशा है। इस सूक्त पर थोपी गयी भावयव्य, रोमशा और कक्षीवान् की सारी ऊट-पटाँग कहानी का उल्लेख न करके हम केवल इस सूक्त के छठे और सातवें अन्तिम दो मन्त्रों की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जिनमें अश्लीलता की कलम तोड़ दी गयी है। छठे मन्त्र में सायणाचार्य के अनुसार रोमशा द्वारा अपने पति राजा भावयव्य से संभोग की प्रार्थना करने पर भावयव्य ने मन में उसे अप्रौढ़ा अर्थात् अपरिपक्व समझकर उपहास करते हुए रोमशा से कहा कि वाह! तू तो भोग योग्य हो गयी। अब तो तू पकड़कर खूब ही आलिंगन करने योग्य तथा सम्भोग करने के योग्य हो गयी है। तू तो ऐसी हो गयी है कि एक बार आलिंगन करके छोड़ेगी ही नहीं। जैसे कि भोगार्थ नेवली नेवले को नहीं छोड़ती। तेरी योनि से तो वासनाजन्य द्रव भी बहने लग पड़ा है, तू तो अपनी योनि में लिंग प्रवेश द्वारा मुझे सैकड़ों प्रकार के सम्भोग सुख देने वाली हो गयी है।

भावयव्य के इस उपहास और मजाक में कहे कथन का तात्पर्य है कि तू अभी तो

सम्भोग के योग्य हुई भी नहीं है फिर तू मुझे संभोग के लिए क्यों कह रही है? सायणाचार्य (14वीं शताब्दी ईस्वीय) से बहुत पूर्व, लगभग 7-8 शताब्दी पहले, स्कन्द स्वामी ने (625 ई0 के लगभग) ने भी ऋग्वेद भाष्य में भावयव्य और रोमशा की इसी आशय की कथा देते हुए इस मन्त्र का लगभग सायण जैसा ही भाष्य किया है। निरुक्त के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी इस मन्त्र का लगभग सायण जैसा ही अर्थ किया है। सायण से लगभग दो शताब्दी पूर्व के एक-दूसरे भाष्यकार श्री वेंकट माधव (1143 ई0 ईसा की बारहवीं शताब्दी) ने तो अपने ऋग्वेदभाष्य में इस मन्त्र के अर्थ में कमाल ही कर दिया है। उनके अनुसार : ''एक बार इन्द्र अपनी पत्नी शची के साथ अपने मित्र राजा भावयव्य (स्वनय) से मिलने के लिए गया। राजा ने उसका खूब सत्कार किया। वहाँ रोमशा भी आ गयी। उसने इन्द्र और शची दोनों को प्रणाम किया। इन्द्र ने अपनी सखी के रूप में रानी रोमशा से पूछा कि हे रानी, तेरे गुप्ताङ्गों में बाल अच्छी तरह उग आये हैं या नहीं? उसने सहज भाव से बालिका रूप में उत्तर दिया कि हे इन्द्र! मेरे बालों को छूकर देख ले। इस पर इन्द्र ने यही पूवोक्त मन्त्र बोला और यही बात कही जो भावयव्य ने कही थी। इन्द्र द्वारा यह मन्त्र कहे जाने का तात्पर्य यह बन जाता है कि हाँ, हे रोमशा! तू तो पूर्ण जवान और सम्भोग के योग्य बन गयी है। मन्त्र का शब्दार्थ वेंकट माधव ने भी प्रायः वैसा ही किया है जैसाकि स्कन्द स्वामी और सायण ने किया है।[1]

सूक्त के अगले अन्तिम सातवें मन्त्र में कहा जाता है कि रोमशा अपना वर्णन कर रही है और उसे ही सूक्त देवता भी माना जाता है। इस मन्त्र में रोमशा भावयव्य के व्यंग्य का हँसते हुए उत्तर देती हुई कह रही है, ''हाँ, देखो, मैं कितनी जवान और सम्भोग के योग्य हो गयी हूँ।'' वेंकट माधव के अनुसार इन्द्र ने रोमशा का जो समर्थन किया था कि हाँ, तू पूर्ण जवान और सम्भोग के योग्य हो गयी है, उसके समर्थन में भी रोमशा उन्हें दुरहा रही है कि हाँ, देखो, मैं कितनी जवान और सम्भोग के योग्य हो गयी हूँ। इस प्रसंग में वह मन्त्र में बता रही है कि तू मेरे अंगों और गुप्तांगों को अच्छी प्रकार स्पर्श करके देख ले, मैं भोग्य और जवान हो गयी हूँ। मेरे गुप्तांग के बालों को थोड़े-थोड़े और छोटे-छोटे मत समझो। मेरे रोम बहुत और बड़े-बड़े हैं। इसलिए मैं सर्वांगपूर्ण युवती हूँ। गन्धार देश की भेड़ों में से कोई भेड़ जैसे घने लम्बे और कोमल बालों वाली होती है, वैसी ही मैं भी हूँ। अथवा अच्छी गर्भधारिणी नारियों की योनि जैसी रोमों वाली होती है, वैसी ही मेरी भी है। यह सब कहने का भाव रोमशा का यह है कि मैं पूरी जवान और सम्भोग के योग्य हो गयी हूँ। अतः मुझे अप्रौढ़ा मत समझें।'' स्कन्दस्वामी, वेंकटमाधव और दुर्गाचार्य के इस मन्त्र के अर्थ भी उसी प्रकार के हैं जैसे कि सायण ने अर्थ किए हैं। यास्काचार्य ने निरुक्त में इन मन्त्रों को उद्धृत नहीं किया है और न उनके अर्थों को दिया है। केवल छठे मन्त्र के प्रतीक के रूप में दभ्र शब्द उदाहरण में दिया है। दुर्गाचार्य ने इस प्रतीक के आधार पर

निरुक्त की अपनी टीका में सायण आदि के भाष्यों के आधार पर इनके उपर्युक्त प्रकार के अर्थ किये हैं। मन्त्रों के ये अर्थ कितने भद्दे, अश्लील, घृणित और जुगुप्सित हैं, इसे उपर्युक्त पंक्तियों में देख ही लिया गया है। इन मन्त्रों के भाष्यों की अश्लीलता को देखकर ग्रिफिथ ने अपने ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद में इन दोनों मन्त्रों का अर्थ नहीं किया है। पीछे परिशिष्ट में इन दोनों मन्त्रों का लेटिन भाषा में अनुवाद देकर उस पर टिप्पणी दी है कि इन्हें पढ़कर ऐसा लगता है कि मानो ये मन्त्र किसी असभ्य उच्छृंखल, बेलगाम मनमौजी गड़रिये के प्रेमगीत के अंश हों।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि इन विनियोगकारों, अनुक्रमणिकाकारों और भाष्यकारों के देवता और ब्रह्मवादी ऋषिमुनि भी किस कोटि के हैं। देवों के अधिराज इन्द्र यहाँ तक नीचे उतर आते हैं कि वे अपनी पत्नी के सामने ही लज्जा छोड़कर अपने मित्र राजा की युवा पत्नी से निःसंकोच पूछने लगते हैं कि तुम्हारे गुप्तांगों में बाल उग आये हैं या नहीं? उधर रोमशा भी, जिसे इन लोगों ने ब्रह्मवादिनी बताया है, लज्जा छोड़कर अपने गुप्तांगों सहित अंग-प्रत्यंगों का निःसंकोच वर्णन करने लगती है।

इस युग के वेदों के महान् उद्धारक और अन्तर्गाही विद्वान् महर्षि दयानन्द इन मन्त्रों का कितना सुन्दर और शिक्षाप्रद भाष्य करते हैं, अब उसका भी तनिक अवलोकन करें। ऋषि दयानन्द ने इस सम्पूर्ण सूक्त की व्याख्या, इस पर थोपी गयी भावयव्य और रोमशा आदि की बेसिर-पैर की कहानी को परे फेंककर, राजनीतिपरक की है। उनके अनुसार इस सूक्त में मन्त्रों में राजनीति अर्थात् राजा के कर्तव्यों का वर्णन किया गया है, उसी प्रसंग में उन्होंने सूक्त के छठे मन्त्र में आये 'कशिका इव' इस उपमा-वाक्य में उपमेय राजनीति पद को लुप्त मानकर मन्त्र की व्याख्या राजनीतिपरक की है। कशिका आर या चाबुक को कहते हैं। कशिका जैसे पशुओं को हाँककर उद्देश्यस्थल तक आगे ही आगे ले जाती है, उसी प्रकार राज्य की नीति या दण्ड भी ऐसा होना चाहिए जो प्रजाजनों को उन्नति के मार्ग पर आगे ही आगे ले जा सके। मन्त्र के इस आशय को महर्षि ने अपने भाष्य के भावार्थ में स्पष्ट भी किया है: "(या) जो (राजनीति) (आगधिता) प्रजा के सब लोगों से ग्रहण की हुई हो, (परिगधिता) सब ओर से उत्तम गुणों से युक्त। इन दोनों शब्दों के ऋषि के अर्थ का भाव यह है कि जो लोगों को उत्तम गुण सिखा सके और सब लोग जिसे ग्रहण करके उस पर सुगमता से चल सकें। (जङ्गहे) अत्यन्त ग्रहण करने योग्य व्यवहार में (कशिका इव) पशुओं को ताड़ना देने के लिए जो औंगी होती है, उसके समान (याशूनाम्) अच्छा यत्न करने वालों की (यादुरी) उत्तम यत्न वाली नीति (भोज्या) भोगने योग्य (शता) सैकड़ों वस्तु (मह्यम्) मुझे (ददाति) देती है, वह सबको स्वीकार करने योग्य है।"[2]

ऋषि ने मन्त्र के इन शब्दों का जो अर्थ किया है, उसका तात्पर्य यह है कि राजनीति को इस प्रकार का होना चाहिए कि उसके अनुसार प्रजाजनों के सब व्यवहार ग्रहण

करने योग्य अर्थात् श्रेष्ठ हों और उन व्यवहारों में राजा की नीति कशा (चाबुक) की भाँति प्रजाजनों को उन व्यवहारों से भली भाँति चला सकने में समर्थ हो, और इस प्रकार व्यवहारशील और प्रयत्नशील प्रजाजनों को सैकड़ों प्रकार के भोग्य पदार्थ दे सकने में वह राजनीति समर्थ हो।

ऋषि ने अपने भाष्य में इस मन्त्र में अपने संक्षिप्त भावार्थ में यह लिखा है कि जिस नीति से लोगों को असंख्य सुख मिलें, वह नीति राजा को प्रजाजनों के लिए चलानी चाहिए।[3]

अब अगले मन्त्र को लीजिए। ऋषि दयानन्द ने अपने भाष्य में इस मन्त्र का यह आशय बताया है कि राजा की भाँति उसकी पत्नी को भी विदुषी और राजनीति में निपुण होना चाहिए तथा प्रजाजनों का न्याय आदि करने में विशेष रूप से स्त्रियों का न्याय करने में राजा का सहयोग करना चाहिए। ऋषि का मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है। रानी कहती है कि "हे पतिराजन्! जो (अहम्) मैं (गन्धारीणाम् इव) पृथिवी के राज्य धारण करने वालियों में जैसे (अविका) रक्षा करने वाली होती है, वैसे (रोमशा) प्रशंसित रोमों वाली (सर्वा) सब प्रकार की (अस्मि) हूँ। उस (में) मेरे गुणों को (परामृश) विचारो, (मे) मेरे (दभ्राणि) कामों को छोटे (मा उपोप) अपने पास में मत (मन्यथाः) मानो।"[4]

ऋषि के मन्त्र के इस शब्दार्थ का तात्पर्य यह है कि रानी राजा से कह रही है कि जैसे अन्य योग्य स्त्रियाँ प्रजाजनों का भरण-पोषण करने में सहायता करके उनकी रक्षा करती रहती हैं, वैसा ही कर सकने में मैं भी समर्थ हूँ। मेरी योग्यता और गुणों को विचारपूर्वक देखो और उन्हें छोटा मत समझो तथा मुझे अयोग्य और असमर्थ मत जानो।

ऋषि ने इस मन्त्रभाष्य के संस्कृत भावार्थ में लिखा है कि "रानी राजा से कहे कि हे राजन्, मैं आपसे कम नहीं हूँ। जैसे आप पुरुषों के न्यायाधीश हैं, वैसे मैं भी स्त्रियों को न्याय करने वाली बन सकती हूँ। जैसे पहले की राजाओं की पत्नियाँ प्रजा की स्त्रियों का न्याय करने वाली होती थीं, वैसे ही मैं भी हो सकती हूँ।"[5]

उक्त दयानन्दीय भाष्य से ज्ञात होता है कि नासमझ लोगों ने वेद के इन मन्त्रों पर कल्पित इतिहास और महाभ्रष्ट अश्लीलता की जो दुर्गन्धिपूर्वक कीचड़ थोप दी थी, ऋषि दयानन्द ने उसे अपनी अद्भुत प्रतिभा और पांडित्य के पवित्र और सुगन्धित जल से धोकर कितना स्वच्छ, विशद, ग्राह्य और शिक्षाप्रद रूप प्रदान कर दिया है! जो रूप वस्तुतः इन वेदमन्त्रों का होना चाहिए और है।

अब जरा उवट तथा महीधर ने यजुर्वेद का जो भाष्य किया है, उसमें उन्होंने वेदमन्त्रों के कहीं-कहीं कितने भद्दे और गर्हणीय अश्लील अर्थ किये हैं, इसका नमूना भी देख लीजिए। इन लोगों ने यजुर्वेद के विभिन्न अध्यायों के मन्त्रों का विनियोग विभिन्न यज्ञयागों में किया है। यजुर्वेद के 23 अध्याय की व्याख्या इन लोगों ने 'अश्वमेध' परक की है। यजुर्वेद के 22 से 25 तथा 29वें अध्याय के मन्त्रों की व्याख्या इन लोगों ने अश्वमेधपरक की है। इस

प्रसंग में 23वें अध्याय से 19 से 31 मन्त्रों की जो व्याख्या इन लोगों ने की है, वह बहुत भद्दी और अश्लील है। समझ में नहीं आता कि ये लोग इन मन्त्रों की ऐसी घृणित और अश्लील व्याख्या कैसे कर सके! महर्षि दयानन्द ने अपनी **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में इन दोनों की इन अश्लील व्याख्याओं का तीव्र खण्डन किया है और इन मन्त्रों के सही और शुद्ध अर्थ दिये हैं। इनमें से नमूने के रूप में उवट और महीधर ने इन मन्त्रों का जो भाष्य किया है, उसके एक-दो उद्धरण अवलोकनार्थ हम यहाँ देते हैं। इस प्रकरण की व्याख्या प्रारम्भ करते हुए उवट तथा महीधर ने लिखा है कि ''अश्वमेधार्थ मारे गये अश्व के अंग-प्रत्यंगों को धो दिये जाने पर राजमहिषी अर्थात् अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजा की मुख्य रानी 'गणानां त्वा गणपतिम्' मन्त्र (23.19) पढ़कर अश्व के समीप लेट जाती है और अगला मन्त्र बोलकर अश्व का लिंग खींचकर अपनी योनि में डालती है। इस मन्त्र (23.20) का इन लोगों ने अर्थ इस प्रकार किया है : ''हे अश्व, तू और मैं चारों पैरों को पसारें। (अध्वर्यु वस्त्र से दोनों को ढक देता है) फिर अध्वर्यु कहता है कि रेतोधा अर्थात् वीर्य को धारण करने में समर्थ, वृषा अर्थात् बड़ी मात्रा में वीर्य सेचन करने में समर्थ, वाजी अर्थात् बलशाली यह अश्व मुझमें वीर्य स्थापित करें।''[6]

मन्त्र के उवट तथा महीधर के इस अश्लील और महाभ्रष्ट भाष्य के स्थान पर महर्षि दयानन्द ने मन्त्र का जो उज्ज्वल और शिक्षाप्रद अर्थ किया है, अब उसे भी देखें। ऋषि ने **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में इस मन्त्र का यह अर्थ दिया है : ''राजा और प्रजा हम दोनों मिल के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (चतुरः पदः) की सिद्धि के प्रचार करने में सदा प्रवृत्त रहें। किस प्रयोजन के लिए? कि दोनों की अत्यन्त सुखरूप स्वर्गलोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के लिए, जिससे हम दोनों परस्पर तथा सब प्राणियों को सुख से परिपूर्ण कर देवें। जिस राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं, वही देश सुखयुक्त होता है।

इससे राजा और प्रजा परस्पर सुख के लिए सद्गुणों के उपदेशक पुरुष की सदा सेवा करें, और विद्या तथा बल को सदा बढ़ावें।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द के अनुसार यह मन्त्र राष्ट्र के राजा और प्रजाजनों को उच्च आध्यात्मिक जीवन बिताने की शिक्षा देने के साथ-साथ प्रकारान्तर से राजा और प्रजा के उदात्त कर्तव्यों पर प्रकाश डालकर राजनीति का उपदेश करने वाला भी बन जाता है। कहाँ महर्षि दयानन्द का मन्त्र का यह उत्कृष्ट अर्थ और कहाँ उवट तथा महीधर का उपर्युक्त निकृष्ट और महाभ्रष्ट अर्थ!

अब इस प्रकरण का एक अन्य मन्त्र लीजिए। इस मन्त्र[7] की उत्थानिका में उवट तथा महीधर ने लिखा है कि इस मन्त्र में अध्वर्यु ऋत्विग् राजा की पत्नियों के साथ बैठी हुई कुमारियों के साथ उपहास कर रहा है और इस उपहास में उनकी योनियों की ओर अंगुलि से संकेत कर रहा है और मन्त्र का भाष्य इन भाष्यकारों ने इस प्रकार किया है : ''हे कुमारियों!

चिड़िया सी (पक्षीणीव) तुम्हारी यह जो योनि है वह चलते हुए हल-हल शब्द करती है। और अपने अन्दर लिंग को धारण करने वाली तुम्हारी इस योनि में लिंग प्रवेश करता है तब यह वीर्य छोड़ती अंथवा गल्गल शब्द करती है।''

अब अध्वर्यु के उपहास का कुमारियाँ मजाक में ही जो उत्तर देती हैं, वह भी उवट और महीधर के अगले मन्त्र[8] के अर्थ में सुनिए: ''कुमारी अंगुली से अध्वर्यु के लिंग की ओर संकेत करके कहती है कि हे अध्वर्यु! जो यह तेरे चिड़े के समान (पक्षी इव) तेरा लिंग है, वह भी बोलते समय तेरे मुख की भाँति इधर-उधर हिल रहा है और हल-हल शब्द कर रहा है। इसका (लिंग का) अगला सच्छिद्र भाग तेरे मुंह जैसा लग रहा है। तू हमारा मजाक मत उड़ा। तुम और हम बराबर ही हैं।''

इन विनियोगकारों, याज्ञिकों और भाष्यकारों को अश्वमेध जैसे महान् यज्ञ में अध्वर्यु और कुमारी से परस्पर वेदमन्त्रों द्वारा इस प्रकार घृणित, लज्जास्पद तथा असभ्य मजाक करने-करवाने में भी लज्जा या संकोच नहीं होता। कैसे हैं ये तथाकथित वैदिक कर्मकाण्डी लोग! आश्चर्य है! इन लोगों के अनुसार इन दोनों से अगले मन्त्रों में शेष ऋत्विग् क्रमशः राजमहिषि आदि के साथ इसी प्रकार के गन्दे और अश्लील मजाक करते हैं तथा वे उनका उसी प्रकार अश्लीलता-भरा उत्तर देती हैं, वहाँ से और अधिक उद्धरण देना हम आवश्यक और उचित नहीं समझते।

ऋषि दयानन्द ने इस सारे प्रकरण की व्याख्या राजापरक की है और वहाँ राजनीति का सुन्दर उपदेश दिया गया है, ऐसा दिखाया है। यहाँ ऊपर निर्दिष्ट दोनों मन्त्रों में से पहले प्रथम मन्त्र (यजु0 23.22) का ऋषि दयानन्द का अर्थ देखिए। मन्त्र की अपनी व्याख्या लिखने से पूर्व ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का शतपथ ब्राह्मण सम्मत अर्थ दिया है। शतपथ ने केवल कठिन शब्दों का अर्थ दे दिया है। मन्त्र के शकुन्तिका पद का अर्थ 'विड वै शकुन्तिका' कहकर किसी राष्ट्र की विश् अर्थात् प्रजा किया है। पुनः 'गभ' शब्द का अर्थ भी 'विड् वै गभः' लिखकर शतपथ ब्राह्मण ने किसी राष्ट्र की विश् अर्थात् प्रजा ही किया है। 'पसः' का अर्थ शतपथ ने 'राष्ट्रं पसः' कहकर राष्ट्र राज्य-व्यवस्था किया है। शतपथ ब्राह्मण में किये गये मन्त्रों के इन तीन शब्दों के आशय को ध्यान में रखकर महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में इस प्रकार की है : ''(यकासकौ0) प्रजा का नाम शकुन्तिका है, कि जैसे बाज के सामने छोटी-छोटी चिड़ियाओं की दुर्दशा होती है, वैसे ही राजा के सामने प्रजा की (आहलगिति) जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ प्रजा ठगी जाती है। (आहन्ति गभे पसो0) तथा प्रजा का नाम 'गभ' और राज्य का नाम 'पस' है। जहाँ एक मनुष्य राजा होता है, वहाँ वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही करता चला जाता है। इसलिए राजा को प्रजा का धातुक अर्थात् हनन करने वाला भी कहते हैं। इस कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिए, किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के अधीन ही राज्य-प्रबन्ध होना चाहिए।''

ऋषि दयानन्द ने मन्त्र के 'वञ्चति'

शब्द का अर्थ हिन्दी में 'ठगना' किया है। ऋषि का तात्पर्य ठगने से धोखे और अन्यायपूर्वक राजा द्वारा प्रजा की धन-सम्पत्ति को लूटा-खसोटा जाने से है। मन्त्र के मूल 'वञ्चति' शब्द का भाव राजा द्वारा प्रजा को धन-सम्पत्ति और सुख-समृद्धि से वंचित करना हैं। ऊपर निर्दिष्ट यजु0 23.23 मन्त्र का अर्थ महर्षि दयानन्द ने **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** के इस प्रकरण में खोलकर नहीं लिखा है। यजुर्वेद भाष्य में उन्होंने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है : " हे (अध्वर्यो) यज्ञ के समान आचरण करने हारे राजा! (त्वम्) तू (नः) हम लोगों के प्रति (मा अभि भाषथाः) झूठ मत बोलो और (विवक्षत इव) बहुत गप्प-शप्प बकते हुए मनुष्य के सुख के समान (ते) तेरा (मुखम्) मुख मत हो। यदि इस प्रकार (यकः) जो (असकौ) यह राजा गप्प-शप्प करेगा तो (शकन्तुकः) निर्बल पखेरु के समान (आहलक्) भली भाँति उच्छिन्न जैसे हो (इति) इस प्रकार (वञ्चति) ठगा जायेगा।"

ऋषि ने मन्त्रार्थ का अपना भावार्थ इस प्रकार किया है : "राजा कभी झूठी प्रतिज्ञा करने और कटुवचन बोलने वाला न हो तथा न किसी को ठगे। जो यह राजा अन्याय करे तो आप भी प्रजाजनों से ठगा जाये।"

प्रजा द्वारा राजा के ठगे जाने से ऋषि दयानन्द का तात्पर्य यह है कि जो राजा प्रजा के साथ झूठ बोलेगा और उसे धोखा देगा, प्रजा उससे क्रुद्ध होकर उसे राज्य-शासन और सब प्रकार की धन-सम्पत्ति एवं सुख-समृद्धि से वंचित कर देगी। इससे पिछले मन्त्र में राजा द्वारा प्रजा को धन-सम्पत्ति आदि से वञ्चति किये जाने की बात कही गयी थी और इस मन्त्र में झूठे और अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन न करने वाले राजा को क्रुद्ध प्रजा द्वारा राज्यासन और धन-सम्पत्ति आदि से वंचित करने की बात कही गयी है। इस मन्त्र में वंचित क्रिया पद को वैदिक व्याकरण के नियमों के अनुसार कर्तृवाच्य का प्रयोग न मानकर 'व्यत्यय' के आधार पर कर्मवाच्य का प्रयोग समझना चाहिए।

पाठक इन मन्त्रों के उवट और महीधर के अर्थ को भी देखें और फिर ऋषि दयानन्द के अर्थ को भी देखें। दोनों में कितना आकाश और पाताल का अन्तर है! उवट और महीधर दोनों ने मन्त्रों को महाभ्रष्ट अश्लीलता के गहरे पाताल में गिरा दिया है और उधर ऋषि दयानन्द ने मन्त्रों को राजनीति का सन्मार्ग प्रदर्शक उपदेश देने वाला दिखाकर इन्हें महान् शिक्षाप्रद बना दिया है; तथा स्वच्छता, उज्ज्वलता और उदात्तता के ऊँचे आकाश में जा बिठाया।

इस प्रकरण के शेष मन्त्रों का उज्ज्वल अर्थ भी ऋषि दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और उनके यजुर्वेदभाष्य में देख सकते हैं।

इस प्रकार वेद में किसी प्रकार की अश्लीलता नहीं पायी जाती है। वेदमन्त्रों में ऐसी बातें देखना विनियोगकारों, अनुक्रमणिकाकारों, तदनुवर्ती भाष्यकारों और उनका अनुसरण करने वाले पाश्चात्य लेखकों और कुछ आधुनिक भारतीय विद्वानों की भ्रान्त और दूषित दृष्टि का ही परिणाम हो सकता है। यदि ऋषि दयानन्द और यास्काचार्य की पद्धति से शब्दों की गहराई में जाकर मन्त्रों के तात्पर्य को समझने का

प्रयत्न किया जाये तो वेद में कोई इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान विरुद्ध बात नहीं पायी जायेगी। तब प्रत्येक वेदमन्त्र जीवन के लिए बड़ा उपयोगी और शिक्षाप्रद उपदेश देने वाला दीखने लगेगा। केवल विस्तृत अध्ययन, गहरे चिन्तन, मनन और अनुसंधान की आवश्यकता है। ऋषि दयानन्द ने इस दिशा में हमारा मार्गनिर्देश कर दिया है।

पाद-टिप्पणियां

1.(i) सम्भोगाय प्रार्थितो भावयव्यः स्वभार्यां रोमशां, अप्रौढ़ेति बुद्ध्या परिहसन्नाह - (भोज्या) भोगयोग्यैषा (आगाधिता) आसमन्तात् गृहीता स्वीकृता तथा (परिगधिता) परितोगृहीता। आदरातिशयार्थ पुनर्वचनम्। गध्यं गृह्णातेरिति यास्कः। यद्वा (आगधिता) आसमन्तान् मिश्रयन्ती आन्तरं प्रजननेन बाह्यं भुजादिभिरित्यर्थः। गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मेति यास्कः। पूर्वस्मिन् पक्षे पुरुषस्य प्राधान्यम्, उत्तरस्मिंस्तु योषित इति भेदः। कीदृशी सा? (या जंगहे) अत्यर्थ गृह्णाति कदाचिदपि न विमुञ्चति, अत्यागे दृष्टान्तः (कशीकेव) कशीका नाम सूतवत्सा नकुली सा यथा पत्या सह चिरकालं क्रीडति न कदाचिदपि विमुञ्चति तथैषापि, किं च भोज्यैषा या दुरी; या दुरिति उदकनाम, रेतोलक्षणमुदकं प्रभूतं ददातीति या दुरी। बहुरेतोयुक्तेत्यर्थः, तादृशी सती याशूनां सम्भोगानाम्, यश इति प्रंजनननाम, तत्सम्बन्धीनि कर्माणि याशूनि भोगाः। तेषां शता शतानि असंख्यातानि मह्यं ददाति॥

-सायण, ऋग्0 1.126.6

(ii) स भावयव्यः स्वनयः स्वया भार्यया रोमशया संभुक्ष्व माम् इत्युक्तस्तामनया ऋचा प्रत्याह - (आगधिता) आगृहीता आमिश्रिता अवयवैर्गाढं परिष्वक्ता सतीत्यर्थः। (परिगधिता) सर्वतोऽन्तर्बहिश्च मिश्रिता आलिंगनचुम्बनपुरस्सरं प्रक्षिप्तप्रजनना सानुरागाय सम्भोगाय परिगृहीता सतीत्यर्थः। दिवेकशान् इति हि श्रूयते स हि नकुलप्रकारः। पूतिकेशी कशिकेव सा यथा पूतिकेशी संभोगकाले गृह्णीयात् तद्वत् (या दुरी) या दुरित्युदकनाम रोमत्वर्थे रेतोलक्षणेनोदकेन तद्वती, प्रभूतं रेतः क्षरन्ती आविर्भूतस्नेहरसेत्यर्थः। (याशूनाम्) याशुशब्दः सम्भोगे संभोगानां शतानि च ददाति सा भोज्या सा भोगार्हा सम्भोगयोग्या त्वं अत्यन्तबालत्वान्न तावदेवं रूपेत्यर्थः॥ (स्कन्दवामी)

(iii) मैथुनसम्बन्धाच्छब्दसाम्याच्च गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा इत्युपपद्यते। (परिगधिता) परिमिश्रीकृता बाहुभ्यां मया परिष्वक्तेत्यर्थः। (कशीकेव) सा हि नकुलजातिः सा यथा मदकाले प्रतिकशमिततरां परिष्वजति स हि तस्याः परिष्वजनस्वभावः। एवं सा माम् परिगृह्णाति बाहुभ्यां परिग्रह्य च ददाति (या दुरी) आदरवती अथवा यादसा रेतःसेकेन तद्वती। यादः इत्युदकनामसु (नि0 1.12) पठितम्। (याशूनां शता) मैथुनाख्यानां शतानि बहुश इत्यर्थः (भोज्यैषा) यैवंप्रकारा सा मम भोज्या पत्नीत्यभिप्रायः॥

- दुर्गाचार्य, निरुक्तटीकायाम्

(iv) प्रादात् सुतां रोमशां नाम नाम्ना, बृहस्पतिर्भावयव्याय राज्ञे। ततस्तमर्थ हरिवान्

विदित्वा, प्रियं सखायं स्वयनं दिदृक्षुः।। अभ्याजगामाथ शचीसहायः प्रीत्यार्चयत् तं विधिनैव राजा। अभ्याजगामांगिरसी च तत्र, दृष्ट्वा तयोः सा चरणौ ववन्दे। इन्द्रः सखित्वादथ तामुवाच, रोमाणि ते सन्ति न सन्ति राज्ञि! सा बालभावादथ तं जगाम, उपोप मे शक्र परामृशेति।। (आगधिता) आभिमुख्येन शरीरेण मिश्रिता या अङ्गैश्च मिश्रिता (कशीकेव) अत्यन्तं पुमांसं हस्ताभ्यां परिगृह्णाति नकुलस्त्री कशीका, (या दुरी) स्त्री यादिरभिक्रमणकर्मा। साभिक्रमणवतीस्त्री (मह्यम्) (याशूनाम्) यशसा हर्तॄणां पुत्राणाम्, भोगसाधनानि शतानि ददातीति। यदा भावयव्यरोमशयोर्दम्पत्योरेव-सम्वादस्तदानीं प्राप्तयौवना या पुमांसमालिंगते सा पुत्रजननयोग्या।।

–वेंकटमाधवकृता ऋगर्थदीपिका; डॉ0 लक्ष्मणस्वरूप सम्पादिता, भाग–2, पृ. 45–47

2. आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे। ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता।।

–ऋग्0 1.126.6

3. यया नीत्या संख्यानि सुखानि स्युः सा सर्वैः सम्पादनीया।

4. उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः। सर्वाहमस्मिरोमशा गन्धारीणामिवाविका।।

–ऋग्0 1.126.7

5. राज्ञी राजानं प्रति ब्रूयादहं भवतो न्यूना नास्मि यथा भवान् पुरुषाणां न्यायाधीशोऽस्ति तथाहं स्त्रीणां न्यायकारिणी भवामि, यथा पूर्वा राजपत्न्यः प्रजास्थानां स्त्रीणां न्यायकारिण्योऽभूवन् तथाहमपि स्याम्।

6. ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गेलोके प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु।।

–यजु. 23.20

7. यकासकौ शकुन्तिकाहलगिति वञ्चति। आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका।।

–यजु0 23.22

8. यकोऽसकौ शकुन्तकऽआहलगिति वञ्चति। विवक्षतऽइव ते मुखध्वर्योमा नस्त्वमभिभाषथाः।।

–यजु0 23.23

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1(2), No.2 (67-73) Jan.-June 2012

क्या पहले एक वेद था? वेदव्यासजी ने उसके चार विभाग किये?

भगवद्दत्त (रिसर्च स्कालर)

लगभग 100 वर्ष पूर्व के अपने अतीत पर दृष्टि डालें, जब स्वामी दयानन्द की वैदिक विचार-धारा ने देश को ऐसे प्रतिष्ठित वेदज्ञ विद्वान् दिये थे जिनकी कोई तुलना नहीं थी। वे योग्यता के लिए आज की तरह उपाधियों के मोहताज नहीं थे, वरन् वैदिक अनुसन्धान के क्षेत्र में 'एकला चलो एकला चलो रे' यही उद्घोष था उन विद्वानों का। स्वाध्याय एवं अनुसन्धान के बल पर उन्होंने वैदिक-साहित्य-सिन्धु में से ऐसे-ऐसे रहस्यों का वास्तविक स्वरूप उद्घाटित किया, जिनके लिए उन्हें आज भी याद किया जाता है और उनकी कृतियों को संदर्भ-ग्रन्थों के रूप में उद्धृत किया जाता है। इन विद्वानों में एक थे पण्डित भगवद्दत्त बी.ए., जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था वैदिक वाङ्मय का अध्ययन, अन्वेषण और अनुसन्धान, जिसकी परिणति थी कुछ नये का सृजन। पण्डितजी ने तीन खण्डों में वैदिक वाङ्मय का खोजपूर्ण इतिहास तो लिखा ही, इसके साथ ही 'भाषा का इतिहास', 'भारतीय संस्कृति का इतिहास', 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' (दो खण्ड), वेद विद्या निदर्शन' 'निरुक्त भाष्य' आदि आपकी अपूर्व कृतियाँ हैं। आपने अंग्रेजी एवं हिन्दी भाषा में अनेक शोधपूर्ण निबन्ध भी प्रस्तुत किये। 'क्या पहले एक वेद था? वेदव्यासजी ने उसके चार विभाग किये?' शीर्षक प्रस्तुत लेख पण्डितजी की खोजी प्रवृत्ति का ही परिणाम है। इसमें उन्होंने मध्यकालीन विद्वानों के इस मत का खण्डन किया है कि आदि में वेद एक था, पर कालान्तर में व्यासजी ने इसका विभाजन किया। इसके लिए पण्डितजी ने महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्य का उल्लेख करते हुए कतिपय वेदमन्त्रों, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों एवं प्राचीन इतिहास के संदर्भों को उद्धृत करके स्वमत का प्रतिपादन किया है।

आर्यावर्त्तीय मध्यकालीन अनेक विद्वान् ऐसा मानते थे कि आदि में वेद एक था। द्वापर तक वह वैसा ही चलता आया और द्वापर के अन्त में व्यास भगवान् ने उसके चार अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद विभाग किये।

पूर्वपक्ष

देखिये मध्यकालीन ग्रन्थकार क्या लिखते हैं-

(1) महीधर अपने यजुर्वेद-भाष्य के आरम्भ में लिखता है-

तत्रादौ ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैल-वैशम्पायनजैमिनिसुमन्तुभ्यः क्रमादुपदिदेश।

अर्थात् वेदव्यास को ब्रह्मा की परम्परा से एक वेद मिला और उसने उसके चार विभाग किये।

(2) महीधर के पूर्ववर्ती भट्टभास्कर अपने

तैत्तिरीय संहिताभाष्य के आरम्भ में लिखते हैं-

पूर्व भगवता व्यासेन जगदुपकारार्थमेकीभूय स्थिता व्यस्ताः शाखाश्च परिच्छिन्नाः।

अर्थात् भगवान् व्यास ने एकत्र स्थित वेदों का विभाग करके शाखाएँ नियत कीं।

(3) भट्टभास्कर से भी बहुत पहले होने वाला आचार्य दुर्ग निरुक्त 1.20 की वृत्ति में लिखता है-

वेदं तावदेकं सन्तमतिमहत्त्वाद् दुरध्येयमनेक-शाखाभेदेन समाम्नासिषुः। सुखग्रहणाय व्यासेन (?, भेदेन) समाम्नातवन्तः।

अर्थात् वे पहले एक था, पीछे व्यास द्वारा उसकी अनेक शाखाएँ समाम्नात हुई।

इस मत का स्वल्प मूल पुराणों में मिलता है। विष्णुपुराण में लिखा है-

जातुकर्णोऽभवन्मत्तः कृष्णद्वैपायनस्ततः।
अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाः पुरातनाः।।
एको वेदश्चतुर्धा तु यैः कृतो द्वापरादिषु।

-विष्णु पु0 3.3.169,20

वेदश्चैकश्चतुर्धा तु व्यस्यते द्वापरादिषु।

-मत्स्य पु0 144.11

अर्थात् प्रत्येक द्वापर के अन्त में एक ही चतुष्पाद वेद चार भागों में विभक्त किया जाता है। यह विभागीकरण अब तक 28 बार हो चुका है। जो कोई उस विभाग को करता है उसका नाम व्यास होता है।

उत्तरपक्ष

स्वामी दयानन्द सरस्वती इस मत का खण्डन करते हैं। सत्यार्थप्रकाश के 11वें सम्मुलास में लिखा है-

......जो कोई यह कहते हैं कि वेदों को व्यासजी ने इकट्ठा किया, यह बात झूठी है, क्योंकि व्यास के पिता, पितामह, प्रपितामह, पराशर, शक्ति, वशिष्ठ और ब्रह्मा आदि ने चारों वेद पढ़े थे।

इन दोनों पक्षों में से कौन सा पक्ष प्राचीन और सत्य है यह अगली विवेचना से स्पष्ट हो जाएगा।

मन्त्रों में अनेक वेदों का उल्लेख

(1) समस्त वैदिक विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि मन्त्र अनादि हैं, मन्त्रों में दी गई शिक्षा सर्वकालों के लिए है, अतः यदि मन्त्रों में बहुवचनान्त 'वेदाः' पद आ जाये जो निश्चय जानना चाहिए कि आदि से ही वेद बहुत चले आये हैं। अब देखिए अगला मन्त्र कहता है-

यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपाः।

अथर्व0 4.35.6

अर्थात् जिस परब्रह्म में समस्त विद्याओं के भण्डार वेद स्थिर हैं।

(2) पुनः

ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्तऋषयो- ऽग्नयः। तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु।।

अथर्व0 19.9.2

यहाँ भी 'वेदाः' बहुवचनान्त पद आया है। इस मन्त्र पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण लिखता है-

वेदाः साङ्गाश्चत्वारः। अर्थात् इस मन्त्र

में बहुवचनान्त वेद पद से चारों वेदों का अभिप्राय है।

(3) पुनरपि तैत्तिरीयसंहिता में एक मन्त्र आया है - **वेदेभ्यः स्वाहा॥** 7.5.11.2

(4) यही पूर्वोक्त मन्त्र काठकसंहिता 5.2 में भी मिलता है।,

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि प्राचीनतम काल से वेद अनेक चले आए हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों का मत

इस विषय में ब्राह्मणों की भी यही सम्मति है। इतना ही नहीं, इनमें तो यह भी लिखा है कि चारों वेद आदि से ही आ रहे हैं। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण काण्ड 11 के स्वाध्याय-प्रशंसा ब्राह्मण के आगे आदि से ही अनेक वेदों का होना लिखा है। ऐसा ही ऐतरेयादि दूसरे ब्राह्मणों में भी लिखा है।

(1) कठ ब्राह्मण में लिखा है-

चत्वारि शृंगा इति वेदा व एत उक्ताः।[1]

अर्थात् 'चत्वारि शृंगाः' प्रतीकवाले प्रसिद्ध मन्त्र में चारों वेदों का कथन मिलता है। पुनः -

(2) काठंक शताध्ययन ब्राह्मण के आरम्भ के ब्रह्मौदन प्रकरण में अथर्ववेद की प्रधानता का वर्णन करते हुए चार ही वेदों का उल्लेख किया है-

......आथर्वणो वै ब्राह्मणः समान चत्वारो हीमे वेदास्तानेव भागिनः करोति। मूलं वै ब्रह्मणो वेदाः वेदानामेतन्मूलं यत्विजः प्राश्नन्ति तद् ब्रह्मौदनस्य ब्रह्मौदनत्वम्।

अर्थात् चार ही वेद हैं। अथर्ववेद उनमें प्रथम है, इत्यादि।

(3) गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग 1.16 में लिखा है-

ब्रह्म ह वै ब्राह्मणं पुष्करं ससृजे। स ..... सर्वांश्च वेदान् .....।

अर्थात् परमात्मा ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया। उसे चिन्ता हुई। किस एक अक्षर से मैं सारे वेदों को अनुभव करूँ।

उपनिषदों का मत

उपनिषदों के उन अंशो को छोड़कर कि जिनमें अलंकार, गाथाएँ या ऐतिहासिक कथाएँ आती हैं, शेष अंश जो मन्त्रमय है, निर्विवाद ही प्राचीनतम काल के हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् मन्त्रोपनिषद् कही जाती है। उसका एक मन्त्र विद्वन्मण्डल में बहुत काल से प्रसिद्ध चला आता है। उससे न केवल व्यास से पूर्व ही वेदों का एक से अधिक होना निश्चित होता है, प्रत्युत सर्गारम्भ में ही वेद एक से अधिक थे, ऐसा सुनिर्णीत हो जाता है। वह सुप्रसिद्ध मन्त्र यह है-

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। इत्यादि 6.18

अर्थात् जो ब्रह्मा को आदि में उत्पन्न करता है और उसके लिए वेदों को दिलवाता है। हमारे पक्ष में यह प्रमाण इतना प्रबल है कि इसके अर्थ पर सब ओर से विचार करना आवश्यक है।

(क) शंकराचार्य का अर्थ

वेदान्त सूत्र भाष्य 1.3.30 तथा 1.4.1 पर स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं-

ईश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्त्तमानकल्पादौ प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्तप्रबुद्धवत् कल्पान्तरव्यवहारानुसन्ध्यानोपपत्तिः तथा च श्रुतिः यो ब्रह्माणं ....इति।

शंकर स्वामी ब्रह्मा से हिरण्यगर्भ अभिप्रेत मानते हैं। यही उनका ईश्वर है। वह मनुष्यों से ऊपर है। उस देव ब्रह्मा को कल्प के आरम्भ में परमेश्वर की कृपा से अपनी बुद्धि में वेद प्रकाशित हो जाते हैं। वाचस्पति मिश्र 'ईश्वर' का अर्थ धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयसम्पन्न करता है।

यतः वैदिक देवतावाद में ऐसे स्थानों पर 'देव' का अर्थ विद्वान् मनुष्य भी होता है, अतः पहले सर्वत्र अधिष्ठातृ-देवता का विचार करना, पुनः वैदिक ग्रन्थों की तदनुसार संगति लगाना क्लिष्टकल्पना मात्र है, अतः अलमनया क्लिष्टकल्पनया।

ब्रह्मा आदि सृष्टि का विद्वान् मनुष्य है, इस अर्थ में मुण्डकोपनिषद् का प्रथम मन्त्र भी प्रमाण है-

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥

यहाँ पर भी शंकर व उनके चरण-चिन्हों पर चलनेवाले लोग देवता पद के आ जाने से ब्रह्मा को मनुष्येतर मानते हैं। पर आगे 'ज्येष्ठपुत्राय' पद जो पढ़ा गया है, वह उनके लिए आपत्ति का कारण बनता है, क्योंकि अधिष्ठाता ब्रह्मा के पुत्र ही नहीं हैं, तो उनमें से कोई ज्येष्ठ कैसे होगा?[2] इसलिए पूर्व प्रमाण में ब्रह्मा को मनुष्येत्तर मानना युक्तियुक्त नहीं। इसी ब्रह्मा को आदि सृष्टि में अग्नि आदि से चार वेद मिले।

(ख) श्री गोविन्द की व्याख्या

वेदान्त सूत्र 1.3.30 के शाङ्कर भाष्य की व्याख्या करते हुए श्री गोविन्द लिखता है-

पूर्वकल्पादौ सृजति तस्मै ब्राह्मणे प्रहिणोति गमयति तस्य बुद्धौ वेदानाविर्भावयति।

यहाँ भी चाहे उनका अभिप्राय अधिष्ठातृदेवतावाद से ही हो, पर वह भी वेदों का आरम्भ में ही अनेक होना मानता है।

(ग) आनन्दगिरीय व्याख्या

इस सूत्र के भाष्य पर आनन्दगिरि लिखता है-

विपूर्वो दधातिः करोत्यर्थः पूर्वकल्पादौ प्रहिणोति ददाति।

आनन्दगिरि भी ब्रह्मा को ही वेदों का मिलना मानता है।

दूसरे स्थल पर जो शङ्करादिकों ने यह प्रमाण उद्धृत किया है, वहाँ पर भी प्रदर्शित अभिप्राय से उसका कोई विरोध नहीं पड़ता। यही आदि ब्रह्मा था जिसे महाभारत में धर्म, अर्थ और काम शास्त्र के बृहत्शास्त्र का कर्त्ता कहा गया है?[3]

चार वेदों के जानने से ब्रह्मा होता है। ऐसे ब्रह्मा आदि सृष्टि से अनेक होते आये हैं। व्यासजी के प्रपितामह का पिता भी एक ब्रह्मा ही था। इन सबमें से पहला अथवा आदि सृष्टि का ब्रह्मा मुण्डकोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में कहा गया है। उसी उपनिषद् में उसका वंश ऐसा लिखा है-

ब्रह्मा-अथर्वा-अङ्गिरः -भरद्वाजसत्यवाह-अङ्गिरस्-शौनक

यह 'शौनक', बृहद्देवता आदि के कर्त्ता आश्वलायन के गुरु शौनक से बहुत पूर्व का होगा, अतः कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास और पुराण

से स्वीकृत प्रथम वेदव्यास से भी बहुत-बहुत पहले का है। इसी शौनक को उपदेश देते हुए भगवान् अङ्गिरा कह रहे हैं -

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः।

जब इतने प्राचीन काल में चारों वेद विद्यमान थे, तो यह कहना कि प्रत्येक द्वापरान्त में कोई व्यास एक वेद का चार वेदों में विभाग करता है, अर्थात् मन्त्रों को इकट्ठा करके चार वेद बनाता है, युक्त नहीं।

प्राचीन इतिहास में

पूर्व में दिये गये प्रमाण इतिहासेतर ग्रन्थों के हैं। इतिहास इस विषय में क्या कहता है, अब यह देखना है। हमारा प्राचीन इतिहास रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में मिलता है। इनमें भी प्राचीन काल के अनेक उपाख्यान अब इन्हीं ग्रन्थों में सम्मिलित हैं। हमारे इन इतिहासों को प्रमाण कोटि से गिराने का अनेक विदेशीय विद्वानों ने यत्न किया है। कतिपय भारतीय विद्वान् भी उन्हीं का अनुकरण करते हुए देखे जाते हैं। माना, कि इन ग्रन्थों में कुछ प्रक्षेप हुआ है, कुछ निकल गया है, कुछ असंगत है और कुछ आधुनिक सभ्यतावालों को भला प्रतीत नहीं होता, परन्तु इन कारणों से सकल इतिहास पर अविश्वास करना आग्रहमात्र है।

कृष्णद्वैपायन वेदव्यास एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। उसी के शिष्यप्रशिष्यों ने ब्राह्मणादि ग्रन्थों का संकलन किया। उसी ने महाभारत रचा। उसी के पिता-पितामह पराशर-शक्ति आदि हुए हैं। वह आर्य ज्ञान का अद्वितीय पण्डित था। उसको काल्पनिक कहना इन विदेशीय विद्वानों की ही धृष्टता है। ऐसा दुराग्रह संसार की हानि करता है, और जनसाधारण को भ्रम में डालता है।

हम अगले प्रमाण महाभारत से ही देंगे। हमारी दृष्टि में यह ग्रन्थ वैसा प्रमाणित है, जैसा संसार में अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थ। नहीं नहीं यह तो उनसे भी अधिक प्रामाणिक है। यह इतिहास ऋषिप्रणीत है। हाँ, इसके साम्प्रदायिक भाग नवीन है।

(क) महाभारत शल्य पर्व अध्याय 41 में कृत युग की एक वार्ता सुनाते हुए मुनि वैशम्पायन महाराज जनमेजय को कहते हैं -

पुरा कृतयुगे राजन्नर्ष्टिषेणो द्विजोत्तमः।
वसन् गुरुकुले नित्यं नित्यमध्ययने रतः॥3॥
तस्य राजन् गुरुकुले वसतो नित्यमेव च।
समाप्तिं नागमद् विद्या नापि वेदा विशांपते॥4॥

अर्थात् प्राचीन काल में कृत युग में आर्ष्टिषेण गुरुकुल में पढ़ता था। तब वह न ही विद्या का समाप्त कर सका और न ही वेदों को।

(ख) दाशरथि राम के राज्य का वर्णन करते हुए महाभारत द्रोणपर्व अ0 51 में लिखा है-

वेदैश्चतुर्भिः सुप्रीताः प्राप्नुवन्ति दिवौकसः।
हव्यं कव्यं च विविधं निष्पूर्तहुतमेव च॥2॥

अर्थात् राम के राज्य में चारों वेद पढ़े विद्वान् थे।

(ग) आदिपर्व 76.13 में ययाति देवयानी से कहता है कि मैंने सम्पूर्ण वेद पढ़ा है-

ब्रह्मचर्येण कृत्स्नो मे वेदं श्रुतिपथं गतः।

(घ) शान्तिपर्व 73.5 में भीष्मजी उशना को प्राचीन श्लोक सुना रहे हैं। उशना कहता है-

राज्ञश्चाथर्ववेदेन सर्वकर्माणि कारयेत्॥7॥

अर्थात् अथर्ववेद से राजा के सारे कार्य पुरोहित कराये।

(ङ) महाभारत वनपर्व अ0 26 में द्रौपदी को उपदेश देते हुए महाराज युधिष्ठिर एक प्राचीन गाथा सुनाते हैं-

अत्राप्युदाहरन्तीमां गाथां नित्यं क्षमावताम्।
गीताः क्षमावतां कृष्णे काश्यपेन महात्मना॥38॥
क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्।
यस्तमेवं विजानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति॥39॥

अर्थात् महात्मा कश्यप की गाई हुई यह गाथा है कि क्षमा ही वेद है।

महाभारत के ये क, ख, घ, और ङ प्रमाण कुम्भघोण संस्करण से दिये गये हैं, परन्तु ग और अगला प्रमाण मित्रवर सुखथंकर के प्रामाणिक संस्करण से दिये गये हें।

महाभारत आदिपर्व में शकुन्तलोपाख्यान प्रसिद्ध है। राजर्षि दुःषन्त (दुष्यन्त) काश्यप कण्व के अत्यन्त सुरम्य आश्रम में प्रवेश कर रहे हैं। उस समय का चित्र भगवान् द्वैपायन ने खींचा है। देखो अध्याय 64 में लिखा है -

ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः।
शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेष्विह कर्मसु॥39॥
अथर्ववेदप्रवराः पूतयाज्ञिकसम्मताः।
संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते॥33॥

अर्थात् ऋग्वेदियों में श्रेष्ठ जन पद और क्रम से ऋचाएँ पढ़ रहे थे और अथर्ववेद में प्रवीण विद्वान् पद-क्रमयुक्त संहिता को पढ़ते थे।

यह कैसा स्पष्ट प्रमाण है। इसमें स्पष्ट लिखा है कि व्यासजी से सैकड़ों वर्ष पूर्व महाराज दुःषन्त (दुष्यन्त) के काल में भी अथर्ववेद की संहिता पद और क्रम सहित पढ़ी जाती थी। यह उस काल का वर्णन है जब वेदों की सम्प्राप्त शाखाएँ न बनी थीं, परन्तु जब मन्त्रों के व्याख्यारूप पाठान्तर आर्य्यावर्त के अनेक गुरुकुलों में प्रसिद्ध थे, तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थों की सामग्री भी अनेक आचार्य परम्पराओं में एकत्र हो चुकी थी।

इन्हीं वेदों की पाठान्तर आदि व्याख्या होकर आगे अनेक शाखाएँ बनीं। तब ये वेद किसी ऋषि प्रवक्ता के नाम से प्रसिद्ध नहीं थे। यही वेद सनातनकाल से चले आए हैं। व्यासजी ने अनेक ऋषिमुनियों की सहायता से उन पाठान्तरों को एकत्र करके वेद की शाखाएँ बनाईं, और ब्राह्मणग्रन्थों की सामग्री को भी क्रम देकर तत् तत् शाखानुकूल उनका संकलन किया। कई लोग ब्राह्मणादिकों को भी वेद कहते थे, अतः उन्होंने यही कहना आरम्भ किया था। वेदव्यास जी ने तो ब्राह्मण आदि का भी विभाग किया था। वेदव्यासजी ने तो ब्राह्मण आदि का ही विभाग किया था। वेद तो सदा से चले आये हैं। वस्तुतः पुराणों में भी इसके विपरीत नहीं कहा गया। वहाँ भी यह लिखा है कि वेद आरम्भ से ही चतुष्पाद था, अर्थात् एक वेद की चार संहिताएँ थीं।

पाद-टिप्पणियाँ

1. वैदिक वाङमय का इतिहास द्वितीय भाग पृ0 269; पुराना संस्करण।
2. यद्यपि जड़ पदार्थों में भी कारणकार्य भाव से पुत्र आदि शब्द का प्रयोग देखा जाता है, परन्तु अथवा जड़ पदार्थ नहीं है।

3. देखो मेरा बार्हस्पत्य सूत्र पृ0 16

a. In other words, there was no one author of the great epic, though with not uncommon confusion of editor with author, an author was recognized, called Vyasa, modern scholarship calls him the Unknown Vyasa for convenience.
- W.Hopkins, The Great Epic of India, P.58 But this Vyasa is a very shadowy person. In fact this name probably covers a wild of revisors and retellers of the tale.
-W.Hopkins, India Old and New. P.69,

b. Badarayana is very loosely indentified with the legendry person named Vyasa.
- Monior Williams, Indian Wisdom, p.III footnote 2.

c. Tradition invented as the name of its author the designation Vyasa ('arrange')
- A.A. macdonell, India's Past, P.88,
To Ramanuja the legendry Vyasa was the seer. - A.A.Macdonell, India's Past, p.149.

d. Vyasa Parasharya is the name of a mythical sage.
-A.A.Macdonell, & A.B.Keith Vedic Index, P.339.

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1(2), No.2 (74-85) Jan.-June 2012

अथर्ववेदीय कुन्ताप - सूक्त : एक विवेचन

आनन्दप्रकाश (आचार्य)
आर्ष-शोध संस्थान, अलियाबाद, मं. शामीरपेट, जिला रंगारेड्डी - 500 078 (आ.प्र.) भारत
Email : aarsha.shodha@gmail.com

अर्थववेद के बीसवें काण्ड के सूक्त 127 से सूक्त 136 तक के 10 सूक्त कुन्ताप-सूक्त कहाते हैं। इन दस सूक्तों में 147 मन्त्र हैं। इन सूक्तों को 'कुन्ताप' नाम देने वाले ग्रन्थ शाङ्खायन-श्रौतसूत्र (12/137), शाङ्खाायन-ब्राह्मण (30/5), आश्वलायन-श्रौतसूत्र (8/3/7), वैतान-श्रौतसूत्र (6/2/16), गोपथ-ब्रा. उत्तरभाण (6/12) आदि हैं। कुन्ताप-पद का विर्वचन है-

१.) कु = कुत्सितमात्रं (पाप-ताप-दुरित-दुर्गुणादिकं) तापयन्ति दहन्ति इति कुन्तापानि, तथाविधानि सूक्तानि-कुन्तापसूक्तानि। कर्मण्युपपदस्य तप-धतोः 'अण्', मुमागमश्छान्दसः।

अर्थात् कु = कुत्सितमात्र (पाप-ताप-दुरित-दुर्गुण-दुर्व्यसनादि) को जो तपाते, जला देते हैं, इस प्रकार के सूक्त 'कुन्ताप सूक्त' कहाते हैं।

२.) कुम् = पृथिवीं पार्थिवविकारान् (पाप-ताप-दुःख-दोष-दुरितादिकान्) तापयन्ति दहन्ति इति कुन्तापानि। कुन्तापानि च तानि सूक्तानि (मन्त्रसमुदायाः) चेति 'कुन्ताप-सूक्तानि'।

अर्थात् कु = पृथिवी तात्स्थ्यात् पार्थिवविकारों (पाप-ताप-दुःख-दोष-दुरितादि) को जो तपाते हैं, जला देते हैं, वे सूक्त 'कुन्ताप सूक्त' कहाते हैं।

३.) गोपथ-ब्राह्मण के अनुसार - "कुयं ह नाम कुत्सितं भवति, तद्यत् तस्मात् कुन्तापाः, तत् कुन्तापानां कुन्तापत्वम्। तप्यन्तेऽस्मै कुयानिति, तप्तकुयः स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठति" (गोप.ब्रा. २/६/१२)। 'तप' धातोः कर्मण्युपपदे 'अण्' कुयशब्दस्य छान्दसे यलोपे मुमागमे 'कुन्तापः'।

अर्थात् 'कुय' का अर्थ है- कुत्सित, निन्द्य, पापादि। उसको जो तपाये, उस मन्त्र-समुदाय को कुन्ताप (पाप को भस्म करने वाले) कहते हैं। यही कुन्तापों का कुन्तापना है। इस यजमान/साधक के पाप भस्म हो जाते हैं, और पाप भस्म हो गये हैं जिसके, ऐसा यजमान/साधक स्वर्गलोक में प्रतिष्ठा पाता है।

कुन्ताप-सूक्तों के विषय में विभिन्न मान्यताएँ-

कुन्ताप सूक्तों के विषय में अनेक विचारणीय मान्यताएँ हैं। यथा-कुन्तापसूक्त 1) दुरुह हैं, 2) अस्पष्ट हैं, 3) प्रक्षिप्त हैं।

1) कुन्ताप-सूक्त दुरुह हैं। इनके मन्त्रों का अभिप्राय अतिगूढ़ हैं मन्त्रों का परस्पर सम्बन्ध जोड़ना दुष्कर होता है।

2) इन सूक्तों के मन्त्रों के स्थान - स्थान पर पद अत्यन्त अस्पष्टार्थक हैं। कोशों की सहायता से अथवा धातु-प्रत्यय के विवेचन से अर्थ निकालने पर भी मन्त्रों का सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता।

3) ये सूक्त प्रक्षिप्त हैं। इनकी प्रक्षिप्तता में निम्न हेतु दिये जाते हैं-

क्योंकि, क) इन सूक्तों का पदपाठ सायणाचार्य ने नहीं दिखाया है। इनका भाष्य भी नहीं लिखा है।

ख) अथर्ववेदीय बृहदनुक्रमणी में इन सूक्तों (20/127-136) को 'खिलानि' अर्थात् परिशिष्ट या प्रक्षिप्त कहा है।

ग) महर्षि दयानन्द सरस्वती ने **'चतुर्वेद-विषयसूची'** (वैदिक यन्त्रालय, अजमेर) में **''अथ कुन्ताप-सूक्तानि''** इस शीर्षक के साथ संक्षिप्त परिचय देकर लिखा है - **''इति कुन्ताप-सूक्तानि समाप्तानि। परिशिष्टानि प्रक्षिप्तानीति विज्ञेयम्।''**

इस प्रकार इन सूक्तों के विषय में उक्त मान्यताओं के अनुरूप इन सूक्तों की विविध व्याख्याएँ भी अधूरी, अस्पष्ट एवं असम्बद्ध हैं। यथा -

इन सूक्तों का सायणभाष्य अनुपलब्ध है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी इनमें से कुछ ही मन्त्रों की व्याख्या मिलती है, सब मन्त्रों की नहीं है। जो है, वह भी गूढ रहस्यों का उद्घाटन करने वाली या सन्तुष्टिकारक नहीं है। श्री क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने अथर्ववेद-भाष्य में उपलब्ध व्याख्या भी हृदय-ग्राहिणी अथवा वेदगौरववर्धिनी है। श्री राजाराम शास्त्री, श्री जयदेव विद्यालंकार, महामहोपाध्याय श्री सातवलेकर विद्यामार्तण्ड, श्री पं. विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड आदि विद्वानों की व्याख्या भी अति संक्षिप्त है एवं अनेकत्र तात्पर्य अस्पष्ट तथा अपूर्ण है। दुरूह समझकर श्री राजाराम शास्त्री ने 133वें तथा 136वें सूक्त की तथा श्री पं. सातवलेकर ने 135-136 वें सूक्तों की व्याख्या नहीं की है।

रॉथ, ग्रिफिथ, ह्विटनी आदि पाश्चात्य भाष्यकारों ने इन सूक्तों को निरर्थक, अश्लील तथा असम्बद्धप्रलापमात्र कहा है। श्री पं. जगन्नाथ वेदालंकार ने भी इन सूक्तों का आध्यात्मिक भाष्य लिखा है।

विविध-मान्यताओं पर विचार -

1-2) जो इन कुन्ताप-सूक्तों की दुरूहता या अस्पष्टता कही जाती है; सो अन्य भी बहुत ऐसे मन्त्र हैं, जो दुरूह एवं अस्पष्ट प्रतीत होते हैं। इस दुरूहता एवं अस्पष्टता के समाधान के लिए ही वेद के अङ्गो, उपाङ्गों, उपवेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, शाखाओं, विभिन्न संहिताओं, स्मृति आदि आर्ष-ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक हैं। इन शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन के साथ-साथ श्रद्धापूर्वक योगाभ्यास भी आवश्यक है; जिससे वेद की व्याख्या व्यर्थ न हो।

3) - सायणाचार्य द्वारा इन सूक्तों/मन्त्रों का पदपाठ न करना अथवा भाष्य न करना इनकी प्रक्षिप्तता का पुष्ट प्रमाण नहीं है। बहुत से अन्य मन्त्रों का भी सायणाचार्य द्वारा पदपाठ नहीं मिलता। यथा - अघमर्षण-मन्त्र (ऋ. 10/190) आदि। कुछ आचार्य इन कुन्ताप-सूक्तों की प्रक्षिप्तता पर सन्देह करते हैं; क्योंकि -

जिस प्रकार ऋग्वेद के खिलसूक्त/ परिशिष्ट - सूक्त ऋग्वेद- संहिता के पश्चात् अन्त में जोड़े हुए मिलते हैं; किन्तु ये कुन्ताप-सूक्त अथर्ववेद-संहितापाठ के अन्दर ही पढ़े हुए हैं। इन कुन्ताप-सूक्तों के पश्चात् सर्वमान्य और भी सात सूक्त (20/137-183) पठित हैं।, महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित - 'चतुर्वेद-विषयसूची' पुस्तक की अन्तिम

पङ्क्तियाँ भी अनुसन्धेय हैं -

"इति कुन्ताप-सूक्तानि समाप्तानि। परिशिष्टानि प्रक्षिप्तानीति विज्ञेयम्। यद्वा वाणीत्यादि. ऋतस्येत्यादि, मधुमानित्यादि पदार्थ-विद्या।

॥ इत्यथर्ववेदसंहितायाः सूचीपत्रं समाप्तम्॥"

इसमें पठित "परिशिष्टानि प्रक्षिप्तानीति विज्ञेयम्" - यह वाक्य अन्य ऋग्वेद आदि में परिशिष्ट/खिलापाठ के लिए भी सामान्य व्यवस्था हो सकती है, कि ऋग्वेद आदि में जो जो परिशिष्ट/खिलापाठ हैं, वे प्रक्षिप्त समझे जाने चाहिएँ।

इस प्रंसग में यह भी ध्यान देने योग्य है, कि ये कुन्ताप-सूक्त अथर्ववेद के 'गोपथ-ब्राह्मण' में व्याख्यात हें तथा शाङ्खायन-श्रौतसूत्र, आश्वलायन-श्रौतसूत्र, वैतान-श्रौतसूत्र आदि में विनियुक्त हैं। अथर्ववेद के सूक्तों की संख्या (731) एवं मन्त्रों की संख्या (5977) भी इन कुन्ताप-सूक्तों एवं मन्त्रों को जोड़ने पर ही पूरी होती है। परन्तु अथर्ववेद-अनुक्रमणीकार ने ये सूक्त 'खिलानि'=प्रक्षिप्त माने हैं। कुछ पण्डितों ने तो सम्पूर्ण 19 वें एवं 20 वें काण्डों को ही प्रक्षिप्त माना है। क्या जो-जो समझ में न आये वह प्रक्षिप्त की प्रक्षिप्तता विचारणीय है?

इन सूक्तों को प्रक्षिप्त मानें या न मानें उभयथापि अध्यात्म-सुभाषित के रूप में अघमर्षण-मन्त्रों के समान ये पापतापहारी सूक्त ग्राह्य, श्रद्धा से ज्ञेय एवं व्याख्येय हैं।

कुन्ताप-सूक्तों/मन्त्रों (अथर्व. २०/१२७-१३६) का सारांश -

अथर्व. २०/१२७/१-३) - प्रथम तीन मन्त्रों का देवता (प्रतिपाद्य विषय) **'नराशंस' है। नरैराशंसः स्तुतिः, यद्वा नरैराशंस्यते स्तूयत इति नराशंसः।** अर्थात् मनुष्यों द्वारा स्तुति अथवा मनुष्यों द्वारा जिसकी स्तुति की जाय। यथा -

१) कौरम! **(कौ/पृथिव्यां रमयति जीवान्)** अर्थात् हे प्राणियों को पृथिवी पर रमाने वाले!

२) **उष्ट्रा यस्य - (नराशंसस्य पुरुषविशेषस्य) शक्तयः, उषः (दहात् आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिक-त्रितापात् दुःखदावानलात्) त्रायन्त इति 'उष्ट्राः'** अर्थात् वह पुरुषविशेष परमेश्वर, जिसकी शक्तियाँ आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक तापों = दुखों से बचाती है।

३) **मामहे - वह नराशंस परमेश्वर सैकड़ों, हजारों प्रकार के दिव्य पदार्थ/ वायु, पानी, भोजन, ज्ञान आदि देता है।**

२०/१२७/४-६ इन तीन मन्त्रों का देवता **'रेभ'** है। जिनमें विविध प्रकार से 'रेभ'=स्तोता विद्वान् को सम्बोधित किया गया है।

२०/१२७/७-१०, इन चार मन्त्रों का देवता **'परिक्षित्'** है। जिसका अर्थ है - **यः परितः सर्वतः क्षियति, अप्रतिहतगतिर्भवति, गमयति च सर्वान् कर्माध्यक्षतया स परमेश्वरः।** अर्थात् जो सर्वत्र अबाधरूप से निवास करता है, कर्माध्यक्ष होने से सब जीवों को विविधयोनियों में, विभिन्न स्थानों में भेजता है, वह परमेश्वर 'परिक्षित्' है।

इसी सूक्त के आठवें मन्त्र में 'कौरव्य' शब्द पढ़ा है। जिसकी व्याख्या इस प्रकार है - **यः करोति येन वा क्रियते स 'कुरुः'**

परमेश्वर ऋत्विग् राजानो वा (कृग्रोरुच्च उणा. 1/24, उ-प्रत्ययः), कुरुरेव 'कौरव्यः'। स्वार्थे ण्यश्छान्दसः। अर्थात् जो करता है, वह 'कुरुः', परमेश्वर, ऋत्विग् या राजा लोग।

इन मन्त्रों में 'परिक्षित्' एवं 'कौरव्य' को देखकर ऐतिहासिक पण्डित महाभारतकालीन 'परीक्षित' एवं कुरुवंशज 'कौरव्य' का वर्णन मानते हैं; जो कि प्रकरण दृष्टि से असंगत है। मन्त्र में 'परिक्षित' शब्द है; न कि 'परीक्षित' (परीक्षण किया हुआ) अभिमन्यु का पुत्र।

२०/१२७/११-१४ का देवता 'कारु' है। जिसका अर्थ है- करोति (स्तुतिम्) इति 'कारुः' स्तोता (निघं. 3/16)। इन मन्त्रों में स्तोता का महत्व एवं कर्तव्य बताया गया है।

२०/१२८/१-५, इन पाँच मन्त्रों का देवता 'क्लृप्ति' = मानना/मान्यता है। यथा -

1) जो पुरुष सभा में जाने योग्य सभ्य है, ज्ञान-गोष्ठियों में चतुर/यथार्थ-ज्ञानी है, जो हिंस्रभावनाओं से रहित है; विद्वान् लोग उसे प्रथम कोटि का मनुष्य मानते हैं।
2) जो स्त्रियों से अनाचार/दुर्व्यवहार करता है, जो मित्र की विश्वासघात द्वारा हिंसा करता है, जो ज्येष्ठ होते हुए भी अज्ञानी है, विद्वान् लोग उसे 'नीच' कहते हैं।
3) दूसरों को सुख पहुँचानें वाले पुरुष का पुत्र पापों को नष्ट करने वाला होता है। इस सुन्दर कथन को मेधावी पुरुष एवं वेदवाणी के विद्वान् भी समझते हैं।
4) जो व्यापारादि द्वारा सम्पन्न होते हुए भी कंजूस है- देवकोटि के विद्वानों को दाने नहीं देता एवं यज्ञ नहीं करता, ऐसे व्यक्ति के विषय में हमने बुद्धिमानों से सुना है, कि वह व्यक्ति पिछड़ा हुआ है।
5) जो सम्पन्न व्यापारी यज्ञ करते हैं दान देकर यशस्वी हो जाते हैं; वे सूर्य के समान तेजस्वी एवं कीर्तिमान् होते हैं। यथा-

२०/१२८/६-११, इन छह मन्त्रों का विषय **'जनकल्प'** है, अर्थात् उत्कृष्ट-निकृष्ट व्यक्तियों का वर्णन है। यथा-

6) जिसकी आँखें अपवित्र हैं, ज्ञानाञ्जनशलाका से जिसने अपने नेत्रों को खोला नहीं है, जो अज्ञानतिमिरान्ध है, ईर्ष्याद्वेषादि से दूषित दृष्टि वाला है, जिसका हृदय स्वच्छ नहीं है, जो ब्राह्मण पुत्र होते हुए भी ब्राह्मण के गुणों से शून्य है- वेदविद्या एवं ब्रह्मज्ञान से रहित है; वह मणि एवं स्वर्ण आदि के दान का पात्र नहीं है। कल्प-कल्पान्तरों में ये सब इसी प्रकार माने गये हैं। (इससे स्पष्ट है, कि वैदिकी वर्णव्यवस्था गुणकर्मानुसार है, जन्मना नहीं। जैसा कि मनु भी कहते हैं -

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्यात् वैश्यात् तथैव च॥ (मनु. १०/६५)

7) जिसकी आँखें पवित्र हैं, ज्ञानाञ्जनशलाका से जिसने अपने नेत्रों को खोल लिया है, जितेन्द्रिय, शुद्धव्यवहार वाला है, जिसका हृदय स्वच्छ है, जो ब्राह्मण का पुत्र श्रेष्ठ ब्राह्मण के गुणवाला है, वेदविद्यापारंगत एवं ब्रह्मज्ञानी है; वह उत्तम मणियों एवं स्वर्ण आदि के दान का पात्र है। कल्प-कल्पान्तरों में ऐसा ही माना गया है।
8) बिना प्याऊ की बावली, अदानी धनिक तथा विवाह के अयोग्य मोक्षाभिलाषिणी कन्या; ये सब कल्प-कल्पान्तरों में समान माने गये हैं अर्थात् सामाजिक उपयोग के

योग्य नहीं हैं।

9) और जो उत्तम प्याऊ वाली बावली, उत्तम दानी धनिक, सबका कल्याण चाहने वाली विवाहयोग्य कन्या; कल्प-कल्पान्तरों में ये सब समान माने गये हें, अर्थात् सामाजिक उपयोग के अनुकूल हैं।

10) पति द्वारा त्यागी हुई दुराचारिणी स्त्री, अपना वैयक्तिक कल्याण चाहने वाला भीरू योद्धा और कार्यों को शीघ्र न करने वाला दीर्घसूत्री भृत्य; ये सब कालों में एक समान अर्थात् त्याज्य माने जाते हैं।

11) और वायु के समान सक्रिय महागुणव्रती स्त्री, देश के कल्याण की भावना से युद्ध में जाने वाला योद्धा तथा शीघ्रता से कार्यों को करने वाला अदीर्घसूत्री भृत्य; ये सब कालों में समान् अर्थात् उपादेय माने जाते हैं।

२०/१२८/१२-१६, पाँच मन्त्रों का देवता **इन्द्र** है, अर्थात् परम ऐश्वर्य वाले परमात्मा के सानिध्य से जीवात्मा भी सामर्थ्यवान् एवं पूज्य बन जाता है। यथा

12) हे परमेश्वर। जीवन में यदि एक-एक इन्द्रिय का भी राज्य हो जाय, तो मनुष्य दु:खी एवं अपवित्र हो जाता है। फिर यदि 10 इन्द्रियों का स्वेच्छाचारी राज्य हो जाय, तो मनुष्य महादु:खी, महा-अपवित्र तथा सब के लिए अवांछनीय हो जाता है। तब वह नाना जन्मों में पूर्वकृत कर्मों का फल भोगता है। पश्चात् आपका संगी बनकर शुद्ध-पवित्र होकर आपकी प्राप्ति के लिए समर्थ हो पाता है।

13) सम्पत्तिशाली सर्वेश्वर परमात्मा सूर्य के समांन प्रकाश करने वाला है, प्रीपि पूर्वक व्यवहार करने वाले की आँखों को नम्र बना देता है। रजोगुणी व्यक्ति को अपने से दूर फेंक देता है और उपासक के वृत = पाप का सिर कुचल देता है।

14) जिस परमेश्वर ने पर्वत बनाये, धारण किया, जो समुद्र के एवं मेघ के जलों को तरङ्गित करता है और गर्जवाता है, जो वृत्रों/पापों का हनन करता है, उस महान् परमेश्वर को नमसकार है।

15) ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियरूपी अश्वों के पीछे-पीछे दौडते हुए, ऊँचा सुनने वाले अर्थात् आध्यात्मिक दृष्टि से बहरे कानों वाले से ब्रह्मज्ञानी कहते हैं, कि हे मनुष्य! इन्द्रियाश्वों पर विजय पाने के लिए तू परमेश्वर को हृदय में धारण कर, इससे तेरा कल्याण होगा।

16) जो सात्त्विक चित्तवृत्तिवाले एवं प्रत्याहार आदि साधना-सम्पन्न उपासक प्रगति एवं वृद्धिदायक परमेश्वर को अपने साथ योगविधि द्वारा युक्त करते हैं, वे दिव्य योगीजनों में अग्रगण्य एवं पूज्य होते हैं।

२०/१२९-१३२, इन चार सूक्तों का ऋषि वेदमन्त्रों के कुछ अन्य सार्थकनाम वाले ऋषियों के समान यथार्थ नामवाला 'एतश' है, अर्थात् सत्यसम्पन्न ज्ञानवान्। देवता- **'ऐतशप्रलापाः' - एतशस्येम > ऐतशाः प्रकृष्टाः लापाः (सूक्तात्मिका उक्तयः) प्रलापाः। ऐतशाश्च ते प्रलापाश्च > ऐतशप्रलापाः**। अर्थात् ज्ञानवान् / ऋषि द्वारा सूक्तियों के रूप में गुह्यज्ञान। यथा - **२०/१२९**

1) ये चित्तवृत्तियाँ उछलकूद करती हैं, चंचल हैं।

2) किन्तु अध्यात्मस्नान करने वाले मनुष्य की वृत्तियाँ विषयों से विमुख हो जाती हैं। अध्यात्मचिन्तन में या ब्रह्मचिन्तन में लग जाती हैं।

3-5) उस अध्यात्मस्नान किये हुए साधक की एक चित्तवृति 'हरिक्निका' अर्थात् हरि (परमेश्वर) के स्वरूप को प्रकाशित करने वाली होती है। [जैसा कि गीता में कहा है- **विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ गीता. 2/59]**

(साधक हरिक्निका से पूछता है-) हे हरि की कामना करने वाली सात्विक-चित्तवृत्ति! तू क्या चाहती है?

(वह उत्तर देती है-) मेरा पुत्र अर्थात् जीवात्मा साधु अर्थात् धर्मयुक्त कर्म करने वाला तथा स्वर्ग के समान सर्वप्रिय बन जाय।

[योगदर्शन के व्यासभाष्य में भी श्रद्धारूप सात्त्विक चित्तवृत्ति की 'जननी' कहा है - **''श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः, सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति''** - योग. 1/20]

6) (प्र.) जीवात्मा को पराङ्मुख कर उसे विषयों में फेंकने वाली राजसिक-तामसिक चित्तवृत्तियों! तुमने कहाँ आघात किया?

7) (उ.) जहाँ शापरूप राजसिक-तामसिक एवं मिश्रित तीनों वृत्तियाँ निवास करती हैं।

8) जो कि तीनों जीवात्मा को घेरे रहती है।

9) अजगर-साँपों के समान जीवात्मा को घेरती हैं।

10) जो तीनों वृत्तियाँ शृङ्गार-भावनाओं, काम-वासनाओं को उद्दीप्त करते हुए आसन जमाए बैठती हैं।

11) वे तीनों वृत्तियाँ बहुत बलवती हैं, शरीररूपी रथों को विषयों की ओर धकेलती हैं।

12) वह परमेश्वर सांसारिक इच्छाओं के वशपूर्ति मनुष्य को जन्म-मरण की शृङ्खला में जकड़कर फल देता हैं।

13) परमेश्वर इन्द्रियों की अनियन्त्रित गति को आहत करता है।

14) हे मनुष्य! तू वृद्धिशील होकर भी कुत्सित कर्म में अधोगति चाह रहा है।

15) हे मांस के पिञ्जरे / शरीर में बंधे हुए मनुष्य तू तो इससे उड़ जाने वाले पक्षी के सदृश आत्मस्वरूप है।

16) तुम सब इसलिए शरीरों में बंधे हो, क्योंकि तुम पापकर्म करने वाले हो।

17) प्रकृति के घर में रहने वाले जीवात्मन्! प्रकृति तो तुम्हारी सेविका है।

18) हे जीवात्मन् तू तो मन का भी स्वामी है, किन्तु इन्द्रियों से पिसा जा रहा है।

19) हे जीवात्मन्! वह प्रकृति तो विविध रूप-रंगों वाली वेश्या के समान तुझे विमोहित कर रही है। [यजुर्वेद में भी कहा है- **''हिरण्यमेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्''** - यजु. 40/17]।

20) वह प्रकृति तो पाप-रागद्वेषरूपी रोगों से रहित व्यक्तियों को भी जिह्वा से चाठ जाने वाली सर्पिणी है। इससे सावधान रहो।

20/130/1-5

5) हे शरीर और इन्द्रियों के स्वामी जीवात्मन्! तू आश्चर्य में डालने वाले सद्गुरु से ये प्रश्न पूछ कि-

1) कौन तुझ पर विविध प्रकार के कष्टों के बाण चलाता है?
2) कौन असित् अर्थात् अशुक्ल चित्तवृत्तियों का फल देता है?
3) कौन शुभ्र अर्थात् अशुक्ल चित्तवृत्तियों का फल देता है?
4) कौन कृष्ण (तामसिक) चित्तवृत्तियों का फल देता है?
6) विस्मय में डालने वाले सद्‌गुरु से शंका-समाधान कर, जो कि परिपक्व बुद्धि वाला है।
7) हे सद्‌गुरो! जितने प्रकार के कुत्सित धन हैं, उनसे हमें छुड़ा दीजिए।
8) हे सद्‌गुरो! आप कुत्सित कर्मों से रक्षा करने वाले हैं, अतः हम कोप-क्रोध से रहित हो गये हैं।
9) हे सद्‌गुरो! आप सर्वत्र सदुपदेश करते हैं, तथा सदुपदेश करने वालों से आप प्रेम रखते हैं।
10) हे गुरुदेव! आपकी बराबरी तो सूर्य भी नहीं कर पाता। क्योंकि आप अपने आध्यात्मिक ज्ञान-प्रकाश से ईश्वर के दर्शन करा सकते हैं। कोई सूर्य, चन्द्र, तारे या अग्नियाँ उस परमेश्वर को नहीं दिखा सकते। [जैसा कि शास्त्रों में कहा है - **''न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति''** - मुण्डकोप. 2/2/10]।
11) हे गुरुदेव! आपके सदुपदेशों से हमारे पापों के संचय की पङ्क्ति ज्ञानाग्नि में भस्म हो गयी हैं।
12) हे गुरुदेव! आपने हमें विशेषरूप से आध्यात्मक-सम्पत्तियाँ प्रदान कर, सांसारिक सम्पत्तियों के प्रति हमारी अभिलाषाओं को दूर भगा दिया है।
13-15) हे उत्पन्न हुई शृङ्गार-भावना/पापावासना! हम उपासकों के मित्र भी तुझसे न मिलें, तेरा मुख तक न देखें। हमारे सखा अब संसार को वश में रखते वाली जगन्माता के पुत्र सद्‌गुरुदेव की ओर ही आते हैं।
16-20) हे कामवासनाओं! सांसारिक भोगों में जो व्यक्ति तन्मय हो जाता है, तुम उसकी जड़ काट देती हो। सांसारिक भोगों की मदिरा में तन्मय व्यक्ति, इस मदिरा की ओर आता हुआ। बार-बार आता हुआ कुत्ता बनकर अस्थिर प्रकृति वाला हो जाता है। और आध्यात्मिक व्यक्ति कहते हैं- अरे देखो! अल्प बुद्धि वाले लोग किस प्रकार सांसारिक भोगों में लिप्त होकर त्रिविध दुःख भोग रहे हैं।

20/131/1-5

1) जो सांसारिक भोगों को त्याग देता है, वह कल्याणमय और सुखी हो जाता है।
2) फिर उस सुखी व्यक्ति के क्लेशों की ग्रन्थि टूट-फूट जाती है।
3) तब क्लेशनिवारक परमेश्वर उसे आध्यात्मिक सम्पात्ति के साथ प्राप्त होता है।
4) तथा सैकड़ों प्रकाशमय शक्तियाँ उसके पीछे-पीछे चलती हैं।
5) सुवर्ण-विभूषित सैकड़ों अश्वारोही, स्वर्णविभूषित सैकड़ों रथवाही अश्व, स्वर्णविभूषित झूलों वाले सैकड़ों हाथी, स्वर्ण से निर्मित सैकड़ों मालाएँ उस सांसारिक

भोगों को त्याग देने वाले के पीछे-पीछे चलते हैं।

[जैसे कि- गौतम बुद्ध, ईसा मसीह, गुरुनानक, महर्षि दयानन्द, महात्मा गाँधी आदि त्यागियों की स्मृति में ऐसे शानदार जुलूस निकलते हैं।]

6) हे अहल! (अशिक्षित! अद्विज! अदीक्षित!) पार्थिव भोगों में शयन करने वाले! सांसारिक व्यवहारों में ही लिप्त रहने वाले प्राणि।

7) तेरे जैसा व्यक्ति तो ऐसे उखाड़ दिया जाता है, जैसे पशु के खुर से छत्रक/ कुकरमुत्ता का कीड़ा मसल दिया जाता है। इसलिए अपने सांसारिक ऐश्वर्य का या यौवन का गर्व मत कर।

8) अत: हे संसारी मनुष्य! उपासना मार्ग की ओर आ। जगज्जननी श्रद्धालु भक्त की ओर झुक जाती है।

9) श्रद्धालु श्रेष्ठ भक्त यह धारणा नहीं रखते कि -

10) यह सांसारिक वस्तु मेरे लिए हर्षोत्पादक है।

11) वे श्रेष्ठ उपासक वृक्षों के सदृश अन्त:संज्ञ होकर समाधिस्थ हो जाते हैं। तब परमेश्वर उनके साथ सदा रहता है। (द्र. - **''अन्त:संज्ञा भवन्त्येते (वृक्षा:) सुखदु:खसमन्विता:''**- मनु. 1/49)।

12) वे क़हते कि हे मोक्षफल दिलाने वाले सद्गुरो! हमने स्वयं को आपके प्रति बलिरूप में समर्पित कर दिया है।

13) हे शक्तिसम्पन्न सद्गुरो! हमने स्वयं को आपके प्रति भेंट कर दिया है।

14) सद्गुरु कहता है - हे मनरूपी अश्व के अधिष्ठाता! तूने राजस-तामस वृत्तियों को रोक लिया है। अब तू धवल अर्थात् परिशुद्ध सात्त्विक वृत्ति वाला हो गया है।

15) हे समाधि को प्राप्त उपासक! तू सांसारिक इच्छाओं से पूर्णतया उपरत हो जा।

16) तू ऐसा हो जा, जैसे कोई सोया हुआ या मरा हुआ होता है।

(यहाँ 'शय:' से 'अन्त: प्रज्ञ' - 'सम्प्रज्ञातसमाधि ' का और 'हत:' से 'बहि:संज्ञ' एवं 'अन्त: संज्ञ' रहित 'असम्प्रज्ञात-समाधि' का निर्देश है।)

17) अध्यात्मगुरु अपने उपासक शिष्य से कहता है- हे शिष्य! ऐसा प्रतीत होता है, मानों परमपुरुष परमेश्वर तेरे जीवन में व्याप्त हो रहा है।

18) हे शिष्य! मैंने पुष्टिदायक प्रभु से तुझे विशेष शक्ति प्राप्त करा दी है।

19) हे शिष्य! तू दूर से दूर वस्तुओं के स्वामी परमेश्वर की बढ़-बढ़ कर स्तुति किया कर।

20) हाथों वाले (पुरूषार्थी) मनुष्य के दो साध न (अध्यास और वैराग्य) हैं, जो कि उसके जन्म-मरण के बन्धनों को काट देते हैं।

20/132/-

1-2) पूर्वोक्त प्रकृतिसंगपरित्याग एवं अभ्यास - वैराग्य के अनन्तर तूम्बे के सदृश भवसागर से तैराने वाला एक ब्रह्म ही है।

3) जगत् की बार-बार रचना करने वाला परमेश्वर अविद्या की जड़े खोद देता है।

4) वह प्राणायामाभ्यासी ब्रह्मजिज्ञासु एकाग्रता से उत्कृष्ट मनन करता है।

5) उपासक उस ब्रह्म को ही अपना आश्रय/आलम्बन बनाएँ।
6) हृदय में उस शक्तिशाली, सर्वव्यापक ब्रह्म की सम्यक् (श्रद्धापूर्वक) भक्ति किया करें।
7) उपासक कभी अव्यापक (ज्ञानबलैश्वर्य से परिछिन्न) की सम्भक्ति न किया करें।
8) इन साधकों में कौन क्रियाशील योगाभ्यासी उस परमेश्वर को अपने चित्तपटल पर अंकित करता है? कोई विरला ही।
9) कौन है, जो इन जीवात्माओं के कर्त्तव्याकर्त्तव्य की दुन्दुभि बजाता है, डोंडी पीटता है?
10) यदि कोई दैवी शक्ति है, जो कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य की डोंडी पीटती है, तो किस प्रकार डोंडी पीटती है?
11) दैवी शक्ति कहाँ डोंडी पीटती है?
12) वह दिव्यशक्ति घर-घर में/ प्रत्येक हृदय में डोंडी पीटती है और बार-बार पीटती है।

[वह है - भय, शंका और लज्जारूपी डोंडी; अथवा सुख-दुःख के तारतम्य की डोंडी।]

13) ताप-सन्तापों से त्राण करने वाले परमेश्वर के तीन नाम विशेष माने जाते हैं -
14) कुछ सात्विक-प्रकृति के उपासक 'हिरण्य' नाम वाला कहते हैं। [ऋग्वेद में कहा है - **''हिरण्यरूपः स हिरण्यसन्दृक्''** - ऋ. 2/35/10]।
15) तथा जो शिशुबुद्धि के अविवेकी (तामसिक और राजसिक) लोग हैं, वे उसके दो नाम बताते हैं।
16) वे दो नाम 'नीलवाहन' और 'शिखण्डवाहन' हैं।

[यहाँ 'नील' पद तमोगुण का द्योतक है और 'शिखण्ड' पद रजोगुण का। 'शिखण्ड' का अर्थ है मोर की पूँछ' जो कि रंग-बिरंगी होती हैं। रजोगुणी व्यक्ति संसार के नानाविध रंग-बिरंगों को चाहता है। तमोगुणी व्यक्ति को यह संसार तमोमय दीखता है, रजोगुणी को रजोमय तथा सत्त्वगुणी को जगत् में सत्त्वगुण दीखता है।]

इस प्रकार तृष्णा के त्याग से चित्त्वृत्तियों का निरोध होने पर त्रिविधताप-निवृत्तिरूप मोक्ष की सिद्धि होती है। यही इन चार (129-132) सूक्तों का रहस्यार्थ है।

२०/१३३ - इस सूक्त को देवता 'कुमारी' है। इस सूक्त के सभी छह मन्त्रों के पूर्वार्द्ध में कुमारी/ब्रह्मचारिणी की मान्यता दिखाई गयी है, तथा उत्तरार्ध में उसका निराकरण करके स्पष्टीकरण किया गया है। यथा-

1) चित्त कों विक्षिप्त करने वाली राजस और तामस भावनाओं को परमेश्वर ही पीसता है/ नष्ट करता है।
2) चित्त का विक्षिप्त करने वाले रजस् और तमस् जो कि पुरुष में रहने वाले दो तत्त्व है, वे जगन्माता के दिये हुए हैं। इसलिए उसी की शक्ति से ये दोनों विक्षेपक निवृत्त होते हैं। (इन मन्त्रों में 'पुरुष') से परमेश्वर और 'पुरुष' से जीवात्मा अभिप्रेत है।)
3) हे कुमारि! दोनों विक्षेपकों अर्थात् रजस् और तमस् का निग्रह करके उन्हें मध्यमार्ग में तू नियमन करना चाहती है। [यहाँ मध्यमार्ग का तात्पर्य है - त्यागपूर्वक भोग। अर्थात् न संसार में लिप्त होना और न योगाभ्यास का आलम्बन करना।]

4) हे कुमारि! तू पीठ के बल लेटी हुई या निद्रावस्था में, या खड़ी हुई चित्तवृत्तियों का निरोध समझती है।,
5) सांसारिक मातृशक्ति में तथा परमेश्वरीय मातृशक्ति में, हे परमेश्वरीय मातृशक्ते! तूने ही सुकुमार भावनाओं को प्रदान किया है; अतः परमेश्वर ही सन्तानों का कष्टनिवारण कर देंगे जीवात्माओं को प्रयत्न की आवश्यकता नहीं।
6) लोमवाले पुरुष के हृदयरूपी तालाब के भीतर माता की सुकुमारता जैसी भावनाएँ परमेश्वर ने ही डाली हैं; अतः परमेश्वर अपने भक्त पुत्र के रजस्-तमस् को स्वयं दूर कर देगा।

पूर्वार्द्ध के इन छहों मन्त्रो की मान्यताओं का उत्तरार्द्ध में खण्डन किया गया है, कि केवल परमेश्वर की कृपा से रजस्-तमस् दूर नहीं होंगे, अपितु अपने पुरुषार्थ के रूप में उपासक की अपनी श्रद्धामयी भक्ति, अभ्यास और वैराग्य भी अपेक्षित हैं। अतः रजस्-तमस् के पराभव के लिए परमेश्वरीय कृपा एवं योग में पुरुषार्थ साधन भी अपेक्षित हैं।

20/134/1-6, इस पूरे सूक्त (6 मन्त्रों) का देवता प्रजापति है। इस सूक्त में समझाया गया है, कि इस पृथिवी पर पूर्व पश्चिम-उत्तर-दक्षिण कहीं भी जाएँ, किन्तु -

1) श्रेष्ठ मानसिक बलों द्वारा अपनी कुचालों की भर्त्सना करते रहें। [जैसा कि अन्यत्र कहा है- "**परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि**" - अथर्व. 6/45/1; "**वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्**" - योग. 2/33।]
2) पृथिवी के प्रत्येक प्रदेश में पौरुष कर्म करने वाले बच्चे उत्पन्न हो सकते हैं।
3) सर्वत्र भोज्य-सामग्री का प्रबन्ध होना आवश्यक है।
4) सर्वत्र बहुत मात्रा में स्थालीपाक/भोज्यपदार्थ पकाया जाता है।
5) हे प्राप्त भोगों के परित्याग करने वाली स्त्रि! तेरे लिए सम्प्रज्ञात-समाधि में शयन करना एवं असम्प्रज्ञात- समाधि में लीन होना आरम्भ से नियत है। [जैसा कि अथर्ववेद में ही कहा है- "**पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृताय कम्**" (अथर्व. 14/1/42), अमृताय-मोक्षाय।)
6) हे स्त्रियों! इन्द्रियों के विषयों में लीन हुई स्त्रि, पूँछ वाले पशु के सदृश हैं।

20/135/1-13, इस सूक्त के देवता प्रजापति और इन्द्र हैं। इस सूक्त के सभी 13 मन्त्र महाभारत के क्लिष्ठकूट-श्लोकों के समान 'कूटमन्त्र' हैं। जैसे महाभारत के -

काकुदीकं शुकं नाकमक्षिसन्तर्जनं तथा।
सन्तानं नर्तनं घोरमास्यमोदकमष्टकम्॥
एतैर्विद्धाः सर्व एव मरणं यान्ति मानवाः।
उन्मत्ताश्च विचेष्टन्ते नष्टसंज्ञा विचेतसः॥

(महा.उद्यो. 16/43,44)।

इन कूटश्लोकों की व्याख्या काकुदीक, शुक आदि शब्दों के प्रतीकात्मक अर्थबोध से ही की जा सकती है। जैसे-

1. **'काकुदीकम्'**- जिस अस्त्र से परिभूत होकर रथ अथवा हाथी आदि के 'ककुद' (पृष्ठभाग) पर ही सोते रह जाते हैं; उसका नाम 'काकुदीक' अथवा 'प्रस्वापन' है।
2. जैसे **'शुक'** पानी के ऊपर पड़ी हुई बांस की नलिका को पकड़ कर भय से चिल्लाता

रहता है, उसी प्रकार जिससे मोहित हुए योद्धा बिना भय के ही भयभीत होकर घोड़े और रथ आदि के पाँवों से चिपक जाते हैं, उस अस्त्र का नाम 'शुक' अथवा 'मोहन' है।

3. जिस अस्त्र से मनुष्य को नाक (स्वर्ग) दिखाई देने लगे, वह 'नाक' या 'उन्मादन' कहलाता है।
4. जिसके प्रहार से विद्ध होकर लोग त्रास के कारण मल-मूत्र करने लगते हैं, वह 'अक्षिसन्तर्जन' या 'त्रासन' नामक अस्त्र हैं।
5. 'सन्तान' या 'दैवत' अस्त्र वह है, जिसके प्रयोग से अविछिन्न रूप से अस्त्र-शास्त्रों की वर्षा होने लगती है।
6. जिसके प्रहार से वेदना के मारे मनुष्य नाच उठता है, वह 'नर्तन' या 'पैशाच' अस्त्र है।
7. भयानक संहारकारी अस्त्र को 'घोर' या 'राक्षस' कहते हैं।
8. जिससे आहत होकर लोग मुँह में पत्थर रखकर मरने के लिए निकल पड़ते हैं, वह 'आस्यमोदक' या 'याम्य' नामक अस्त्र है।

इन अस्त्रों से विद्ध होकर सभी मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होते हैं; कुछ लोग उन्मत्त हो जाते हैं, और वैसी ही चेष्टाएँ करने लगते हैं; उछलकूद, मलमूत्र-त्याग, रोना, हँसना करते हैं। कितनों ही को सुधबुध नहीं रह जाती, वे अचेत हो जाते हैं। (द्र. भारतभावदीपटीका)।

इसी प्रकार वेद के इन कूटमन्त्रों की व्याख्या भी प्रतीकात्मक अर्थबोध से सम्भव है।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि वेद लोकोत्तर-काव्यसुषमा से विभूषित, परमोदात्त ईश्वरीय दिव्यकाव्य है। जिसके विषय में स्वयं भगवान् वेद कहता है - **''देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति''** - (अथर्व. 10/8/32)। वेद के इस अलौकिक काव्य की वर्णन शैली अलौकिक है। विश्व के काव्य-साहित्य में जो भी गीत-संवाद-नाटक-कथानक-सुभाषित-कूटोक्ति- पहेली-प्रश्नोत्तर आदि शैलियाँ उपलब्ध होती हैं, उन सभी का स्रोत वेद है।

सो, इस सम्पूर्ण सूक्त के कूटार्थ-मन्त्रों की व्याख्या तो इस लघु पुस्तिका में सम्भव नहीं है। केवल एक मन्त्र की व्याख्या प्रस्तुत हे -

भुगित्यभिगतः शलित्यपक्रान्तः फलित्यभिष्ठितः। दुन्दुभिमाहनाभ्यां जरितरोथामो दैव॥ (20/135/1)

अर्थात् जीवात्मा 'भुक्' (भुङ्क्त इति भुक्) - भोक्ता है, **'इति'** - अतः यह **'अभिगतः'** - इस देह को प्राप्त हुआ है। वह **'शल्'** (शलति शरीरात् शरीरान्तरं गच्छति) - एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला होने से 'शल्' है, **'इति'** - इसलिए 'अपक्रान्तः' (अपक्रामति) शरीर धारण करने के लिए निकल जाता है। वह जीवात्मा 'फल्' (फलति निष्पादयति) - लक्ष्यों को सफल करता है, निष्पन्न करता है, 'इति' - इसलिए 'अभिष्ठितः' शरीर में प्रयत्नशील होकर ठहरता है।

अथवा

वह परमेश्वर 'भुक्' (भुनक्ति, पालयति, परिरक्षति), - प्राणिमात्र का पालन करता है, रक्षा करता है, 'इति' इसलिए वह **'अभिगतः'**

(अभितः सर्वतो गतो व्याप्तः) - किसी देश-काल-वस्तु की सीमा को छोड़कर सर्वत्र व्याप्त होकर ठहरा हुआ है।

वह परमेश्वर **'शल्'** - शीघ्रगामी है, द्रुतगामियों के गर्व को चूर करने वाला है, **'इति'** इसलिए **'अपक्रान्तः'** - सबका अतिक्रमण करके सर्वव्यापक होने से गन्तव्य स्थान को सदा सबसे पहले प्राप्त हो जाता है। [जैसा कि यजुर्वेद में कहा है - **''तद्धावतोऽन्यानत्येति,''** (यजु. 40/4)।]

वह ईश्वर **'फल' (फालयति, निष्पायति, संसाधयति सृष्टिम्)** - सृष्टि को निष्पन्न करता है, सिद्ध करता है, जीवों को कर्मफल देता है, 'इति' - इसलिए **अभिष्ठितः** - सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक होकर ठहरा हुआ है। यजुर्वेद में कहा है - **''प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः''** (यजु. 32/4)।

(उत्तरार्ध -) **'दैव'** - हे परमदेवोपासक **'जरितः'** - हे स्तोतः, भगवद्गुणगायक! **'आहननाभ्याम्'** डोडी पीटने के डण्डों द्वारा **'दुन्दुभिम्'** डोंडी, नगाड़ा 'आ उथामः' सब ओर सबको सुनाने के लिए उठाएँ और बजाएँ। पूर्वोक्त जीवात्मा एवं परमात्मा के स्वरूप को उच्च स्वर से सबको समझाएँ, प्रजा को जागृत करें।

20/136/1-16, इस सूक्त का देवता 'प्रजापति' है। इस सूक्त में साध्वी, विदुषी एवं सदाचारिणी स्त्री के सद्गुणों और अपठिता, मूर्खा एवं कामुकी स्त्री के दुर्गुणों का वर्णन है।

इस प्रकार यह कुन्ताप-सूक्तों का सारांश प्रस्तुत किया गया है। सुधी जनों से निवेदन है, कि इन मन्त्रों का महत्त्व समझकर इन पर श्रद्धा से विचार करें।

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1(2), No.2 (86-93) Jan.-June 2012

श्री अरविन्द की वेद व्याख्या-पद्धति

सत्यप्रकाश सिंह
पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ0प्र0) भारत

श्री अरविन्द का वेद से परिचय एक विचित्र अनुभूति से प्रारम्भ होता है। सन् 1893 में इंगलैण्ड से लौटने के बाद एवं बड़ौदा नरेश की सेवा में सम्मिलित होने के साथ-साथ वे योग-साधना की ओर उन्मुख हो जाते हैं। इसी साधना के परिणामस्वरूप उन्हें कुछ यौगिक अनुभूतियाँ होने लगती हैं। इन अनुभूतियों के अन्तर्गत उनके ध्यान में तीन देवियाँ प्रकट होने लगती हैं। वे देवियाँ हैं - इड़ा सरस्वती एवं सरमा / कालान्तर में आर्य और अनार्य वम् आर्य और द्रविड़ सम्बन्धी भारत-विभाजक परिकल्पनाएँ उन्हें उद्विग्न करती हैं। इसी सन्दर्भ में वे वेदाध्ययन के प्रति उत्सुक होते हैं । आरम्भ में अनुवाद के माध्यम से एवं कालक्रम में मूल के द्वारा उस क्रम में उनकी दृष्टि ऐसे कुछ ऋग्वेदीय मन्त्रों पर जाती है, यथा –

१. **शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती ।**
इळा सरस्वती मही बर्हिः सीदन्तु यज्ञियाः।। ऋ० १/१४२/६

२. **त्वमग्ने अदितिर्देव दाशुषे त्वं होत्रा भारती वर्धसे गिरा।**
त्वमिळा शतहिमासि दक्षसे त्वं वृत्रहा वसुपते सरस्वती ।। ऋ० २/१/११

३. **आ भारती भारतीभिः सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः ।**
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तु ।। ऋ0 ३/४/८

यही उनकी वेद-व्याख्या का आरम्भ बिन्दु है। पाश्चात्त्य विद्वानों के द्वारा की गई वेद-व्याख्या पर उन्हें सन्देह होने लगता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि वह व्याख्या नितान्त भौतिकवादी है। उसके अनुसार आर्य एक जाति है, जो भारत में ईसापूर्व एक - दो सहस्राब्दी के मध्य यूरोप अथवा मध्य एशिया से आती है पशुओं को चराती हुई, यहाँ के आदिवासियों से संघर्ष करती है और जीतकर यहाँ व्यवस्थित हो जाती है। वेद उसी संघर्ष एवं संघर्षोपरान्त की परिस्थितियों के विवरण हैं, जिनके अन्तर्गत वे सामान्यरूप से अज्ञानवश नाना प्राकृतिक शक्तियों के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हैं एवं उनसे गाय, अश्व, धन, पुत्र आदि की कामना प्रकट करते हैं।

यह मान्यता इडा, सरस्वती, भारती, सरमा सम्बन्धी उनकी गहन आध्यात्मिक अनुभूतियों से मेल नहीं खाती। अतः निराश होकर वे सायण-भाष्य की ओर उन्मुख होते हैं। यह भाष्य वेद की भाषा समझने में उनके लिए सहायक सिद्ध होता है। इस दृष्टि से वे इस भाष्य की प्रशंसा भी करते हैं। परन्तु जो बातें उन्हें इस भाष्य में खटकती हैं, वे हैं इसकी सर्वतोभावेन यज्ञ-परता एवं उस दृष्टि की पुष्टि में विभिन्न प्रसंगों में एक ही शब्द की विविध

व्याख्यायें। वेद में अन्यथा अद्‌भुत वैचारिक एवं भाषायी तारतम्य को देखते हुए सायणाचार्य का यह शब्दार्थवैविध्य उनके मन में इस भाष्य के प्रति सन्देह उत्पन्न करता है। उनका यह सन्देह उन्हें एक ऐसी व्याख्या-प्रणाली की ओर प्रेरित करता है, जो समभाव से समूचे वेद में चरितार्थ होती है।

इस दृष्टिकोण के निदर्शन स्वरूप उन्होंने कुछ लेख सन् 1914 और 1920 के मध्य लिखे थे, जो उनकी "आर्य" नामक पत्रिका में प्रकाशित हुए थे। इन्हीं लेखों को सर्वप्रथम पुस्तकाकार सन् 1956 में "ऑन वेद" नाम से प्रकाशित किया गया। इस प्रकार प्रकाशित समस्त पुस्तक के दो भाग हैं- आरम्भ में 283 पृष्ठों में उनके वेद-व्याख्या सम्बन्धी विचारों का विवेचन है और अन्त में इन्हीं विचारों का उपयोग करते हुए उदाहरण स्वरूप 351 पृष्ठों में किन्हीं ऋग्वेदीय सूक्तों की मीमांसा की गई है। परिशिष्ट के रूप में यहीं पर 34 पृष्ठों में आर्य भाषा के ऊपर एक विशाल लेख सन्निविष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने ऋग्वेद में संकलित अग्निदेव सम्बन्धी समस्त सूक्तों का कालक्रम में अनुवाद भी किया, जो सन् 1946 में "हिम्स टू द मिस्टिक फायर" के नाम से प्रकाशित हुआ एक विशद भूमिका के साथ। उनकी वेद - व्याख्या के निदर्शन का एक तीसरा स्रोत उनकी "द लाइफ डिवाइन" नामक पुस्तक में प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में दिये गये कुछ मन्त्रों के अनुवाद है जो प्रायः ऋग्वेदीय हैं। ये अनुवाद प्रकट करते हैं कि वेद-व्याख्या से निस्सृत उनके विचार बहुत कुछ उनके द्वारा प्रस्तावित दर्शन-सिद्धान्तों में भी निहित हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि उनकी वेद-व्याख्या पुरातत्त्वीय न होकर उनके द्वारा प्रस्तावित उनके अद्यतन 'समग्र वेदान्त सिद्धान्त' में सर्वथा उपनिबद्ध है। अतः श्री अरविन्द की वेदव्याख्या को पूर्णतया समझने के लिए आवश्यक हो जाता है कि उनके प्रायः समग्र साहित्य का अध्ययन किया जाय, जो आकार में लगभग 15000 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है।

उनकी वेद-व्याख्या की मुख्य दिशा वैदिक मन्त्रों की अध्यात्मपरता है, जो वेदों के समझने की तीन में से एक दिशा है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि वेदार्थ के समझने की तीन प्रमुख दिशाऐं हैं- आधिभौतिक, आधि दैविक और आध्यात्मिक। वेद-व्याख्या सम्बन्ध ी इन दिशाओं का प्रथम निर्देश आचार्य यास्क के वेद-मन्त्रों के त्रिविध विभाजन में देखा जा सकता है, जो है- "परोक्षकृताः, प्रत्यक्षकृताः, आध्यात्मिक्यश्च"। वे परोक्षकृत मन्त्र उन्हें मानते हैं जिनमें अन्य पुरुष के रूप में देवताओं की स्तुति की गई है। ऐसे मन्त्रों की वेद में बहुलता है। इनमें देवताओं को सुदूर से आहूत किया गया है। प्रत्यक्षकृत मन्त्र ऐसे हैं, जिनमें देवताओं को अपने सामने स्थित समझकर मध्यम पुरुष के रूप में आहूत किया गया है। इनसे भिन्न आध्यात्मिक मन्त्र उन्हें बताया गया है, जिनमें देवता स्वयम् उत्तमपुरुष के रूप में वक्ता बन जाता है। ऐसे सूक्त अत्यल्प हैं। इनमें इन्द्र और आम्भृणी प्रमुख वक्ता के रूप में उभर कर आते

हैं। आचार्य यास्क के इस वर्गीकरण को ध्यान में रखकर यदि वेद-व्याख्याओं के ऊपर समग्र रूप से विचार करें तो स्पष्ट होगा कि पाश्चात्त्य विद्वानों के द्वारा निष्पन्न व्याख्याएँ पूर्णतया परोक्षकृत हैं। इनमें देवताओं को यहां तक परोक्ष माना गया है कि उन्हें सर्वथा काल्पनिक के वर्ग में डालकर देखा गया है। उन्हें वेद-मन्त्रों के रचयिता अज्ञानीजनों की भय अथवा लोभ-वश कल्पित सत्ता माना गया है। इस दृष्टि से वेद प्राचीन काल की अन्धविश्वासपरक मान्यताओं के निदर्शन हैं, जो अंशतः तत्कालीन समाज की वस्तुस्थिति प्रतिफलित करते हैं और इसलिए आधुनिक समाज के लिए तत्त्वतः सर्वथा निरर्थक हैं। उसी दृष्टि से आचार्य सायण की व्याख्या को प्रत्यक्षकृत के वर्ग में रखा जा सकता है। उनके लिए वेद के सारे देवता देवलोक की वास्तविक सत्ताएँ हैं, जो मूलतः द्युलोकवासी हैं और इस रूप में जगत् की नाना प्राकृतिक एवं मानसिक शक्तियों के माध्यम से सदैव कार्य करते रहते हैं। यज्ञों के अनुष्ठान के द्वारा उन्हें आहूत करके क्रियाशील बनाया जा सकता है और उनकी कृपा का भाजन बना जा सकता है। वे सनातन सत्ताये हैं, जो पहले भी थी, आज भी हैं एवं भविष्य में भी रहेंगी। वे हमसे दूर रहती हैं, परन्तु आवश्यकतानुसार प्रत्यक्ष की जा सकती हैं। इस सन्दर्भ में वेद-विषयक श्री अरविन्द की मान्यता को यास्काचार्य की तृतीय कोटिक आध्यात्मिक के वर्ग में रखी जा सकती है। वे वैदिक देवताओं को पुरातत्त्वीय और द्युलोकीय मात्र न मानकर प्रमुख रूप से स्वात्मव्यवस्थित मानते हैं जिनकी इस स्थिति का प्रयोजन स्वात्मविकास, विस्तार एवं उन्नयन हैं। श्री अरविन्द की यह मान्यता भारत के लिए कुछ अपरिचित हो, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः यह भारतीय संस्कृति की सबसे व्यवस्थित मान्यता है, जो उपनिषदों, तन्त्र साहित्य और पुराणों के चुने हुये प्रसंगों में पूर्ण रूप से प्रकट हुई है तथा अंशतः आचार्य सायण के भाष्य में भी उपनिबद्ध हुई है। परन्तु आंख से ओझल कर दी गई है पाश्चात्त्य विद्वानों की उस वेद-व्याख्या के द्वारा, जो तथाकथित मानवजाति के विकास सम्बन्धी इतिहास से प्रसूत है।

परन्तु प्रश्न है कि वह विधि क्या है? जिसके द्वारा श्री अरविन्द ने उन मन्त्रों और सूक्तों में से उस सूक्ष्म आध्यात्मिक अर्थ की अवगति की है, जिनमें पाश्चात्त्य विद्वानों ने स्थूल प्रकृतिवाद देखा है और आचार्य सायण ने केवल यज्ञपरता। यह अवगति मनोविज्ञान-परक शब्दों की प्रमुखता एवं प्रकृतिपरक शब्दों और विवरणों की द्व्यर्थकता के बोध के द्वारा संभव हो सकी है। वेद में मनोविज्ञानपरक शब्दों के निदर्शन हैं- मन, चित्त, धी, धिषणा, प्रबोध, अचित्ति, चित्ति, श्रव, श्रवस्यु, आगस, अंहस्, अपचित्ति, हृदा, मनीषा, मनसा, अमति, अमृत, श्रद्धा, धीति, धीर, आत्मा, ऊती, ऋत, सत्य, एनस्, क्रतु, काम, गीः, गुह्य, चिकेत, चेतन, जातवेदस्, दक्ष, दक्षिणा, धियावसुः, पूतदक्षस्, प्रचेतस्, प्रबोध, मति, मन्म, मन्यु, माया, मेधा, मोद, रस, रव, विचेतसः, विदानः, विविदत्, विश्वेदस्, वेद, शुचिम्, श्रद्धामनाः, श्रवस्यु, सत्यध

र्मा, सत्यवाचम्। संदृशः, संचक्षाणः, सुनृता, सूरचक्षसः, ह्वरः।

इस प्रकार के गम्भीर मनोविज्ञानपरक शब्दों का बहुलता के साथ प्रयोग इस मान्यता पर सन्देह उत्पन्न करता है कि वेद के मन्त्र मात्र अज्ञ लोगों के द्वारा की गई प्राकृतिक शक्तियों की उपासना के क्रम में रचे गये हैं। वे उपासनापरक हैं, इसमें सन्देह नहीं है। इस उपासना में प्राकृतिक शक्तियों के प्रति भी रूझान है, इसमें भी सन्देह नहीं है। परन्तु बात यहीं तक सीमित नहीं है। यह उपासना तात्कालिक और सतही नहीं है। इसकी जड़ें अध्यात्म की गहराईयों तक गई हुई है। ये भय और तात्कालिक उत्सुकता और जिज्ञासा मात्र पर अवलम्बित न होकर उपासक की उस निष्ठा पर आरूढ़ हैं, जिसके अन्तर्गत उपासक अपने स्व के साथ उन शक्तियों के सम्बन्ध की वास्तविकता के अनुसन्धानं में निरत है। इसके अनुसार वेद के अग्नि देव मात्र पार्थिव अग्नि नहीं हैं पार्थिव अग्नि तो उनकी स्फुटतम अभिव्यक्ति मात्र है, वे वह शक्तिसम्पन्न व्यक्तित्व हैं जिनकी ज्योति पृथिवी पर और पृथिवी के भीतर व्याप्त है, ओषधि वनस्पतियों में व्याप्त है, समूचे अन्तरिक्ष में व्याप्त है एवं द्युलोक में व्याप्त है। वस्तुतः वे ज्योति के समुद्र हैं, जो सर्वव्यापी है, बाहर भी सर्वत्र एवम् उपासक के अध्यात्म में भी। इसी भाव से ऋषि विश्वामित्र उन्हें सम्बोधित करके कहते हैं कि -

अग्ने यत् ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र। येनान्तरिक्षमुर्वा ततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥ ऋ० ३/२२/२

उनकी इसी अध्यात्म अवस्थिति के नाते वे उनके साथ अपना तादात्म्य बोध करते हुए अपनी आँख में उन्हीं की ज्योति से देखने की बात करते हैं और अपने मुख में अमृतत्व के वास की प्रतीति करते हैं एवं अपने को वह ज्योति समझते हैं, जो तीनों लोकों का निर्माण करती है तथा साथ ही उस हविष् का भी रूप ग्रहण करती है, जिसकी आहुति दी जाती है। इस प्रकार अग्नि देव ही हविष् का रूप धारण करते हैं, उसे रूपान्तरित करने वाली आग का भी, रूपान्तरण की प्रक्रिया के चालक पुरोहित का भी एवम् मन्त्रद्रष्टा ऋषि का एवम् उसके उपास्य देव का भी-

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्। अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्त्रो घर्मो हविरस्मि नाम॥ ऋ० ३/२६/७

इसी नाते ऋग्वेद के प्रथम ही सूक्त में उन्हें अग्नि का देवता, पुरोहित, होता, कविक्रतु आदि सब कुछ बता दिया गया है। उनका कविक्रतुत्व इसमें निहित है कि ऋषि के भीतर कारयित्री प्रतिभा के रूप में वे ही कार्य करते हैं, जो मन्त्र-द्रष्टृत्व का कारण बनती है।

यही स्थिति अन्य ज्योतिष्पुञ्जों की है। ऋषि ने सूर्य देव को सम्पूर्ण जगत्, चर और अचर, सबकी आत्मा बताया है-

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । ऋ० १/११५/१

इस रूप में वे जहाँ एक ओर अपने पार्थिव रूप में पार्थिव ज्योति से सौर-मण्डल

को प्रकाशित करते हैं; वहीं दूसरी ओर आत्मिक रूप में अन्तश्चेतना का कार्य करते हैं। उषा उसी अन्तश्चेतना की पूर्णाभिव्यक्ति का पूर्वाभास है, जो अज्ञानान्धकार से निर्मुक्ति का संकेतक है। चन्द्रमा मनश्चेतना का बोधक है। इसी क्रम में वायु प्राणतत्त्व को प्रतीकायित करता है एवं पृथिवी स्थूल शरीर को। वेदों का यही सारा प्रतीक-विधान विशेष रूप में ऐतरेय उपनिषद् में व्यवस्थित होकर प्रकट होता है, जहाँ अग्नि आदि इन सारे देवताओं को विराट् पुरुष की उन-उन इन्द्रियों में प्रविष्ट होती हुई बताया गया है

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्।
आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्।

ऐ0उप0 १/२/४

वैदिक ज्ञान-विज्ञान की यह दिशा बहुत ही स्पष्ट थी एवं भारतीय मनीषा में आरम्भ से अब तक किसी न किसी रूप में प्रकट अप्रकट ढंग से विद्यमान रही है। इसी नाते वेद को ज्ञान का आकर माना जाता रहा है। परन्तु पाश्चात्त्य विद्वानों के कृतित्व के नाते यह आधुनिक युग में व्यवहित प्राय हो चला है। इस व्यवधान में, श्री अरविन्द का कहना है कि कुछ हद तक यास्क और सायणाचार्य की व्याख्यायें भी उत्तरदायी हैं। इन व्याख्याकारों के प्रति श्री अरविन्द के इस अभियोग का आधार इनके द्वारा की गई उन स्थलों की व्याख्या है, जिनमें नितान्त पार्थिविकता है और इसलिये किसी अन्य विधि से वे व्याख्यात नहीं हो सकते थे। इसी बात का अनुचित लाभ उठाते हुए पाश्चात्त्य विद्वानों ने समग्र वेद को उसी आलोक में व्याख्यायित करने का उद्योग कर डाला तथा उसके वास्तविक भाव को ओझल कर डाला।

वेद ऋषियों की तपस्या से प्रसूत हुये हैं। तपस्या एक प्रकार की यौगिक साधना है, जिसके अन्तर्गत शारीरिक कष्टों को सहते हुये आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए उत्कट प्रयास किया जाता है। व्यक्तिगत संकीर्णताओं को पीछे छोड़ते हुए वैश्व चैतन्य में अपने को उतारने का अध्यवसाय किया जाता है। इस क्रम में ऐन्द्रिक और मानस सीमाओं से ऊपर उठकर अतिमानस में व्यवस्थित होने का प्रयास किया जाता है। इस बात के अनेक संकेत श्रुतियों में पाये जाते हैं। इस निमित्त साधक अपना सर्वस्व विसर्जित करने के लिए सन्नद्ध होता है। ऋषि दध्यङ् आथर्वण अंगिरा आदि इसके ज्वलन्त निदर्शन हैं। इस प्रकार की साधना के द्वारा प्राप्य लक्ष्य आध्यात्मिक एवम् अतिमानस होगा न कि भौतिक। ये बातें वेदों में स्थान स्थान पर संकेतित हैं सूक्ष्म रूप में भी। परन्तु वहुत से स्थलों पर कामनाएँ मिलती हैं स्थूल रूप में भी। गाय, अश्व, रथ, पुत्र, रत्न, स्वर्णादि इसके उदाहरण हैं। इन्हीं उदाहरणों को देखते हुए विशेष रूप से पाश्चात्त्य विद्वानों ने अनुमान लगाया कि वैदिक ऋषि गोचारक, अश्ववार, युद्धनिरत, रत्न, स्वर्णादि वे लोलुप थे तथा वैसा ही आचरण करते थे। श्री अरविन्द के द्वारा प्रस्तावित समाधान यह है कि वैदिक ऋषियों को अभिप्रेत ये वस्तुएँ

वास्तविक नहीं, प्रत्युत किन्हीं आध्यात्मिक पदार्थों अथवा सद्गुणों के प्रतीक होने चाहिये। इस क्रम में उन्होंने गौ को किरण, प्रकाश एवं ज्ञान का प्रतीक बताया है, अश्व को आध्यात्मिक शक्ति का, रथ को उस आध्यात्मिक साधना का, जिसके अन्तर्गत मृत्यु से अमृतत्त्व की ओर उन्मुख हुआ जाता है, रत्न और स्वर्ण को उस आध्यात्मिक सम्पत्ति का, जो नितान्त रमणीय होती है। पुत्र के लिए ऋषि की अभिलाषा का प्रयोजन पाशविक लड़ाई करने वाला नहीं, प्रत्युत आध्यात्मिक प्रयास के द्वारा उसकी उपलब्धियों को अग्रसर करने वाला उत्तराधिकारी पुत्र एवं शिष्य पैदा करना एवं प्राप्त करना होता है। उसकी इसी अभिलाषा का परिणाम है कि उसके द्वारा व्यवस्थापित संस्कृति का प्रासाद बहुत कुछ अक्षुण्ण चला आ रहा है, कम से कम वैदिक रिक्थ के रूप में, जबकि अन्य समकालीन संस्कृतियाँ या तो सर्वथा काल कवलित हो चुकी हैं अथवा मात्र खण्डहर के रूप में निर्जीवावशिष्ट हैं।

गो, अश्व आदि पदार्थ प्रतीक हैं, और किन अर्थों में, इसका निर्धारण योगिराज ने वेद के विविध प्रसंगो में इनके बदले अवान्तर तत्त्वों के निर्देश से व्यवस्थित करने का प्रयास किया है। इसी प्रसंग में उन्होंने इन्द्र देव को मानस-शक्ति के प्रतीक के रूप में निर्धारित किया है और सोम को आनन्द-जन्य आह्लाद के रूप में। घृत को उन्होंने उद्दीप्त मस्तिष्क-शक्ति और ऋत को सत्य-चैतन्य की संज्ञा दी है। पुरोडाश को उन्होंने स्थूल शरीर का प्रतीक माना है।

वेदों के इस प्रतीकवाद के प्रतिपादन के साथ-साथ महर्षि ने इसके कारण को भी व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। ऋषियों की इस प्रतीक-पद्धति को स्वीकार कर लेने के उपरान्त प्रश्न उपस्थित होता है कि अन्ततोगत्वा उन्होंने अपनी ये ही बातें इतने प्रच्छन्न रूप में क्यों उपस्थित की, जिसके कारण वेदार्थ की अवगति में इतना विभ्रम आ खड़ा हुआ है? क्या इन्हीं बातों को वे सीधी-सादी भाषा में प्रकट नहीं कर सकते थे। इसके उत्तर में महर्षि ने इल्यूसीनियन और आरफिक रहस्यवाद का उदाहरण प्रस्तुत किया है और उन्होंने इन्हें काल की दृष्टि से वेदों के कुछ समानान्तर बताया है। इन रहस्यवादी रचनाओं में द्व्यर्थक शब्दों की बहुलता पाई जाती है। उसका उद्देश्य था तात्त्विक निगूढ़ बातों को अनधिकारी लोगों से सुरक्षित रखना एवं केवल आधिकारिक व्यक्तियों को उन्मीलित करना। इसी विधि का दर्शन श्री अरविन्द ने वेदों में भी पाया है। इसी कारण उनके अर्थ में आधिभौतिकता, आधिदैविकता और आध्यात्मिकता की संगति इस हद तक बन जाती है कि व्याख्या की ये तीनों विधियाँ बहुत कुछ चरितार्थ हो गई हैं। वेदों में इस विधि के प्रयोग के संकेत प्रतीक-पद्धति के अतिरिक्त 'निण्या वचांसि' जैसे पदों में उन्हें मिले हैं, जिनका प्रयोग वामदेव जैसे रहस्यवादी ऋषि ने अपनी प्रार्थना अग्निदेव को सम्बोधित करते हुये की है। (ऋ0 ४/३/१६)। इस ऋषि की रहस्यवादी अभिव्यक्ति का अनुमान ''चत्वारि शृङ्गा'' मन्त्र के आधार पर किया जा

सकता है, जिसके नाना अर्थ बहुत कुछ सटीक होते हुये भी यथार्थ हो सके हैं, कहना कठिन है। वैदिक ऋषियों के द्वारा इस विधि की स्वीकृति का एक अन्य उदाहरण शतपथ ब्राह्मण एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राप्त होता है, जिसमें 'इन्द्र' पद का मूल रूप 'इन्ध' बतलाया गया है और कहा गया है कि देवताओं की परोक्षप्रियता के नाते उन्हें 'इन्द्र' की संज्ञा प्रदान कर दी गई है - **इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः। तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव। परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः।** बृ0उप0 4/2/2

वैदिक मन्त्रों की द्व्यर्थकता, निगूढता, परोक्षप्रियता तथा रहस्यवादिता की ओर संकेत करते हुये श्री अरविन्द ने आश्चर्य व्यक्त किया है कि न जाने कितने कुशाग्रबुद्धि विद्वानों ने कम से कम ऐसे सन्दर्भों का अध्ययन किया होगा, परन्तु फिर भी वे इस बात को पकड़ नहीं सके कि ऐसे प्रसंगों में किने गूढ़ तत्त्व भरे पड़े हैं और इस अवगति के अभाव में उन्हें भी प्राकृतिक उपासना के रूप में व्याख्यायित करते रहे और मानते रहे कि वे भी प्रकृति-पूजक उन असभ्य आर्यों की रचनाएं हैं, जिन्होंने सभ्य और वेदान्तीय विचारों से ओत - प्रोत द्रविड़ों से जंग छेड़ रखा था। वस्तुस्थिति यह है कि उपनिषदों, भगवद्गीता तथा तन्त्रों की समग्र वैचारिक सम्पत्ति इन प्रसंगों में निहित है। इस सारे अनर्थ के कारण प्रकृति-पूजा-वाद और आर्यों के द्वारा अनार्यों के ऊपर आक्रमण की कल्पित अवधारणाएँ है। इन अवधारणाओं से अलग हटकर वेद की तथ्यपरक व्याख्या स्वयं वैदिक सन्दर्भों के पारस्परिक समन्वय के द्वारा ही की जा सकती है। विशुद्ध प्रकृतिवादी तथा बहुत हद तक याज्ञिक व्याख्या भी कुछ ही दूर तक संगत रहती है। अन्ततोगत्वा व्याख्या की ये दोनों ही सरणियाँ साथ छोड़ जाती हैं। केवल आध्यात्मिक व्याख्या ही आद्यन्त सुसंगत रह सकती है। इस दृष्टि से अपनी अवधारणाओं के आरोपण से हटकर हम जितना ही स्वयं मूल पदों और प्रसंगों में पारस्परिक संगति ढूढ़ सकें, उतना ही वास्तविक वेदार्थ स्पष्ट होता चलता है। वस्तुतः वेद के मन्त्र और प्रसंग अपने मन्तव्य के ऐक्य और संगति में सर्वथा पूर्ण और नितान्त गारिमामय हैं। आवश्यकता है इनके मध्य प्रवाहित मुख्य वैचारिक धारा में अवगाहन की।

वेदार्थ की गहनता और एकरूपता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसमें सन्दर्भित आख्यान ऋषि-वैभिन्न्य के बावजूद भी प्रायः समरूप हैं। बात चाहे ऋषि अंगिरा के साहचर्य में इन्द्र के द्वारा गायों के अन्वेषण की हो, पणियों की गुफा में से उनके निष्कासन की हो, वृत्र आदि के वध की हो, दध्यङ् आथर्वण के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति की हो, सप्तसिन्धव के प्रवाह की हो, निगूढ़ सूर्य के आविष्करण की हो नाना ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों में प्रायः एकरूपता का दर्शन होता है, यद्यपि देश-काल और ऋषि-कुल में अवश्य ही पारस्परिक महती दूरी रही होगी। महर्षि ने ऐसे प्रायः समूचे संदर्भो को समवेत भाव से परीक्षित किया है और इस

प्रकार उनके अन्तराल में निहित वैचारिक धारा को सामने लाने का प्रयास किया है। यह भी उनकी उपलब्धियों में से अन्यतम है।

इस प्रकार वेदार्थ में अवगाहन के लिए हमारे समक्ष तीन प्रमुख सरणियाँ आज उपलब्ध हैं। इनमें से प्रथम सायण भाष्य है, जो समग्ररूप से प्रायः सारी श्रुतियों पर उपलब्ध है। इसके द्वारा मुख्य रूप से वेद का आधिवैदिक स्वरूप स्पष्ट होता है। दूसरा पाश्चात्त्य विद्वानों के द्वारा अनुवाद और विविध प्रकार के लेखन के द्वारा प्रस्तावित वेदों का आधिभौतिक स्वरूप है, जिसके द्वारा उनके देश, काल कृतित्व एवं समाज आदि का हमें बोध होता हैं। उनका यह प्रयास भी बहुमूल्य है। तीसरी व्याख्या महर्षि श्री अरविन्द की है, जिसमें ऋषियों की मूल अवध ारणाओं तक अवगाहन का प्रयास किया गया है। पाश्चात्त्य विद्वानों का कृतित्व इस दिशा में तो नगण्य और भ्रामक है, परन्तु आचार्य सायण इसमें भी बहुत कुछ सहायक हैं। फिर भी इस दिशा में महर्षि श्रीअरविन्द का योगदान बहुत बड़े सौभाग्य की बात है। वे अपनी मौलिक साधनाओं और अनुभूतियों के नाते वैदिक ऋषियों की ही कोटि में आते हैं। इस कारण उनके द्वारा प्रस्तावित व्याख्या-पद्धति गंभीर चिन्तन का विषय है तथा भावी आवश्यकता है कि अन्यान्य व्याख्याओं के साथ इसे केन्द्रित करके वेदों का पुनः मूल्यांकन किया जाय। इनमें निहित गूढ़ तत्त्वों की अवगति आज भी विश्व की महती आवश्यकता है।

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1(2), No.2 (94-105) Jan.-June 2012

वैदिक अग्निहोत्र का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक आधार

इन्द्रेश 'पथिक'
शांतिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) भारत

यदि विश्व की आदि संस्कृति वैदिक संस्कृति की महनीयता पर गहन गवेषणा करें, तो विदित होता है कि इसका आधार मेरुदण्ड **'यज्ञ'** रहा है। इसीलिए वैदिक संस्कृति को यज्ञीय संस्कृति भी कहते हैं। वैदिक संस्कृति के सम्पूर्ण नीति नियम, आचार-व्यवहार, वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक मर्यादाएं यज्ञीय दर्शन के आधार पर ही निश्चित हुईं। जिसके कारण ही वैदिक संस्कृति सम्पूर्ण विश्व की विविध संस्कृतियों की मुकुटमणि सिद्ध हुई।[1] यज्ञ, जिसके अग्निहोत्र वाले स्वरूप का आगे वर्णन करेंगे, का अर्थ सर्वप्रथम समझना आवश्यक है।

यज्ञ शब्द का अर्थ– संस्कृत हिन्दी कोश में यज्ञ शब्द का अर्थ इस प्रकार वर्णित है–**यज्ञ [यज्+(भावे न) नङ्]** यज्ञ सम्बन्धी कृत्य। पूजा का कार्य। कोई भी पवित्र या भक्ति सम्बन्धी क्रिया।[2] धातुकोश में यज्ञ शब्द 'यज्' धातु से निष्पन्न होना निरूपित है, जिसके देवपूजन, संगतिकरण और दान तीन अर्थ हैं–**यज् देवपूजासंगतिकरण दानेषु। हु दानादानयोः। आदाने चेत्येके।**[3] अभिप्राय यह है, यज्ञ का अर्थ देवपूजा, संगतिकरण और दान है, हु हवन का अर्थ दान (देना) आदान (लेना) है। कुछ लोग आदान अर्थ ही करते हैं। यज् धातु के तीनों अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं–

(अ) देवपूजन– यज् के एक अर्थ देवपूजन का तात्पर्य है–**इज्यन्ते पूज्यन्ते देवा अस्मिन्निति यज्ञः,** अर्थात् जिसमें देवों की पूजा हो, वह यज्ञ है। देव पूजन से तात्पर्य देव वृत्तियों की अभ्यर्थना-आराधना से है। यह वस्तुतः सद्वृत्तियों, सद्गुणों की अर्चना है।

(ब) संगतिकरण– यज् के द्वितीय अर्थ संगतिकरण का अभिप्राय है–**यजनं धर्म देशजाति मर्यादा महापुरुषाणामेकीकरणं यज्ञः,** अर्थात् देश, धर्म, जाति की मर्यादा रक्षार्थ महापुरुषों का एकीकरण संगतिकरण 'यज्ञ' है। यज्ञ में आध्यात्मिक प्रवृत्ति के लोगों को सामूहिक उपासना, यज्ञीय प्रक्रिया के लिए एकत्रित संगठित किया जाता है। प्राचीन काल में देवों, ऋषियों द्वारा संगठित होकर किये जाने वाले विविध यज्ञीय प्रयोगों में संगतिकरण का तथ्य ही प्रमुख रहा है।

(स) दान– यज् का तृतीय अर्थ दान है–**इज्यन्ते देवतोद्देशेन श्रद्धा पुरस्सरं द्रव्यादि अस्मिन्निति यज्ञः,** अर्थात् जिसमें श्रद्धापूर्वक देवताओं (दैवी प्रवृत्तियों के संवर्धन) के उद्देश्य से द्रव्य आदि का त्याग (दान) किया जाये, उसे यज्ञ कहते हैं। निरुक्त 3/19 में भी यजन कर्म को यज्ञ कहा गया है–**यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ताः।**

अस्तु, यदि यज् धातु के तीनों अर्थों को यज्ञीय प्रक्रिया में समाविष्ट कर लिया जाये तो **यज्ञ का आशय उस धर्मकृत्य से निकलता**

है, जिसमें दैवी प्रवृत्तियों के पोषण हेतु देवों, सदाचार सम्पन्न मनुष्यों विद्वानों को एकत्र करके जनकल्याण विश्वकल्याण के लिए अपने समय, प्रतिभा, धन आदि का दान किया जाता है। इस प्रकार यज्ञ की परिधि में कोई भी वह सत्कर्म आ जाता है, जो उच्च उद्देश्य के लिए परमार्थ की भावना से किया जाता है। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण ने यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म की संज्ञा प्रदान की है–**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।**[4] यजुर्वेद कहता है–प्रेरक परमात्मा तुम्हें श्रेष्ठतम कर्म के लिए ले जावें–**देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे।**[5] यज्ञ का अर्थ त्याग-बलिदानयुक्त श्रेष्ठतम कर्म होने के कारण ही आप्टे ने इसे **yajna is to secrifice** कहकर परिभाषित किया है।[6] यज्ञ की इसी परिभाषा को सार्थक करती उन विभिन्न प्रक्रियाओं को भी यज्ञ कहा जाता है, जिनमें अग्नि में आहुतियाँ देने जैसे कृत्य भले ही सम्पन्न न होते हों, पर त्याग, परमार्थ प्रमुख रहता है। जैसे-ज्ञान यज्ञ, भूदान यज्ञ, नेत्रदान यज्ञ, रक्त दान यज्ञ, जपयज्ञ आदि।

यज्ञ का स्थूल रूप अग्निहोत्र–यह सत्य है कि यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर यज्ञ का जो व्यापक अर्थ निकलता है, उसके अनुसार कोई भी परमार्थ पूर्ण सत्कर्म यज्ञ की श्रेणी में परिगणित किया जा सकता है। तथापि यज्ञ का जो सर्वाधिक स्थूलरूप है, वह अग्निहोत्र प्रधान है; क्योंकि प्राचीन काल में उद्देश्य विशेष से किये गये जिन विविध यज्ञों का वर्णन मिलता है, वे अग्निहोत्र प्रधान ही रहे हैं। जैसे-स्मार्त्ताग्नि, श्रौताधान, दर्शपूर्णमासयाग, चातुर्मास्ययाग, निरूढ़ पशु, आग्रयण, सौत्रामणी याग, सोमयाग, द्वादशाह याग, गवामयन यज्ञ, वाजपेय याग, राजसूय यज्ञ, अग्निचयन यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ, पुरुषमेध, एकाह यज्ञ, सर्वमेध यज्ञ, पितृमेध यज्ञ आदि।

चूंकि यज्ञ का सबसे स्थूल स्वरूप अग्निहोत्र है, अतः अग्निहोत्र का अर्थ समझना अनिवार्य है। अग्निहोत्र से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसमें हव्य पदार्थों से अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं। अग्निहोत्र शब्द **अग्नि एवं होत्र** दो पदों के समुच्चय से बना है–**'अग्नये होत्रं हवनं यस्मिन् कर्मणि क्रियते तद् अग्निहोत्रम्'**, अर्थात् अग्नि में आहुति समर्पण की प्रक्रिया को अग्निहोत्र कहते हैं। आचार्य सायण इस तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखतें हैं–**'अग्नये होत्रं होमोऽस्मिन्कर्मणि इति'** अर्थात् अग्निहोत्र वह कृत्य है, जिसमें अग्नि के निमित्त होम किया जाता है।

वस्तुतः अग्निहोत्र ही समस्त यज्ञों में प्रमुख है, इसीलिए उसे यज्ञमुख कहा गया है–**मुखं वाऽएतद्यज्ञानां यदग्निहोत्रम्, यज्ञमुखं वाऽग्निहोत्रम्।**[7] मैत्रायणी ब्राह्मण में भी अग्निहोत्र में समस्त यज्ञों का समाहार निर्दिष्ट है–**अग्निहोत्रे वै सर्वे यज्ञ क्रतवः।**[8] यज्ञों में अग्निहोत्र के इस प्रामुख्य का कारण उसका समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाला होना, सबके लिए कल्याणकारी होना एवं सबका पालनकर्त्ता होना है।[9] अग्निहोत्र द्वारा स्वर्ग प्राप्त होने व देवताओं के स्वर्ग में प्रतिष्ठित होने का तथ्य भी वैदिक ग्रन्थों में संप्राप्य है।[10] छान्दोग्योपनिषद् में अग्निहोत्र की माता से तुलना की गई है। उसमें उल्लेख है कि जिस प्रकार क्षुधित बालक समस्त प्रकारेण

माता की ही उपासना करते हैं, उसी प्रकार समस्त प्राणी अग्निहोत्र की ही उपासना करते हैं—**यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते। एवं सर्वाणि भूतानि अग्निहोत्रमुपासते (छान्दोग्यो. 5/24/5)।**

वैदिक ग्रन्थों में यज्ञ महिमा– यज्ञ की महिमा से सम्पूर्ण वैदिक आर्ष वाङ्मय भरा पड़ा है। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद की प्रथम ऋचा ही अग्नि यज्ञ की महिमा का गान करती है—**अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।**[11] **ऋग्वेद** में ही यज्ञ को विश्व ब्रह्माण्ड का केन्द्रक, हिंसारहित कर्म, तेजोमय कर्म व यजमान को सुख-समृद्धि प्रदाता निरूपित किया गया है।[12] **यजुर्वेद** में यज्ञ को ज्वाला, तेज और तप कहकर उसे आयु, बुद्धि, ज्ञान, मनोबल, आत्मबल और सुख प्रदाता विवेचित किया गया है।[13] **सामवेद** में धर्म के स्कन्ध के रूप में यज्ञ प्रतिष्ठित है, जहाँ वह मनुष्य के अनिवार्य कर्तव्य के रूप में वर्णित है। यज्ञ द्युलोक का धारक और संसार का स्वामी है।[14] **अथर्ववेद** में भी यज्ञ मनुष्य का अनिवार्य कृत्य, सुखप्रदाता एवं भवसागर से पार करने वाला निर्दिष्ट है तथा यज्ञ न करने वाले का तेज नष्ट हो जाने का संकेत है।[15]

शतपथ ब्राह्मण 2/4/3/2-3 तथा 11 में भी यज्ञमाहात्म्य वर्णित है। विभिन्न **उपनिषद् ग्रन्थों** में भी यज्ञ महिमा द्रष्टव्य है। यथा–कठोपनिषद् 1/1/13 एवं मुण्डकोपनिषद् 2/5 में यज्ञ को स्वर्ग प्राप्ति का सा धन, सरस्वती उपनिषद् 14 में यज्ञ से ऐश्वर्य प्राप्ति, छान्दोग्योपनिषद् 3/16/1-7 में यज्ञ से 116 वर्ष की दीर्घायु प्राप्ति उपन्यस्त है। **मनुस्मृति** 3/76 में यज्ञ को वृष्टि एवं उससे प्रजा की तृप्ति का तथ्य निर्दिष्ट है। प्रस्थानत्रयी के स्मृति ग्रन्थ **गीता** में तो अनेकशः यज्ञ माहात्म्य विवेचित है। **गीता** 3/10 में प्रजापति द्वारा कल्प के आदि में ही प्रजा की उत्पत्ति यज्ञ सहित करने व उसे सदैव यज्ञ (अर्थात् त्यागमय जीवन) को साथ रखकर सुख-शान्ति प्राप्त करते रहने का निर्देश वर्णित है—**सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट् कामधुक्॥** इसी प्रकार इसमें अन्न से भूत, पर्जन्य से अन्न, यज्ञ से पर्जन्य और कर्म से यज्ञ की उत्पत्ति के वर्णन के साथ, यज्ञ, दान और तप कर्म सदैव करते रहने का निर्देश है, क्योंकि ये ही मनीषियों को पवित्र करते हैं (गी० 3/14, 18/5)।

इस प्रकार समस्त आर्ष वाङ्मय यज्ञ महिमा से ओत प्रोत है, जिसमें यज्ञ के विविध स्वरूपों के वर्णन के साथ इसका अग्निहोत्र वाला स्वरूप अधिक स्पष्टता और विस्तार से महिमामण्डित हुआ है। इसका एक कारण यह भी है कि अग्निहोत्र को मात्र अग्नि में आहुति देने की स्थूल प्रक्रिया तक ही सीमित न मानकर सृष्टि में चल रहे अनवरत सृजन, पोषण आदि के क्रम तक भी अग्निहोत्र को विस्तृत माना गया है।[16] ऋग्वेद और यजुर्वेद के पुरुष सूक्तों में विराट् पुरुष को यज्ञ पुरुष और हवि मानकर, उसमें वसन्त रूप आज्य, ग्रीष्मरूप समिधा एवं शरद ऋतु रूप हवि मानकर यज्ञ या अग्निहोत्र करने का वर्णन इसी तथ्य का पोषक है।

अग्निहोत्र का दार्शनिक आधार– अग्निहोत्र के दार्शनिक आधार पर दृष्टिपात करें, इससे पूर्व दर्शन वस्तुतः है क्या? इस पर विचार करना आवश्यक है। महर्षि पाणिनि के अनुसार **'दर्शन'** शब्द संस्कृत की **'दृशिर् प्रेक्षणे'** धातु से ल्युट् प्रत्यय संयुक्त होने पर निष्पन्न होता है, जिसका तात्पर्य है जिसके द्वारा देखा जाये या जो देखा जाये वह दर्शन है– **'दृश्यते अनेनेति दर्शनम्'** अथवा **'दृश्यते यत् तद् दर्शनम्।'**[17] यहाँ यह ध्यातव्य है कि महर्षि पाणिनि द्वारा 'प्रेक्षण' शब्द प्रयुक्त करने का तात्पर्य सामान्य रूप से देखना नहीं वरन् प्रकृष्ट रूप से देखना (प्रकृष्ट-ईक्षण) है। अभिप्राय यह है कि किसी विषय को अन्तश्चक्षुओं द्वारा देखकर और मनन करके तर्कपूर्वक सिद्ध करके निष्कर्ष निकालना ही दर्शन है।[18]

अग्निहोत्र से मिलने वाली प्रेरणाएं उसकी उपादेयता और दर्शन को स्पष्ट करती हैं। इसका दार्शनिक आधार इतना सशक्त और सबल है कि इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में किसी को भी आशंका करने की तनिक भी गुंजाइश नहीं है। मानवता के सम्पूर्ण व्यवहार और नीति मर्यादाएं यज्ञीय दर्शन के आधार अर्थात् त्याग पूर्वक भोग के सिद्धान्त पर विनिर्मित हुई है। गीता इसी यज्ञीय दर्शन को बताती हुई कहती है कि 'यज्ञ से बचे हुए अन्न को ग्रहण करने वाले श्रेष्ठ पुरुष समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं, जबकि पापी लोग अपने ही शरीर पोषण के लिए पकाते हैं। वे वस्तुतः पाप को ही खाते हैं।[19] याज्ञवल्क्य स्मृति भी इसी तथ्य को पुष्ट करती हुई यज्ञावशिष्ट को अमृततुल्य निरूपित करती है।[20] त्यागपूर्वक भोग के इस यज्ञीय दर्शन का दर्शन सर्वप्रथम हमें ऋग्वेद में होता है, जहाँ अपने अन्न-धन को यज्ञार्थ समर्पित न करके उसे एकाकी ग्रहण करने वालों को पाप खाने वाला बताया गया है।[21] यदि यज्ञीय दर्शन को और स्पष्टता से समझना चाहें, तो कुछ बिन्दुओं में इसे सरलता से समझा जा सकता है। ये हैं–

1. **त्याग-बलिदान–** अग्निहोत्र में आहुत हव्य पदार्थों को यज्ञाग्नि अपने पास संग्रह न करके, उन्हें और सूक्ष्म करके सबके कल्याण के लिए वायुमण्डल में बिखेर देती है। साथ ही याजकों को यह प्रेरणा देती है कि प्राप्त अनुदानों-समय, प्रभाव, सम्पदा आदि को मात्र अपने निमित्त न लगाकर समाज हित में नियोजित करें।
2. **आत्मसात् करना–** यज्ञाग्नि सभी आहुत पदार्थों को आत्मसात् करके उन्हें निज स्वरूप प्रदान करती है, जिससे हमें यह प्रेरणा मिलती है कि हमारे सम्पर्क में जो भी आयें, उन्हें अपना बना लें। ऊँच-नीच की भावना को प्रश्रय न दें।
3. **ऊर्ध्व गमन–** अग्निहोत्र की अग्नि ज्वाला सदैव ऊपर की ओर ही उठती है। कभी निम्नगामी नहीं होती। हम भी आदर्शों की राह पर दबावों, विरोधों को सहन करते हुए अडिग रहकर सतत ऊर्ध्वगामी चिन्तन बनाये रखें।
4. **चैतन्यता–** यज्ञाग्नि चैतन्य रहकर अपनी गर्मी और प्रकाश बिखेरने जैसे गुणों को कभी मन्द न होने देकर हमें भी अस्तित्व

रहने तक सक्रियता, गतिशीलता और परमार्थ परायणता अपनाने की प्रेरणा देती है।

5. **भस्मान्तता–** यज्ञाग्नि भस्मान्त है। बहुमूल्य पदार्थों व अग्नि की अन्तिम परिणति भस्म है, जो सदैव मृत्यु की याद दिलाती है। यदि यज्ञाग्नि से मनुष्य अपने भी भस्मान्त होने का तथ्य स्मरण रखें तो उसे सदैव मौत याद रहेगी और वह कभी अहंकार न करके यथासंभव लोकोपयोगी कार्यों में प्रवृत्त होता रहेगा।

इस प्रकार हम पाते हैं कि यज्ञीय दर्शन इतना समग्र और समर्थ है कि इसकी प्रेरणाओं से मनुष्य न केवल स्वयं देवत्व के गुणों से ओत-प्रोत हो सकता है। वरन् समाज, राष्ट्र को भी समुन्नत करने में महती भूमिका निभा सकता है। इन दार्शनिक प्रेरणाओं के अतिरिक्त अग्निहोत्र का वैज्ञानिक आधार भी इतना सशक्त है कि इसकी उपयोगिता को कोई 'नास्तिक' व्यक्ति भी झुठला नहीं सकता।

अग्निहोत्र का वैज्ञानिक आधार– अग्निहोत्र का वैज्ञानिक आधार भी सशक्त होने के कारण ही वैदिक काल से ही इसकी वैज्ञानिकता पूर्ण उपयोगिता को वेद विज्ञान ने प्रमाणित कर दिया था। विज्ञान भी यह मानता है कि संसार का कोई भी पदार्थ सर्वथा नष्ट नहीं होता वरन् रूपान्तरित हो जाता है। पदार्थ का लोप हो जाना तो उसके दिखाई न देने की प्रक्रिया मात्र है। अष्टाध्यायी के सूत्र **अदर्शनं लोपः** के अनुसार किसी पदार्थ के न दीखने का नाम ही लोप है या नाश है। अस्तु इस सिद्धान्त के अनुसार अग्निहोत्र में आहुत घृत, औषधि आदि पौष्टिक तथा रोगनाशक पदार्थ भी नष्ट नहीं होते वरन् अग्नि अपने भेदक गुणों के कारण उन्हें छिन्न-भिन्न कर अति सूक्ष्म बना देती है। वे सूक्ष्म पदार्थ वायु द्वारा आकाश मण्डल में व्याप्त होकर उसमें निवास करने वाले समस्त प्राणियों के नासिका तथा रोमकूपों द्वारा पहुंच कर उनके रोगों तथा निर्बलताओं को विनष्ट कर, उन्हें स्वस्थ और बलवान् बना देती है।[22] अथर्ववेद में उल्लेख है कि जिस प्रकार नदी फेन (गन्दगी) को बहा ले जाती है, उसी प्रकार हवि रोगोत्पादक कीटाणुओं को बहाकर दूर ले जाये।[23] अग्निहोत्र का प्रभाव मनुष्य ही नहीं, वृक्ष वनस्पतियों व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर भी पड़ता है। **यदि यह कहा जाय कि यज्ञ ही विश्व की स्थिति का मुख्य कारण है, इसके बिना समष्टि जगत् (ब्रह्माण्ड) तथा व्यष्टि जगत् (शरीर) दोनों की स्थिरता कायम नहीं रह सकती, तो कोई अत्युक्ति नहीं।**[24]

अग्निहोत्र अपने आप में एक विज्ञान है। उसमें रसायनों को वायुभूत बना देने की क्षमता के कारण व्यापकता बढ़ जाती है। ठोस पदार्थ **एल्केलाइड्स** व **टर्पीन्स** आदि यथावत् रहते हैं, द्रवरूप में वे अपने फैलाव के अनुसार कार्य करते हैं, किन्तु यदि जलाकर वायुभूत बना दिया गया है, तो उसका प्रभाव दूर-दूर तक पहुंचता है। अग्नि में लाल मिर्च, हींग जैसे तीक्ष्ण प्रकृति के पदार्थ डालने पर दूर-दूर तक बैठे व्यक्तियों पर प्रभाव पड़ता है और वे खाँसने व छींकने लगते हैं। अग्निहोत्र में ऐसी तीक्ष्ण वस्तुएं तो नहीं होमी जातीं, पर शारीरिक-मानसिक रोग निवारण के लिए प्रयुक्त

हवि का व्यापक क्षेत्र में प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार अग्निहोत्र के द्वारा जहाँ शरीरगत विकारों का शमन करके रोगनिवारण, मानसिक उत्कर्ष में योगदान किया जाता है, वहीं वातावरण परिशोधन का परोक्ष प्रयोजन भी पूर्ण होता है। इसे प्राचीन काल की तरह आज रोगोपचार की प्रक्रिया में भी प्रयुक्त किया जाने लगा है, जिसे **'यज्ञोपैथी'** नाम दिया गया है। अग्निहोत्र की वैज्ञानिकता के ज्ञान हेतु इससे सम्बद्ध पाँच कृत्यों पर विचार किया जा सकता है–

1. **यज्ञ कुण्ड की आकृतियों की भिन्नता**
2. **समिधाओं का चुनाव और उनका विशेष प्रकार से दहन**
3. **शुद्ध आचरण वाले व्यक्तियों द्वारा मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण**
4. **अग्निहोत्र का समय विचार**
5. **सामग्री का गुण विश्लेषण।**[25]

आइये इन तथ्यों पर निम्न बिन्दुओं में विचार करें–

(क) विविध आकृतियों एवं परिमापों की वेदियों या कुण्डों में समिधाओं एवं हवन सामग्री संयुक्त होने से जो ताप और प्रकाश उत्पन्न होते हैं, इससे परिणाम के स्वरूपों में विभिन्न परिवर्तन हो जाते हैं।

(ख) समिधा के चुनाव के कारण अग्नि के ताप की तीव्रता और गुणों में स्पष्ट भेद हो जाता है। उदाहरणार्थ- पलाश और कीकर की समिधाओं में ताप एवं गुण की मात्रा और विभेद स्पष्ट किया जा सकता है।

(ग) शुद्ध आचरण के व्यक्तियों द्वारा मंत्रों के शुद्ध-संतुलित उच्चारण के परिणामों की विविध दशाएं हैं। अक्षरों के अनुक्रम से ठीक-ठाक उच्चारित ध्वनि एक विशिष्ट गति के द्वारा विशिष्ट परिणाम उत्पन्न करती है। ध्वनियों की गति एवं उसका परिणाम तो भौतिक विज्ञानियों द्वारा सिद्ध ही हो चुका है।

(घ) अग्निहोत्र के लिए समय का चुनाव भी महत्त्वपूर्ण तथ्य है। ऋतुसन्धि तथा दिन-रात्रि का सन्धिकाल (प्रातः, सायं) अग्निहोत्र के लिए सर्वोत्तम है। इस समय प्रकाश ऋण-धन भागों में विभक्त हो जाता है, जिससे दुष्ट रोग कीटाणु प्रवृद्ध होकर आक्रामक स्थिति में आ जाते हैं। ऐसे समय में कीटाणुनाशक हव्यों द्वारा हवन करना आवश्यक होता है, ताकि उन्हें निरस्त करके वातावरण को परिशोधित एवं रोगियों को आरोग्य प्रदान किया जा सके।

(ङ) यह सर्वविदित नियम है कि ताप द्वारा पदार्थों में रासायनिक परिवर्तन होते हैं। पदार्थ साधारण घटकों में फट जाते हैं और परस्पर मिलकर नयी-नयी रचनाओं को उपस्थित करते हैं। इस प्रकार मूल द्रव्यों के गुण धर्म भी परिवर्तित होते हैं। द्रव्यों के ज्वलन से नये पदार्थों की उत्पत्ति का यही रहस्य है। अग्निहोत्र में प्रयुक्त हवन सामग्री में उद्देश्य के अनुकूल पदार्थों का चयन किया जाता है।

(च) पदार्थों के रासायनिक गुण-धर्म उनकी भौतिक स्थिति पर अवलम्बित हैं। पदार्थों की स्वाभाविक अवस्था में उनके पृष्ठ पर रहने वाले मात्रिक घटक पदार्थों की मात्राओं के परस्पर सम्बन्ध द्वारा रासायनिक प्रभाव उत्पन्न करने की क्रियाओं में भाग लिया करते हैं। पदार्थों की ठोस स्थिति की अपेक्षा अन्य स्थितियों में ये मात्रिक घटक अत्यधिक संख्या में आपस में मिलते हैं, अस्तु पदार्थों की वाष्पीय अवस्था में इन घटकों का सम्बन्ध अधिक मात्रा में बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ-यदि हम एक घन सेन्टीमीटर को सूक्ष्म कणों में विभक्त करें, जिनमें से प्रत्येक कण 1/10000 परिमाण का हो तो उसका क्षेत्रफल छः लाख वर्ग सेन्टीमीटर हो जाता है। परन्तु एक घन से०मी० जल में इतने कण होते हैं जिनमें प्रत्येक का व्यास 1/108 दस करोड़वां भाग से०मी० होता है। इसका पृष्ठफल इससे भी अधिक सूक्ष्म परिमाण वाला होता है। इस प्रकार हम उनकी पारस्परिक क्रिया बहुत अधिक बढ़ा सकते हैं। इस भांति जो पदार्थ अपनी साधारण अवस्था में प्राण वायु से मिल सकने में असमर्थ होते हैं, वही अपनी वाष्पीय अवस्था में मिलने के योग्य बन जाते हैं। शक्कर, कोयला आदि जब बहुत सूक्ष्म अवस्था में वायु से मिलते हैं, तो बारूद के समान बड़ी धड़ाके की ध्वनि उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी पदार्थ को सूक्ष्म स्थिति में परिणत करके उसके रासायनिक गुणों को अत्यधिक बढ़ाया जा सकता है।[26]

हवन सामग्री में सुगन्धित तैल शीघ्र ही ज्वाला को पकड़कर वाष्पीय रूप में परिवर्तित होकर अत्यधिक विस्तार प्राप्त कर लेता है। वाष्प अवस्था में उन उड्यनशील तैलों के सूक्ष्म कणों का व्यास सेन्टीमीटर के एक लाखवें भाग से दस करोड़वें भाग तक पाया जाता है। यों तो पदार्थों के अर्क या तेल निकालने पर उनके बचे भागों को फेंक दिया जाता है, पर हवन में तो उसका भी उपयोग हो जाता है। हवन सामग्री को जलाने से उसमें अनेक पदार्थ पाये जाते हैं। जैसे-**अल्डीक्लाइड, अमाइन्स, पिलीनोलिक, साइक्लिक, टरपेनिक** आदि। हवन सामग्री में नमकीन पदार्थ प्रयुक्त नहीं होते, क्योंकि नमक **(सोडियम क्लोराइड)** फटकर क्लोरीन गैस उत्पन्न करता है, जो रोग कीटाणुओं की तरह मनुष्य के लिए भी हानिकारक है।

हवन में घृत का विशिष्ट रूपेण प्रयोग होता है। यह अग्नि को प्रज्वलित करके उसके तापमानों को विविध मात्राओं में परिमित करता है। जैसे-120, 200, 300 डिग्री सेन्टीग्रेट आदि। साथ ही यह (घृत) वाष्प रूप होकर सामग्री के सूक्ष्म कणों को चहुँ ओर से घेर कर उस पर विद्युत् शक्ति का ऋणात्मक प्रभाव उत्पन्न

करता है। हवन से वायु परिशोधित होती है। अग्नि के उत्ताप से यज्ञस्थल की वायु उष्ण और हल्की होकर ऊपर उठती है, जिससे चारों ओर से शुद्ध वायु अवकाश (रिक्तता) को भरने के लिए खिंच आती है और अग्नि की उष्णता से रोगों के कीटाणु विनष्ट हो जाते हैं।

वायु शुद्धि के अतिरिक्त हवन गैस से स्थान, जल आदि अनेक तत्त्वों की शुद्धि भी हो जाती है जिससे पर्जन्य के द्वारा अन्न और औषधियाँ भी निर्मल और परिपुष्ट हो जाती हैं। फलतः इनके प्रभाव से मानव शरीर रोगाणु निरोधक अणुओं से भर जाता है, जिससे वह रोगों से लड़ने में समर्थ हो जाता है।[27]

अग्निहोत्र द्वारा रोगों की चिकित्सा

पर्यावरण के परिशोधन में अग्निहोत्र के समष्टिगत प्रयोग के अतिरिक्त इसका व्यष्टिगत प्रयोग रोगों की चिकित्सा के रूप में भी किया जाता रहा है। भारत के रसायनविद् डा. सत्यप्रकाश (स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती) तथा फ्रांस के रसायनशास्त्री डॉ०ट्रिलवर्ड ने अपने प्रयोगों से सिद्ध किया है कि लकड़ी जलाने से निकलने वाली **फार्मल्डीहाइड गैसों** में रोग कीटाणुओं से निपटने की अद्भुत क्षमता रहती है। साथ ही अमुक-अमुक रोगों में अमुक समिधा व अमुक हवन सामग्री के प्रयोग से अग्निहोत्र करके रोगों को दूर करने में (ठोस औषधियाँ खाने व द्रवरूप इंजेक्शन लगाने की अपेक्षा उनके वायुभूत रूप द्वारा कहीं अधिक) सहायता मिलती है।[28]

रोगोपचार में क्रम में ताँबे के हवन कुण्ड में अथवा भूमि पर 12 अंगुल चौड़ी, 12 अंगुल लम्बी, 3 अंगुल ऊँची पीली मिट्टी या बालू की वेदी बनाकर रोगी को पूर्वाभिमुख बिठाकर हवन किया जाता है। यदि रोगी असहाय अवस्था में या चलने-फिरने में असमर्थ है तो उसकी शैया के पास भी हवन किया जा सकता है। अग्निहोत्र के समय शरीर पर कम से कम वस्त्र रहें, इसका ध्यान रखना होता है। रोगोपचार के निमित्त विशिष्ट हवन सामग्री का उपयोग किया जाता है। इस निमित्त कुछ औषधियाँ तो ऐसी हैं, जो सभी रोगों में प्रयुक्त होती हैं तथा कुछ ऐसी हैं, जो रोग के अनुसार विशेष रूप से हवन सामग्री में मिलाई जा सकती हैं। इन दोनों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

(क) समस्त रोगों हेतु हवन सामग्री के घटक– सामान्यतः समस्त रोगों के लिए अगर, तगर, देवदारु, चन्दन, रक्तचन्दन, गूगल, जायफल, लौंग, चिरायता और अश्वगन्ध ये दसों पदार्थ समान भाग में मिला लेना चाहिए। समिधा में आम, पीपल, गूलर, छोंकर, बेल, ढाक आदि के पुराने पेड़ों की खूब सूखी लकड़ियाँ ली जा सकती हैं। इनके अतिरिक्त अलग-अलग रोगों के लिए अलग-अलग सामग्री और मिला लेनी चाहिए जो संक्षेप में नीचे दी जा रही है। तैयार औषधियों का दशांश शर्करा एवं दशांश घृत भी मिला लेना चाहिए।

(ख) विभिन्न रोगों हेतु विशिष्ट हव्य[29]–

1. **उदर रोग में–** चव्य, चित्रक, तालीस पत्र, दालचीनी, आलू बुखारा, पीपरि।
2. **पेचिस में–** मरोड़फली, अनारदाना, पोदीना, आम की गुठली, कतीरा।
3. **वमन में–** बाय बिडंग, पीपल,

पीपलामूल, ढ़ाक के बीज, निशोथ, नीबू की जड़, आम की गुठली, प्रियंगू।

4. **श्वास में–** धाय के फूल, पोस्त के डौड़े, बबूल का बक्कल, मालकांगनी, बड़ी इलायची।
5. **जीर्ण ज्वर में–** केशर, काकड़ा सिंगी, नेत्रवाला, त्रायमाण, खिरेंटी, कूट, पोहकर मूल।
6. **विषम ज्वर में–** पाढ़ की जड़, नागरमोथा, लाल चन्दन, नीम की गुठली, अपामार्ग।
7. **सामान्य ज्वर में–** तुलसी की लकड़ी, तुलसी के बीज, चिरायता, करंजे की गिरी।
8. **शीत ज्वर में–** पटोल पत्र (नागरमोथा), कुटकी, नीम की छाल, गिलोय, कुड़े की छाल, करञ्जा, नीम के पुष्प।
9. **उष्ण ज्वर में–** इन्द्र जौ, पटोल पत्र, नीम की गुठली, नेत्रवाला, त्रायमाण, काला जीरा, चौलाई की जड़, बड़ी इलाइची।
10. **दस्त में–** सफेद जीरा, दालचीनी, अजमोद, बेलगिरी, चित्रक, अतीस, सौंठ चव्य, ईसबगोल, मोथस्स, मौलश्री की छाल, तालमखाना, छुहारा।
11. **खाँसी में–** मुलहठी, पान, हल्दी, अनार, कटेरी, बहेड़ा, उन्नाव, अञ्जीर की छाल, अडूसा, काकड़ासिंगी, इलाइची, कुलंजन।
12. **अनिद्रा में–** काकज़ंघा, पीपलामूल, भारंगी।
13. **अपच में–** तालीस पत्र, तेजपात, पोदीना की जड़, हरड़, अमलतास की छाल, नागकेशर, काला एवं सफेद जीरा।
14. **नेत्र रोग में–** कर्पूर, लौंग, लाल चन्दन, रसोत, हल्दी, लोध्र।
15. **हैजा में–** धनियां, कासनी, सौंफ, कर्पूर, चित्रक।
16. **अर्श (बवासीर) में–** नागकेशर, झाऊ बेर, धमासा, दारु हल्दी, नीम की गुठली का गूदा, मूली के बीज, जावित्री, कमल केशर, गूलर के फूल।
17. **दाँत के रोग में–** शीतल चीनी, अकरकरा, बबूल की छाल, इलाइची, चमेली की जड़।
18. **जुकाम में–** दूब, पोस्त, कासनी, अञ्जीर, सौंफ, उन्नाव, बहेड़ा की गुठली का गूदा, धनियां, अनार के बीज, गुलाब के फूल, गुल बनफ्शा।
19. **चर्म रोग में–** शीतल चीनी, चोप चीनी, नीम के फूल, चमेली के पत्ते, दारु, हल्दी, कर्पूर, मेथी के बीज, पद्माख।
20. **प्रदर में–** कमलगट्टा, गूलर के फूल, अशोक की छाल, लौंग, कमल केशर, माजूफल सुगन्ध वाला, अर्जुन की छाल, सुपाड़ी, लोध्र।
21. **बन्ध्यत्व में–** शिवलिंगी के बीज, जटामांसी, कूट, शिलाजीत, नागरमोथा, पीपलवृक्ष के पके फल, बड़ वृक्ष के पके फल, कंटकारी।

22. **मंद बुद्धि में–** शतावरी, ब्राह्मी, ब्रह्मदण्डी, गोरखमुंडी, शंखपुष्पी, मंडूकपर्णी, बच, मालकांगनी।

ऊपर वर्णित औषधियों को सम्बन्धित रोग निवारण हेतु समान मात्रा में लिया जाता है। हवन के अन्त में निकट रखे जल पात्र में कुश, दूर्वा या फूल डुबोकर गायत्री मंत्र के उच्चारण पूर्वक रोगी पर वह जल छिड़कना चाहिए। अवशिष्ट यज्ञभस्म रोगी के मस्तक, हृदय, कण्ठ, पेट, नाभि एवं दोनों भुजाओं में लगानी चाहिए। घृत पात्र में बचे घृत की कुछ बूँदें लेकर रोगी के मस्तक और हृदय क्षेत्र में लगानी चाहिए। इनसे रोगी आत्मिक और शारीरिक दोनों ही रूपों में लाभान्वित होते हैं।

इस प्रकार रोगोपचार के रुप में अग्निहोत्र का प्रयोग वैज्ञानिक दृष्टि से भी प्रामाणिक है। युग ऋषि, वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा सन् 1979 में स्थापित **ब्रह्म वर्चस् शोध संस्थान**, शान्तिकुंज, हरिद्वार एक ऐसी प्रयोगशाला है, जहाँ यज्ञोपैथी पर शोध चल रहा है। यज्ञोपैथी में अनुसन्धान का मूल स्थूल पक्ष है पदार्थ की वह सूक्ष्म सत्ता जो चेतना को प्रभावित करती है। इस यज्ञ प्रयोगशाला में विभिन्न यन्त्र उपकरणों द्वारा अग्निहोत्र सम्बन्धी प्रयोग चल रहे हैं। जैसे-अग्निहोत्र में प्रयुक्त होने वाली समिधाओं में संघटक तत्वों की जानकारी व उनका शुद्धाशुद्ध परीक्षण **कालम क्रोमेटोग्राफी, थिन लेयर, क्रोमेटोग्राफी तथा गैस-लिक्विड क्रोमेटोग्राफी** यन्त्रों द्वारा तथा यज्ञ धूम में कार्बन के हानिकारक कणों का परीक्षण भी जी०एल०सी० यंत्र द्वारा किया जाता है। आमतौर से अग्निहोत्र में **गोघृत** का ही प्रयोग क्यों किया जाता है, यह जानने के लिए विभिन्न पशुओं के घृतों का रासायनिक विश्लेषण व उनके द्वारा शरीर में होने वाले जैव रासायनिक परिवर्तनों को मापा जाता है।

कुण्डों जिनका आकार उल्टे पिरामिड की तरह होता है (ताकि, आयतन के अनुरूप संतुलित ऊर्जा उत्पन्न होकर अग्नि प्रदीप्त रहे) से एक निश्चित दूरी तक कितनी रेडियोधर्मिता विद्यमान है, इसका मापन **गीगर मुलर काउन्टर** द्वारा किया जाता है। यज्ञ प्रक्रिया के विभिन्न खण्डों में कितनी ऊष्मा उत्पन्न हुई, इसका मापन **थर्मो कपल,** प्रकाश का मापन **लक्समीटर** एवं अग्नि लौ के स्पेक्ट्रम को **स्पेक्ट्रोस्कोप** द्वारा देखा-किया जाता है। इसी प्रकार यज्ञ धूमों की जीवाणुनाशक क्षमता की जाँच **बैक्टीरियालॉजी चेम्बर** में की जाती है।[30] इस प्रयोगशाला में विभिन्न उपकरणों द्वारा यज्ञोपचार में परिवर्तित रोगी की शारीरिक मानसिक स्थिति जाँची जाती है।

इस प्रकार इस शोध संस्थान में **यज्ञ विज्ञान, स्वर विज्ञान, मंत्र विज्ञान, साधना विज्ञान** आदि पर विभिन्न अनुसन्धान चल रहे हैं जिनके अगले ही दिनों उत्साहवर्धक परिणाम आने की आशा है। **अग्निहोत्र** के दार्शनिक और वैज्ञानिक आधारों का अध्ययन करके हम पाते हैं कि जितना इसका दार्शनिक आधार सशक्त है उतना ही वैज्ञानिक आधार भी। अस्तु, व्यष्टि और समष्टि दोनों की स्थिति और विकास के लिए अग्निहोत्र की उपादेयता से इन्कार नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार

प्राचीन काल में दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ, कृष्ण के सर्वमेध यज्ञ, विश्वामित्र के युग परिवर्तन यज्ञ (जिसकी सुरक्षा राम-लक्ष्मण ने स्वयं की थी) आदि से महान् प्रयोजन पूर्ण हुए थे;[31] उसी प्रकार आज भी वर्तमान में चल रही अग्निहोत्र परक विविध शोधों के परिणाम स्वरूप ऐसे सूत्र हाथ लग सकें तो **'यज्ञोऽयं सर्व कामधुक्'** की श्रुति सार्थक हो सकती है और आज की विविध समस्याओं के निराकरण में अग्निहोत्र विज्ञान का प्रयोग किया जा सकता है।

पाद-टिप्पणियां

1. यजु० 7/14 अछिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम। सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः।।
2. संस्कृत हिन्दी कोश पृ० 823 वामन शिवराम आप्टे।
3. धातु कोश पृ० 1002, 1083
4. शत० ब्रा० 1/7/1/5
5. यजु० 1/1
6. Sanskrit to English Dictionary- Aptey
7. शत०ब्रा० 14/3/1/29; तैत्ति०सं० 1/6/10/2
8. मै०ब्रा० 1/8/6
9. यज्ञोऽयं सर्वकामधुक्; यज्ञाः कल्याण हेतवः; शत०ब्रा० 9/4/1/11 यज्ञो वै सर्व भूतानि भुनक्ति।
10. शत०ब्रा० 2/3/3/15 नौर्ह एषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम्, काठक सं० 56-अग्निहोत्रेण वै देवाः स्वर्गं लोकमायंन्।
11. ऋ० 1/1/1
12. वही 1/164/35 अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः; वही 1/1/4 अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि; वही 1/127/9 द्युम्निन्तम उत क्रतुः; वही 1/73/1 होतेव सद्म विधतो वि तारीत्।
13. यजु० 18/56 इष्टो यज्ञो भृगुर्भिराशीर्दा वसुभिः; वही 9/21; 18/29; 22/33 आयुर्यज्ञेन कल्पताम्, धीतिश्च मे क्रतुश्च मे; मनोयज्ञेन कल्पताम्.........।
14. साम० 96 यजास्वध्वरंजन मनुजातम्; वही 1845- धर्ता दिवो भुवनस्य विश्पतिः।
15. अथर्व० 20/75/2 शासस्तमिन्द्र मर्त्यमयुज्यम्; वही 19/55/4 इन्धानास त्वा शतं हि मा ऋधेम; वही 7/5/1 तरांसि यज्ञा अभवन्; वही 12/2/37 अयज्ञियो हतवर्चा भवति।
16. शत० ब्रा० 2/3/1/2 सूर्यो ह वाऽग्निहोत्रम्; वही 11/3/1/8 प्राणएवाग्निहोत्रम्।
17. भारतीय दर्शनों में अन्तर्निहित समरूपता, पृ०-1 वागीश कुमार।
18. सांख्य एवं योग दर्शन (भूमिका) पृ० 5- पं० श्रीराम शर्मा आचार्य।
19. गी० 3/13 यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्विषैः। भुञ्जते ते त्वद्यं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।
20. याज्ञ० स्मृ० 3/285 विघसाशी भवेन्नित्यं. ....यज्ञशेषं तथामृतम्।।
21. ऋ० 10/117/6 मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो

भवति केवलादी।।

22. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान (पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय क्र. 25), पृ० 2/105
23. अथर्व० 1/8/1 इदं हविर्यातुधानाम् नदी फेनमिवावहत्।
24. ऋ० 5/8/7 त्वामग्ने प्रदिव आहुतं घृतैः ....ओषधिभिरुक्षितोऽभिज्रयांसि पार्थिवा वितिष्ठसे।। अथर्व० 9/15/13 पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिः; वही 9/15/14 अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः। यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान (पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय क्र० 25) पृ० 2/103
25. यज्ञ एक समग्र उपचार प्रक्रिया (पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय क्र० 26), पृ० 2/29
26. अखण्ड ज्योति, नवम्बर 1992 (यज्ञ मात्र श्रद्धा ही नहीं अद्भुत विज्ञान भी) पृ० 11
27. वही पृ० 12
28. यज्ञ एक समग्र उपचार प्रक्रिया (पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय क्र० 26), पृ० 1/47
29. वही (विशेष रोगों की विशेष हवन सामग्री शीर्षक से) पृ० 1/48-49
30. वही 3/39-41
31. वही 3/2

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1(2), No.2 (106-110) Jan.-June 2012

वैदिक संहिताओं में पुनर्जन्म की अवधारणा

अनीता जैन
602, रामानुजम् निवास, वनस्थली विद्यापीठ-304 022 (राजस्थान) भारत

पृथ्वी पर मनुष्य के जन्म के साथ ही यह प्रश्न भी अवतरित हुआ- "कोऽहं," "कुतः आयातः"? भारत में प्राचीन समय से ही उपनिषद् कालीन ऋषियों में भी इसी प्रश्न की जिज्ञासा दिखाई देती है-

"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।[1]

अर्थात् मरे हुये मनुष्य के विषय में जो यह संदेह है कि कोई तो कहते हैं- रहता है और कोई कहते हैं, नहीं रहता, इसमें सत्य क्या है? इस सत्यता को जानने के लिये प्रथमतः हम विचार करें कि "पुनर्जन्म" क्या है? हमारा दर्शन इसे शरीर के विघटन के बाद आत्मा के एक घर से दूसरे में स्थानान्तरण मात्र की संज्ञा देता है।[2] न्यायसूत्र[3] में सूत्रकार ने इसको परिभाषित करते हुए कहा है-"प्रेत्यभावः पुनरुत्पतिः" अर्थात् मरण के बाद पुनः 'उत्पन्न होना ही 'प्रेत्यभावः (पुनर्जन्म) है।

'तर्कदीपिका' में लिखा है- "मरणोत्तरं जन्म प्रेत्यभावः।" अर्थात् मृत्यु के अनन्तर जन्म लेना ही "प्रेत्यभाव" है। मोक्ष प्राप्ति न होने तक एक देह का परित्याग कर देहान्तर ग्रहण का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

वेद-संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, पुराण, स्मृति, सूत्र साहित्य महाभारत, रामायण आदि समस्त शास्त्रों में 'पुनर्जन्म' सम्बन्धी विशद विवेचनाएँ मिलती हैं। "अस्ति जायते वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति।" यास्क मुनि की यह उक्ति तथा "सस्यमिव मर्त्यो जायते पच्यते च" नचिकेता का यह कथन भी पुनर्जन्म सिद्धान्त को पुष्टि प्रदान करते हैं।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त कार्य कारण सिद्धान्त पर आधृत है। 'कारण' कार्य की अव्यक्तावस्था होती है, और कार्य कारण की व्यक्तावस्था है। जैसे वृक्ष अथवा वाष्प कारण हैं तो बीज व वृष्टि कार्य हैं। उसी प्रकार मनुष्य के कर्म ही उसके भावी जन्म का निर्धारण करने में कारण हैं। मनुष्य क्योंकि एक ही जन्म में पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता, अतः पूर्णता प्राप्ति के लिये उसे बहुत से जन्म ग्रहण करने पड़ते हैं। वह उस पौधे के समान होता है जो उत्पन्न और विकसित होता है, और अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। परन्तु वह पौधा मरता नहीं अपितु अपने पीछे कुछ बीज छोड़ जाता है, उसी प्रकार मृत्यु के समय मनुष्य का केवल स्थूल शरीर ही नष्ट होता है, उसके कर्मों के संस्कार नष्ट नहीं होते हैं। इन कर्मों का फल भोगने के लिए उसे पुनर्जन्म धारण करना पड़ता है। जैसा कि कहा भी गया है-

"यादृशं क्रियते कर्म तादृशं भुज्यते फलम्।
"यादृशं वप्यते बीजं तादृशं प्राप्यते फलम्।

वेदादि शास्त्रों में पुनर्जन्म सिद्धान्त का प्रतिपादन सविस्तार प्राप्त होता है। परन्तु यहाँ पुनर्जन्म सम्बन्धी जो विवरण दृष्टिगत होते हैं,

उनमें किसी कर्म विशेष के आधार पर पुनर्जन्म प्राप्त कर सुख, समृद्धि और ऐश्वर्य भोग की कल्पना का संकेत नहीं मिलता (बल्कि मात्र स्तवन, वन्दन एवं आराधना रूप कर्मों के आधार पर पुनर्जन्म में उक्त प्रकार के सुखों की कल्पना की गई है। ऐसा लगता है उस समय स्तवन वन्दन ही अभीष्ट कर्म के रूप में स्वीकार किया गया हो और पुनः जन्म लेने पर इन्हीं कर्मों के आधार पर सुख, समृद्धि, ऐश्वर्य, भोग आदि सुखानुभूति के विभिन्न तत्वों को सुनिश्चित किया गया हो।[4]

ऋग्वेद के पुनर्जन्म सम्बन्धी कुछ मन्त्रों का आशय निम्नलिखित है- ऋग्वेद में प्राणवाहिनी देवी असुनीति से प्रार्थना की गई है कि वह हमें पुनः प्राण प्रदान करें, चक्षु आदि उत्तम इन्द्रियाँ प्रदान करें, भोग व भोगापवर्गार्थ जीवन (पुनर्जन्म)दें ताकि हम उगते हुए सूर्य को देख सकें। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, सोम व पूषा से प्रार्थना की गई है कि वे हमें पुनः शरीर तथा प्राण अर्थात् जीवन प्रदान करें।[5] अग्नि से पुनर्जन्म की प्रार्थना करते हुए कहा है- हम देवों में अग्नि का नाम स्मरण करते हैं, वह प्रसन्न होकर पृथ्वीतल पर पुनः-पुनः जन्म दें, जहाँ हम दुबारा माता-पिता को प्राप्त करें।[6] यही जीवात्मा के गमन हेतु - देवयान व पितृयाण नामक दो मार्गो का चित्रण करते हुए कहा गया है कि पूर्वजन्म के चक्र में पड़ा हुआ जीवात्मा पितृयाण से गमन करता है और मोक्ष का अधिकारी आत्मा देवयान से।[7] 'यजुर्वेद' में भी सत्कर्मानुष्ठान से देवमार्ग और पितृयाण से लोकान्तर जाने का वर्णन है।[8] ऋग्वेदिक ऋचा में मरणात्मा को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि- अपने इष्टापूर्त के द्वारा परम व्योम में पितरों तथा यम के साथ गमन करो अर्थात् उनसे मिलो। अवद्य (दोष)को छोड़कर पुनः नये घर में जाओ और वर्चस्वी शरीर को प्राप्त करो।[9] यहीं चतुर्थ अध्याय में अगले जन्म में शुद्ध मन एवं इन्द्रियों की प्राप्ति हेतु प्रार्थना करते हुए कहा है- हे सर्वज्ञ ईश्वर जब तक हम जन्म लेवें तब तक हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों, जो विश्व से व्याप्त ईश्वर है वह सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करें, सब पापों का नाश करने वाले आप हमको बुरे कार्यों और सब दुःखों से पुनर्जन्म में अलग रखें।[10]

विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण की चर्चा करते हुए एक मन्त्र में कहा गया है कि जीवात्मा न केवल मनुष्य अपितु पशु योनि में भी जन्म ले सकता है। जल, वनस्पति, औषधि आदि नाना स्थानों में भ्रमण और निवास करता हुआ जीव बार बार पृथ्वी पर जन्म लेता है।[11] इसके अतिरिक्त - **पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातं सचेमहि**[12] इत्यादि विविध स्थल पुनर्जन्म का समर्थन करते हैं।

अथर्ववेद में भी ऋग्वेद व यजुर्वेद के समान ही ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं जहाँ पुनर्जन्म हेतु प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि -मुझे इन्द्रियों का सामर्थ्य अर्थात् मनुष्य देह बार-बार प्राप्त हो, मन, जीव, देह तथा धन एवं ब्रह्मज्ञान भी पुनः-पुनः प्राप्त हो। अग्निहोत्रादि में समर्थ हम लोग जैसे पूर्व जन्मों में शुभ गुण धारण करने वाली उत्तम बुद्धि, शरीर और इन्द्रियों के स्वामी थे, वैसे ही इस जन्म में भी हो।[13] यहीं

पर उल्लेख मिलता है कि प्रथम विद्यमान जीव अपने शरीर धारण के कारण रूप कर्मों को प्राप्त कर उनसे नाना प्रकार के शरीर धारण करता है, देह धारण की इच्छा से गर्भ में प्रविष्ट होता है, और बिना उपदेश दी हुयी वाणी को अपने पूर्व जन्म के संस्कारों से जानता है।[14] उक्त स्थल से पुनर्जन्म के सिद्धान्त को तो बल मिलता ही है, साथ ही कर्मो के माध्यम से प्राप्त उत्तम एवं नीच शरीर की प्राप्ति होने से, कर्मो के महत्व पर भी प्रकाश पड़ता है। शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार का उल्लेख आता है कि जो सम्यक् ज्ञान के साथ उचित कर्म नहीं करते हैं वे मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म लेते हैं, और पुनः मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इसके अनुसार जो मुत्यु को प्राप्त हो गये हैं, उनको दो अग्नियों को बीच से पार करना पड़ता है, जो पापियों को जला देती है और पुण्यात्माओं को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देती है।[15] यही उल्लेख मिलता है कि मृत्यु के पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति को फिर जन्म धारण करना पड़ता है जहाँ उसके पूर्वजन्म के कृत्यों की मीमांसा की जाती है, अथवा उसको तोला जाता है और तदनुसार उसके शुभ व अशुभ कर्मो के लिए यथा विधि दण्ड व पुरस्कार दिया जाता है।[16]

पुनर्जन्म के हेतु कर्म, शुभाशुभ कर्मानुसार विभिन्न गतियाँ, कामना के अनुरूप शुभाशुभ गति, अशास्त्रीय कर्म करने वालों की गति, मरण एवं पुनर्जन्म के सन्दर्भ सम्पूर्ण उपनिषद् वाङ्मय में भी अनेकत्र उपलब्ध होते हैं। पुनर्जन्म के लिए 'पुनर्जायते[17], पुनरार्वतन्ते[18] पुनरुदीरते[19], पुनर्निवर्तन्ते[20], पुनश्च जन्मान्तर[21] पुनर्मत्यु[22] और पुनर्भव[23] इत्यादि शब्द मिलते हैं।

मोक्ष प्राप्ति न होने तक मनुष्य को "पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्"[24] इस जन्म मृत्यु के चक्र में भ्रमण करना पड़ता है और कर्मफल भोगने के लिए पुनः-पुनः जन्म धारण करना पड़ता है।

कठोपनिषद्[25] में उल्लेख मिलता है कि "मनुष्य अन्न की तरह पकता है और अन्न की भाँति पुनः उत्पन्न होता है। नचिकेता अपने पिता को कहता है कि जिस प्रकार एक दाना पकता है और नष्ट होता है, उसी प्रकार मनुष्य भी जीवित रहता है, मर जाता है और पुनर्जन्म धारण करता है। मनुष्य के मरण तथा पुनर्जन्म धारण की प्रक्रिया का विस्तृत विवरण बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलता है। ऋषि द्वारा याज्ञवल्क्य से यह पूछे जाने पर कि वाक्, प्राण, चक्षु आदि कार्यों के अपने-अपने कारणों में लीन हो जाने पर वह पुरुष कहाँ रहता है? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हुए कहते हैं-कर्म में[26] अर्थात् पुरुष कर्म में निवास करता है। क्योंकि कर्म ही देह व इन्द्रिय ग्रहण का हेतु अर्थात् पुनर्जन्म का आधार है। इन्हीं कर्मों के आधार पर उसका अगला जन्म सुनिश्चित होता है।[27] वस्तुतः वासनायुक्त जन्म ही उसके अगले जन्म के हेतु बनते हैं।[28] यहीं एक स्थल पर कहा गया है कि यह आत्मा काममय है, वह जैसी कामना करता है उसी कामना के अनुरूप संकल्प वाला होता है और वैसा ही कर्म करता है। तदनुरूप ही फल प्राप्त करता है।[29] ऐसा माना गया है कि जीव के निकल जाने के साथ ही विविध प्राण वायु निकल जाती है। उसका ज्ञान, कर्म और

उसकी पूर्व प्रज्ञा उसका अनुसरण करती है[36]। लगभग सभी उपनिषदें जहाँ पुनर्जन्म सम्बन्धी प्रसंग उपलब्ध होते हैं-कर्म को ही पुनर्जन्म का आधार मानती हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी परमात्मा द्वारा जीवात्मा को उसके कर्मों के अनुसार संसारचक्र में घुमाए जाने का उल्लेख मिलता है।[31]

कौषितकी उपनिषद् में भी आवागमन के उक्त सिद्धान्त का विस्तृत विवरण मिलता है।[32] यहाँ भी कर्मानुसार ही जीव को कीट, पतंग, मछली, पक्षी, बाघ, सर्प मनुष्यादि विभिन्न योनियों में जन्म लेने का संकेत प्राप्त होता है।

छान्दोग्योपनिषद् पंचम प्रपाठक में वर्णन मिलता है कि -जीव माता के गर्भ में नव दश माह निवास कर उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर यावत् आयु जीता है। तत्पश्चात् कर्म निर्दिष्ट उस मृत पुरुष को अग्नि ही ले जाती है, जहाँ से यह उत्पन्न हुआ था वहीं चला जाता है।[33] इसी प्रकरण में आगे उल्लेख मिलता है कि जो अच्छे आचरण वाले जीव हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि रमणीय योनियों में जन्म लेते हैं इसके विपरीत आचरण वाले कुक्कुर, शूकर, चाण्डालादि निन्दित योनियों में जन्म लेते हैं। इनके लिए 'जायस्व' और 'म्रियस्व' नामक तृतीय मार्ग है।[34]

निरुक्तकार पुनर्जन्म का उल्लेख करते हुए कहता है कि- जब मनुष्य को ज्ञान होता है, तब वह ठीक-ठीक जानता है कि उसने अनेक प्रकार का भोजन किया है, अनेक माताओं के स्तनों का दुग्धपान किया है अनेक माता पिता एवं सुहृदों को देखा हैं गर्भ में नीचे मुख आदि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होकर, अनेक जन्मों को धारण किया है, परन्तु अब इन महादुःखों से वह तभी छूटेगा, जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उसकी आज्ञा का पालन करेगा, अन्यथा इस जन्म-मरण रूप दुःख-सागर से पार नहीं हुआ जा सकता है।[35]

उक्त विभिन्न वैदिक संकेतों एवं ''प्रत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्'' अर्थात् मरने के बाद (पूर्व जन्म के) आहार के अभ्यास के कारण (जात मात्र बालक को) स्तन्य की अभिलाषा से, ''मरणभयदर्शनाच्च'' अर्थात् मृत्यु का भय देखे जाने से एवं ''पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षशोकभय सम्प्रतिपत्तेः'' अर्थात् पुनर्जन्म के अभ्यास की स्मृति के कारण सद्योजात बालक को हर्ष, शोक, भय आदि प्रकट होने की सम्भावना आदि अनेकों युक्तियों से पुनर्जन्म के सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

उपरोक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह सिद्ध होता है कि-''अवश्यमेव भोक्तव्य कृतं कर्मशुभाशुभम्।'' अर्थात् प्रत्येक अच्छा या बुरा कर्म एक विशिष्ट प्रकार का परिणाम (फल) देता है जो अवश्य ही प्रत्येक जीव को भोगना पड़ता है और फल भोग हेतु पुनः जन्म धारण करना पड़ता है।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आज संसार में तेजी से बढ़ रहे झूठ, कपट चोरी, हिंसा, व्यभिचार, अनाचार, अनीति, अधर्म एवं अपराधादि भावों से बचने तथा आत्मा की उन्नति व जगत् में धार्मिक भाव, सुख शान्ति व प्रेम के विस्तार के लिए परलोक

एवं पुनर्जन्म को मानना परम आवश्यक है।

पाद-टिप्पणियां

1. कठोपनिषद्-1.1.20
2. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय, जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही। गीता-2.22
3. न्यायसूत्र- 1.1.19
4. कर्म की हिन्दू अवधारणा-डॉ. रवीन्द्र नाथ मिश्र, प्रथम संस्करण, पृ. 29
5. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
   ज्योक् पश्येमसूर्य्यमुच्चरन्तमनुमते मृऽयाः न स्वस्ति।। ऋ0 10.59.6-7
6. (अ) अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च। ऋ0 1.24.2
   (ब) अवसृज पुनरग्ने। पितृभ्यः ....जातवेदः।-ऋ0 10.16.5
7. ऋ0 10.14.8
8. ऋ0 10.88.15, 7.9.3, 7.10.2.
9. द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ...पितरं मातरं च। यजु. 19.47
10. पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् .... दुरितादवद्यात्। यजु. 4/15
11. यजु.-19.47, 4/15
12. यजु0 3.55
13. पुनर्मनत्विन्द्रियः पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मण च। पुनरग्नयो धिष्णया यथास्थानम् कल्पयन्तामिहैव।। अथर्व-7.6.67.1
14. आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततोवपूषि .. ..वाचमनुदितां चिकेत।। अथर्व-5.12
15. श.ब्रा. 1.9.3
16. भारतीय दर्शन का इतिहास-भाग-1, एस. एन. दास गुप्त, पृ. 25
17. प्रैति स इतः प्रयन्तमेव पुनर्जायते। ऐत.उप. 4.4
18. वेत्थ यथ पुनरार्वतन्त इति- छा.उप.5.3.2
19. कौ.उप0-1.2.7
20. छा.उप. 5.10.5
21. कैवल्यो0-14
22. बृह.उप.- 1.2.7
23. प्रश्न0उप. - 3.9
24. चर्पटपंजरिका
25. सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिव जायते पुनः। कठोपनिषद्-1.1.6
26. बृहदा0-3.2.13
27. वही, 4.3.4
28. प्राप्यान्त कर्मणास्तस्य यत्किंच्चेह करोत्ययम्। तत्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे। इति नु कामयमानः। बृहदा. 4.4.6
29. स वा अयमात्मा यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारीसाधुर्भवति पापकारी पापी भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन ..... यत्कर्मकुरुते तदभिसम्पद्यते। बृहदा0 4.4.5
30. तं विद्याकर्मणी समन्वारमेते पूर्व प्रज्ञा च-वही 4.1.2
31. सर्वाजीवे सर्वतस्थे बृहन्ते, अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। श्वेता0 उप0-1.6
32. कौ0 उप0 - 1.2.3.
33. छा.उप. 5.9.1 से 5.9.2 तक
34. वही 5.10.8
35. मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः। नानायोनि सहस्राणि .....मातरो विविधाः दृष्टाः पितरः सृहृदस्तथाअवाङ्मुख पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्विता।। नि. अ013/खण्ड 19

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1(2), No.2 (111-114) Jan.-June 2012

वेदों में परिकल्पित आदर्श मानवीय जीवन

दलवीर सिंह
अध्यक्ष संस्कृत विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर (पंजाब) भारत

वेद भारतीय संस्कृति के मूलाधार हैं। संस्कृति के सम्पूर्ण पक्षों का आदर्श रूप वेदों में निर्दिष्ट है। आधुनिक भौतिकवादी युग में मानवीय जीवन का स्तर वैसा नहीं रहा जोकि एक स्वस्थ एवं सुदढ़ समाज का सृजन करने में समर्थ हो। मानवीय जीवन का जैसा आदर्श स्वरूप वेदों में उपलब्ध होता है, वह वास्तव में ही अद्वितीय है।

मानवीय जीवन की प्रारम्भिक इकाई परिवार है। वेद उच्च पारिवारिक सम्बन्धों का निर्देश करता है ताकि मनुष्य का जीवन सुखमय व्यतीत हो सके। **'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव'** की धारणा से युक्त वैदिक साहित्य सन्तान को माता–पिता के प्रति उत्तम समर्पण एवं श्रेष्ठ आचार धारण करने का आदेश देता है। माता–पिता द्वारा पोषित जो पुत्र उन्हें कष्ट पहुंचाता है, वह उनके ऋण से कभी उऋण नहीं हो पाता। वेद तो पुत्र के माध्यम से माता–पिता के कल्याण एवं सुरक्षा की कामना करता है।[1]

वेद पुत्र को माता–पिता का रक्षक बताते हुए कहता है कि अग्निदेव उसी प्रकार पृथ्वी और द्युलोक का पालन करते हैं जिस प्रकार पुत्र माता–पिता की रक्षा करता है।[2]

ऋग्वेद इन्द्र एवं मरुत् के माध्यम से भातृवत् उत्तम् व्यवहार करने का निर्देश करता है।[3]

ऋग्वेद में एक अन्य स्थल पर भाई को बहिन के प्रति सदैव अग्निदेव की भान्ति पोषक एवं हितकारी बने रहने का आदेश दिया गया है।[4] इस कथन के माध्यम से वेद भाई को बहिन का सदैव हित करने का निर्देश देता है।

वेद तो समस्त विश्व को एक कुटुम्ब मानते हुए सबमें बन्धुभाव एवं प्रेम भावना की प्रार्थना करता है।[5]

इस बन्धुभाव के साथ ही साथ वेद प्राण, अपाणादि वायुओं, इन्द्रियों, औषधियों, मनुष्यों एवं पशुओं की हिंसा निषेध एवं सुरक्षा कामना का सन्देश देता है।[6]

समाज की प्रगति की कामना शिक्षा के अभाव में सम्भव नहीं है। शिक्षित मानवीय जीवन ही समाज एवं राष्ट्र को उन्नति के मार्ग की ओर अग्रसर करने में समर्थ है। वेद शिक्षित मानवीय जीवन की कल्पना करता हुआ इन्द्र से सम्पूर्ण मानवों को उत्तम शिक्षा प्रदान करने की प्रार्थना करता है।[7]

आज के भौतिकवादी युग में मानव कामनाओं, लोभ एवं क्रोध के अभिभूत होकर अनेक निन्दनीय कर्मों को करने में प्रवृत्त होता जा रहा है।

वेद निर्देश देता है कि मनुष्य को अपनी आवश्यकतायें सीमित करनी चाहिएं जिससे कि वह ऋणी न हो तथा वह स्वयं

प्रयत्नशील होकर अपने द्वारा अर्जित धन से पदार्थों का उपभोग करे। लोभवश मनुष्य दूसरों द्वारा कमाये धन का उपभोग कदापि न करे।[8]

वेद उत्तमभोग के योग्य धन की प्राप्ति होने पर अभिमान न करने तथा भूखों को अन्न व पानी देने का आदेश देता है।[9]

वेद मनुष्य द्वारा अर्जित धन का किसी अन्य व्यक्ति द्वारा हरण करने का निषेध करते हुये धन को न चुराने का संकेत देता है।[10]

व्यापारी लोग अत्यधिक धनार्जन के वशीभूत होकर वस्तुओं के दाम में अत्यधिक वृद्धि करते हैं। ऋग्वेद में लोभी, कंजूस एवं सूदखोर व्यापारियों के मन को कोमल बनाने अर्थात् उनके हृदयों में दूसरे को धन देने की इच्छा को प्रेरित करने की कामना की गई है।[11]

वेद के अनुसार लोभ, क्रोध आदि मानसिक व्यथायें मनुष्य को उसी प्रकार सताती हैं जिस प्रकार प्यासे हिरण को भेड़िया कष्ट देता है।[12]

'माहिभूर्मा' (यजुर्वेद, 6/12, 8/23) कहता हुआ वेद मनुष्य को सर्प की भान्ति क्रोधी न बनने का उपदेश देता हुआ सुख देने वाली वाणी के माध्यम से अपनी समस्त क्रियाओं को सम्पन्न करने का आदेश देता है।[13]

एक अन्यत्र स्थल पर सत्य तथा एक–दूसरे को परस्पर मिलाने वाली, हृदय एवं मन से परिशुद्ध वाणी का प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है।[14]

वेद कामना करता है कि सभी मनुष्य शारीरिक दृष्टि से शरीर के समस्त पूर्णतया स्वस्थ, नीरोग एवं सुखी रहें।[15]

परन्तु आज नशे जैसी बुरी प्रवृत्ति के कारण मानवीय शरीर अनेक भयंकर रोगों से ग्रसित होता जा रहा है। अन्य बहुत से नशे मद्यपान से उत्पन्न होते हैं। ऋग्वेद में मद्यपान के दुष्प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा गया है कि मद्यपान, क्रोध, जुआ तथा मन लगाकर काम न करने की प्रवृत्तियां मनुष्य की प्रगति में बाधा को उत्पन्न करके उसे पाप की ओर उन्मुख करती है।[16]

ऋग्वेद इस बात की ओर संकेत करता है कि मद्यपान करने से बुद्धि का सन्तुलन बिगड़ जाता है जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य परस्पर लड़ाई–झगड़े में प्रवृत्त होते हैं।[17]

वेदों में द्यूत–क्रीड़ा की बहुत कठोर शब्दों में निन्दा की गई है। वेद का कथन है कि जुआरी व्यक्ति की पत्नी, उसकी सास, उसके माता, पिता, भाई आदि सभी सम्बन्धी उसका साथ छोड़ देते हैं तथा उसे अपने जीवन में किसी सज्जन व्यक्ति की प्राप्ति नहीं होती।[18] जुए में हारने वाला व्यक्ति कर्ज के अधीन तो दब ही जाता है, साथ ही साथ वह अपने गृहस्थ जीवन को चलाने के लिए चोरी आदि क्रियाओं में भी प्रवृत्त होता है।[19] अतः वेद का निर्देश है कि लोग समय का सदुपयोग करते हुए अपनी रुचियों को सृजनात्मक कार्यों में लगाएं, जुआदि व्यसनों से दूर रहें, खेती–बाड़ी करें तथा परिश्रम से अर्जित अल्प धन को भी अत्यधिक मानते हुए उससे ही अपनी

आवश्यकताओं की पूर्ति करें।[20]

वेद कानों से कल्याणकारी बात का श्रवण करने एवं आँखों से भी कल्याणकारी पदार्थों को देखने का ही निर्देश करता है।[21]

वेद दोषयुक्त आचरण से निवृत्ति एवं उत्तम आचरण में प्रवृत्ति का आदेश देता है।[22]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेद काम, लोभ, क्रोध आदि विकारों तथा द्यूतक्रीड़ा आदि कुरीतियों से रहित एवं उत्तम आचरण से युक्त एक आदर्श मानवीय जीवन को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है।

पाद–टिप्पणियां

1. यदापिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्। एतत्तदग्ने अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया। सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्त विपृच स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्त।।(यजुर्वेद, 19/11)
   .....उपसृजन् धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धायन्। रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहा।।(यजुर्वेद, 8/51)
2. पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना। पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी उभे।। (ऋग्वेद, 1/12/107)
3. किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव। तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः।। (ऋग्वेद, 1/170/2)
4. जामिः सिन्धूनां भ्रातेव स्वस्रा–मिभ्यान्न राजा, वनान्यत्ति।। (1/65/7)
5. अमी ये सप्त रश्मयस्तत्रा मे नाभिरातता। त्रितस्तद् वेदाप्त्यः स जामित्वाय रेभति वित्तं मे अस्य रोदसी।। (ऋग्वेद, 1/105/9)
6. प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्म उर्व्यावि भाहि श्रोत्रं मे श्लोकय। अपः पिन्वौषधीर्जिन्वद्विपादव चतुष्पात् पाहि दिवो वृष्टिमेरयं।। (यजुर्वेद, 14/8)
7. आ भरतं शिक्षतं वज्रबाहू अस्माँ इन्द्राग्नी अवतं शचीभिः..।। पुरंदरा शिक्षतं वज्रहस्तास्माँ इन्द्राग्नी अवतं भरेषु.......।। (ऋग्वेद, 1/109/7–8)
   त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठं मर्त्यम्।। (यजुर्वेद, 6/37)
8. पर ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्। (ऋग्वेद, 2/28/9)
9. ....क्षुध्यद्भयो वय आसुतिं दाः। (ऋग्वेद, 1/104/7) सुयमात् रायः मा अव स्थाम्।। (ऋग्वेद, 2/28/11)
10. इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।........ (यजुर्वेद, 35/15)
11. (i) अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन्दानाय चोदय। पणेश्चिदिव म्रदा मनः।।(ऋग्वेद, 6/53/3)
    (ii) परि तृन्धि पणीनामारया हृदया कवे। अथेमस्मभ्यं रन्धय।
    (iii) वि पूषन्नारया तुद पणेरिच्छ हृदि प्रियम।(ऋग्वेद, 6/53/5–6)
12. तं मा व्यन्त्याध्यो वृको न तृष्णजं मृगं वित्तं में अस्य रोदसी।। (ऋग्वेद, 1/105/7)
13. अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा। (यजुर्वेद, 3/47)
14. सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।(यजुर्वेद, 13/38)
    एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया। (यजुर्वेद, 9/12)
15. शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः। शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शमवस्तु तन्वै तव।। (यजुर्वेद, 23/44)
16. न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः। अस्ति ज्यायान्

कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता।। (ऋग्वेद, 7/86/6)

17. हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्। ऊधर्न नग्ना जरन्ते।। (ऋग्वेद, 8/2/12)

18.(i) द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्। (ऋग्वेद, 10/34/3)

(ii) अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्।। (ऋग्वेद, 10/34/4)

19. जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति।। (ऋग्वेद, 10/34/10)

20. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः।।
(ऋग्वेद, 10/34/13)

21. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। (यजुर्वेद, 25/21)

22. परि माऽग्रे दुश्चरितादबाधस्वा मा सुचरिते भज। (यजुर्वेद, 4/28)

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1(2), No.2 (115-122) Jan.-June 2012

अथर्ववेदीय भूमिसूक्त की प्रासंगिकता
(प्राकृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण के सन्दर्भ में)

रेणुबाला
प्रोफेसर संस्कृत विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर (पंजाब) भारत

वेद अनादिकाल से ही मानव व समाज के लिए प्रकाशस्तम्भ रहे हैं। मनुष्यजगत् को सुदिशा प्रदान करने के लिए वेदों में कई निर्देश हैं। ये वैदिक निर्देश प्रत्येक युग में प्रासंगिक हैं, किन्तु वर्तमान युग में इनकी प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है। आज हम विश्व व मानव समाज को किसी भी दृष्टि से देखें, सभी जगह प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण में ह्रास दृष्टिगत हो रहा है। जल, वायु, वृक्ष, नदियां और पहाड़ वर्तमान अन्धी दौड़ से क्षतिग्रस्त हो रहे हैं। इसी प्रकार सामाजिक वातावरण में भी निरन्तर ह्रास हो रहा है। प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण को समुन्नत व सुस्थिर रखने के लिए वेदों में ऐसे बहुमूल्य निर्देश भरे पड़े हैं, जिनमें भूमिसूक्त का विशेष महत्त्व है।

पर्यावरण सम्बन्धी समस्या आज सम्पूर्ण विश्व के लिये एक भयंकर रूप धारण कर चुकी है। 'पर्यावरण' शब्द 'परि' तथा 'आवरण' – इन दो शब्दों के मेल से बना है, जिसका अभिप्राय है – चारों तरफ से आच्छादित अर्थात् हमारे चारों तरफ पृथ्वी पर विद्यमान सभी जड़–चेतन जगत्। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वनस्पतियां, वृक्ष, वन्यप्राणी आदि पर्यावरण के घटक तत्त्व कहलाते हैं। ये सभी तत्त्व जीवन का आधार हैं। इसीलिये वैदिक ऋषियों ने प्रकृति के उन सभी तत्त्वों को, जिनका सम्बन्ध सृष्टि के निर्माण एवं पालन से है, उन्हें अपना आराध्य देव मानते हुये उनकी स्तुति की तथा उन सभी प्राकृतिक शक्तियों से मनुष्य के प्रति सदैव कल्याण कामना की इच्छा से और सर्वत्र शान्ति की कामना हेतु उन्हें शान्तिप्रद बने रहने के लिये शान्तिपाठ की अवधारणा भी दी।[1]

वैदिक ऋषियों द्वारा इन प्राकृतिक तत्त्वों – पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अन्तरिक्ष, सूर्य, वनस्पतियों आदि को अपने जीवन का संरक्षक जानकर उनकी आराधना करना, पर्यावरण संरक्षण का ही परिचायक है।

अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त 'भूमि सूक्त' के नाम से प्रसिद्ध है। इसे 'पृथ्वी सूक्त' के नाम से भी जाना जाता है। निरुक्तकार यास्क ने पृथ्वी शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये उसे व्यापक, विस्तृत, बड़ी या दूर तक फैली होने के कारण इसे पृथ्वी कहा है – "प्रथनात्पृथिवीत्याहुः।" (निरुक्त, 1/4/2)

अथर्ववेद में भी पृथ्वी को लम्बी, चौड़ी, विस्तृत–इसी रूप में वर्णित किया गया है।[2]

आज पर्यावरण दूषित हो जाने के कारण हमारा जल, वायु, अग्नि, वनस्पतियां, समस्त खाद्य पदार्थ आदि सभी जीवनोपयोगी तत्त्वों के दूषित हो जाने के कारण पृथ्वी पर विद्यमान समस्त मानव जगत् के अस्तित्व को खतरा पैदा हो गया है। अतः हम सभी का कर्त्तव्य है कि शान्तिकारक, सुगन्धयुक्त, अन्न देने वाली, बहुत से जलों वाली, हमारे लिये

बहुत से भोग्य पदार्थ एवं ऐश्वर्य प्रदान करने वाली पृथ्वी का संरक्षण करें।

अर्थात् भूमि मेरी माता है और मैं उस पृथ्वी का पुत्र हूँ। अभिप्राय यह कि जिस धरती पर जन्म लिया, वह भूमि तो मेरी माता है परन्तु हम सभी मनुष्य उस एक ही पृथ्वी की सन्तान हैं। वैदिक ऋषियों की मातृभूमि की इस कल्पना से, उनकी मातृभूमि के प्रति उदात्त भावना, देश प्रेम एवं मातृभूमि के महत्त्व और मातृभूमि की सर्वश्रेष्ठता की ही अभिव्यक्ति होती है। इस सूक्त में केवल मातृभूमि की कल्पना ही नहीं, अपितु यह सूक्त देशवासियों में उच्च राष्ट्रीय भावना को भी जागृत करता है। पृथ्वी को साक्षात् मूर्तिमान् मातृत्व रूप प्रदान कर, उससे सभी प्रकार से कल्याण करने की प्रार्थना की गई है।[4] एक अन्य मन्त्र में कामना करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार माता अपने पुत्र का पालन–पोषण दूध से करती है, उसी प्रकार मातृभूमि दुग्ध के समान हमें सारभूत पेय पदार्थ प्रदान कर हमारा पालन करे।[5]

इस सूक्त में पृथ्वी के विविध रूपों प्राकृतिक सम्पदा एवं वैभव प्रदान करने वाली विभिन्न विशेषताओं का वर्णन किया गया है कि कहीं यह भूमि धूल रूप है, कहीं शिला रूप है, तो कहीं पत्थर हैं।[6]

इस पर कहीं बर्फ से आच्छादित पर्वत हैं, अनेक छोटे–बड़े जंगल हैं। यह भूमि सबका पालन–पोषण करने वाली है, कृषि कर्म के योग्य है, वृक्षादि को धारण करने वाली है, स्थिर तथा अत्यन्त विस्तृत, लम्बी–चौड़ी है, बहादुर वीरों द्वारा रक्षित है तथा सब रूपों को धारण करने वाली है। इस भूमि पर कहीं वनस्पतियां, पेड़ व लतायें सब स्थिर रूप में विद्यमान हैं। अपने गर्भ में सुवर्ण रत्नादि बहुमूल्य पदार्थ आदि धारण करने वाली यह पृथ्वी सदैव नमन करने योग्य है। पृथ्वी ने अपने गर्भ में खानों में विद्यमान बहुमूल्य रत्नों (हीरा, पन्नादि), सोना, चांदी आदि के भण्डार को संजो कर रखा है। इसलिये सबकी कामनाओं को सिद्ध करने वाली, उत्तम धन प्रदान करने वाली मातृदेवी स्वरूप पृथ्वी का संरक्षण करना हम सभी का परम कर्त्तव्य है।[7]

यह पृथ्वी सभी प्रकार के जीवों का आश्रय स्थल है। इसने मनुष्यों, दो पैर तथा चार पैर वाले वन्य पशुओं, पक्षियों, बिल में रहने वाले तथा रेंगने वाले सभी जीवों को धारण किया हुआ है। यह पृथ्वी बिना किसी भेद–भाव के अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के लोगों को समान रूप से धारण करती है।[8]

इतना ही नहीं, पृथ्वी ही सभी जीवों का भरण–पोषण करती है। मनुष्य के लिये अपूर्व पेय तथा उत्तम अन्न उपलब्ध कराती है। कृषि द्वारा नाना प्रकार के अन्न और फलों की प्राप्ति पृथ्वी से ही होती है, जिनके द्वारा मनुष्य एवं अन्य जीव परिपुष्ट होकर प्राणों को धारण करने में सक्षम होते हैं। रोगों को दूर करने वाली अनेक उत्तम गुणों से युक्त वनस्पतियाँ भी हमें पृथ्वी से ही मिलती हैं।[9]

इस प्रकार यह पृथ्वी सम्पूर्ण जगत् को उनकी सुख–सुविधाओं के अनुरूप नाना पदार्थों एवं धन–सम्पत्ति को उपलब्ध कराने वाली है। अतः पृथ्वी पर प्रदूषण फैलाने वाले तत्त्वों से इसका संरक्षण करना मनुष्य का धर्म है। आज मनुष्य अधिक धन कमाने के लालच में मिट्टी की शक्ति का आवश्यकता से अधिक

लाभ उठाने के लिये कृत्रिम खादों एवं कीटनाशक औषधियों के प्रयोग द्वारा उत्पादन को बढ़ाने के प्रयास में सम्पूर्ण मानव जाति के अस्तित्व को खतरे में डाल रहा है। अन्धाधुन्ध वनों के विनाश एवं वृक्षों की कटाई से भी निरन्तर भूक्षति हो रही है। सम्पूर्ण जगत को आश्रय प्रदान करने वाली पृथ्वी से किसी भी प्रकार की छेड़–छाड़ न करने का अथर्ववेद में निर्देश दिया गया है। भूमि सूक्त में पृथ्वी के संरक्षण की दृष्टि से वेद का कथन है कि पृथ्वी इच्छित पदार्थ देने वाली है, मनुष्य द्वारा अच्छी प्रकार से वपन करने योग्य है। यदि उसमें किसी प्रक़ार की कोई क्षति होती है, तो परमेश्वर उसे स्वयं पूर्ण करते हैं।[10]

आज कृषि में किसानों द्वारा रासायनिक खादों के प्रयोग से खाद्य पदार्थों में स्वाभाविक रस ही समाप्त हो गया है। भूमिसूक्त में ऋषि मातृभूमि से प्रार्थना करते हुए कहता है – "हे मातृभूमि! जो तुम्हारे में उत्तम सुगन्धि है, वह वनस्पतियों में प्रकट होती है, उसी सुगन्धि को सूर्य अपनी किरणों से उद्दीप्त करते हैं। हमें भी उस उत्तम सुगन्धि से भूषित करो"।[11] वैदिक ऋषि ने सदैव मातृभूमि से मधुर रस की कामना की है।[12]

भूमि सूक्त में वर्णित है कि कृषक ऊंची–नीची भूमि को सममतल बनाने के लिये पृथ्वी पर हल चलाते समय यह सोचता है कि पृथ्वी के मर्म स्थल पर कोई चोट न हो अथवा क्षति न हो।[13]

ऋषि की दृष्टि में मातृभूमि का दोहन करने वाले शत्रु हैं। अतः वह उनके नष्ट होने की बात करता है।[14]

भूमिसूक्त में कहा गया है कि जो भूमि वृक्षों, वनस्पतियों वनों, पर्वतों इत्यादि से सम्पन्न रहती है, जिस पर वृक्ष सदा स्थिर रहते हैं, ऐसी भूमि सदैव संरक्षण के योग्य है। क्योंकि वृक्षादि वनस्पतियां पृथ्वी की उपजाऊ शक्ति को बढ़ाती हैं, मिट्टी के कटाव को रोकती हैं तथा भूमि पर इन्हीं के कारण वर्षा होती है। भूमिसूक्त में देवताओं द्वारा बसाये गये नगरों में मनुष्यों द्वारा उत्कृष्ट खेती तथा उद्योगों की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि यह भूमि प्राकृतिक पदार्थों तथा सौन्दर्य से सदैव सम्पन्न रहे।[15]

आज हमारा सम्पूर्ण वायुमण्डल दूषित हो चुका है। मनुष्य का सांस लेना भी दुर्भर हो गया है। इसका मुख्य कारण वायुमण्डल में विभिन्न प्रकार की हानिकारक गैसें कार्बनडाईआक्साइड आदि, विभिन्न प्रकार के परमाणु बमों द्वारा किये जाने वाले परीक्षण, वाहनों तथा कारखानों से निकलता पैट्रोल, डीजल का धुआं आदि हैं। सांस लेने के लिये शुद्ध वायु की आवश्यकता होती है। वृक्ष आक्सीजन छोड़ते हैं तथा कार्बन डाइआक्साइड को ग्रहण करते हैं। वृक्ष वायु को शुद्ध रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आजकल वृक्षों की अन्धाधुन्ध कटाई भी वायुमण्डल को क्षति पहुंचा रही है। भूमिसूक्त में ऋषि ने फूलों की सुगन्ध से युक्त प्रातः काल के वायु से स्वयं को सुगन्धित करने की प्रार्थना मातृभूमि से की है। वातावरण की शुद्धि के लिए ऋषियों द्वारा यज्ञ विधान का उल्लेख किया गया है। यज्ञ से वातावरण ही शुद्ध नहीं होता, अपितु यज्ञ के द्वारा पृथ्वी पर उत्तम वृष्टि होने के कारण पर्याप्त मात्रा में अन्न की भी उत्पत्ति होती है।[16]

पृथ्वी पर वायुमण्डल में दो पाँव वाले हंस आदि पक्षी आनन्द से उड़ते हैं तथा वायुमण्डल में मातरिश्वा वायुदेव द्वारा प्रवात रूप धारण कर धूल आदि से युक्त होकर वृक्षों को जड़ से उखाड़ते हुए निर्बाध गति से प्रवाहित होने वाले एवं तीव्र गति से अग्निदेव द्वारा वायुदेव की तीव्रता का अनुसरण किए जाने का उल्लेख भूमिसूक्त में हुआ है।[17]

वायुमण्डल को शुद्ध रखने में सूर्य का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। सूर्य आकाश में अग्नि के रूप में व्याप्त है। यह सब ओर प्रकाश फैलाने वाला है। पृथ्वी पर सभी प्राणियों के जीवन के लिये सूर्य की किरणों का स्पर्श अमृत तुल्य माना गया है। अर्थात् सभी जीवों के लिये हवा–पानी के साथ–साथ सूर्य की किरणों से उत्पन्न धूप भी अनिवार्य है।[18]

वायुमण्डल दूषित होने के कारण आज ऋतु–चक्र का संतुलन भी बिगड़ गया है, जिसकी वजह से ऋतुओं के काल–क्रम में अन्तर आ गया है। यही कारण है कि आज कहीं अत्यधिक बरसात है, कहीं सूखा है तो, कहीं बाढ़। भूमि–सूक्त में पृथ्वी पर यथा समय ऋतुओं के आगमन तथा ऋतुओं के अनुकूल पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले पदार्थों की उपलब्धि, ऋतुओं के अनुकूल ही सुखदायिनी रात्रि एवं दिन का उल्लेख ऋषियों की पर्यावरण के प्रति जागरुकता एवं संरक्षण की ओर संकेत करता है।[19]

जल मनुष्य जीवन के लिये अनिवार्य तत्त्व है। जल को वेद में औषधिरूप स्वीकार किया गया है। यह रोगों को दूर करने वाला है। इसे सभी रोगों की औषधि बताया गया है।[20] भूमिसूक्त में मातृभूमि से निर्मल शुद्ध जल की प्राप्ति की कामना की गई है।[21]

पृथ्वी पर विविध प्रकार के जल स्रोतों – सागर, महासागर, नदी, तालाब, झरने इत्यादि का उल्लेख किया गया है। वर्षा से प्राप्त होने वाले जल का विवेचन भी किया गया है। जल की वृष्टि करने वाले पर्जन्य को सबका पिता कहा गया है।[22]

पृथ्वी के मध्यभाग में अग्नि व्याप्त है, जो सभी पदार्थों में विद्यमान है। इसीलिये इसे वैश्वानर कहा गया है। आकाश में यह अग्नि सूर्य के रूप में विद्यमान है।[23]

भूमिसूक्त में पृथ्वी के भीतर विद्यमान गुरुत्वाकर्षण की शक्ति का विवेचन भी हुआ है। पृथ्वी में भारी पदार्थ अपनी ओर खींचने तथा धारण करने की शक्ति है। सभी प्रकार के अच्छे और बुरे मनुष्यों को भी यह धारण करती है। उत्तम जल बरसाने वाले मेघों से युक्त सूर्य पृथ्वी की अपवित्रता दूर करता है। यह पृथ्वी सूर्य के चारों ओर विशेष प्रकार से गमन करती है।[24]

आज हमारा प्राकृतिक पर्यावरण ही नहीं, सामाजिक पर्यावरण भी दूषित हो रहा है। आज के इस भौतिकतावादी युग में मनुष्य की बढ़ती हुई लालची प्रवृत्ति, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, हिंसा, स्वार्थ भावना जैसी दुष्प्रवृत्तियों के कारण सामाजिक पर्यावरण दूषित हो गया है। आज सर्वत्र बेईमानी, लूट–पाट, आतंकवाद, रिश्वतखोरी, बलात्कार आदि जैसी घटनाओं के कारण दूषित वातावरण में मनुष्य का समाज में जीना कठिन हो गया है। भूमिसूक्त में ऋषि अहितकारी समाज विरोधी हिंसक, आलसी, निर्धन, परधन हरने वाले, मांसाहारी, आततायियों को स्वयं से दूर करने के लिये

मातृभूमि से प्रार्थना करते हैं।[25]

नैतिक मूल्यों का निरन्तर ह्रास होने के कारण मनुष्य अधः पतन की ओर अग्रसर हो रहा है। इस सम्बन्ध में ऋषि की मातृभूमि से प्रार्थना है कि हम पृथ्वी पर जिस भी देश में तुम्हारा आश्रय लें, हमारा कभी अधःपतन न हो।[26]

दुर्गुणों के परित्याग तथा सद्गुणों के ग्रहण द्वारा पृथ्वी पर सामाजिक पर्यावरण का संरक्षण संभव है। इसके लिये आवश्यक है कि सभी मनुष्य परस्पर मिलजुल कर सौहार्द भाव से रहें। इसलिये ऋषि मातृभूमि से प्रार्थना करता है कि हे मातृभूमि! हम सब लोगों को आपस में एकत्र होकर प्रेमयुक्त मधुर वचन बोलने की शक्ति दो।[27] हममें से कोई भी एक दूसरे के प्रति द्वेषपूर्ण व्यवहार न करे।[28]

पृथ्वी पर सभी आपसी भेदभाव को भूलकर एक कुटुम्ब की भांति एक ही घर में रहने वाले भाईयों के समान, एक ही देश में मिलजुल कर रहें। इस सम्बन्ध में भूमि सूक्त का कथन है कि पृथ्वी पर विविध वर्ग–भेद के एवं अनेक भाषाओं को बोलने वाले तो हो सकते हैं, विविध धर्मों एवं रीति–रिवाजों को मानने वाले भी हो सकते हैं, परन्तु आपसी विचारों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं होना चाहिये।[29] पृथ्वी पर रहने वाले सभी मनुष्य समान हैं। न कोई उच्च है, न नीच। इस मातृभूमि पर सभी मनुष्यों को आपसी वैरभाव के बिना प्रेमपूर्वक रहना चाहिये। उनमें परस्पर किसी भी बात को लेकर विवाद नहीं होना चाहिये।[30]

भूमिसूक्त में मातृभूमि से चलते–फिरते, बैठे हुये, खड़े हुये, दाहिने या बायें, पांवों से चलते हुये पृथ्वी पर कहीं भी कभी किसी को दुःख न पहुंचाने की कामना की गई है।[31] साथ ही कहा गया है कि यह पृथ्वी सभी दिशाओं तथा उपदिशाओं में निवास करने वाले, चलने–फिरने वाले लोगों के लिये सुखदायी हो।[32] पृथ्वी पर उत्पन्न सभी लोग निरोग, दीर्घायु, बुद्धिमान् एवं जागृतिसम्पन्न हों।[33]

यदि पृथ्वी पर ऐसी उदात्त भावना एवं उच्च विचारों से युक्त मनुष्यों का निवास होगा तो एक प्रदूषण रहित आदर्श समाज का सृजन होगा। समाज के उत्थान, राष्ट्र निर्माण तथा देश की प्रगति के लिये ऐसे उदात्त विचारों से परिपूर्ण शूरवीर ही 'मातृभूमि' का बाह्य आक्रमणकारी शक्तियों से संरक्षण कर सकते हैं। मातृभूमि से उत्तम राष्ट्र में तेजस्विता, विद्वत्ता, शूरवीरता इत्यादि गुण बढ़ाने की प्रार्थना की गई है[34] क्योंकि इन गुणों के अभाव में आदर्श राष्ट्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

पृथ्वी पर सर्वत्र सुख–समृद्धि का साम्राज्य हो, इसीलिये उन सभी शत्रुओं का समूल नष्ट करने की प्रार्थना की गई है जो हमसे द्वेष करने वाले, पृथ्वी पर हिंसा फैलाने वाले, हमें पराजित करने वाले, हमें परतन्त्र बनाने वाले हैं।[35]

वस्तुतः पृथ्वी का संरक्षण, राष्ट्र का ही संरक्षण है। सत्य, ऋत, तेज, संकल्प, तप, ज्ञान तथा त्याग जैसे गुणों से युक्त मनुष्य ही पृथ्वी का रक्षण कर सकते हैं। यह पृथ्वी अपने आधार द्वारा हमें भूत, वर्तमान तथा भविष्य – तीनों कालों में संरक्षण प्रदान करने वाली है।[36] अतः इस मातृभूमि का संरक्षण परम धर्म है।

पहले हमारे पूर्वज आर्यों ने अपने बल, बुद्धि, वीर्य, ऐश्वर्य तथा पराक्रम द्वारा आसुरी प्रवृत्ति वाले अनार्य लोगों के विनाश द्वारा इस पृथ्वी का संरक्षण किया था।[37] आलस्य एवं प्रमादरहित वीरों द्वारा ही मातृभूमि का संरक्षण सम्भव है।[38] देवताओं ने भी इस भूमि का संरक्षण प्रमादरहित होकर सदैव किया है।[39] मातृभूमि संरक्षण द्वारा ही अपराजित, अहत तथा अक्षत होकर रहते हुये इस मातृभूमि का अधिष्ठाता बनने के बारे में सोचा जा सकता है।[40] इस मातृभूमि की कौशल्ययुक्त कर्मों से बुद्धिमान् लोग सदा सेवा करते आये हैं।[41]

इस सेवा के परिणामस्वरूप अन्तरिक्षं में विभिन्न प्रकार के अन्नादि से सुसज्जित पात्र के समान यह मातृभूमि अपने पुत्रों के लिये उपभोग के सारे पदार्थ उपलब्ध करवाती है।[42]

पृथ्वी पर निवास करने वाले सभी मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वे मनसा, वाचा कर्मणा पूर्णरूप से अपनी पृथ्वी के संरक्षण हेतु प्रयास करें। वे जो भाषण करें, मातृभूमि के हित में हो, जो कुछ आँखों से देखें, वह भी मातृभूमि के लिये सहायक हो। इसी प्रकार उनके द्वारा किये जाने वाले सभी कर्म भी मातृभूमि के प्रति समर्पित हों।[43]

पृथ्वी पर सर्वत्र– नगर, वन, सभा, परिषद् यां संग्राम के क्षेत्र में जहां कहीं भी मनुष्य एकत्र हों, वे तुम्हारे प्रति सदैव शुभ वचन कहें अर्थात् कभी पृथ्वी के अहित के बारे में न सोचें।[44]

आज यदि हम पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त कराना चाहते हैं तो हमें सर्वप्रथम स्वयं को बदलना होगा और यह प्रण करना होगा कि जिस पृथ्वी पर सब तरह की उत्तम औषधियां एवं वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं, जो बहुत ही लम्बी–चौड़ी तथा स्थिर है, सत्य, ज्ञान, शूरवीरता आदि धर्मों से धारण करने योग्य है, कल्याणकारी तथा सुख प्रदान करने वाली है, इसका संरक्षण करने के लिए हम सदैव कटिबद्ध रहें।[45]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राकृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण को सुस्थिर एवं समुन्नत बनाए रखने के लिए तथा जनसाधारण में मातृभूमि के प्रति देश–प्रेम, उच्च राष्ट्र–प्रेम तथा वसुधैव कुटुम्बकम की भावना को विकसित करने की प्रेरणा देने वाले इस अथर्ववेदीय भूमिसूक्त की आज के युग में अत्यधिक प्रासंगिकता है।

पाद–टिप्पणियां

1. शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्वन्तरिक्षम्। शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः। शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः।। (19/9/1–2)
2. (i) ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।। (12/1/11,12) (ii) पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः। (12/1/2)
3. (ii) शान्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोघ्नी पयस्वती।भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह।। (12/1/59)(ii) माता भूमिः पुत्रोअहं पृथिव्याः। (12/1/12)
4. भूमे मातर्निधेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।। (12/1/10)
5. सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः। (12/1/63)
6. शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता। (12/1/26)

7. (i) गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्। (12/1/11)
(ii) यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा। (12/1/27) (iii) तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः। (12/1/26)
(iv) निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना।। (12/1/44)

8. (i) त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। (12/1/15)
(ii) यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि। (12/1/51)
(iii) ये ते आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरूषादश्चरन्ति।उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत।। (12/1/49)(iv) यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः सर्पन्मोप सृपद्यच्छिवं तेन नो मृड।। (12/1/46)

9. (i) सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु।। (12/1/3)
(ii) भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।। (12/1/22) (iii) सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा।। (12/1/9)
(iv) नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः।। (12/1/2) (V) .. यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।। (12/1/3)
(vi) या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु।। (12/1/4)

10. त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।यत् त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य।। (12/1/61)

11. यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः। यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु।। (12/1/23)

12. स नो मधु प्रियं दुहाम् । (12/1/7)

13. यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु। मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्।। (12/1/35)

14. अवहन्मि दोधतः।। (12/1/58)

15. यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते। प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कुणोतु।। (12/1/43)

16. (i) यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे। अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु।। (12/1/24)
(ii) भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्। भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।। (12/1/22)

17. यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि। यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्। वातस्य वामुपवामनु वात्यर्चिः। (12/1/51)

18. (i) अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्। अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम्।। (12/1/20) (ii) तवेमे पृथिवि पंच मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति।। (12/1/15)

19. ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः। ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्।। (12/1/36)

20. आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः। आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुंचन्तु क्षेत्रियात्।। (3/7/5)

21. शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु। (12/1/30)
22. (i) यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो ....। (12/1/3)(ii) पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु। (12/1/12)
23. (i) अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्।। (12/1/20) (ii) अग्निर्भूम्यामोषधीष्वाग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु। अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः।। (12/1/19) (iii) वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु। (12/1/6)
24. मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः। वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय।। (12/1/48)
25. ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायः किमीदिनः। पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय।। (12/1/50)
26. मा निपप्तं भुवने शिश्रियाणः।। (12/1/31)
27. ता न प्रजाः संदुहतां समग्रा वाचो मधु पृथिवी धेहि मह्याम्। (12/1/16)
28. मा नो द्विक्षत कश्चन। (12/1/18)
29. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। (12/1/45)
30. यस्याः मानवानां मध्यतः बहु असंबाधम्। (12/1/2)
31. उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रकामन्तः। पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्।। (12/1/28)
32. यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात्।स्योनास्ता महयं चरते भवन्तु। (12/1/31)
33. उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवी प्रसूताः। दीर्घं न आयुः प्रतिबुधयमाना वयं।। (12/1/62)
34. सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे। (12/1/8)
35. यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन। तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि।। (12/1/14)
36. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरूं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।। (12/1/1)
37. यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
38. महांत्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्। (12/1/18)
39. यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वादानीं देवा भूमिं पृथिवी। (12/1/7)
40. अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्। (12/1/11)
41. यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः। (12/1/8)
42. यामन्वैच्छद्धविपा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविभोगे अभवन्मातृमद्भयः।। (12/1/60)
43. यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा। त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः।। (12/1/58)
44. ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्। ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते।। (12/1/56)
45. विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणाधृताम्। शिवां स्योनामनुचरेम विश्वहा।। (12/1/17)

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1(2), No.2 (123-126) Jan.-June 2012

क्या सूर्य पर जल है?

रामावतार अग्रवाल
9, साउथ एवेन्यू, चौबे कालोनी रामपुर (छत्तीसगढ़)-492 001, भारत

प्राय: वैज्ञानिक सूर्य को आग का गोला मानते हैं। इस आग के गोले में जल होने की बात कहना अविश्वसनीय कल्पना है लेकिन यह कितने विस्मय की बात होगी जब वैज्ञानिक ही यह सिद्ध कर देंगे कि अन्तरिक्ष में सूर्य के चारों ओर जल के कण हैं। यह तो हम सब आप और सब भी मानते हैं कि जल कणों की रगड़ से बिजली पैदा होती है। चिन्तनशील लेखक ने वेदों के प्रमाण तथा अन्य तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि सूर्य के चारों ओर जल कण हैं।

सूर्य पर जल है। वैज्ञानिकों के अनुसार सूर्य आग या गैस का गोला है। वैसे अब कुछ वैज्ञानिक सूर्य को गैस व आग का गोला नहीं मानते। उनके अनुसार सूर्य- कठोरतम धरातल वाला तारा है। जल और अग्नि का स्वाभाविक वैर है। अत: यदि कहा जाये कि सूर्य पर जल है, तो वैज्ञानिक जगत् विस्मित हो जायेगा। किन्तु यह परम वैज्ञानिक सत्य है कि सूर्य पर और सूर्य के चारों ओर अन्तरिक्ष में जल के सूक्ष्मतर कण भरे हुए हैं। जल में सूर्य के प्राण प्रतिष्ठित हैं, अथवा सूर्य का अस्तित्व जल के कारण है। अत: यदि जल न हो तो सूर्य भी सूर्य नहीं रह सकता।

वेद-विज्ञान के अनुसार जल में अग्नि, वायु, विद्युत् इत्यादि सभी देवों का निवास है- **यद् देवा अद: सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।** ऋग्वेद 10/72/6

प्रविष्टा देवा: सलिलानि आसन्।। अथर्व0 10/8/40

इस प्रकार जल के सूक्ष्मतर कण, अग्नि, वायु और आकाश आदि के सूक्ष्म कणों के साथ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यक्त व अव्यक्त रूप में भरे हुए हैं। वज्ञानिकों के अनुसार जल का मूल रूप अत्यन्त सूक्ष्मतर कणों का योग है। लार्ड कोलविन और थामसन विलियम के अनुसार जल की एक बूंद में 10-24 मोलिक्यूल्स है, अर्थात् दस पर 24 बिन्दु के बराबर कण हैं (1000000000000000000000000), इस प्रकार जल एक बूंद में अगणित अंक हैं।

इसके अतिरिक्त क्लाउजियस, मेक्सवेल और स्टोनी आदि वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है एक क्यूबिक मिलीमीटर गैस में मोलिक्यूल्स की संख्या 4 गुणित 10 की घात 16 अर्थात् 40 पर 16 शून्य के बराबर (400000000000000000) है। इस प्रकार जल का सूक्ष्मतम भाग सूर्य के चारों ओर भरा हुआ है। जल से भरे हुए समुद्र को वेदों में अर्णव भी कहा गया है। यह अर्णव ही द्युलोक है, जो सूर्य की ठोस धरातल से टकराकर ताप तथा प्रकाश उत्पन्न करता है। विद्युत् प्रकाश क्या है?

विज्ञान के अनुसार विद्युत् एंव विद्युत् प्रकाश उन इलेक्ट्रानों या उन पार्टिकल का प्रवाह है, जो प्रकाश गति से गतिशील है। यही मत वेदों का है। वेदों के अनुसार विद्युत् जल

कणों का प्रवाह या जल का प्रकाश है। अथर्ववेद में जल के 5 गुणों का उल्लेख किया गया है-

''आपो यद् वस्तपः हरः अर्चि शोचिः'' - अथर्ववेद 2/23/1 से 5 तक

जल कणों के टकराने या रगड़ से जो विद्युत् उत्पन्न होती है उसे आर्चिस और उससे जो प्रकाश फैलता है उसे शोचिस कहते हैं।

जैसे जल पांचों महाभूतों में व्याप्त है, वैसे ही अग्नि भी पांचों महाभूतों में व्याप्त है (कठोपनिषद् 2/9/9,10) सूर्य की कठोर धरातल से जल कणों के टकराने से विद्युत् तथा प्रकाश दोनों प्रकट होते हैं। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में कहा गया है कि सूर्य की ऊर्जा का मुख्य स्रोत जल या सोम रस है। जल से ही पृथिवी की महिमा है और जल या सोमरस समस्त नक्षत्रों में विद्यमान है-

'सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषाम् उपस्थे सोम अहितः।।

अथर्ववेद 14/1/2

सोमरस क्या है?

सोम रस जल का वह सूक्ष्म भाग है, जिसे विज्ञान हाइड्रोजन गैस कहता है। वैज्ञानिकों के अनुसार सूर्य के चारों ओर 75 प्रतिशत हाइड्रोजन गैस भरी हुई है। सूर्य के घर्षण से यही गैस जलती है। वेदों के अनुसार सोमरस, जो जल का सूक्ष्म भाग है, जल का उससे भी सूक्ष्म भाग, अपां रस के रूप में सूर्य में विद्यमान है। यह अपां रस, उच्च शक्ति या ऊर्जा से युक्त है।

''अपां रसस्य यो रसस्तं वो गृहणाम्युत्तमम्।।''

ऋग्वेद के अनुसार सूर्य के चारों ओर दूर-दूर तक जल से उत्पन्न शक्तिशाली गैस या धूम फला हुआ है-

''शकमयं धूमम् आरादपाश्यं विषूवता पर एनावरेण।।'' ऋग्वेद 1/164/43

विज्ञान उपर्युक्त त्रैदिक धूम को हाइड्रोजन या हीलियम गैस कहे, इससे सूर्य के घर्षण से ताप व प्रकाश पैदा करता है। सूर्य का विशाल व ठोस गोला जो पृथिवी के क्षेत्रफल से 13 लाख गुना बड़ा है और अपने ही केन्द्र पर तीव्रतम गति से घूम रहा है (सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः) उसके तीव्र घर्षण से जल या सोम रस के जलने से ही ताप तथा प्रकाश उत्पन्न हो रहा है। यदि सूर्य गतिहीन हो जाये तो न ताप रहेगा न प्रकाश।

अग्नि की यह प्रकृति है कि वह स्वयं न तो जलती है तथा न प्रकाशित होती है। उसे जलने व जलाने या प्रकाश उत्पन्न करने के लिए अन्य तत्त्व की आवश्यकता है। अतः ठोस धरातल वाला सूर्य जल या सोमरस स्वयं भी प्रकाशित हो रहा है और अन्यों को भी प्रकाशित कर रहा है। वेदों के अनुसार सूर्य का जन्म भी पंचमहाभूतों के अणुओं से भरे हुए उस समुद्र या अर्णव से हुआ है, जो जलरूप में जाना गया है-

-ऋग्वेद 10/129/3,10/190/1,2,3

उपर्युक्त मंत्रों के अनुसार सूर्य सहित अन्य सभी लोकों की उत्पत्ति के लिए पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश (ध्वनि) इत्यादि सभी तत्व सहभागी हैं। ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि सूर्य की उत्पत्ति महा आकाश में परमाणुओं से भरे हुए समुद्र से हुई है-

'अत्रा समुद्र आ गूळहम्, आ सूर्यम् अजमर्तन।।' ऋग्वेद 10/72/7

वेदों में सोमरस का जल के रूप में प्रयोग हुआ है- ऋग्वेद 5/34/3 ,1/108/4

वेदों के अनुसार जल या सोम आकाश में सर्वत्र स्थित है-

''तथा च दिवि सोमो अधिश्रितः॥''

-ऋग्वेद10/85/1

वेदों तथा उपनिषदों में जलीय वाष्प को 'सोम' शब्द के रूप में उल्लिखित किया गया है। सोम जल रूप में प्रयुक्त हुआ है, इसका अनेक मंत्रों में वर्णन किया गया है-

''रसभूतैर्जलै'' -ऋग्वेद 1/108/4, ''जलम्'' ऋः 5/34/3

इस प्रकार सूर्य लोक अथवा सूर्य का अन्तरिक्ष, जल या सोम से भरा हुआ है। जल अग्नि का मित्र भी है और शत्रु भी। जल मित्र रूप में अग्नि का पोषक व संरक्षक है। अग्नि जल को जलाकर ही अपना पोषण करती है। और जल को जलाकर उससे ताप या प्रकाश उत्पन्न करके, उसे अपने से दूर भी करती है। अग्नि स्वयं नहीं जलती, वह दूसरों को जलाने का काम करती है। अग्नि दूसरे तत्वों में अपने ताप से, ताप उत्पन्न करके, उन्हे जलाती है और जलाकर ताप या प्रकाश विकीर्ण करती है। वेदों और उपनिषदों के अनुसार अग्नि की प्रकृति ऊर्ध्वमुखी है और जल की अधोमुखी है-

''आधारशक्त्यावधृतः कालाग्निरयम् ऊर्ध्वगः। तमैव निम्नगः सोमः॥'' बृहत् जावाल उपनिषद्॥8॥

निम्न और ऊर्ध्व गतियां ही ऋण और धन शक्तियों की मूल हैं और ये ही आकर्षण व विकर्षण शक्तियों की आधार हैं।

वेदों के अनुसार जल या सोम, सूर्य या द्युलोक में सर्वत्र व्याप्त है-

''दिवि सोमो अधिश्रितः॥'' ऋग्वेद 10/85/1, अथर्व. 14/1/2,8

सूर्य और सूर्य का अन्तरिक्ष या द्युलोक अग्नि तत्व की प्रधानता के साथ-साथ सोम रस या जल कणों से भी भरा हुआ है। जल और अग्नि ये दोनों एक-दूसरे के प्रतिकूल तत्व हैं। प्रतिकूल गुण-धर्म के कारण अग्नि और जल या सोमरस के मिश्रण से ही यह विश्व या पूरा ब्रह्माण्ड निर्मित हुआ है-

अग्नीषोमात्मकं विश्वम्॥ वृ. जा. उप. 21

अग्नीषोमात्मकं जगत्॥ वृ. जा. उप. 24

इसके अतिरिक्त अग्नि और जल या तेज या रस - चराचर विश्व में विद्यमान हैं - तेजोरसविभेदैस्तु वृत्तमेतत् चराचरम्। बृ. जा. 23/1

इस प्रकार चाहे सूर्य हो या अन्य कोई भी लोक क्यों न हो, वे जल और अग्नि के साथ-साथ पृथिवी, वायु और आकाश, तत्व में एक सनातन मिश्रण के परिणाम हैं। जल अग्नि से युक्त पंचमहाभूतों के मिश्रण को वेदों में पंचार चक्र कहा गया है। विभिन्न गुण-धर्म के पंच मिश्रण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का अनादि या सनातन कारण है-

ऋग्वेद 1/164/13, अथर्ववेद 9/9/11,

अंत में उपर्युक्त विवरण से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि सूर्य के निर्माण में जल का पूरा सहयोग है और उसके जीवन का आधार भी जल है। सूर्य की सतह पर और उसके चारों ओर जल भरा हुआ है। जल के अभाव में सूर्य नष्ट हो जायेगा। अतः जल में ही सूर्य के प्राण हैं। जल में सूर्य के प्राण क्यों हैं? ये प्रश्न विचारणीय है।

नोट :- दैनिक भास्कर के 5.8.2010 के समाचार के अनुसार रविवार को सूर्य में हुए एक गैसीय विस्फोट जिसे वैज्ञानिक **"कोरोनल मास इजेक्शन"** कहते हैं। उससे उठा और सौर ऊर्जा का सुनामी तूफान धरती की ओर आगे बढ़ा। वैानिकों के अनुसार उसी समय सूर्य के उत्तरी गोलार्द्ध में ठंडी गैसों का एक गुब्बार भी फूटा।

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि सूर्य में जल भी है, क्योंकि जल कणों के बिना शीत उत्पन्न नहीं हो सकती। वैसे भी वैदिक विज्ञान के अनुसार सूर्य जल के बिना जीवित नहीं रह सकता। वेदों के अनुसार जल और अग्नि जहाँ एक-दूसरे के शत्रु हैं, वहाँ वे एक-दूसरे के मित्र भी हैं। जल और अग्नि के कारण विश्व ब्रह्माण्ड में ऋण और धन दो शक्तियाँ उत्पन्न हुई हैं। ये दो विपरीत शक्तियाँ ही ब्रह्माण्ड को धारण किये हुए हैं।

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1(2), No.2 (127-130) Jan.-June 2012

वेदों में विज्ञान

कपिलदेव द्विवेदी
विश्वभारती अनुसन्धान परिषद् ज्ञानपुर, भदौही (उ0प्र0) भारत

वेद ज्ञान की निधि है। वेदों में अनन्त ज्ञान और विज्ञान भरा हुआ है। विश्व-संस्कृति के आधार पर वेद हैं, इनसे विश्व की विभिन्न संस्कृतियों का विकास हुआ है। अतएव स्मृति-ग्रन्थों में वेद को सर्वज्ञानमय बताते हुए इसे धर्म का आधार कहा गया है और द्विजमात्र के लिए वेदों के अध्ययन पर विशेष बल दिया गया है।

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। - मनुस्मृति 2.6

सर्वज्ञानमयो हि सः। - मनु0 2.7

वेदमेव सदाभ्यस्येत्, तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः। -मनु0 2.166

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा। यजु0 7.14

वेदों के विषय में स्मृतियों आदि की यह अवधारणा गम्भीर चिन्तन का फल थी। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों को अक्षय ज्ञान का स्रोत और मानवमात्र के लिए अभ्युदय का आधार माना है। वेदों की ज्योति से ही समस्त विश्व का कल्याण सम्भव है। अतएव ऋषि दयानन्द ने अपनी संस्था के दस नियमों में सभी आर्यों के लिए वेदाध्ययन अनिवार्य कर्तव्य बताया है।

वेद सब नित्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। (नियम-3)

महर्षि यास्क का कथन है कि वेदों में गूढ़ तत्त्व छिपे हुए हैं। उन्हें ऋषि या तपस्वी ही जान सकते हैं।

नहि एषु प्रत्यक्षमस्ति अनृषेरतपसो वा। -निरुक्त 12.13

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में जहाँ अन्य विविध विषयों का विवेचन किया है, वहाँ उनहोंने कतिपय वैज्ञानिक विषयों का भी विवेचन प्रस्तुत किया है। उनमें विशेष उल्लेखनीय विषय ये हैं -

पृथिव्यादिलोकभ्रमण- विषयः, आकर्षणानुकर्षण-विषयः, प्रकाश्य-प्रकाशक - विषयः, गणितविद्या- विषयः, नौविमानादिविद्या- विषयः, तारविद्या-विषयः, वैद्यकशास्त्रमूल-विषयः।

अर्थात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं, सूर्य के आकर्षण से लोक रुके हुए हैं, सूर्य चन्द्रमा आदि को प्रकाश देता है, वेदों में गणित विद्या, नौका- विमान आदि की रचना तथा तारविद्या और वैद्यक शास्त्र का मूल विद्यमान है।

महर्षि दयानन्द ने विविध मन्त्रों के उल्लेख द्वारा सिद्ध किया है कि विज्ञान की विविध विधाओं से संबद्ध मन्त्र वेदों में प्राप्त होते हैं और इनके गहन अध्ययन के द्वारा शिल्प और विज्ञान की अनेक विधाओं का रहस्य पता चलाया जा सकता है।

वेदार्थ-प्रक्रिया और महर्षि दयानन्द- वेदार्थ-प्रक्रिया में महर्षि दयानन्द का अनुपम योगदान है - नैरुक्त-प्रक्रिया। निरुक्त-प्रतिपादित इस प्रक्रिया में वेदों के देवता आदि वाचक

शब्द रूढ़ न होकर यौगिक हैं और वे यौगिक अर्थ के बोधक होने से तद्गुणविशिष्ट विभिन्न अर्थों का बोध कराते हैं। अतएव इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सोम आदि शब्द परमात्मा, जीवात्मा प्राणवायु आदि अनेक अर्थों का प्रसंगानुसार बोध कराते हैं।

पाश्चात्त्य विद्वानों की सबसे बड़ी भूल यह रही है कि इन विद्वानों ने इन शब्दों को रूढ़ मानते हुए एकार्थक माना है और वे इन शब्दों का रहस्य समझने में असमर्थ रहे हैं। अतएव उनके लिए इन्द्र-वृत्र आदि शब्द केवल वेद-असुर-संग्राम आदि तक ही सीमित रह गये हैं।

सायण आदि आचार्यों की भूल यह है कि उन्होंने वेदों का अर्थ करने में सभी मन्त्रों को देव-स्तुति-परक मानकर तदनुसार मन्त्रों की व्याख्या की है। उन्होंने उन मन्त्रों के आध्यात्मिक या वैज्ञानिक अर्थों को आधार मानकर अपने अनुवाद आदि प्रस्तुत किए हैं, अतः वे पदार्थ की रहस्यात्मकता और गंभीरता से वंचित रह गये हैं।

वेदों में वैज्ञानिक तत्त्व

वेदों में जहाँ पुरुषार्थ-चतुष्टय-रूप धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन है, वहाँ साथ ही विज्ञान के विभिन्न सूत्र स्थान-स्थान पर दिये गये हैं। वेदों में सूत्र-रूप में वैज्ञानिक तत्त्वों का समावेश है। इनका विस्तृत और प्रयोगात्मक रूप कहीं पर भी स्पष्ट नहीं किया गया है। संक्षेप में कुछ सूत्रों का उल्लेख किया जा रहा है-

सूर्य चन्द्रमा को प्रकाश देता है। सूर्य की सुषुम्ण नामक किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। निरुक्तकार यास्क ने भी इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि सूर्य की एक किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है।

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः। यजु0 18.40
अथापि अस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीव्यते।
-निरुक्त 2.6

सूर्य की ऊर्जा का आधार सोम (Hydrogen, Helium) या हाइड्रोजन है।

सोमेनादित्या बालिनः। अथर्व. 14.1.2

यजुर्वेद में जल के रस का रस सूर्य में बताया गया है। यह हाइड्रोजन के सूक्ष्मतम रूप हिलियम (Helium) की सत्ता सूर्य में बताता है-

अपां रसम् उद्वयसं सूर्ये सन्तं समाहितम्।,
अपां रसस्य यो रसः। -यजु0 9.3

यजुर्वेद में इस वैज्ञानिक तथ्य का उल्लेख किया गया है कि पृथिवी ही अपने कक्ष में नहीं घूमती है, अपितु सूर्य भी अपने कक्ष में चक्कर काटता है। सारा संसार घूमता है-

समाववर्ति पृथिवी समुषाः समु सूर्यः।
समु विश्वमिदं जगत्। -यजु0 20.23

सूर्य सारे चर और अचर जगत् की आत्मा है। सूर्य ही इस समस्त संसार की शक्ति का स्रोत है।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।
- अथर्व0 13.2.35

अनेक मन्त्रों में सूर्य की आकर्षण शक्ति का उल्लेख है। सूर्य अपनी किरणों से पृथिवी को रोके हुए है-

दाधर्थ पृथिवीम् अभितो मयूखैः॥ -यजु0 5.16
सविता यन्त्रैः पृथिवीम् अरम्णात्। -ऋ0 10.149.1
सूर्येण-उत्तभिता द्यौः। -ऋग्0 10.85.1

जल के विषय में कहा गया है कि इसमें अग्नि (Oxygen) और सोम (Hydro-

gen) दोनों तत्त्व मिले हुए हैं।

अग्नीषोमौ बिभ्रति- आप इत् ताः। -अथर्व0 3.13.5

जल के मन्थन से अग्नि (विद्युत्) की उत्पत्ति का वर्णन यजुर्वेद में प्राप्त होता है-

त्वामग्ने पुष्करादधि-अथर्वा निरमन्थत।-यजु0 11.32

वनस्पतिशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण मन्त्र अथर्ववेद में मिलता है कि अवि तत्व (जीवन-रक्षक तत्त्व, chlorophyle) के द्वारा वृक्ष-वनस्पतियों में हरियाली होती है-

अविर्वै नाम देवता-ऋतेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥

-अथर्व0 10.8.31

किरणों से विद्युत्-प्रवाह (Electro-magnetic Radiation) : ऋग्वेद में वर्णन है कि सूर्य कि किरणों के साथ मित्र और वरुण एक ही रथ पर बैठकर चलते हैं। मित्र शब्द धनात्मक आवेश (Positive Charge) और ऋणात्मक आवेश (Negative Charge) के लिए हैं। ये दोनों मिलकर विद्युत्-प्रवाह (Electro-megnetic Radiation) प्रवाहित करते हैं। इन तरंगो के द्वारा प्रवाहित शक्ति के लिए 'दूत' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस दूत को अति तीव्रगामी कहा गया है। इस मन्त्र में 'अजिर' शब्द बहुत सक्रिय अर्थ को बताता है और 'मदेरघु' शब्द अतितीव्रता को बताता है। इस ऊर्जा में चुम्बकत्व के लिए 'अयः शीर्षा' (चुम्बकत्व-शक्तिसम्पन्न) शब्द आया है-

(क) **मित्रावरुणा ..... रथर्यतः साकं सूर्यस्य रश्मिभिः।** ऋग्0 8.101.1 और 2

(ख) **यो वां मित्रावरुणाऽजिरो दूतो अद्रवत्, अयः शीर्षा मदेरघुः।** ऋग्0 8.101.3

सौर ऊर्जा (Solar Energy)- ऋग्वेद और यजुर्वेद में सौर ऊर्जा के अविष्कार और सफल प्रयोग का श्रेय 'त्रित' को दिया गया है। त्रित में ये तीन देवता हैं - इन्द्र, गन्धर्व और वसु। इन्द्र ने इस विद्या का ज्ञान प्राप्त किया। **सूरात्** - सूर्य से, **अश्वम्**- अश्वशक्ति, सौर ऊर्जा को, **वसवः** - विशेषज्ञों ने, **निरतष्ट** - निकाला।

त्रित एनम् आयुनक्, इन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्। गन्धर्वो अस्य रशनाम् अगृभ्णात्, सूरादश्वं वसवो निरतष्ट॥

-ऋग्0 1.163.2। यजु0 29.13

परमाणुओं में आकर्षणशक्ति -ऋग्वेद में उल्लेख है कि प्रत्येक परमाणु दूसरे परमाणुओं को सदा आकृष्ट करता है-

एको अन्यत्-चकृषे विश्वम् आनुषक्। -ऋग्0 1.52.14

अर्थात् **एकः** = प्रत्येक परमाणु, **अन्यत् विश्वम्** = अन्य सभी परमाणुओं को, **आनुषक्** = निरन्तर, **चकृषे** = अपनी ओर खींचता है।

द्रव्य और ऊर्जा का रूपान्तरण (Conservation of mass and Energy)- प्रो0 आइन्स्टाइन (Einstein) ने सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि द्रव्य (Mass) और ऊर्जा (Energy) में से कोई भी चीज न नष्ट की जा सकती है और न उत्पन्न की जा सकती है। केवल इनका रूपान्तरण होता है। ऊर्जा द्रव्य में परिवर्तित होती है और द्रव्य ऊर्जा में।

वेदों में वैज्ञानिक तत्त्वों की व्याख्या के प्रवर्तकों में महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में **'चत्वारि शृङ्गा'** (ऋग्0 4.58.3) **चत्वारिवाक्** (ऋग्0 1.164.45), **सुदेवो असि**

वरुण (ऋग्0 8.69.12) आदि मन्त्रों का भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत करके मन्त्रों के वैज्ञानिक अर्थ की प्रक्रिया का दिशा-निर्देशन किया है। ऋषि दयानन्द ने उसी पद्धति को अपनाते हुए अपने वेदभाष्य में तथा **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में नौ-विमानादि विद्याओं का उल्लेख किया है।

महर्षि भारद्वाज ने अपने 'यन्त्रसर्वस्व' ग्रन्थ के 'वैमानिक प्रकरण' में विमानों के निर्माण एवं उनके विविध यन्त्रों का विस्तृत वर्णन किया है। यह ग्रन्थ सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली ने 'बृहद् विमानशास्त्र' नाम से छापा है। इस ग्रन्थ के अवलोकन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में विमान आदि के निर्माण से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ विद्यमान थे। इसमें उल्लेखनीय है कि -

नारायणः शौनकश्च गर्गो वाचस्पतिस्तथा।
चाक्रायणिर्घुण्डिनाथश्चैते शास्त्रकृतः स्वयम्॥34
विमानचन्द्रिका व्योमयानतन्त्रस्तथैव च।
यन्त्रकल्पो यानबिन्दुः खेटयानप्रदीपिका॥35
व्योमयानार्कप्रकाशश्चेति शास्त्राणि षट् क्रमात्।
नारायणादिमुनिभिः प्रोक्तानि ज्ञानवित्तमैः॥36॥

-बृहद् विमानशास्त्र 1.34-36

वैज्ञानिक ग्रन्थों के लेखक ये 6 ऋषि बताते हैं- नारायण, शौनक, गर्ग, वाचस्पति, चाक्रायणि और घुण्डिनाथ। इनके बताए हुए 6 वैज्ञानिक ग्रन्थ क्रमशः ये हैं- विमानचन्द्रिका, व्योमयानतन्त्र, यन्त्रकल्प, यानबिन्दु, खेटयान-प्रदीपिका और व्योमयानार्कप्रकाश।

विमान की व्याख्या से ज्ञात होता है कि ये विमान, पृथिवी, जल और अन्तरिक्ष तीनों में चल सकते थे और इनके द्वारा देश-देशान्तर, द्वीप-द्वीपान्तर और विभिन्न लोकों तक यात्रा की जा सकती थी।

पृथिव्यप्स्वन्तरिक्षेषु खगवद् वेगतः स्वयम्।
यः समर्थो भवेद् गन्तुं स विमान इति स्मृतः॥

-नारायण

देशाद् देशान्तरं तद्वद्, द्वीपाद् द्वीपान्तरं तथा।
लोकाल्लोकान्तरं चापि योऽम्बरे गन्तुमर्हति।
स विमान इति प्रोक्तः खेटशास्त्रविदां वरैः॥

-विश्वम्भर

महर्षि भारद्वाज ने स्वीकार किया है कि यह विमान-विद्या वेदों से प्राप्त की गई है-

त्रयीहृदय-सन्दोह-साररूपं सुखप्रदम्।
अनायासाद् व्योमयान-स्वरूप-ज्ञान-साधनम्।
वैमानिकप्रकरणं कथ्यतेऽस्मिन् यथाविधि॥

-बृहद् विमानशास्त्र, मंगलाचरणम्

अश्विनीकुमार के रथ का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह रथ पृथ्वी और आकाश दोनों में चल सकता है। इसका वेग मन की गति से भी तीव्र था। **रथो ह वाम् ...... परि द्यावापृथिवी याति सद्यः।**- ऋग्0 3.58.8 **यस्ते रथो मनसो जवीयान्।**-ऋग्0 10.112.2

विमान में तीन पहिए होते थे। यह त्रिकोण आकार का होता था। इसमें तीन सीट होती थी। **त्रिबन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण सुवृता यातमर्वाक्।**- ऋग्0 1.118.2

विशाल समुद्री पोतों का भी उल्लेख मिलता है। इनमें सैकड़ों पतवार होती थीं। **दैवी नावं स्वरित्राम् अनागसम्, अस्रवन्तीम् आ रुहेम स्वस्तये। शतारित्रां शतस्फ्याम् अछिद्रां पारयिष्णुम्॥**

-तैत्ति0 संहिता 1.5.11.6

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1(2), No.2 (131-138) Jan.-June 2012

ऋग्वेद में अन्तरिक्ष-विज्ञान

सत्यदेव चौधरी
F-11/12, माडल टाउन, दिल्ली- 110 009, भारत

(1)

लगभग सन् 1970 तक दिल्ली में अधिकतर लोग गरमी की मौसम में अपने घरों की छत पर खुले आसमान के नीचे प्रकृति का आनन्द लेते हुए बड़े मजे से सोया करते थे। यही स्थिति उधर वाले हिन्दुस्तान में भी थी जिसे हम 15 अगस्त, सन् 1947 से पाकिस्तान कहते हैं। मैं उधर वाले हिन्दुस्तान में अपने छोटे बचपन में गरमी की मौसम में रात को छत पर सोता तो दूर-दूर तक फैले सितारों को देखता, उनके झुरमुट को देखता, उन्हें टूट-टूट कर दूर जाते देखता और फिर तुरन्त ही उन्हें बुझते देखता; कभी पूरे चाँद को देखता, कभी उसे घटते-बढ़ते देखता कभी उसे बादलों के पीछे लुकते-छिपते, अटखेलियाँ करते देखता, कभी उसे बादलों में से झाँकते देखता, और फिर कभी उसे बादलों में से बाहर निकलकर आकाश में चमकते-दमकते देखता तो यह सब देख-देख प्रसन्न भी होता और आश्चर्यचकित भी।

और हाँ, दिन के समय कभी-कभी अपने साथियों से 'सप्तर्षि' आदि नाम सुनता तो रात के समय आकाश में सात ऋषियों को ढु ढूँढने का प्रयास करता। बताया यह भी जाता था कि ये जो सप्ताह के सात दिन हैं इन्हीं नामों के सितारे भी आकाश में हैं - पर क्या मेल है आपस में इधर सप्ताह और उधर आकाश का, यह आज तक मेरी समझ में नहीं आया। शुक्र है कि 'आकाशगंगा' (Milky Way) का नाम किसी ने नहीं लिया था, अन्यथा मैं रात्रि के समय आकाश में 'गंगा' ढूंढने का प्रयास करता।

तो यह सब क्या है, कैसा है, यह सब जानने के लिए पिता जी से या किसी अन्य व्यक्ति से पूछने लगता, पर पूछ न पाता, बस अटक-अटक कर बोलकर रह जाता। जिज्ञासा व्यक्त करने के लिए शब्द ही नहीं मिलते थे। कोई भला मानुस जिज्ञासा शान्त करने का प्रयास करता भी, तो उखड़ी-उखड़ी भाषा में। वह जो भी कुछ कहता, मुझे बिल्कुल समझ नहीं आता था।

इसके बाद, किशोरावस्था में भूगोल के अध्यापक-महोदय ने आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, सितारों और ग्रहों के बारे में जो भी बताया, वह मेरी समझ से बाहर था। जो बताया, उसे रटा और परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। नक्षत्र और ग्रह शब्द भूगोल के अध्यापक-महोदय के मुख से और इधर कभी-कभी किसी ज्योतिषी महोदय के मुख से सुनता, तो उलझन और बढ़ जाती, क्योंकि दोनों के वक्तव्यों कां आपस में कोई साम्य नहीं होता था।

इधर आगे चलकर, यौवनावस्था में, अन्तरिक्ष-संसार के विषय में, आधुनिक विज्ञान से हटकर, वेदों में, विशेषत: ऋग्वेद में, मैंने जो कुछ पढ़ा, क्या उससे मेरी जिज्ञासा शान्त हुई?

जी नहीं, किसी भी रूप में नहीं, बल्कि इससे उलझन और बढ़ गयी। मगर इस उलझन का भी अपना आनन्द है। बन्धुओ! आप भी इसका आनन्द लीजिए।

(2)

'अन्तरिक्ष लोक' वैदिक वाङ्मय के अनुसार पृथ्वीलोक और द्युलोक के मध्यवर्ती भाग को कहते हैं, और द्युलोक से तात्पर्य है सूर्यलोक। अग्नि, सोम, नदियाँ आदि पृथ्वीस्थानीय देवता हैं, अर्थात् इनका अधिवास पृथ्वी पर है। इन्द्र, मरुत्, पर्जन्य आदि अन्तरिक्षस्थानीय देवता हैं। 'इन्द्र' शब्द वर्षाकारक वात का वाचक है, और 'मरुत्' शब्द तूफानी हवाओं का। 'इन्द्रामरुतौ' से अभिप्रेत है इन दोनों देवताओं का गठ-बन्धन जो कि वर्षा उत्पन्न करने का कारण बनता है। 'पर्जन्य' कहते हैं गरजने अथवा बरसने वाले बादल को। द्युलोक अथवा सूर्यलोक के देवता हैं - सूर्य, चन्द्रमा और असंख्य नक्षत्र।

आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली में उक्त तीनों लोकों को क्रमशः (1) पृथ्वी, (Earth), (2) पृथ्वी का वायुमण्डल अथवा वातावरण (Earth's atomosphere) और (3) अन्तरिक्ष (Space) कहते हैं। पृथ्वी का वायुमण्डल अनेक गैसों का मिश्रण है। ध्यातव्य है कि आधुनिक अन्तरिक्ष-विज्ञान के अन्तर्गत केवल तीसरे लोक की नहीं, अपितु दूसरे और तीसरे लोक से संबन्धित वर्षाविज्ञान तथा सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र-विज्ञान की चर्चा की जाती है। इस निबन्ध में इन्हीं चारों विषयों पर प्रकाश डालना आपेक्षित है।

(3)

यह सर्वविदित है कि हम पृथ्वीलोक से ज्यों-ज्यों पृथ्वी के वायुमंडल में ऊपर की ओर गुजरते जाते हैं त्यों-त्यों वायु कम होती जाती है। 120 किलोमीटर अथवा 75 मील ऊपर जाने पर वायुमण्डल बहुत ही कम अवशिष्ट रहता है। इसी स्थल से उपरिभाग को अन्तरिक्ष (Space अथवा Outer Space) कहते हैं। वायुमण्डल के बहुत ही कम होने के कारण वहाँ कोई भी पदार्थ, किसी अतिरिक्त ऊर्जा के बिना, स्वयमेव, त्वरित रूप से, गति करना आरम्भ कर देता है।[1]

इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम ज्ञातव्य है कि पृथ्वी का वायुमण्डल पृथ्वी से लगभग दस हजार किलोमीटर की ऊँचाई तक माना गया है। वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी के वायुमण्डल के पाँच आवरण अथवा परतें हैं - (1) Troposphere : पृथ्वी से 8 से 13 किलोमीटर तक, (2) Stratosphere : 13 से 30 किलोमीटर तक, (3) Mesosphere : 30 से 80 किलोमीटर तक, (4) Ionosphere : 80 से 550 किलोमीटर तक, तथा (5) Exosphere : 550 से 10,000 किलोमीटर तक। इन पाँचों परतों को हिन्दी में क्रमशः (1) क्षोभमण्डल, (2) समतापमण्डल, (3) मध्यमण्डल, (4) आयनमण्डल और (5) बाह्यमण्डल कहते हैं। 10,000 किलोमीटर के बाद से ऊपर के भाग को स्पेस अथवा अन्तरिक्ष की संज्ञा दी जाती है।

(4)

सबसे पहले **'वर्षा-विज्ञान'** की चर्चा -

'ऋग्वेद में इन्द्र-मरुत्' से सम्बन्धित सूक्तों में इन्द्र को 'वर्षाकारक वात' का प्रतीक माना गया है और मरुद्गण को (जो कि इन्द्र

के प्रमुख मित्र हैं) 'तूफानी हवा' का, अन्धड़ का। इन्द्र अपने अस्त्र 'वज्र' से वृत्र पर प्रहार करता है। वृत्र 'अवर्षण-रूप राक्षस' है जो कि वर्षा को रोके हुए हैं। वज्र से प्रहार होते ही वर्षा होने लगती है। वज्र शब्द से अभिप्राय बिजली है।

सुनने और पढ़ने में इस प्रकार के प्रतीकात्मक अर्थ सचमुच अत्यन्त कवित्वपूर्ण, मोहक और सुहावने प्रतीत होते हैं। पर बादल कैसे बनते हैं, इनसे इस प्रक्रिया पर नितान्त प्रकाश नहीं पड़ता कि जब जल तप्त हो जाता है, तब इसका वाष्प बनकर ऊपर उठता है जो कि आकाश में फैल जाता है, और वहाँ शीतल पवनों के सम्पर्क से सूक्ष्म वाष्प, स्थूल रूप में, परिवर्तित होकर दिखायी देने लगता है। इसी को बादल कहते हैं। जब बादल शीतल पवनों से मिलते हैं तो जल की बड़ी-बड़ी बूँदें बन जाती हैं जो कि भारी होने के कारण वायु में ठहर नहीं सकतीं और नीचे बरस पड़ती हैं। यही वर्षा कहाती है।

क़ालिदास ने मेघ को **'धूम-ज्योति-सलिल-मरुतां सन्निपातः'** कहा है। पर मेघ में धुएं का नामोनिशान तक नहीं होता। उसमें ज्योति अर्थात् प्रकाश भी नहीं होता। चमकती-कड़कती बिजली तो बादलों के टकराव का प्रतिफलन होती है। यदि बादल में धुँआ नहीं होता तो ज्वलन्त प्रश्न है कि क्या हवन-यज्ञ के धुंए से बादल नहीं बनता? जी, नहीं! धुंआ चाहे यज्ञ का हो, चाहे रेलवे-इंजन का, इनमें क्रमशः सुगन्ध और दुर्गन्ध भले ही हो, ये हमारे स्वास्थ्य के लिए लाभकर अथवा हानिकर भले ही हों, पर बादल किसी भी प्रकार के धूम से नहीं बनते। माना जाता है कि यज्ञ के धुंए से जो बादल बनते हैं, वे सुकाल-वृष्टि तथा यथाभीष्ट वृष्टि करते हैं और अकाल-वृष्टि तथा अतिवृष्टि से हमें बचाते हैं। किन्तु वस्तुतः, यह सब कहना बड़ा कठिन है। धूम तो वस्तुतः अपने घनत्व के अनुसार लगभग सात-आठ सौ गज से ऊपर जाकर प्रभाव नितान्त खो बैठता है। और यदि प्रभाव रखता भी हो, पर इससे बादल तो नहीं बनते।

(5)

और अब **सूर्य** की चर्चा, जो कि वस्तुतः एक नक्षत्र अथवा तारा है।

हम मर्त्यवासियों की दृष्टि में अन्तरिक्षलोक में जो सर्वाधिक स्थूल तारा है, वह सूर्य है। इसे वैज्ञानिक लोग पृथ्वी से लगभग 16 करोड़ किलोमीटर की दूरी पर स्थित मानते हैं। पृथ्वी से चन्द्रमा और सूर्य की दूरी को वैज्ञानिक इस रूप में समझाते हैं कि तीव्रतम जैट पृथ्वी से चन्द्रमा तक पहुँचने में 15 दिन लगता है तो पृथ्वी से सूर्य तक पहुँचने में उसे 15 वर्ष लगेंगे, अर्थात् लगभग 365 अथवा सुविधा के लिए कहें तो 400 गुना समय। इस प्रकार चन्द्रमा पृथ्वी से लगभग चार लाख किलोमीटर दूर है तो सूर्य पृथ्वी से 4 लाख x 400 = लगभग 15 अथवा 16 करोड़ किलोमीटर की दूरी पर है।

ऋग्वेद में सूर्य को अति काव्यात्मक रूप में निरूपित किया गया है। यथा- सूर्य का ज्वलन्त प्रकाश आकाश में मानों अमूर्त अग्नि का मुख है।[2] सूर्य तो देवताओं की चक्षु है जिसे उषा अपने साथ लेती आती है।[3] सूर्य को

दूरद्रष्टा (7.35.8) और सर्वद्रष्टा (1.50.2) कहा गया है। इसी प्रकार अथर्ववेद में भी सूर्य को प्राणिमात्र का चक्षु कहा गया है - यह आकाश, पृथ्वी और जल को अति गहन दृष्टि से देखता है।[4] सूर्य मानवमात्र का उद्‌बोधक है (ऋग्0 7.63.2)। इसके द्वारा उद्‌बुद्ध किये जाने पर मनुष्य अपने लक्ष्यों की ओर निकल पड़ते हैं और अपने कार्यों को पूरा करने में व्यस्त हो जाते हैं (ऋग्0 7.63.4)।

सूर्य को पक्षी अथवा श्येन कहा गया है (10.117.1, 7.63.5)। एक स्थल पर कहा गया है कि इसके रथ में 'एतश' नाम का घोड़ा जुता है, किन्तु अन्यत्र कहा गया है कि इसमें सात घोड़े जुते हैं, तथा एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि इसमें 'हरित' नाम की सात घोड़िया जुती हैं (4.13.3)। एक मन्त्र में निर्दिष्ट किया गया है कि सूर्य अपने स्वर्णिम रथ पर यात्रा करता हुआ भुवनों को देखता जाता है।[5]

स्पष्ट है कि वेद में सूर्य को चलनशील माना गया है। पर इधर आधुनिक खगोलशास्त्रियों के अनुसार सूर्य नामक इस नक्षत्र के चारों ओर नव ग्रह घूमते रहते हैं जिनमें पृथ्वी भी एक ग्रह है। सूर्य यद्यपि अपने अक्ष पर 220 किलोमीटर प्रति सैकण्ड की चाल से गति करता रहता है, पर यह नव ग्रहों के समान किसी अन्य नक्षत्र की परिक्रमा नहीं करता। अतः इसे स्थिर माना गया है, न कि उक्त वैदिक वचनों के अनुसार चलनशील।

खगोलशास्त्री सूर्य को एक नक्षत्र कहते हुए एक बड़ा गोलाकार पिण्ड मानते हैं जो अत्यन्त गर्म और प्रज्जवलित गैसीय पदार्थों से निर्मित है। इस प्रकार के संकेत हमें वैदिक वाङ्मय में स्पष्टतः अथवा प्रकारान्तर से ही सही, शायद ही कहीं मिलें। उल्लेख्य है कि उक्त नौ ग्रहों का अपना प्रकाश नहीं होता। जब इन पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है तो वे चमक जाते हैं। सूर्य से दूरी के अनुसार नौ ग्रहों का क्रम इस प्रकार है- बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, अरुण (यूरेनस), वरुण (नेप्च्यून) और यम (प्लूटो)। इसी प्रसंग में ज्ञातव्य है कि इन ग्रहों के बीच का अन्तरिक्ष पूर्णतः शून्य नहीं है, बल्कि यह सूर्य-वायु की सूक्ष्म गैस और धूलि-कणिकाओं से भरा हुआ है।[6]

(6)

सूर्य के प्रसंग के अन्तर्गत **उषा** का स्वरूप प्रतिपादित करना नितान्त अपेक्षित है जो कि ऋग्वेद में अत्यन्त कवित्वपूर्ण एवं मनोमोहक रूप में प्रस्तुत किया गया है- रात्रि का शान्त अन्धकार धीरे-धीरे चला जा रहा है, सूर्य के उगने में बस अभी थोड़ी ही देर है। इस समय उषा का सौन्दर्य देखते ही बनता है। उषा रूपी कुमारी प्रकाश के वस्त्र पहनकर पूर्व दिशा में प्रकट होती है और अपनी आकर्षक छवि को अनावृत करती है।[7] उषा एक नर्तकी की भाँति मोहक वस्त्रों में चमकती-दमकती अपनी छाती को खोल रही है। वह समग्र संसार के लिए प्रकाश बिखेर रही है। वह अंधेरे को ऐसे खोल रही है जैसे गौएं अपने बाड़े को (घेरे को, निवास-स्थान को) खोल देती हैं -

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्।
ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्त्तमः।। (ऋग्0 4.92.4)

(7)

सूर्य के बाद अब **चन्द्रमा** की चर्चा करें।

दिन के बाद रात आती है और रात के बाद दिन - यह देख वैदिक ऋषि ने सूर्य और चन्द्रमा को अनेक स्थानों पर युग्म रूप में प्रस्तुत किया है- धाता ने यथापूर्व सूर्य और चन्द्रमा की रचना की - **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्** (ऋग्0 10.190.3)। सूर्य और चन्द्रमा परस्पर (बारी-बारी से) उगते रहते हैं - **सूर्यामासा मिथः उच्चरातः** (ऋग्0 10. 68.10)। सूर्य और चन्द्रमा ये दोनों खिलाड़ी शिशुओं की भाँति यज्ञ की परिक्रमा करते हैं, तथा इनमें से एक, सभी भूतों का निरीक्षण करता है और दूसरा ऋतुओं का नियमन करता है।[8]

किन्तु इधर आधुनिक खगोलशास्त्री केवल इतना मानता है कि सूर्य का प्रकाश जैसे पृथ्वी पर पड़ता है वैसे चन्द्रमा पर भी पडता है। पृथ्वी सूर्य का एक ग्रह है, जबकि चन्द्रमा पृथ्वी का एक उपग्रह है। दिन और रात बनने का सम्बन्ध पृथ्वी के घूमते रहने का कारण है। इसका जो भाग सूर्य के सम्मुख होता है, वहां दिन होता है, और जो उसके सम्मुख नहीं होता वहां रात होती है। इस प्रकार ऋग्वेद में वर्णित सूर्य और चन्द्रमा का युग्मीय रूप प्राप्त होता है।

ऊपर कहा गया है कि सूर्य के चारों ओर नौ ग्रह परिक्रमा करते रहते हैं। इन ग्रहों में पृथ्वी एक ग्रह है, और पृथ्वी का भी एक उपग्रह है चन्द्रमा, जो कि लगभग 4 लाख किलोमीटर की दूरी पर है। पृथ्वी के चारों ओर चन्द्रमा की परिक्रमा लगभग 27.3 दिन में पूरी होती है। क्या चन्द्रलोक में वायु है? ऋग्वेद (10.85, विवाह-सूक्त के पाँचवें मन्त्र में) कहा गया है - **वायुः सोमस्य रक्षिता।** सायण के अनुसार इस वचन का तात्पर्य है कि चन्द्रमा की गति वायु के आधीन है। यदि चन्द्रलोक पर वायु है तो वहां जीव भी हो सकते हैं। इसी प्रकार **'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि'** (ऋग्0 1.105.1), अर्थात् चन्द्रमा जल के भीतर होकर दौड़ता है। इस वचन के अनुसार चन्द्रमा पर जल भी होना चाहिए। इससे वहां जीवों के होने की संभावना और भी अधिक बढ़ जाती है।

रोमांचाभिलाषी मानव की सदा से यह चाह रही होगी कि वह चन्द्रलोक तक पहुँच जाए, पर बृहदारण्यक उपनिषद् (5.10) के अनुसार स्पष्ट ज्ञात होता है कि मानव वहां कदापि नहीं पहुँच सकता। हाँ, अल्बता, मृत्यु के अनन्तर वह अपने शुभ कर्मों के बल पर इस मर्त्यलोक से वायु को प्राप्त होता है, वायु के सहारे वह सूर्यलोक में पहुँचता है और वहां एक छिद्र में से गुजरता हुआ चन्द्रलोक में पहुँच जाता है। और फिर, वहाँ से एक छिद्र में से शोक और दुःखशून्य लोक में पहुँच कर अनन्त वर्षों तक निवास करता है। इधर श्रीमद्भगवद्गीता (8.24, 25) में भी उक्त धारणा की पुष्टि की गयी है कि ब्रह्मवेत्ता अर्थात् योगी जन मरणानन्तर चन्द्रलोक में जाते हैं और फिर (शुभ कर्मों का फल भोगकर पुनः मर्त्यलोक में) लौट आते हैं - **तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।** इस प्रकार भारतीय वाङ्मय के अनुसार चन्द्रलोक में वायु है, जल है, जीव है, तथा उसमें मानव

अथवा पृथिवी का कोई प्राणी जीते-जी प्रवेश नहीं कर सकता।

किन्तु 20 जुलाई, सन् 1969 में चन्द्रतल पर पहली बार चरण रखने वाले नील आर्मस्ट्रांग और एडविन 'बज्ज' एलड्रिन नाम दो उपग्रह-यात्रियों और माइकेल कोलिन्स नामक उनके तीसरे साथी के अभियान से ज्ञात हुआ था कि चन्द्रमा में न तो वायु है, न जल है और न कोई जीव है। इस प्रकार ये तीनों मानव अपने जीते-जी, न कि मरणोपरि, चन्द्रलोक में पहुँच गये थे। जब मैंने अपने पूज्य पिताजी को यह सब बताया था कि चाँद पर न वायु है, न जल है और न ही कोई जीव है, तो वे तुरन्त बोले थे - 'बेटे! कभी वहाँ सब कुछ होगा, मगर अब वहां प्रलय होगी।' पाठक बन्धुओं! कोई जबाब नहीं मेरे पास, इस जबाब का। उनकी यह धारणा ठीक भी हो सकती है और नहीं भी।

बृहदारण्यक उपनिषद् और भगवद्गीता के उक्त वचनों के अनुसार भले ही जीवित मानव की चन्द्रलोक तक पहुँच न हो, पर पुराणों के अनुसार नारद मुनि की पहुँच समस्त ब्रह्माण्ड के सभी लोकों तक थी जिनमें चन्द्रलोक और पृथ्वीलोक भी सम्मिलित हैं। आज का वैज्ञानिक नारदमुनीय उपलब्धि को प्राप्त करने में जुटा है। सफलता अथवा असफलता भविष्य के गर्भ में है।

ऋग्वेद के निम्नोक्त मन्त्र से संभवतः इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि सूर्य द्वारा रात्रि का अन्धकार विनष्ट होता है तथा पृथ्वी गोलाकार है-

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः। न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात्सूर्येण।। (ऋग्0 1.33.8)

(स्वर्ण और मणियों से आभूषित वे, अर्थात् वृत्र (न बरसने वाले तथा अन्धकार-स्वरूप बादल) के अनुगामी, पृथ्वी के घेरे के चारों ओर विस्तीर्ण हो रहे थे। किन्तु शक्तिशाली होते हुए भी, वे इन्द्र (वर्षा करने बादलों) पर विजय प्राप्त न कर सके कि इतने में इन्द्र ने ही (उदीयमान) सूर्य के द्वारा उन्हें तितर-बितर कर दिया।)

ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के इस मन्त्र में कृष्ण पक्ष की रात्रि का सुन्दर वर्णन हैं। ये चमकते-दमकते सितारे पृथ्वी को घेरे हुए हैं। ये अपना साम्राज्य जमाना चाहते हें, पर इन्द्र-रूप काल की गति ने सूर्योदय के द्वारा इन्हें दूर भगा दिया - यों कहें कि रात्रि समाप्त हो गयी और दिन निकल आया।

(8)

ऋग्वेद में **नक्षत्रों** की चर्चा के अन्तर्गत यहाँ केवल मृगशिरा, कृत्तिका और पुनर्वसु नक्षत्रों के विषय में उल्लेख किया जा रहा है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपने ख्यात ग्रन्थ ओरायन (Orion) अर्थात् 'मृगशीर्ष' में ऋग्वेद के चार मन्त्रों[9] के आधार पर इन्हीं नक्षत्रों में वसन्त-संपात (Vernal equinox) अथवा (Spring equinox) मानते हुए वेदों का रचना-काल निर्धारित किया है। यहाँ संपात से तात्पर्य है रात और दिन के काल का एक-समान होना।[10]

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार 27 नक्षत्रों में से (1) मृगशिरा पाँचवां नक्षत्र है और यह 3

तारों का पुंज है। (2) कृतिका तीसरा नक्षत्र है और यह 6 तारों का पुंज है। (3) पुनर्वसु सातवाँ नक्षत्र है और यह 2 अथवा 3 तारों का पुंज है। तिलक महोदय का कहना है कि -

(1) मृगशिरा नक्षत्र में वसन्तसंपात मानने पर ऋग्वेद की रचना का आरम्भ हमारे इस युग से 6500 वर्ष अर्थात् 4500 अथवा 4000 ईस्वी पूर्व हुआ होगा।

(2) पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्तसंपात मानने पर ऋग्वेद की रचना का आरम्भ उक्त समय से 2000 वर्ष पूर्व (हमारे इस युग से 8500 वर्ष पूर्व) अर्थात् 6500 अथवा 6000 ईस्वी पूर्व हुआ होगा।

उन्होंने उक्त तीन नक्षत्रों को ध्यान में रखते हुए ज्योतिषशास्त्रीय गणना के अनुसार वेदों की रचना, संकलन तथा ब्राह्मणग्रन्थों तथा दर्शनशास्त्रों की रचना के समस्त काल को निम्नोक्त चार भागों में विभक्त किया है-

1. अदितिकाल (6000-4000 वर्ष ई.पू.) - इसमें निविदमन्त्र (गद्यपद्यात्मक, यज्ञिय विधिवाक्य-युक्त) रचे गये।
2. मृगशिराकाल (4000-2500 वर्ष ई.पू.)- इसमें ऋग्वेद के अधिकतर सूक्त रचे गये।
3. कृत्तिकाकाल (2500-1400 वर्ष ई.पू.)- इसमें चरों वेदों का संकलन हुआ तथा तैत्तिरीय संहिता और कुछ ब्राह्मणग्रन्थ रचे गये।
4. अन्तिमकाल अथवा सूत्रकाल (1400-500 ई.पू.) - इसमें सूत्रग्रन्थ और दर्शनग्रन्थ रचे गये।

श्री तिलक महोदय के उक्त मन्तव्य से भारतीय विद्वान् सहमत हैं भी और नहीं भी, पर इस निबन्ध का लेखक ज्योतिष-विद्या से नितान्त अनभिज्ञ है। अतः इस विषय पर कुछ भी प्रतिक्रिया व्यक्त करने में असमर्थ है।

इस प्रकार ऋग्वेद में न जाने कितने स्थल अन्तरिक्ष-विज्ञान से सम्बन्धित उपलब्ध किये जा सकते हैं। यह तो केवल बानगी मात्र है। यही स्थिति अन्य वेदों की तथा आरण्यक, ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषत्साहित्य की भी संभव है।

पाद-टिप्पणियां

1. Space or Outer : the void that exists beyond Earth's atmosphere. Above 120 km. or 75mi., very little atmosphere remains, so objects can continue to move quickly without extra energy.
2. अग्नेरनीकं बृहतः सपर्यं दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य। (ऋग्0 10.7.3)
3. देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती .... उषा अदर्शि......। (ऋग्0 7.77.3)
4. सूर्या द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपो अति पश्यति। सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुः।। (अथर्व0 13.1.45)
5. आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो। (ऋग्0 1. 35.2)
6. The space between the planets is not entirely empty, but filled with the tenuous gas of the solar wind as well as dust specks.

(See 'Space' in 'Concise Dictionary of Science', Helicon)

7. एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना परस्तात्। (ऋग्0 1.124.3)

8. पूर्वापरं चरन्तो माययैतौ शिशू क्रळनतौ परियातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदध ज्जायते पुनः।। (ऋग्0 10.85.18)

9. ऋग्वेद 1.33.12, 1.80.7, 1.161.13 तथा 10.86.5

10. वसन्तसंपात Vernal equinox अथवा (Spring equinox) 20 मार्च को माना जाता है, तथा शरत्संपात् Autumnal equinox) 22 अथवा 23 सितम्बर को। इन दोनों दिनों में रात और दिन बराबर होते हैं।

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1(2), No.2 (139-147) Jan.-June 2012

वैदिक वाङ्मय में अन्तरिक्ष विज्ञान का स्वरूप

व्रजबिहारी चौबे
वी.वी.आर.आई. एण्ड आई.एस., होशियारपुर (पंजाब) भारत

वेद विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय है। साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने सृष्टिविषयक जिस ज्ञान-विज्ञान की अनुभूति अपने अन्तःकरण में की थी उसी की अभिव्यक्ति वेद है। सृष्टिविषयक जो भी ज्ञान-विज्ञान है वह सब वेद में किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त हुआ है। इस पत्र में हम अन्तरिक्ष विज्ञान के स्वरूप की चर्चा करेंगे। अन्तरिक्ष विज्ञान से यहाँ हमारा अभिप्राय वैदिक ऋषियों के अन्तरिक्ष विषयक वैज्ञानिक चिन्तन से है। वेद में अन्तरिक्ष के विषय में जो कुछ बातें कही गई हैं या एतद्विषयक ऋषियों का जो चिन्तन है वह मात्र कल्पनात्मक, काव्यात्मक, पुराकथात्मक ही है, या उसके अन्दर कोई विज्ञान-सम्मत सुनिश्चित सिद्धान्त है, सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि अन्तरिक्ष विषयक चिन्तन में बाह्य दृष्टि से पुराकथात्मकता झलकती हो, किन्तु उसके मूल में अन्तरिक्ष का वैज्ञानिक स्वरूप स्पष्ट है।

वैदिक वाङ्मय में सात लोकों का उल्लेख मिलता है- जिनके नाम हैं - भूः, भुवः, स्वः (सुवः), महः, जनः, तपः एवं सत्यम्। इन्हीं को सप्त व्याहृति भी कहा जाता है। इनमें से प्रथम तीन व्याहृति एवं तीन लोक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में 'महः' नामक चतुर्थ व्याहृति का उल्लेख है जिसकी सत्ता महाचगस्थ नामक आचार्य के नाम पर स्वीकार की गई है।[1] ऋग्वेद में 'महः' नाम से अलग व्याहृति या लोक का उल्लेख नहीं मिलता। यहाँ भूः, भुवः,स्वः के अतिरिक्त 'नाक' तथा 'विष्टप' लोभों का उल्लेख मिलता है। नाक शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में 32 बार तथा विष्टप शब्द का 12 बार हुआ है। 'नाक' और 'विष्टप' अलग लोक है या स्वर्लोक के ही वाचक हैं इस विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों पक्षों में प्रमाण मिलते हैं। जहाँ इस बात का उल्लेख मिलता है कि स्वर्लोक ही नाक तथा विष्टप है वहाँ अन्यत्र नाक के ऊपर स्वर्लोक की सत्ता का उल्लेख है। जैमिनि ब्राह्मण (जैब्रा) में नाक, स्वर्ग और विष्टप की एकता स्थापित की गई है।[2] किन्तु तैत्तिरीय संहिता में 'नाक' का तादात्म्य द्युलोक से किया गया है और लोकों के आरोहक्रम में उसे द्युलोक से ऊपर का कहा गया है - 'पृथिवी लोक से मैं ऊपर अन्तरिक्ष पर आरूढ़ हुआ हूँ, अन्तरिक्ष लोक से मैं द्युलोक पर आरूढ़ हुआ हूँ, द्युलोक से ऊपर नाक की पीठ से स्वर्ज्योति को मैं प्राप्त हुआ हूँ।[3] यहाँ सायणाचार्य ने 'दिवः' और नाकस्य पदों को समानाधिकरण में लेते हुए नाक को द्युलोक का विशेषण माना है। सायण के अनुसार नाक का अर्थ है द्युलोक सम्बन्धी वह स्थान जहाँ किसी प्रकार का दुःख नहीं।[4] लोकों के आरोह-क्रम में कोई मतभेद नहीं। अगर पृथिवीलोक के बाद कहीं द्युलोक

का उल्लेख हुआ है तो वहाँ यही संभावना चाहिये कि द्युलोक में ही अन्तरिक्ष का समाहार कर लिया गया है। अन्तरिक्ष पृथिवी और द्युलोक के मध्य स्थित है इसमें कोई सन्देह नहीं। अन्तरिक्ष शब्द के जो निर्वचन वैदिक साहित्य में मिलते हैं उनसे अन्तरिक्ष की पृथिवी और द्यु के मध्य स्थिति सिद्ध होती है। शतपथब्राह्मण (श.ब्रा.) का कथन है कि पहले पृथिवी और द्यौ ये दोनों सम्पृक्त थे। दोनों के अलग होने से दोनों के बीच जो आकाश था, वही आकाश अन्तरिक्ष कहलाया। दोनों द्यौ और पृथिवी के अलग होने से पूर्व आकाश की ईक्ष संज्ञा थी; दोनों के पृथक् होने पर दोनों के मध्य यह ईक्ष था इसीलिए इस आकाश की अन्तरिक्ष संज्ञा हुई।[5] अन्तरिक्ष से ही द्यौ और पृथिवी दोनों अलग-अलग है।[6] दोनों के मध्य स्थित होने से ही इसकी अन्तरिक्ष संज्ञा है। ताण्ड्य महाब्राह्मण (तां.ब्रा.) इसीलिये इसको मध्यलोक मानता है।[7] मैत्रायणी संहिता (मै.सं.) अन्तरिक्ष को दो भागों में विभक्त करती है। अन्तरिक्ष का एक अर्ध भाग पृथिवी लोक से जुड़ा है और दूसरा अर्ध भाग द्युन्लोक से जुड़ा है।[8] मै. सं. के इस उल्लेख से यह बात स्पष्ट होती है कि जहाँ तक पृथिवी का गुरुत्वाकर्षण है वहाँ तक अन्तरिक्ष पृथिवी गुणात्मक होने से पृथिवी का भाग है और नीचे जहाँ तक द्युलोक से सम्बद्ध है वहाँ तक अन्तरिक्ष द्युगुणात्मक होने से द्युलोक का भाग है। संभवतः इसी तथ्य की ओर संकेत ऐतरेयब्राह्मण करता है जब वह इस पृथिवी को अन्तरिक्ष कहता है।[9] निघण्टु भी अन्तरिक्ष वाचक शब्दों में एक 'पृथिवी' नाम पढ़कर इसी तथ्य की पुष्टि करता है।[10] पृथिवी और द्युलोक को जोड़ने वाला अन्तरिक्ष है इस तथ्य को आलंकारिक भाषा में व्यक्त करते हुए तां ब्रा. कहता है कि ब्रह्माण्ड रूप ऊर्जा का यह अन्तरिक्ष एक ऊध स् है जिसके पृथिवी और द्यौ दो स्तन है। पृथिवी रूप एक स्तन से वह देवताओं के लिए रस प्रदान करता है और द्यौरूप दूसरे स्तन से पृथिवी पर उत्पन्न सभी प्राणियों को रस प्रदान करता है।[11] द्युलोक से पृथिवी पर स्थित प्राणियों के लिये तथा पृथिवीलोक से द्युलोक में देवताओं के लिये रस प्रदान करने का कार्य अन्तरिक्ष ही कर रहा है।

वेद में ब्रह्माण्ड का निर्माण करने वाली शक्तियों का तत्वों को देव शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है। ये तत्व सामान्य रूप से प्रत्येक लोक में व्यक्त हैं किन्तु इनका विशेष कार्य विभिन्न लोकों से साथ जुड़ा हुआ है। चूँकि प्रमुख तीन ही लोक हैं - पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक - इसलिये यास्क ने इन्हीं तीन लोकों के आधार पर देवतत्व को तीन भागों में विभक्त किया है- पृथिवी स्थानीय देवता, अन्तरिक्ष स्थानीय देवता एवं द्युस्थानीय देवता। पृथिवी स्थानीय देवताओं में अग्नि, अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं में इन्द्र या वायु तथा द्युस्थानीय देवताओं में सूर्य प्रमुख हैं।[12] आचार्य यास्क के अनुसार वस्तुतः ये ही तीन देवता हैं, शेष इन्हीं तीनों महान् शक्तियों के अनेक अभिधान अन्य देवता हैं।[13] वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर इन त्रिविध देवताओं में भी आपाततः एकरूपता है। इनमें प्रमुख अग्नि है, उसी अग्नि का सरल रूप वायु है तथा गैस रूप सूर्य है। किसी भी

रूप का निर्माण अग्नि का कर्म है[14], रस का संसरण एवं बलविषयक जो कुछ कर्म है वह इन्द्र का कार्य है[15], तथा रश्मियों के द्वारा पृथिवी से रस-ग्रहण करना, उसे आकाश में धारण करना तथा जो पोषण कर्म है, वह सूर्य का कर्म है।[16] निघण्टु में अन्तरिक्षस्थानीय देवताओं की संख्या पृथिवीस्थानीय एवं द्युस्थानीय देवताओं की संख्या से अधिक है। वृथिवी स्थानीय देवताओं की संख्या पचास[17] तथा द्युस्थानीय देवताओं की संख्या इकतीस[18] है, वहाँ अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं की संख्या अडसठ है। अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं की सूची इस प्रकार है :-

(1) वायु:, (2) वरुण:, (3) रुद्र:, (4) इन्द्र:, (5) पर्जन्य:, (6) बृहस्पति:, (7) ब्रह्मणस्पति:, (8) क्षेत्रस्यपति:, (9) वास्तोष्पति:, (10) वाचस्पति:, (11) अपांनपात् (12) यम:, (13) मित्र, (14) क:, (15) सरस्वान् (16) विश्वकर्मा, (17) तार्क्ष्य: (18) मन्यु:, (19) दधिक्रा:, (20)सविता, (21) त्वष्टा, (22) वात:, (23) अग्नि:, (24) वेन:, (25) असुनीति:, (26)ऋत:, (27) इन्दु:, (28) प्रजापति:, (29) अहि:, (30) अहिर्बुध्न्य: (31) सुपर्ण:, (32)पुरूरवा:। इति द्वाविंशत् पदानि।

(1) श्येन:, (2) सोम:, (3) चन्द्रमा:, (4) मृत्यु:, (5) विश्वानर:, (6) धाता (7) विध ाता, (8) मरुत:, (9) रुद्रा:, (10) ऋभव:, (11) अङ्गिरस:, (12) पितर:, (13) अथर्वाण: (14)भृगव:, (15) आप्त्या:, (16) अदिति:, (17) सरमा, (18) सरस्वती, (19) वाक्, (20)अनुमति:, (21) राका, (22) सिनीवाली (23) कुहू:, (24) यमी, (25) उर्वशी (26)पृथिवी, (27) इन्द्राणी (28) गौरी (29) गौ:, (30) धेनु:, (31) अघ्न्या (32) पथ्या (33) स्वस्ति:, (34) उषा:, (35) इळा, (36) रोदसी। इति षट्त्रिंशत् पदानि।

इन उपर्युक्त देवताओं का नाम अन्तरिक्ष स्थानीय देववर्ग में उद्धृत होने से यह बात स्पष्ट होती है कि इनका कार्यक्षेत्र प्रमुख रूप से अन्तरिक्ष है। अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं में अग्नि का नाम पृथिवीस्थानीय (5.1.1) तथा विश्वानर (5.5.5), सविता (5.4.20), उषा: (5.5.34), त्वष्टा, (5.4.21), वरुण (5.4.2) तथा यम (5.4.12) का उल्लेख द्युस्थानीय देवताओं में भी हुआ है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इन देवताओं का उभयविध रूप है। सूक्ष्म जल युक्त वायु ही अन्तरिक्ष को चारों तरफ से आवृत्त करने के कारण वरुण कहलाता है। अन्तरिक्ष स्थानीय विद्युत् से अग्नि उत्पन्न होता है, इसलिये विद्युत् भी अग्नि ही है। किन्तु दोनों में क्या अन्तर है इसका उल्लेख स्वयं यास्क ने किया है। वैश्वानर शब्द के विवेचन के प्रसंग में यास्क ने शाकपूणि नामक आचार्य का मत उद्धृत किया है। शाकपूणि के अनुसार पार्थिव अग्नि का नाम वैश्वानर है तथा मध्य स्थानीय विद्युदग्नि एवं द्युस्थानीय सूर्याग्नि विश्वानर है। इन दो अग्नियों से उत्पन्न होने के कारण पार्थिव अग्नि को वैश्वानर कहा जाता है।[19] जिस समय वैद्युताग्नि अपने आश्रयभूत मेघ को हिंसित करती है तब वह अपने मूल रूप में होती है, वह किसी पार्थिव पदार्थ से ग्रहण नहीं होती। उस समय वह मध्यम धर्मवान्

अन्तरिक्ष स्थानक विद्युत् नाम से जानी जाती है। उदक इसका इन्धन अर्थात् प्रवृद्ध करने वाला होता है और काष्ठ उसका इन्धन होता है और जल उसका उपशमनकर्ता।[20]

सविता देवता अन्तरिक्ष स्थानीय एवं द्युस्थानीय देवताओं में परिगणित है। सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णात्[21] मन्त्र के व्याख्यान में यास्क सविता को अन्तरिक्षस्थानीय मानते हैं। यहाँ सविता शक्तिशाली विद्युन्मय वायु है जो आधार रहित समुद्र रूप अन्तरिक्ष में पृथ्वी को अपनी शक्ति से दृढ़तापूर्वक धारण करता है। यास्क स्पष्ट रूप से कहते हैं कि यहाँ 'सविता' मध्यम स्थानीय देवता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता जो अन्तरिक्ष में पृथिवी को स्थिर किये हुए है।[22] इसी प्रकार अन्य अन्तरिक्ष स्थानीय एवं द्युस्थानीय उभयात्मक देवताओं के स्वरूप के विषय में समझा जा सकता है।

निघण्टु में अन्तरिक्षवाचक सोलह पद परिगणित हैं[23], जो इस प्रकार हैं -

(1) अम्बरम्, (2) वियत्, (3) व्योम, (4) बर्हिः, (5)धन्व, (6)अन्तरिक्षम् (7) आकाशम्, (8) आपः, (9) पृथिवी, (10) भूः, (11) स्वयंभूः, (12)अध्वा, (13) पुष्करम् (14) सगरः, (15) समुद्र (16) अध्वरम्।

अन्तरिक्ष वाचक ये शब्द अन्तरिक्ष के विविध धर्मों एवं कर्मों का उल्लेख करते हैं।

अम्बरम् - अम्बर शब्द अम्ब 'गतौ'+रा 'दाने' धातुओं से निष्पन्न होता है। शब्द प्रदान या उत्पन्न करने के कारण अन्तरिक्ष को अम्बर कहा जाता है। शब्द आकाश का गुण है, जहाँ कहीं शब्द होता है वहाँ आकाश की सत्ता है। बिना आकाश के शब्द की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ऋग्वेद में अम्बर शब्द एक बार प्रयुक्त हुआ है।[24]

वियत् - वियत् शब्द वि+यम् 'नियमने' धातु से निष्पन्न होता है। सृष्टि के धारक सभी तत्वों को अपने में विशेष रूपसे नियन्त्रित करने के कारण अन्तरिक्ष को वियत् कहा जाता है। सर्वत्र गति होने के कारण भी अन्तरिक्ष की वियत् संज्ञा हैं। पृथिवी और द्युलोक को पृथक् करने वाला होने से भी अन्तरिक्ष वियत् है।

व्योम - व्योम शब्द वि+अव 'रक्षणे' सं निष्पन्न होता है। पृथिवी के ऊपर आवरण रूप में स्थित होकर उसकी रक्षा करता है। इसी दृष्टि से यास्क ने व्योमन् को व्यवने (वि+अव+ल्युट्+ङि) माना है।[25] एक 'व्योम' है और दूसरा 'परम व्योम' है। व्योम पृथिवी से ऊपर अन्तरिक्ष है और परम व्योम द्युलोक से ऊपर सर्वोच्च लोक है।

बर्हि - बर्हिः शब्द बृह 'वृद्धौ' धातु से निष्पन्न होता है। चारों तरफ फैला होने के कारण अन्तरिक्ष की बर्हि संज्ञा है।[26] बर्हिः शब्द अन्तरिक्ष के सर्वत्र विस्तार का द्योतक है।

धन्व - धन्व शब्द धवि 'गतौ' धातु से निष्पन्न होता है। अन्तरिक्ष को धन्व इसलिये कहते हैं कि यहाँ से जल नीचे प्रवाहित होता है। अन्तरिक्ष में मेघस्थ जल नीचे की ओर जाता है, इसलिये अन्तरिक्ष की धन्व संज्ञा है।[27]

अन्तरिक्षम् - ऋग्वेद में 96 बार अन्तरिक्ष शब्द का स्वतन्त्र रूप से, चार बार समस्त पद के रूप में तथा दो बार तद्धित पद के रूप में प्रयोग हुआ है। सर्वत्र अन्तरिक्ष शब्द

लोक का वाचक है। यह शब्द अन्तरिक्ष के पृथिवी और द्युलोक में स्थित होने का ही संकेत करता है।

आकाश - ऋग्वेद में आकाश शब्द का कहीं प्रयोग नहीं हुआ। पृथिवी और द्युलोक के बीच अवकाश होने के कारण ही अन्तरिक्ष की आकाश संज्ञा है, ऐसा श.ब्रा. का कथन है।[28]

आपः - आपः जलों की संज्ञा है और इसकी निष्पत्ति आप्लृ 'व्याप्तौ' धातु से सिद्ध होती है।[29] अन्तरिक्ष वाचक पदों के मध्य पठित होने से 'आपः' अन्तरिक्ष जलों का द्योतक है। जलों को आपः तो कहते ही हैं, सर्वव्यापक जलों से सम्बद्ध होने के कारण अन्तरिक्ष की भी आपः संज्ञा है। अन्तरिक्ष सबको व्याप्त किये हुये है, इसलिये भी इसकी आपः संज्ञा है।

पृथिवी - अन्तरिक्ष वाचक पदों में पठित पृथिवी शब्द इसकी का बोध कराता है। अन्तरिक्ष के लिये भूरिशः प्रयुक्त 'उरु' शब्द अन्तरिक्ष की पृथुता किंवा उरुत्व का द्योतक है। अन्तरिक्ष का अर्ध भाग पृथिवी लोक के साथ भी जुड़ा हुआ है। इसलिये मै.सं. के अनुसार इसका भी पृथिवीत्व है। प्रथ् प्रथने धातु से निष्पन्न पृथिवी शब्द वाचक अन्तरिक्ष शब्द भी भले किसी के द्वारा प्रथन न किया गया हो तथा उसके प्रथनकर्ता का कोई आधार न हो किन्तु देखने में तो पृथु है, इसलिये अन्तरिक्ष का भी पृथिवीत्व सिद्ध है।[30]

भूः - भू 'सत्तायाम्' धातु से निष्पन्न भूः शब्द अन्तरिक्ष का भी वावक है, क्योंकि यहीं से जलों का प्रभाव होता है। इन्द्र द्वारा मेघों के कर्तन से वृष्टि अन्तरिक्ष से होती है।

स्वयंभू - स्वयं उत्पन्न होने के कारण अन्तरिक्ष की स्वयंभू संज्ञा है।

अध्वा - सम्पूर्ण नक्षत्र मण्डल के विचरण का मार्ग होने से अन्तरिक्ष की अध्वन् संज्ञा है।

पुष्कर - ऋग्वेद में पुष्कर शब्द का प्रयोग तीन बार हुआ है[31], तथा पुष्करिणी शब्द का दो बार। अन्तरिक्ष वाचक पुष्कर शब्द की निरुक्ति यास्क ने पुष 'पोषणे' अथवा पूज 'पूजायाम्' धातु से की है। अन्तरिक्ष को पुष्कर इसलिये कहते हैं कि वह जल प्रदान कर पृथिवी पर सभी भूतों का पोषण करता है। अथवा वृष्टि प्रदान रूप श्रेष्ठ कर्म के कारण सबके द्वारा पूजा जाता है, इसलिये भी अन्तरिक्ष को पुष्कर कहते हैं।[32] पुष्कर शब्द के निर्वचन में श.ब्रा. एक सुन्दर व्याख्यान देता है। इन्द्र वृत्र का वध करने के पश्चात् भी यह समझता हुआ कि मैं वृत्र को नहीं मार सका हूँ अतः डरता हुआ जलों में प्रवेश कर गया। उसने जलों से कहा- मैं डरता हूँ। मेरे लिये पुर बनाओ। उन जलों ने अपना जो रस था उसको ऊपर फेंका और उसके लिए पुर का निर्माण किया। इसलिए पूः+कृ धातु के आधार पर वह पुष्कर कहलाया। यही पुष्कर परोक्ष रूप से पुष्कर कहलाता है।[33] श. ब्रा. के इस निर्वचन से यह बात स्पष्ट होती है कि जलों का जो सूक्ष्म रूप है वह अन्तरिक्ष में व्याप्त है और उसी में विद्युत् रूप इन्द्र निवास करता है। अन्तरिक्ष ही वह पुष्कर है जिसमें समस्त जलों का रस भरा हुआ है, और वही विद्युत् का संरक्षक है। समस्त जलों के रस का

भण्डार होने के कारण अन्तरिक्ष एक सरोवर के सदृश है जिसका जल कभी नहीं सूखता। अन्तरिक्ष के सादृश्य पर पार्थिव सरोवर को भी पुष्कर कहा जाता है।

सगर - अन्तरिक्ष वाचक 'सगर' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में कवेल एक बार हुआ है।[34] मन्त्र में इन्द्र के लिये निर्मित स्तुतियों के नि:सरण की उपमा अन्तरिक्ष (सगरस्य) के पेंदे से निरन्तर प्रवहमान जलों से की गई है। सगर रूप अन्तरिक्ष से प्रवहमान जलों के भण्डार को सागर इसीलिये कहा जाता है। अन्तरिक्ष का सगरत्व उससे जलों के निरन्तर प्रवहमानता के कारण है। उसमें इतना अथाह जल है जो कभी शुष्क नहीं होता।

समुद्रः - वेद में समुद्र शब्द पार्थिव समुद्र एवं अन्तरिक्ष दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है। समुद्र के इस उभयरूप के कारण यास्क ने दोनों का समान रूप से निर्वचन किया है। किन्तु दोनों के लिये भिन्न उपपत्ति दी है। समुद्र शब्द का निर्वचन पांच प्रकार से किया है[35] -

(1) सम+उद्+द्रु 'गतौ' धातु (समुद्द्रवन्त्यस्मादाप:)। अन्तरिक्ष को समुद्र इसलिये कहते हैं, कि इससे विद्युत् द्वारा प्रताड़ित मेघस्थ जल एक साथ मिलकर उत्सरण करते हैं। पार्थिव समुद्र को समुद्र कहने का कारण है पार्थिव समुद्र से जल ऊपर वाष्प बनकर जाता है।

(2) सम्+अभि+द्रु 'गतौ' धातु (समभिद्रवन्त्येनमाप:) पार्थिव समुद्र से जल वाष्प बनकर ऊपर अन्तरिक्ष की ओर जाता है। इसलिए अन्तरिक्ष को समुद्र कहते हैं। पार्थिव समुद्र को समुद्र इसलिए कहते हैं कि अन्तरिक्षस्थ जल वृष्टि द्वारा समुद्र में आता है, या सभी नदियाँ पार्थिव समुद्र में गिरती हैं।

(3) सम्+मुद् धातु (सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि)। अन्तरिक्षस्थ सभी पक्षी आदि उसमें आनन्दित होते हैं, इसलिये अन्तरिक्ष को समुद्र कहते हैं।

(4) सम्+उदक (समुदको भवति)। अन्तरिक्ष या पार्थिव समुद्र को समुद्र इसलिये कहते हैं कि उसमें सम्यक्रूप से सर्वदा जल वर्तमान रहता है।

(5) सम्+ उन्दी 'क्लेदने' धातु (समुनत्तीति वा) जल से सबको भिगोता है। अन्तरिक्ष वाचक समुद्र शब्द के सभी निर्वचन अन्तरिक्ष के जल से सदा भरे रहने का ही संकेत करते हैं। अन्तरिक्ष जलों का एक शाश्वत भण्डार है, जो सर्वदा सबको जीवन प्रदान करता है।

अध्वर - अध्वर शब्द मुख्य यप से यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है। किन्तु निघण्टु में यह अन्तरिक्ष वाचक पद के रूप में पठित है। इसका कारण यह है कि अन्तरिक्ष ही वह लोक है, जिसमें अग्निषोमात्मक यज्ञ निरन्तर सम्पन्न हो रहा है। श. ब्रा. स्पष्ट रूप से कहता है कि यह वायु ही जो बह रहा है, यज्ञ है।[36] तैत्तिरीय आरण्यक (तै.आ.) तो यज्ञ के सभी अवयवों को अन्तरिक्ष में ही स्थित बताता है। अन्तरिक्ष रूप यज्ञ का मेघ हविर्धान (शकट) है, विद्युत् अग्नि है, वर्षा हवि: द्रव्य है, शब्द वषट्कार है, जो गर्जन होती है, वही अनुवषट्कार है, वायु यज्ञ की आत्मा है तथा अमावस्या

उसका स्विष्टकृत् है।[37] इस प्रकार अन्तरिक्ष में सर्वाङ्गसंहित यज्ञ की सत्ता के कारण उसका अध्वर रूप में उल्लेख स्वाभाविक ही है। अन्तरिक्षस्थ यज्ञ से ही देवताओं को सृष्टि-धारण की शक्ति प्राप्त हो रही है, जिसके बिना जीवन की सत्ता नहीं। इसी अन्तरिक्ष रूप यज्ञ से ऋतु चक्र का संचालन हो रहा है। ऋतु रूप यज्ञ का आधार अन्तरिक्ष है। दर्शपूर्ण मास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, उक्थ्य, अतिरात्र, षोडशी तथा गवामयन, आदित्यनामयन आदि सभी का नैसर्गिक सम्पादन अन्तरिक्ष में ही हो रहा है। पृथिवी लोक में मानव यजमान एवं ऋत्विजों के द्वारा पार्थिव हविर्द्रव्यों से सम्पादित किया जानेवाला यज्ञ तो केवल प्राकृतिक यज्ञ की अनुकृति है। पुरुष सूक्त में जिस यज्ञ का उल्लेख किया है यही सार्ष्टियज्ञ है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अन्तरिक्ष विज्ञान के अध्ययन के लिये उसके स्वरूप के ज्ञान के लिये वेदों में देव विषयक सन्दर्भों को सही रूप में समझना होगा। संहितागत मन्त्रों में जो बात संकेत रूप में कही गई है उसका विश्लेषण ब्राह्मण मन्त्रों में मिलता है। अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं के विवेचन से अन्तरिक्ष विज्ञान विषयक विभिन्न शाखाओं का भी ज्ञान हो सकता है। इस दिशा में वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता है। अन्तरिक्ष विज्ञान के अन्तर्गत दिग् विज्ञान, वायु विज्ञान आदि कुछ विशिष्ट शाखायें विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इनका स्वरूप बीज रूप में वेदों में सुरक्षित है। आधुनिक विज्ञान की एतद्विषयक दृष्टियों के साथ तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है। मेरा अपना सुनिश्चित मत है कि आधुनिक विज्ञान विषयक कई मान्यताओं में वैदिक मान्यताओं के आधार पर संशोधन भी किया जा सकता है।

पाद-टिप्पणियां

1. भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थी माहाचमस्य प्रवेदयते मह इति। तै.उ. 1.5.1
2. सो (प्रजापतिः)ऽब्रवीन्न वै म इदमकमभूदिति। यद्ब्रवीन् न वै म इदमकमभूदिति तन्नाकस्य नाकात्वम्। स एष वाव नाको यद् दशममहरेष स्वर्गो लोक एतद् ब्रघ्नस्य विष्टपम्। जै. ब्रा. 3.345
3. पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमाऽरुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
   दिवो नाकस्य पृष्ठात् सुवर्ज्योतिरगामहम्।। तै. सं. 4.6.52
4. दिवः द्युलोक सम्बन्धी नाकः दुःखरहितो यः प्रदेशस्तस्य पृष्ठात् उपरिष्ठात्। तै. सं. 4. 6.52 पर सायणभाष्य
5. सह हैवेमावग्रे लोकावासतुस्तयोर्वियतोर्योऽन्तरेणाकाश आसीत्तदन्तरिक्षमभवदीक्षं हैतन्नाम ततः पुराऽन्तरा वा इदमीक्षमभूदिति तस्मादन्तरिक्षम्। श.ब्रा. 7.1.2.23
6. अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे। श. ब्रा. 1.2.1.16
   एतेन (अन्तरिक्षेण) इमौ लोकौ (द्यावापृथिव्यौ) विष्कब्धौ। जै.उप. 1.6.1.3
7. अर्द्धं ह्यन्तरिक्षस्यास्मिँल्लोकेऽर्धममुष्मिन् लोके (द्युलोके)। मै.सं. 3.8.9

8. अयं मध्यमो (लोक: = अन्तरिक्षम्) बृहती। ता. 7.3.9
9. इयं (पृथिवी) अन्तरिक्षम्। ऐ.ब्रा. 3.39
10. निघ. 1.3.9
11. ऊधर्वा अन्तरिक्षं (द्यावापृथिव्यौ) स्तनावमितोऽनेन पृथिवीरूपेण स्तनेन वा एष देवेभ्यो दुग्धेऽमुना (द्युलोकरूपेण स्तनेन) प्रजाभ्य:। तां.ब्रा. 24.1.6
12. तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता:। अग्नि: पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थान: सूर्यो द्युस्थान:। निरु. 7.5
13. तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। निरु. 7.5
14. यच्च किञ्चिद् दार्ष्टिविषयिकमग्निधर्मैव तत्। निरु. 7.8
15. अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधो या च का च बलकृतिरिन्द्र कर्मैव तत्। निरु. 7.10
16. अथास्य कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणं यच्च किञ्चित् प्रवहिलतमादित्यकर्मैव तत्। निरु. 7.11
17. निघ. 5.1.1-3, 2.1-13, 3.1-36
18. निघ. 5.6.1-31
19. अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणि:। विश्वानरावेते उत्तरे ज्योतिषी वैश्वानरोऽयं यत्ताभ्यां जायते। निरु. 7.23
20. कथं न्वयमेताभ्यां जायते इति। यत्र वैद्युत: शरणमभिहन्ति यावदनुपात्तो भवति ..... सम्पद्यत उदकोपशमन: शरीरदीप्ती:। निरु. 7.23
21. सविता यन्त्रै: पृथिवीमरम्णादस्कम्मने सविता द्यामदृंहत्।
अश्वमिवाद्युक्षद्धिनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्।। ऋ.वे. 10.149.1
22. सविता यन्त्रै: पृथिवीमरमयदनारम्भणेऽन्तरिक्षे। सविता धामदृंहदश्वमिवाधुक्षद् धुनिमन्तरिक्षे मेघं बद्धमतूर्ते बद्धमतूर्ण इति वात्वरमाण इति वा, सविता समुदितारमिति। कमन्यं मध्यमादेवमवक्ष्यत्।। निरु. 7.23 (अ. 10. 149.1 पर यास्कभाष्य)
23. अम्बरम् 1। वियत् 2। व्योम 3। बर्हि 4। धन्व 5। अन्तरिक्षम् 6। आकाशम् 7। आप: 8। पृथिवी 9। भू: 10। स्वयंभू: 11। अध्वा 12। पुष्करम् 13। सगर: 14। समुद्र: 15। अध्वरम् 16। इति षोडश अन्तरिक्षनामानि। निघ. 13.1-16
24. यन्नासत्या परावति यद्वा स्थो अध्यम्बरे। अत: सहस्रनिर्णिजा रथेना यातमश्विना।। अ. 8.8.14
25. परमे व्यवने। निरु. 11.40
ऋचश्च परमे व्यवने धीयन्ते। निरु. 13.11
26. बर्हि परिबर्हणात्। निरु. 8.8
27. धन्वा अन्तरिक्षम्। धन्वन्त्यस्मादाप:। निरु. 5.5
28. द्रष्टव्य, ऋग्वेद पदानुक्रमसूची।
29. द्र. पाद, टि. 3
30. आप: आप्नोते:। निरु. 9.26
31. प्रथनात् पृथिवीत्याहु: क एनामप्रथयिष्यत् किमाधारश्चेत्यथ वै दर्शनेन पृथुरप्रथिता चेदप्यन्यै:। निरु. 1.14
32. पुष्करमन्तरिक्षं पोषति भूतान्युदकम्। पुष्करं पूजाकरं पूजयितव्यं वा। इदमपीतरत् पुष्करमेतस्मादेव। पुष्करं वपुष्करं वा। निरु. 5.14
33. इन्द्रो वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽप:

प्राविशता अब्रवीद्धिमेमि वै पुरं मे कुरुतेति। स योऽपां रस आसीत्तमूर्ध्वां समुदौहंस्तामस्मै पुरमकुर्वंस्त-स्मात्पूष्करं पूष्करं ह वै तत्पूष्करमाचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवा:। श.ब्रा. 7.4.1.13

34. इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गा अप: प्रेरयं सगरस्य बुध्नात्। ऋग्वेद 10.89.4

35. समुद्र कस्मात् समुद्द्रवन्त्यस्मादाप: समभिद्रवन्त्येनमाप: सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुदको भवति, समुनत्तीति वा। निरु. 2.10

36. अयं वै यज्ञो योऽयं (वायु:) पवते। श.ब्रा. 1.9. 2.28; 2.1.4.11; 4.4.4.13; 11.1.2.3; तु मै. 1.4.9; 3.6.8; गो. 1.3.2; 4.1

37. तस्य वा एतस्य यज्ञस्य मेघो हविर्धानं विद्युदग्निर्वर्षं हविस्तनयित्नुर्वषट्कारो यदवस्फूर्जति सोऽनुवषट्कारो वायुरात्माऽमावास्या स्विष्टकृत्। तै.आ. 2.14.1

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1(2), No.2 (148-162) Jan.-June 2012

वेद में विज्ञान की मौलिक परिकल्पनाएं

विष्णुकान्त वर्मा
बिलासपुर, छत्तीसगढ़, भारत

वेद संसार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं प्राचीन होना ही महत्वपूर्ण नहीं है वेद धार्मिक ग्रन्थ नहीं हैं विद् धातु से सिद्ध वेद ज्ञान का भंडार है।

दर्शन और सृष्टि विज्ञान वेद के प्रमुख विषय हैं दिव्य प्रेरणा से अनुप्राणित ऋषियों की पुरातन धरोहर अपने गर्भ में अनेक रहस्य छिपाये है।

वेद के विषय में प्रमुख बात यह है कि वेद अपनी बात प्रतीकों के माध्यम से कहता है जब तक किसी वैदिक प्रतीक में निहित विज्ञान संबंधी भौतिक स्थिति, जो उसमें निर्दिष्ट है, का यथावत् ज्ञान न हो जावे तब तक वेद की बात को समझना कठिन है उदाहरण के लिये **आपः** का साधारण अर्थ जल है पर वेद में अनेक स्थलों पर **आपः** शब्द मूल तत्त्व की अवस्था विशेष का द्योतक है। और शब्द के अनेक अर्थ होने का कारण शब्द का धातुज होना है। आप्लृ व्याप्तौ धातु से व्युत्पन्न होने के कारण आपः का प्रयोग मूल कारण के लिये किया जाना औचित्यपूर्ण है क्योंकि मूल कारण सर्वव्यापी होता है।

वेद के संबंध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि मन्त्र परस्पर विच्छिन्न न होकर सम्बद्ध है। एक ऋचा की व्याख्या में अन्य ऋचाएं साधनभूत हैं। ऋचाओं में निहित प्रतिपाद्य भी अविच्छिन्न रुप से परस्पर सम्बद्ध हैं। इस प्रकार ऋचाओं में फुटकर बातें नहीं हैं वरन् एक परिपूर्ण परिकल्पना के वैभव का विस्तार है।

प्रतीकों के अनवरत प्रयोग के साथ रूपकों का प्रयोग विषय को दुरूह बनाता है किन्तु सिद्धान्त की पकड़ हो जाने पर विषय ऋत की तरह स्वाभाविक स्ववाही हो जाता है उदाहरण के लिये ऋचा कहती है–

'अस्मै तिस्त्रो अव्यथ्याय नारीर्देवाय देवीर्दिधिषन्त्यन्नम्' यहाँ 'नारीः देवीः' एक रूपक प्रयोग है तीन मूल शक्तियों के लिये और अन्नम् का अर्थ भी मूल शक्ति है। जिस व्याख्या से सिद्धान्त फलित होकर प्रकाश में आवे वही व्याख्या युक्तियुक्त और श्रेयस्कर है।

1. **वेद का विषय**– वेद दर्शन और विज्ञान का अभूतपूर्व ग्रन्थ है। वेद में विज्ञान की मौलिक परिकल्पनाएं विद्यमान हैं। इस जगत् रचना की पृष्ठभूमि में शाश्वत तत्त्व क्या हैं यह जगत् मूल कारण से कैसे शनैः-शनैः वर्तमान रुप में विकसित हुआ इसका क्या विज्ञान है, सृष्टि सृजन के चरण क्या हैं इन विषयों पर हमें वेद में एक परिपूर्ण परिकल्पना मिलती है सबसे अधिक आश्चर्य हमें तब होता है जब हम देखते हैं कि वेद की परिकल्पनाएं आधुनिक विज्ञान समर्थित हैं।

2. **कारण कार्य सिद्धान्त**– यह प्रत्यक्ष अवलोकन का विषय है कि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति विद्यमान कारण से ही होती है। उदाहरण के लिये घड़ा बनता है मिट्टी से,

वस्त्र बनता है सूत से, पानी की रचना होती है आक्सीजन हाईड्रोजन गैसेस से। जिस विद्यमान पदार्थ (Matter) से वस्तु की उत्पत्ति होती है उसे उपादान कहते हैं और उत्पन्न वस्तु को कार्य कहते हैं। यह सिद्धान्त जगत् उत्पत्ति के संबंध में भी उतना ही सत्य है जितना की घड़े या वस्त्र की उत्पत्ति में यह सत्य है। अर्थात् इस जगत् की एक रचना एक भौलिक द्रव्य से हुई है एक उपादान कारण से हुई है।

वेद ने इस सिद्धान्त को एक स्वयं सिद्ध प्रतिज्ञा की तरह स्वीकार किया है। वेद में प्रश्न आता है[1] **'किम् स्वित् आसीत् अधिष्ठानम्'** वह अधिष्ठान-उपादान कारण कैसा है। उपादान कारण होना चाहिए या नहीं यह प्रश्न ही नहीं है। उपादान कारण का होना एक अनिवार्यता है। केवल प्रश्न यह है कि उस उपादान का स्वरुप कैसा है—**यतः भूमिं जनयन् विश्वकर्मा** जिससे अप्रकाशित लोक उद्भूत करते हुए विश्व रचयिता ने (विद्याम् और्णोत् महिना विश्वचक्षाः) प्रकाशित लोकों को भी आच्छादित किया अपने महत्त्व से।

वैदिक ऋषियों की मीमांसा में ईश्वर का अस्तित्व एक स्वयंसिद्ध प्रतिज्ञा (Axiom) की तरह स्वीकार किया गया है इसे ही हम आधुनिक विज्ञान से एक भेद कह सकते हैं। किन्तु जैसा कि सेमेटिक धर्मों में यह माना गया है कि ईश्वर ने कहा कि हो जा और यह जगत् क्षण में शून्य से प्रादुर्भूत हो गया ऐसी मान्यता वेद की नहीं है। वेद प्रतिपाद्य ईश्वर ने अपने रचना कौशल से मूल उपादान कारण से, जो उसकी नित्य भौतिक शक्ति है, धीरे-धीरे इस जगत् को अनेक चरणों में निष्क्रमण कराते हुए वर्तमान रुप में स्थिर किया है।

3. मूल कारण संबंधी वैदिक मान्यता— वेद में मूल आद्या शक्ति का नाम अदिति है यह शब्द संस्कृत की दो धातु (वैदिक धातु दा) से 'अ' उपसर्ग पूर्वक बना है जिसका अर्थ है अखण्ड, जिसके भाग न किये जा सकें। और जो अखण्ड है उसके नष्ट हो जाने की कल्पना हो नहीं सकती अतएव मौलिक द्रव्य का नाम अदिति है। विज्ञान में मौलिक द्रव्य को फन्डामेन्टल मेटर या पार्टिकिल्स कहते हैं। विज्ञान की परिकल्पना से यह वैदिक परिकल्पना का सर्वप्रथम साम्य है।

4. अदिति व्याख्या— अदिति शब्द अद् धातु पूर्वक इति शब्द से भी सिद्ध होता है जिसका यह तात्पर्य है कि अदिति प्रलयकाल में सबका भक्षण कर लेती है पर स्वयं अखण्ड होने से अभक्ष्य है[2]।

वेद में अदिति शब्द का प्रयोग दो अर्थों में या दो स्थितियों में हुआ है। प्रथम प्रयोग वास्तविक अखण्ड मूल भौतिक सत्ता प्रकृति या मूल कणों की समग्र सत्ता के लिये हुआ है, द्वितीय प्रयोग उन सत्ताओं के लिए हुआ है जो व्यक्तिगत रुप से विनाशधर्मी हैं किन्तु जातिरूप में जिनकी निरन्तरता अबाधित है जैसे जगत् में माता, पिता, पुत्र व्यक्तिगत रूप में विनाशधर्मी होते हुए भी जगत् में माता पिता पुत्रादि संज्ञा का कभी उच्छेद नहीं होता। इसी प्रकार पृथ्वी सूर्यादि लोक हैं जो प्रवाह से अखण्ड हैं।

5. ईश्वर और अदिति का नित्य संबंध— वेद में प्रकृति शब्द नहीं है प्रकृति का समानार्थी शब्द अदिति है। वैदिक मन्तव्य में अदिति ईश्वर की सनातन मूल भौतिक शक्ति है। वेद

में कारण कार्य सिद्धान्त को प्रतिष्ठा प्राप्त है। अन्य धर्मों की तरह वैदिक मान्यता में मात्र ईश्वरीय इच्छा से जगत् उत्पन्न नहीं होता। भौतिक जगत् का मूल उपादान कारण अदिति है और ईश्वर जगत् का रचयिता निमित्त कारण है ये दोनों ही शाश्वत हैं। ऋचा (1/141/2) कहती है–

पृक्षो वपुः पितुमान् नित्य आशये द्वितीयमा सप्त शिवासु मातृषु।

भाष्य– (पृक्षः वै०व्या० पृ० 665) सन्तुष्ट हुई (पितुमान्) पिता ईश्वर के तुल्य (नित्यः) शाश्वत (वपुः) देह स्वरूप के (आशये) आश्रय से शयन करती, रहती हूँ। सात कल्याणप्रद माता रूपों में (द्वितीयम् आशये) दूसरी स्थिति को प्राप्त होती हूँ।

मूल मातृ शक्ति ईश्वर की तरह नित्य है दूसरे रूप में सप्तवर्गीकृत जगत् रुप में अभिव्यक्त होती है। ऋचा में अदिति शब्द नहीं है अतः प्रश्न हो सकता है कि यहाँ माता पद से अदिति के ग्रहण का औचित्य क्या है? ऋचा में अदिति शब्द न होते हुए भी अदिति का उपलक्षण विद्यमान है वह है सप्त वर्गीकृत जगत् रुप में होना जिसकी पुष्टि ऋचा (10/42) से होती है ऋचा है–

सप्तभिः पुत्रैरदिति रूप प्रैस्पूर्व्यं युगम्।

पूर्व सृष्टि में माता अदिति अपने सात पुत्र रूप परिणामों सहित आयी थी। वास्तव में पूर्व ऋचा में सात मात्राओं और इस ऋचा में सात पुत्रों की बात रूपक है। और इस सप्त पद से ऋचाओं के मध्य परस्पर अन्विति प्रत्यक्ष है।

किन्तु ध्यान रहे अदिति स्वयंभू होते हुए भी ईश्वर की अभिन्न कार्य शक्ति है ईश्वर और अदिति के मध्य तादात्म्य संबंध है अर्थात् जो अधिष्ठातृ अधिष्ठित संबंध है वह भी नित्य है। इस तथ्य को ऋचा (10/48/11) स्पष्ट करती है–

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शश्वतः।

मैं ईश्वर पदार्थ सत्ता का पूर्व से ही स्वामी हूँ मैंने (प्रकृति रूप) धनों को सह अस्तित्ववान् होकर सनातन काल से अधिकृत किया है। कदाचित् पूर्व्यः पद से यह भ्रान्ति हो कि ईश्वर ने कभी प्रकृति पर आधिपत्य स्थापित किया। किन्तु कभी का प्रयोग उत्पत्ति धर्मी कार्य के लिये होता है इस कारण श्रुति ने स्पष्ट किया कि ईश्वर और अदिति का अधिष्ठातृ अधिष्ठित सम्बन्ध नित्य है जिसका कभी आरम्भ नहीं हुआ।

6. अदिति त्रिवर्गी संघात है– ऋचा (1/22/16) में जगत् के मूल द्राव्यिक कारण की जिज्ञासा इस प्रकार है– **अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे पृथिव्याः सप्तधामभिः।**

भाष्य– (यतः यस्मात् कारणात्) जिस कारण तत्व से (विष्णु विष्लृव्याप्तौ) सर्वव्यापक परमात्मा ने पृथ्वी महाभूत से लेकर सात अन्तिम परिणाम (विचक्र में धातु क्रम=क्रमबद्ध करना, रचना कोश) विशिष्टता से क्रमबद्ध किये रचे (अतः) अतः उस कारण तत्त्व से (देवाः नः अवन्तु) विद्वान् हमें अवगत करावें।

वैदिक मान्यतानुसार ईश्वर विद्यमान प्रकृति तत्त्वों को उसके गुण स्वभावानुसार संयुक्त करता है क्रमबद्ध करता है इस कारण क्रम धातु का प्रयोग है जिससे अभाव से उत्पत्ति का निषेध है। उत्तर देते हैं–

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्मणि धारयन्।

सबके रक्षक व्यापक अक्षय ईश्वर ने तीन तत्त्वों से विविध रचना की उस कारण तत्त्व के गुण धर्म को धारण करके उनके अनुसार ही। कुछ भाष्यकारों ने विष्णु द्वारा तीन पग में ब्रह्माण्ड नापने की कल्पना की जो निराधार है क्यों कि ऋचा (1/154/3) कहती है–

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति। य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा॥

भाष्य– जिसके मधुरता, अमृत से पूर्ण तीन पद (अक्षीयमाणा तृ० विभ० क्रियाभि व्याप्त काल वै० व्या० पृ. 401) काल से सनातन (स्वधया, तृ० विभ० मद के योग में वै० व्या० पृ. 404 ग) स्वधारण शक्ति में, स्वयंभू शक्ति में आनन्दित रहते हैं (य उ एक:) जो केवल अकेला ही (त्रिधातु:=धातो:) तीन मौलिक तत्वों से पृथ्वी द्युलोक एवं समस्त लोकों को धारण कर रहा है।

तीन पदों को तीन धातु (मूल तत्त्व कोश) कहा गया है वे तीन धातु अक्षय है स्वयंभू हैं-ईश्वर की सनातन शक्ति हैं। तीन मूल तत्त्व रुप उपादान कारण से बने हुए इस जगत् का रचयिता ईश्वर है। इस तथ्य की पुष्टि अन्य ऋचाओं से भी होती है जैसे–

त्रयः कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्। ऋ० 7/33/7 लोकों में तीन बीज रूप मूल कण हैं। तथा ऋ० 3/56/3

त्र्यनीकः पत्यते महिजावान्त्स रेतोधा वृषभः शश्वतीनाम्।

(रेतोधाः) सृष्टि के बीज रूप तत्त्वों का धारण कर्ता वह सुख वर्षक महिमावान् तीन शाश्वत सेवाओं का स्वामित्व करता है। सेवा के रुपक से 3 तत्त्व शाश्वत कहे गये हैं, जैसे सेना में अनेक सैनिक होते हैं ऐसे ही त्रिवर्गी तत्त्व का प्रत्येक वर्ग नित्य कणों से युक्त है।

7. सप्तवर्गी जगत् विवेक– ऋग्वेद (1/164/2) की ऋचा में त्रिवर्गी तत्व और सप्तवर्गी जगत् का बड़े सुन्दर ढंग से निरूपण है, ऋचा कहती है–

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।

त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमाविश्वा भुवनाधि तस्थुः॥

भाष्य– (रथं एकचक्रं सप्त युञ्जन्ति) एक चक्र वाले सृष्टि रथ के इस चक्र में सात घटक नियोजित हैं किन्तु एक ही (अश्वः) शक्ति सात नाम रूपों को वहन करती है। एक चक्र के (नाभि चक्र) अन्तस् के नाभि चक्र को (त्रि अजरं अनर्वं युञ्जन्ति) तीन जरा से रहित स्वयंभू तत्त्व नियोजित है जिन पर ये समस्त लोक पूर्ण रूप से स्थित हैं।

मन्त्र में यह परिकल्पना है कि यह जगत् एक रथ है जो एक काल रूपी चक्र पर स्थित है इस चक्र में दो घेरे (नेमि) हैं सप्त घटक वाली बगथ नेमि सप्तवर्गी दृश्य जगत् की द्योतक है। ये सात वर्ग हैं पृथ्वी (ठोस अवस्था), जल द्रव्य अवस्था, वायु (गैसीय अवस्था), तेज (दर्शनीय प्रकाश व ताप रूप ऊर्जा), आकाश, (एक सर्वव्यापी ऊर्जा, इनर्जी), दिक् (अन्तरिक्ष-लोकों के बीच का आकाश inter stellar space) और कल्प (सृष्टिकाल Age of Universe) वास्तव में सात विभिन्न

रूप एक ही तत्त्व के परिवर्तित रूप हैं ऋचा के इस वचन में मात्रा और ऊर्जा की 'समतुल्यता का सिद्धान्त' निहित है।

आकाश तत्त्व के विषय में यहाँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना आवश्यक है। विज्ञान को अभी तक यह ज्ञात नहीं था कि गुरुत्वाकर्षण क्या है क्यों सूर्य, पृथिवी आदि पिण्ड परस्पर आकर्षित होते हैं। सन् 1966 में दो फ्रेन्च वैज्ञानिक आर्नियो पेन्जियाज और राबर्ट विल्सन ने यह सिद्ध किया कि आदि सृष्टि में जो महाविस्फोट (big bang) हुआ या उस समय की अवशेष ऊर्जा जगत् में व्यापक हो गयी है उसी के कारण गुरुत्त्वाकर्षण कार्यशील है।

ऊर्जा के विषय में जब वेद मन्त्र में यही परिकल्पना मिलती है तो हमें वेद के ईश्वरीय प्रेरणा से उद्भव होने के तथ्य के प्रति संदेह नहीं रह जाता। ऋचा (1/35/6) कहती है–

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाट्।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेतत्।।

भाष्य– तेज तीन प्रकार का है दो प्रकार का सूर्य में (प्रकाश और ताप) स्थित है। और एक नियन्ता (प्रभु) के ब्रह्माण्ड में व्यापक है जैसे रथ के चक्र को अणियां यथा स्थान खींचे रहती हैं ऐसे ही यह तीसरे प्रकार का तेज प्रवाह से शाश्वत (इस कारण अमृत कहे गये) लोकों को यथास्थान उनके कक्ष में बांधे रहता है। इसे वह कहे जो इस रहस्य को जानता हो।

दो प्रकार का प्रकाश और ताप पंचमहाभूतों में तेज है और तीसरे प्रकार का जो जगत् में व्यापी है और लोकों की स्थिति का हेतु है आकाश महाभूत है जिसे फ्रेन्च वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है। इन पाँच महाभूतों के साथ दिक् (स्पेस) और सृष्टिकाल मिलाकर सप्तवर्गी जगत् बनता है। आकाश महाभूत और दिक् में स्वामी दयानन्द ने भेद किया है[3]।

अब प्रश्न यह है कि इस ऋचा में कहीं भी अदिति शब्द नहीं आया है किन्तु अदिति का उपलक्षण अनर्व विद्यमान है। वेद में अनर्व संज्ञा अदिति की है यथा 'अवतु देव्यदितिरनर्वा' ऋ० 2/40/7, 'सुहवा देव्यदिति रनर्वा' ऋ 7/40/4।

इस प्रकार नाभिचक्र में अवस्थित तीन तत्व संघात की प्रतीकरूप अधिष्ठात्री दिव्य शक्ति अदिति भौतिक जगत् की नाभि है, मूलाधार है।

अनर्व शब्द के निर्वचन में यास्क (निरु. 6/23) कहते हैं–**अनर्वम् प्रत्यृतमन्यस्मिन्** जो अन्य पर आश्रित न हो अर्थात् स्वयंभू। अर्वन् अश्व को कहते हैं अतः (अनर्वन् वह है जो अश्व न हो। अश्व की सवारी की जाती है जगत् के सभी द्रव्य यौगिक होने से मूल तत्त्व की सवारी हैं अश्व (अर्वन्) हैं **(Matter is the Veheele of energy)** किन्तु मूल तत्त्व किसी की सवारी नहीं है इस कारण अदिति की संज्ञा अनर्वा है। ऋचा में बाह्य चक्र में नियोजित सप्त परिणामों को अश्व (अर्वन्) इसी हेतु से कहा है किन्तु मूल मातृ शक्ति को विभेदक लक्षण अनर्वा से विभूषित किया है। शब्दों के प्रयोग की छटा दर्शनीय है।

8. त्रि मूल तत्व विवेक– यह बताया जा चुका है कि तीन तत्त्व संघात की प्रतीक

अदिति है। यहाँ अदिति के तीन अंशभूत आदित्य के स्वरूप का विवेचन करना है। ऋचा (8/47/9) में इसके नाम स्पष्ट रूप से आये हैं, यथा–

अदितेन उरुषात्वदितिः शर्म यच्छतु।
माता मित्रस्य रेवतो ऽर्यमणो वरुणस्य च.....।।

ऐश्वर्य सम्पन्न मित्र अर्यमन् वरुण की माता अदिति हमें शान्ति प्रदान करे। मूल सत्ता होने से अदिति समस्त उत्पत्ति धर्मी द्रव्यों देवों (प्राकृतिक अवस्थाओं) की माता है, किन्तु ये मित्र, वरुण, अर्यमा मूल आदित्य हैं अदिति के अंगभूत मूल सत्तात्मक तत्व हैं ऐसा ऋचाओं में अनेक प्रकार से प्रतिपादित हुआ है, यथा–

इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति।
इमे ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः।।

भाष्य– ये सभी मित्र वरुण अर्यमा असत्य के मार्ग से सावधान करने वाले हैं अर्थात् ये सदा सत्य प्राकृतिक नियमानुसार वर्तते हैं। ये अदिति के (पुत्राः) अङ्गभूत (अदब्धाः) अपरिवर्तनशील (शग्नासः) शक्तिशाली (ऋतस्य दुरोणे वावृधुः) सत्य प्राकृतिक प्रवाह के मूल स्थान में वृद्धि को प्राप्त होते हैं। तथा (ऋ. 7/66/6)

उत् स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये। महो राजान ईशते।।

भाष्य–ये मित्र, वरुण, अर्यमा वहां अदिति के (स्वराजः) स्वयं के मूल स्थान के (अदब्धस्य व्रतस्य) अपरिवर्तनशील, नित्य नियमों के (महः राजानः) सर्वोच्च प्रकाशक होकर (ईराते) शासन करते हैं।

मित्र, वरुण, अर्यमन् सर्वोच्च सत्तात्मक तत्त्व हैं, परम सत्ता है, ये अदिति की मूल स्व सत्ता के अंगभूत हैं तथा मूल स्वयंभू अपरिवर्तनशील ध्रुव गुणों के धारक हैं।

9. विज्ञान पक्ष में प्रकृति का स्वरूप– विज्ञान के अनुसार प्रकृति के दो प्रमुख वर्ग द्रव्य (मेटर) और विकिरण (इनर्जी) है पुनः द्रव्य के दो वर्ग हैं जिन्हें द्रव्य (मेटर) और प्रतिद्रव्य (एन्टीमेटर) कहते हैं द्रव्य के दूसरे प्रकार के वर्गीकरण के अनुसार द्रव्य के दो वर्ग क्रमशः हलके व अपेक्षाकृत भारी कणों के कारण लेप्टन्स एवं हेडन्स कहलाते हैं। लेप्टन्स में ऋण विद्युतीय और हेडन्स में धन विद्युतीय चार्ज्ड कण होते हैं। विकिरण ऊर्जा प्रकाश, ताप, चुम्बक रूप वाली है। इस प्रकार विज्ञानानुसार प्रकृति ऊर्जा, मेटर, एन्टीमेटर या ऊर्जा, धनात्मक चार्ज्ड कण ऋणात्मक चार्ज्ड कण इन तीन रूपों वाली है।

10. मित्र, वरुण, अर्यमा का स्वरूप निर्धारण– यह देख लेने पर कि प्रकृति का वेदानुसार त्रिवर्गी होना विज्ञान समर्थित है अब मित्र, वरुण, अर्यमन् क्या हैं यह देखना है।

विज्ञान के अनुसार जब ऋणात्मक इलेक्ट्रान का एक कण धनात्मक प्रोटान से संयोग करता है तो उदासीन न्यूट्रान का यौगिक कण बनता है किन्तु यह रचना अस्थायी होती है पर जब एक एन्टी इलेक्ट्रान न्यूट्रीनो नामक कण अस्थायी इलेक्ट्रान प्रोटान यौगिक में मिल जाता है तब वह न्यूट्रान स्थायी हो जाता है। अब ऋचा (7/33/10) देखिये–

विद्युतो ज्योतिः परि सज्जिहानं मित्रावरुणा यद पश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यन्त्वा विश आ जभार।।

भाष्य–(विद्युतः ज्योतिः) इलेक्ट्रिक चार्ज (सं) समान रुप से (परि) पूर्णतः (जिहानं) परित्याग

किये हुए मित्र वरुण ने जैसे तुझे देखा अर्थात् परस्पर सन्मुख हुए (तत् ते जन्म) वह तेरा जन्म है (किन्तु यह जन्म अस्थायी होता है)। (उत् एकं) और दूसरा जन्म हे वसिष्ठ वह है (यत् त्वा) जब तुझे अगस्त्य (विश आ जभार) परमाणु प्रजा धारण करने में समर्थ बनाता है।

मित्र वरुण के कण समान मात्रा में विद्युत् परित्याग करते हैं तब वसिष्ठ अर्थात् न्यूट्रान बनता है अर्थात् मित्र वरुण ऋणात्मक धनात्मक बराबर-बराबर विद्युत् चार्ज वहन करते हैं उनके संयोग से जो यौगिक न्यूट्रान बनता है वह अस्थायी होता है अर्थात् शीघ्र विखंडित हो जाता है किन्तु जब अगस्त्य (विज्ञान का एन्टी इलेक्ट्रान न्यूट्रीनो) इसमें आकर मिल जाता है तो यह स्थायी हो जाता है और अनेक प्रकार के परमाणु रचना में नाभिक बनाता है। इस प्रकार मित्र वरुण ऋणात्मक व धनात्मक विद्युत् वाहक कण संघात सिद्ध होते हैं। एक सभी प्रकार के ऋणात्मक कणों का समूह है तो दूसरा सभी प्रकार के धनात्मक कणों का समूह।

11. **न्यूट्रान रचना विज्ञान**–(ऋचा 7/33/13) में वसिष्ठ की रचना का विज्ञान है यथा–

सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतु समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥

भाष्य– (ह) प्रसिद्ध है कि (कुम्भे) किसी उपयुक्त पात्र में (जातौ इषिता) उत्पत्ति के इच्छुक मित्र वरुण (रेतः समानम् सिषिचतु) कण समान मात्रा में मिलावे (ततः सत्रे ह) इस प्रकार संगतिकरण में निश्चय ही (मध्यात् मान उत इयाय) उदासीन (कण) वहां होता है (ततः जातं वसिष्ठं ऋषिं आहुः) इस प्रकार उत्पन्न हुए को वसिष्ठ ऋषि कहा गया है।

ऋषि शब्द ऋष् गतौ धातु से गमनशील पदार्थ बोधक है इसी अर्थ में यह वचन (यजु. 34/55) है सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे।

12. **अर्यमा विकिरण है**– निरुक्त (11/23) के अनुसार अर्यमा ऽऽ दित्यः अर्यमा प्रकाश है। अर्यमा के स्वरूप पर ऋचा (10/64/5) स्पष्ट प्रकाश डालती है–

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रावरुणा विवाससि।
अतूर्तपन्थाः पुरुरथ अर्यमा सप्त होता विषुरूपेषु जन्मसु॥

भाष्य– हे अदिते! तुझसे (दक्षस्य जन्मनि) प्रारम्भिक सृष्टि उत्पादक सामर्थ्य के उत्पन्न होने पर मित्र वरुण (सृजन में) परस्पर स्पर्धा करते हैं (वृते) उस कर्म में (अतूर्त पन्या, दिवादि तुर=मारना) न मारे गये अविचलित मार्ग से चलने वाला (सप्त होता) सप्त रंगी किरण रूप आहुति वाला अर्यमा (विषु रूपेषु जन्मसु) अनेक रूपों में प्रकट होने पर (पुरुरथः) अनेक रमण साधनों से युक्त होता है।

विदित है कि प्रकाश अविचलित मार्ग अर्थात् सरल रेखा में चलता है। प्रकाश सप्त रंगी किरणों में विभक्त होता है। जगत् के विविध रंगमयी रूप इन्हीं किरणों का खेल है।

इस प्रकार अर्यमा प्रकाश विकिरण सिद्ध होता है तथा मित्र वरुण ऋणात्मक व धनात्मक विद्युत् वाहक कण समुच्चय हैं। इन तीनों की समग्र सत्ता अदिति प्रतीक से कही गयी है। व्यक्तिगत रूप से ये तीन प्रमुख आदित्य हैं, भौतिक जगत् के मूल कारण हैं।

13. **सृष्टि उत्पत्ति प्रलय का अनादि**

अनन्तक्रम– विज्ञान का ज्ञान वर्तमान सृष्टि तक सीमित है इसके बाहर उनका ज्ञान नगण्य है। किन्तु वेद के अनुसार सृष्टि प्रलय का क्रम दिन रात की तरह अनन्तकाल से चला आ रहा है। वेद में सृष्टिकाल को उषा और प्रलयकाल को नक्तम् कहा गया है उदाहरण के लिये ऋचा है–

समानो अध्वा स्वस्त्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देव शिष्टे।
न मथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे॥

(स्वस्त्रो:) दोनों बहनों का (अध्वा) मार्ग (अनन्त: समान:) अनन्त है समान है बराबर अवधि का है। (तं देव शिष्टे) उस मार्ग का ईश्वरीय आज्ञानुसार (अन्या-अन्या चरत:) पृथक्-पृथक् क्रम से विचरण करती हैं अर्थात् एक के पीछे एक आती है। (विरूपे) एक दूसरे के विरुद्ध स्वभाव वाली (नक्तोषासा) प्रलय रात्रि और उषाकाल (समनसा) समान चित्तवाली (सुमेके) सुसंगत होकर (न मथेते न तस्थतु:) न मार्ग पर डगमगाती हैं न रुकती हैं।

स्पष्ट है कि यहाँ पार्थिव दिन रात की बात नहीं हो रही है। सूर्य उषा का काल रात्रि के बराबर नहीं होता तथा सूर्य संचालित उषा के अनन्तर रात्रि नहीं आती तथा 'अन्या-अन्या चरत:' पद भी चरितार्थ नहीं होता अत: इसे सूर्य उषा पर घटाना वेद विज्ञान की घोर अवहेलना है। **वेद का उषा देवता सृष्टिकाल का प्रतीक है उषा की किरण का उद्गम सृष्टि सृजन के प्रभात का आगमन है और उषा काल का अन्त प्रलयकाल के आगमन का काल है।**

14. महाविस्फोट से सृजन का प्रारम्भ–विज्ञान के अनुसार जगत् रचना का प्रारम्भ आज से लगभग 10 से 20 अरब वर्ष पूर्व एक महाविस्फोट से हुआ जिसे बिग बैंग कहते हैं उस समय जगत् में जितना पदार्थ है वह एक महामंडल के रुप में एकत्र हो गया था और यह पिण्ड प्रज्वलित हो गया था जिसमें एक विस्फोट जैसी घटना हुई। उस समय द्रव्य की मात्रा इतनी सघन थी कि एक घन सेन्टीमीटर की मात्रा 4 हजार मेट्रिक टन थी और ताप अरबों डिग्री सेन्टीग्रेड था। उस समय पदार्थ क्वान्टम अवस्था में था उस समय पदार्थ के भाग (मेटर और एन्टीमेटर अर्थात् अन्य वर्ग पार्टिकिल्स भाग) और विकिरण (ऊर्जा) के मध्य निरन्तर मंथन हो रहा था।

जिसे प्रामाणिक काल (Standard Time) कहते हैं उस समय आठ प्रकार के मौलिक कण विद्यमान थे इनके नाम हैं इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान, पाजीट्रान, म्यूओन, एन्टीन्यूओन, न्यूट्रीनो, एन्टीन्यूट्रीनो। उस समय पदार्थ तीव्र गति से प्रसारित हो रहा था और इस कारण तापमान तीव्र गति से गिर रहा था। महा विस्फोट के 3 मिनट के बाद तापमान गिरकर 1 अरब डिग्री सेल्सियस हो गया था। अभी तक द्रव्य में परमाणु तो क्या परमाणु की नाभि भी नहीं बनी थी। किन्तु तापमान 1 अरब डिग्री होने पर स्थिति न्यूट्रान प्रोटान संयोग लिये उपयुक्त हुआ और हीलियम अस्तित्व (दो न्यूट्रान+दो प्रोटान कण का यौगिक) में आये। महाविस्फोट के 30 मिनट बाद मूलभूत तरल 26 प्रतिशत हीलियम नाभिक और 74 प्रतिशत हाईड्रोलन नाभिक (केवल प्रोटान कण) में परिवर्तित हो गया इस मिश्रण को कास्मिक मेटर कहते हैं जिसकी वैदिक संज्ञा **अपां नपात्** है।

यह स्थिति 3 लाख वर्ष तक रही। इस

अन्तराल में तापमान गिरकर 4 हजार डिग्री सेल्सियस या उससे भी कुछ कम हो गया। यह तापक्रम परमाणु नाभि से इलेक्ट्रान पार्टिकिल के संयोग के लिये उपयुक्त था इस काल में एक ओर जहाँ परमाणु रचना हुई वहीं दूसरी ओर नक्षत्रों और ग्रहों की उत्पत्ति हुई यही काल सूर्य पृथिवी की उत्पत्ति का है। ध्यातव्य है कि मेन्डलीफ पीरियाडिक टेबुल के अनुसार परमाणु वेलेन्सी (Valency) के आधार पर सप्तवर्गी है।

15. वैदिक सृष्टि उत्पत्ति– अब हमें यह देखना है कि वैदिक सृष्टि उत्पत्ति परिकल्पना कितने गहन रूप से वैज्ञानिक परिकल्पना के सादृश्य है सर्वप्रथम हम देखते हैं कि यदि सृष्टि काल में एक महदग्नि पिण्ड के प्रभूत होने के तथ्य का ज्ञान संस्कृत साहित्य में एक साधारण (आम) बात है चाहे महाभारत ग्रन्थ हो, पुराण हो या स्मृति महदग्नि पिण्ड की उत्पत्ति का प्रसंग वहाँ विद्यमान है। उहाहरणार्थ–

निष्प्रभेऽस्मिन् निरालोके सर्वतस्तमसावृते।
बृहदण्डमभूदेकं प्रजानां बीजमव्ययम्। म.भा. 1/1/29
महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति ते। वा.पु. 4/74
अप् एव ससर्जादौ तासु बीजमवा सृजत्।
तदण्डमभवद्धेमं सहस्रांशुसम प्रभम्।। मनु.1/8

इस ज्ञान का मूल स्रोत ऋग्वेद मंडल 10 सूक्त 121 है जिसका ऋषि हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः है। सूक्त की प्रथम ऋचा में ईश्वर को हिरण्यगर्भः कहा गया है जो ईश्वर आदि सृष्टि काल में हिरण्यमय पिण्ड को गर्भ में धारण करने से हिरण्यगर्भः संज्ञा वाला हुआ है उपनिषद् स्पष्ट शब्दों में कहती है–**हिरण्यगर्भम् पश्यत जायमानं स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु।** हिरण्यगर्भ ऐसी कौन सी स्थिति है जिसका देखा जाना ईश्वर के लिये भी गौरव का विषय है। विदित हुआ यह हिरण्यगर्भ संज्ञा आदिकाल के महाग्नि पिण्ड की ही है। शतपथ ब्राह्मण कहता है–**अपो ह वा इदमग्र सलिलमेवास।** तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्यमाण्डं सम्बभूव। अमरकोश ने भी इसी प्रकार का निर्वचन किया है यथा–**हिरण्यं हिरण्यमयम् अण्डं तस्य गर्भ इव।** हिरण्यगर्भः क्या है इस तथ्य का अनावरण उसी सूक्त की 7वीं ऋचा कर रही है जो इस प्रकार है–

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायनगर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानाम् समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(यत् ह) जब निश्चय ही या प्रसिद्ध है कि जब (बृहतीः आपः) आपः की विस्तृत विकृतियां (गर्भ दधाना) अपने अन्तस् में धारण किये (विश्वं अग्निं) समग्र अग्नि को (जनयन्ती आयन्) उत्पन्न करती हुई आयीं थीं तब (देवानां असुः) देवों को प्राणरूप (एकः समवर्तत) एकमात्र अधिपति विद्यमान था।

स्पष्ट हो गया कि आदि सृष्टि काल के महाग्नि पिण्ड की संज्ञा हिरण्यगर्भः है जो विज्ञान का बिग बैंग है। वेद में प्रकारान्तर से इसे (मंडल 10 सूक्त 72) मार्ताण्डम् भी कहा है जो सर्गारंभ के महासूर्य मंडल का व्योजक है क्योंकि मार्ताण्डम् का अर्थ कोशकारों ने सूर्य ही किया है।

16. अग्निपिण्ड का प्रसार– प्रकट होने के अनन्तर अग्नि पिण्ड प्रसार में संलग्न हो जाता है इस स्थिति का निर्देश ऋचा (10/90/5) में मिलता है–

तस्माद् विराडजायत विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥

उस नित्य प्रकृति से अत्यन्त दीप्तिमान्

पिण्ड उत्पन्न होता है जिस पर पुरुष अधीक्षक वत् विराजता है। (सः जातः) वह पिण्ड उत्पन्न होकर (अति अरिच्यत रिच् पृथक् होना) अतिशय पृथक् हुआ अर्थात् चारों ओर मण्डलाकार प्रसारित हो गया। अन्ततोगत्वा इसी से ब्रह्माण्ड और पृथिवी बने।

किन्तु वेद में इस सिद्धान्त (प्रसार के सिद्धान्त) का वास्तविक प्रतीक मातरिश्वन् है मातरिश्वन् की व्युत्पत्ति करते हुए निरुक्ताचार्य कहते हैं–

मातरिश्वा वायुः, मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति, मातरि आशु अनिति इति वा।

मातरिश्वा वायु। मातृशक्ति में अन्तरिक्ष में श्वास लेता है शीघ्र चलता है। मातश्विन् की व्याख्या वेद ने स्वयं (मं० 3 सूक्त 29 ऋचा 11) की है, यथा–

मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत् सरीमणि।

(मातरि) मूल मातृ शक्ति में (यत् सरीमणि). जिस गलि में (वातस्य सर्गः अभवत्) वायु का त्याग हुआ था, उसे (मातरिश्वा अनिनीत) मातरिश्वा ने नापा था। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि आदि अग्नि पिण्ड के प्रसार का प्रतीक मातरिश्वन् है।

17. वैदिक प्रलोक आपः के वैज्ञानिक स्वरूप का निर्धारण– आदि सृष्टि काल से मूल पदार्थ में हुए क्रमागत परिवर्तन के परिणामस्वरूप प्रादुर्भूत पदार्थ की वेद प्रोक्त अवस्थाओं को ठीक-ठाक समझने के लिये हमें वेद के कुछ पदार्थवाची प्रतीकों में निहित रहस्य को समझना होगा।

वेद का सर्वप्रथम प्रतीक आपः है। अदिति ब्राह्मी अवस्था है सृष्टि सृजन हेतु नियोजित होते ही मूल तत्व की संज्ञा अदिति से आपः हो जाती है। आप्लृ व्याप्तौ धातु से व्युत्पन्न आपः शब्द के लिये यह प्रयोग सर्वथा उपयुक्त है। ऋचा (4/26/2) कहती है–

अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनुकेतमायन्

(वावशाना) विविधता की इच्छा करता हुआ मैं ईश्वर (अपः अनयं) सर्वप्रथम अप्तत्त्व को लाया (देवासः) देव (मम केतम्) मेरी योजनानुसार (अनु आयन्) पीछे आये।

आपः सृष्टि में नियोजित सर्वप्रथम तत्त्व है और देवों का उपादान कारण है अतः देव भौतिक स्थितियों के द्योतक हैं।

ऋचा (4/42/4) में त्रिवर्गी तत्त्व, तत्त्व संघात अदिति और सृष्टि में नियोजित प्रथम द्रव्य आपः के मध्य के संबंध को पूर्ण रूप से प्रकाशित किया है–

अहमपो अपिन्वमुक्षमाणा धारयं दिवं सदन ऋतस्य।
ऋतेन पुत्रो अदितेर्ऋतावोत त्रिधातु प्रथयद्वि भूम॥

भाष्य–(अहं) मुझ ईश्वर ने (उक्षमाणा) उक्ष्=बढ़ना शानच् वृद्धिशील (अपः) आपः को (अपिन्वम्) पुष्ट किया था मैं ही उसे (ऋतस्य) सत्य मूल कारण के (दिवं सदने) दिव्य आवास में (धारयं) धारण करता हूँ (अदितेः) अदिति के (ऋतेन पुत्रः) प्राकृतिक गुणधर्म द्वारा प्रादुर्भूत हुए प्रथम परिणाम रूप पुत्र (ऋतावा) मौलिक गुण स्वाभावानुरूप नियमित आपः (उत) निश्चय ही (त्रिधातुः, त्रिधातोः) तीन मूल तत्त्वों का (भूम वि प्रथयत्) प्रचुरता से विस्तार करता है।

तीन मूल तत्त्वों का संघात अदिति ब्राह्मी अवस्था है उसका सृष्टि में नियोजित

प्रथम रूप भी तदनुसार त्रिवर्गी है और रूपक भाषा में अदिति का पुत्र कहा जाता है। वह त्रिधातु का विस्तार करके बृहती: आप: स्थिति या चरण को निर्मित करता है।

इस प्रकार अदिति और आप: का संबंध ऋचोक्त है। एक अन्य ऋचा (2/13/1) कहती है– **ऋतुर्जनित्री तस्या अपस्परि मक्षू जात अविशद्यासु वर्द्धते।** ऋतु अर्थात् अवस्थाओं की जननी मूल मातृ शक्ति अदिति (तस्या अप: परि) उससे आगामी अवस्था आप: है (जात: मक्षू अविशत्) प्रकट हो शीघ्र प्रवेश किया है (रचना में) (यासु वर्द्धते) जिनमें आप: में वृद्धि होती है।

18. पदार्थ की अवस्थाओं के चरण– अखण्ड मूल तत्त्व संघात की प्रतीक अदिति ब्राह्मी अवस्था है। सृटि सृजन हेतु नियोजित होते ही उसकी संज्ञा अप् या आप: हो जाती है।

यह बताया जा चुका है कि जगत् उत्पत्ति का प्रारम्भ एक महदग्नि पिण्ड के प्रभूत होने से होता है। इस पिण्ड का मंडलाकार प्रसार होने से तापमान गिरता है और मूल पदार्थ अवस्थान्तरित होता जाता है और उसमें पहले नाभिक और फिर परमाणु अनन्तर अणुरूप सप्तवर्गी जगत् रचना बनता है यह सब विवरण ऋग्वेद के मंडल 10 के सूक्त 72 में सूत्ररूप में निहित है।

सूक्त की प्रथम ऋचा में ऋषि ने भविष्य का ज्ञान देने की प्रतिज्ञा की है।

देवानां नु वयं जाना प्रवोचाम विपन्यया।
उक्थेषु शस्यमानेषु य: पश्यादुत्तरे युगे।।

हम ऋषि देवों के जन्म का विशेष प्रकार सराहना करने वाली वाणी द्वारा वर्णन करेंगे जिस आदेशात्मक वेद मन्त्रों में आने वाले युग में दर्शन होगा। तो क्या वह दर्शन आधुनिक वैज्ञानिक युग में नहीं हो रहा है।

सूक्त की दूसरी ऋचा में मूल तत्त्व के दहन की बात है यथा–

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।

मूल तत्व का दहन हो जाने पर सर्वप्रथम अष्टवर्गी प्लाज़्मा नाम की स्थिति की उत्पत्ति होती है जिसे वेद में बृहती: आप: अवस्था कहा गया है ऋचा में इस अवस्था का वर्णन रूपक में दिया गया है यथा–

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व परि।

(अदिते: तन्व:) अखण्ड आद्या शक्ति प्रकृति के मूल स्वरूप से (अष्टौ पुत्रास:) आठ पुत्ररूप परिणाम (परिजाता:) चतुर्दिक् प्रादुर्भूत हुए।

सृष्टि उत्पत्ति का यह वैदिक चरण विज्ञान के अष्ट वर्गी मौलिक कण संघात (फन्डामेन्टल पार्टिकल्स) का पर्याय है। पौराणिक साहित्य में इस अष्ट वर्ग को आठ वसु कहा गया है। और पौराणिक श्लोक की, जो इस तथ्य को निहित करता है, इस प्रकार व्याख्या की जानी चाहिए–

आपो ध्रुवश्च सोमश्च धरश्चैवानिलोऽनल:।
प्रत्यूषश्च प्रमाश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिता:।।

प्रत्येक सृष्टि के आदि काल में शाश्वत मूल क्रियात्मक तत्त्व आप: (च) तथा सोम विकिरण का अग्निमय मंडलाकार वायु रूपी तरल पिण्ड सहित आठ वसुओं का होना प्रसिद्ध है। पिण्ड के प्रसार के पूर्व प्रकृति अष्टवर्गी कण संघात के रूप में थी। यह काल विज्ञान प्रोक्त आठ कण प्रतिकण की सत्ता का द्योतक है।

सप्तवर्गी परमाणु रचना– महाग्नि पिण्ड के पर्याप्त संसार में पाये गए परमाणु नाभिक की रचना हुई और इलेक्ट्रान कणों के नाभिक से संयुक्त होने से परमाणु रचना हुई। यह स्थिति वेद मन्त्र के इन शब्दों में निर्दिष्ट है–ध्यातव्य है[4] कि चर्चा आदि काल की हो रही है–

देवाँ उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्।

(मार्ताण्डम्) आदिकाल का महासूर्यमंडल (यदा) जैसे ही (परा आस्यत्) (अस्=फेंकना लङ् ल.) दूर तक फेंका गया अर्थात् प्रारम्भिक द्रव्य मंडल का पर्याप्त प्रसार हो जाने पर (सप्तभिः देवान्) सात देवों का (उप प्र ऐत्) उस स्थिति की निकटता में प्रकर्षता से आगमन हुआ यह सप्तवर्गी परमाणु रचना का काल है। ऋग्वेद में अन्यत्र इस स्थिति को सप्त अर्ध गर्भाः कहा गया है यथा–

सप्तार्ध गर्भा भुवनस्य रेतो।

भ्रूणावस्था में निहित सप्त वर्गी परिणाम भौतिक पदार्थ जगत् के बीज रूप हैं। ऋ. 1/164/36 अर्ध गर्भ का अर्थ अपरिपक्व अवस्था या भ्रूणावस्था है। ध्यातव्य है कि परमाणु अवस्था भी विज्ञान में अन्तरिम अवस्था (Nascent State or Ionic State) कहलाती है। इस प्रकार वेद के अर्ध गर्भ शब्द और विज्ञान शब्दावली (टर्मिनॉलाजी) के आयोनिक अवस्था सूचक शब्दों में लगभग समान भाव हैं। परमाणु अवस्था नाभिक अवस्था और अणु अवस्था के मध्य की कड़ी है इस प्रकार ऋग्वेद की सप्त अर्ध गर्भ अवस्था विज्ञान सप्त परियाडिक मेन्डलीफ वर्गीकरण की द्योतक है।

दर्शन में परमाणु अवस्था को तन्मात्रा कहते हैं, जो तत् मात्रा का समास है। द्रव्य ठोस हो, गैस हो या द्रव हो तन्मात्रा उस द्रव्य की वह छोटी से छोटी मात्रा है जिसमें उस (तत्) की सत्ता सूक्ष्मरुप में बनी रहती है और यह वैज्ञानिक दृष्टि से आयोनिक अवस्था या परमाणु अवस्था है।

सृष्टि उत्पत्ति के अन्तिम चरण में परमाणु रचना के साथ-साथ सूर्यादि नक्षत्र व ग्रहों की भी उत्पत्ति होती है यह सब विज्ञान ऋग्वेद के उसी सूक्त में जिसकी व्याख्या की जा रही है ऋचा क्रमांक 3 से 4 में अत्यन्त विज्ञाननिष्ठ मंतव्य निहित किये हुए नक्षत्र सूर्य, ग्रह व पृथिवी की उत्पत्ति का विज्ञान है। किन्तु उस सबकी चर्चा इस सीमित व्याख्यान में करना कठिन है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा सप्तवर्गी जगत् प्रादुर्भूत होता है।

सूक्त की अन्तिम ऋचा में जगत् उत्पत्ति लय के अनन्त क्रम की चर्चा करते हुए ऋषि ने कहा है–

सप्तभिः पुत्रैरदितिरूप प्रैत्यपूर्व्य युगम्।
प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत्।।

(पूर्व युग) पूर्व युग को (अदिति) अखण्ड मूल शक्ति सात परिणाम रूप (जगत् रूप) ले विविधता से आयी थी (प्रजायै) विविध सृष्टि उत्पत्ति के लिये (मृत्यवे) अनन्तर विनाश (प्रलय) के लिये हे अदिते! तुझसे ही बार-बार महासूर्य मंडल (आदिसृष्टि में) धारण किया जाता है।

यह जगत् उत्पत्ति विनाश रहस्य वेद प्रोक्त है। **सप्त चक्रान्वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतन्वक्षः** यह काल सात चक्रों को ढोता है इसके सात नाभियां हैं। जिनका धुरा निश्चय ही अमृत है। सात चक्र सप्तवर्गी जगत् के

द्योतक हैं सात नाभियां सप्त अर्ध गर्भाः वाच्य सप्तवर्गी परमाणु हैं जिसकी मूल तत्त्व रूपी अक्ष शाश्वत है। इस प्रकार ऋचा की इस पहेली –

अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि में निहित सृष्टि उत्पत्ति रहस्य इस प्रकार पूर्ण हुआ–

(अदितेः) अखण्ड मूल आद्या शक्ति से (दक्षः अजायत) जगत् उत्पादक प्रारम्भिक सामर्थ्य (Initial Capacity) प्रादुर्भत हुई और उस सामर्थ्य से (परि) अन्तिम परिणाम स्वरूप (अदितिः) अखण्ड पृथिवी उत्पन्न हुई इति प्रहेलिका।

19. रूपक रहस्य– ऋग्वैदिक रूपक अलंकार में ईश्वर पिता, और प्रकृति की नित्य ब्राह्मी अवस्था अदिति माता कही गयी है। सृष्टि में नियोजित होते ही मूल शक्ति का नाम अदिति से आपः हो जाता है। आपः क्रियात्मक अवस्था है। इस आपः को या इसके विस्तृत रूप बृहतीः आपः को अदिति का पुत्र या पुत्री कहा गया है तथा आपः के प्रथम परिणाम को आपः पुत्र एतदर्थ अदिति का नाती अपां नपात् कहा गया है अपां नपात् विज्ञान की नाभिक अवस्था कास्मिक मेटर का द्योतक है। इस प्रकार प्रकृति के इन अवस्थाओं से संबंधित विज्ञान को रूपक रहस्य में छिपा दिया गया है।

ऋचा 10/14/1 का भाष्य वैदिक व्याकरण में मेकडानल ने करते हुए ऋचा में सूर्य पुत्री के विवाह का प्रसंग बनाया है जो तथ्यहीन है। यहाँ शुद्ध भाष्य दिया जाता है–

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥

(त्वष्टा) अष्टवर्गी धातु संघात का अधिपति ईश्वर (दुहित्रे) पुत्रीवत् क्रियात्मक प्रकृति आपः को (वहतुं कृणोति) वहन करने योग्य बनाता है (इति) (स इदं विश्वं भुवनं समेति) इस प्रकार वह इस समस्त ब्रह्माण्ड को सम्यक् प्रकार से ले जाती है।

(जाया) ईश्वर की पत्नी अदिति (यमस्य माता) नियमों की जननी, धात्री (महः विवस्वतः) महान् सूर्यवत् अग्नि पिण्ड को (परि उह्यमाना, उह्=चोट मारना) सब ओर से आघात करती हुई (ननाश, दिवा पर, नश्) विस्फोट करती है।

ऋचा में विवाह का प्रकरण नहीं है वरन् महाग्नि ताण्डव का वर्णन है।

इसी प्रकार ऋग्वेद मंडल 3 सूक्त 31 की प्रथम दो ऋचाओं का भाष्य निरुक्त में दायभाग संबंधी किया गया है जो पूर्णरूप से गलत है। ऋचाओं में गहन विज्ञान विद्या है वहाँ विज्ञान के इस तथ्य की प्रस्थापना हुई है कि जगत् में जितना भी द्रव्य (मेटर) है उसका अंशमात्र ही पूर्णरूप में विकसित हो अणुरूप में (ठोस द्रव गैस रूप में) परिणत होता है शेष कास्मिक मेटर और ऊर्जा रूप में रहता है। ऋचा है–

शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥

भाष्य– (दुहितुः) क्रियात्मक प्रकृति पुत्रीवत् आपः का (शासत्) शासन करता हुआ (विद्वान्) ज्ञानवान् ईश्वर (दीधितिम् अदा. दीधी, दीधितिः=प्रकाश किरण कोश) विद्युन्मय किरण के (ऋतस्य) सत्य प्राकृतिक बहाव का अर्थात् प्रकृति के गुण धर्म। स्वभाव का (सपर्यन् सपर्य=मान करना) मान करता हुआ। (वह्निः) अग्निमय (नप्त्यं) नाती अपां न पात् नाभिक द्रव्य को (गाल्=गा लुङ् लेट्) प्राप्त होवेगा।

(यत्र) जहाँ (पिता) पिता ईश्वर (दुहितुः) पुत्री आपः के (सेकं, सेकः=प्रसार कोश) प्रसार का (ऋञ्जन् ऋज्) मार्ग निर्देश करता हुआ (शग्म्येन) सामर्थ्य के साथ (मनसा) मन के द्वारा (सं) सम्यक् प्रकार से (दधन्वे, धन्व लिट् ल.) तीव्रता से गया था।

ईश्वर प्रकृति का स्वामी है किन्तु स्वयंभू होने से प्रकृति के गुण धर्म स्वभाव की स्वतंत्र सत्ता है जिनका मान करते हुए अर्थात् सर्वज्ञता से प्रकृति के गुण धर्म स्वभाव के ज्ञान से उनके अनुरूप तीव्रता से परिवर्तन करता हुआ परमात्मा मन के द्वारा उन परिवर्तनों को यथावत् समझता हुआ व उनका मार्ग निर्दिष्ट करता हुआ जाता है। ऐसा नहीं है कि प्रकृति में हुए अत्यन्त तीव्रगामी परिवर्तन का नक्शा ईश्वर के मन में न हो और वे परिवर्तन सम्पन्न हो गये हों। विज्ञान कहता हैं कि सेकेन्ड के हजारवें भाग में भी परिवर्तन होते हैं। आदिकाल में वे सब तीव्रगामी परिवर्तन ईश्वरीय मन से निष्क्रमण करके निकले हैं। आगामी ऋचा में भी दायभाग की बात निरर्थक है। उस ऋचा में विज्ञान का वही सिद्धान्त निहित है कि विकसित जगत् प्रकृति अंशमात्र से धारण हुआ है शेष भाग ऊर्जा है। ऋचा है–

न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भम्-सनितुर्निधानम्।
यदीं मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्॥

भाष्य–(तान्वः) प्रकृति के देह से उत्पन्न पुत्र या पुत्री आपः (जामये) अपने संबंधी पुत्र के लिये (निधानन्=कोष) आया प्रकृति के परम आश्रय रूप भंडार को (रिक्थम् रिक्थम्=दायभाग) दायभाग को सम्पत्ति को (न आरैक् रिच्=खाली करना लुङ् स्) खाली न करे।

वह आपः (सनितुः गर्भम् चकार) भोक्ता पुत्र अपां नपात् के गर्भ को धारण करती है (यदि मातरः) यदि माताएं, त्रिवर्गी मूल शक्तियों (वह्निम्) अग्नि को (जनयन्त) उत्पन्न करें तो (कर्ता अन्यः) कार्य करने वाला अग्नि का भाग अन्य होता है (सुकृतः अन्यः) उत्तम प्रकार निर्मित (Finished product) अन्य होता है जो (ऋन्धन्) शेष (ऊर्जा भाग पर) समृद्ध होता है।

इस ऋचा में पारिवारिक दायभाग की कल्पना ऋचा के विषय में अनभिज्ञता के कारण हुई है। आदि से लेकर विकसित जगत् रचना तक प्रकृति के दो भाग होते हैं एक भाग पृथिवीवत् ग्रहादि के रुप में पूर्णरूप से विकसित होता है जहाँ धातुएं जल और यौगिक अपने पूर्ण विकसित रूप में पाये जाते हैं और प्रकृति का दूसरा भाग निरन्तर विकसित होने वाले भाग को पालता है उसे ऊर्जा देता है और उसे विकासोन्मुख करता है। प्रकृति का यह दूसरा भाग पूरा का पूरा विकसित रूप में परिवर्तित नहीं होता उसका अंशमात्र ही पूर्णरूप से विकसित होता है शेष ऊर्जा और कास्मिक मेटर के रूप में रहता है यही दायभाग में दे देने का तात्पर्य है।

इसी सूक्त की आगामी दो ऋचाएं आदिकाल के अग्नि ताण्डव का वर्णन कर रही हैं अतः ऋचाओं के विषय में (Continuity) निरन्तरता है क्रम है वेतरतीवपना या (At random) अव्यवस्था नहीं है।

विषय के अक्षुण्य तारतम्य का दिग्दर्शन हो सके इस तथ्य को ध्यानान्तर्गत रखते हुए आगामी ऋचा पर विचार किया जाता है–

अग्निर्जज्ञे जुह्वा रेजमानो महस्पुत्राँ अरुषस्य प्रयक्षे।
महान् गर्भो मह्या जातमेषां मही प्रवृद्धर्यश्वस्य यज्ञैः॥

(जुह्वा=जिह्वा=आग की जीभ कोश)

ज्वालाओं से (रेजमानः) कांपती हुई लपलपाती हुई (अग्निः) अग्नि (जज्ञे) उत्पन्न हुई (अरुषस्य) प्रदीप्त किरणों के (महः पुत्रान्) महान् शोले (प्रयक्षे धातु यज्) संयुक्त हुए (एषां) इन (हरिः=अग्निः, अश्वस्य यज्ञैः) अग्नि धारण किये शक्ति संगतिकरण के (महान् गर्भः) महान् गर्भ से (मही) शीर्षस्थ (प्र-वृत, वृ=चुनना का भू. का कृद. वृत) संग्रहीत हुई (महि आ जातं) महान् शक्ति प्रकट हुई।

ऋचा में महः, महि महान् शब्द चार बार प्रयुक्त हुए हैं जो अग्नि ताण्डव की आदिकालीन असाधारण स्थिति के द्योतक हैं।

20. प्रकृति के अंशमात्र से पूर्ण विकसित जगत् उत्पत्ति– यह स्थिर वैज्ञानिक ज्ञान है कि महाविस्फोट के अनन्तर विकसित हुए इस संसार में जो पूर्ण रूप से विकसित प्राणी जीवन के आवास के लिये उपयुक्त लोक हैं वे सृष्टि में नियोजित सम्पूर्ण भौतिक द्रव्य के अंशमात्र से धारण हुए हैं। यह तथ्य पूर्व ऋचाओं से प्रकाश में आ चुका है। अब इसी तथ्य को एक अन्य ऋचा से प्रकाशित किया जाता है–

युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः
अमीमेद वत्सो अनुगामपश्यद् विश्व रूप्यं त्रिषु योजनेषु॥

(दक्षिणायाः) दान देने की इच्छा वाली (माता) मूल मातृ शक्ति (धूरि) उच्चतम स्थान पर (युक्ता आसीत्) स्थिर हुई स्थित है अथवा काल के दक्षिणवर्ती अक्ष पर मूल मातृ शक्ति अचल हुई स्थित है।

(वत्सः गाम् अनु अमीमेत) बछड़ा गाय की नकल कर रंभाता है वैसे ही (अन्तः गर्भ) मूल मातृ शक्ति के अन्तस् का भ्रूण भाग (वृजनीषु) बार-बार गमन करने वाले तत्त्वों पर (त्रिषु योजनेषु) उत्पत्ति, स्थिति, लय इन तीन योजनाओं में (विश्व रूप्यं अपश्यत्) जगत् रुप को देखा गया।

इस रूपक में प्रकृति माता गाय है और उससे पृथक् पूर्ण विकसित होने वाला भाग बछड़ा है।

बछड़ा जब भूखा होता है तब गाय रंभाती है उसकी नकल कर रंभाता हुआ बछड़ा गाय के पास जाता है और गाय का दूध पीकर शक्ति अर्जित कर वापिस अपने स्थान पर चला जाता है। उसी समता से जब विकसित जगत् रूप बछड़ा शक्तिहीन हो जाता है तब अक्ष के दक्षिण में अचल मूल रूप में मातृ शक्ति उसे अपने पास खींच लेती है। यह लय की स्थिति है। वहाँ नवीन शक्ति ग्रहण कर नव सत्र में पुनः जगत् रूप में उद्भव पाता है अतः बार-बार गमन करने के कारण वृजनीषु पद संज्ञा वाला होता है। मूलभूत रूप में दिग् में व्यापक मूल मातृ शक्ति उच्च स्थान पर आसीन कही गयी है। उसका मात्र एक अंश बार-बार पूर्ण विकसित जगत् रूप में प्रादुर्भूत होता है।

पाद-टिप्पणियां

1. ऋ० मंडल 10/सूक्त 81/मन्त्र 2
2. स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियतं, सर्वं वा अत्तिइति, तत् अदितेः अदितित्वम्। बृह० उप० 2/5
3. तस्मात् सत्यादिस्वरूप परमात्मन् आकाशो वायु कारणं शब्द गुणं तत्त्वं सत्तात्मकं उत्पन्नं न च अत्र अभाव मात्रं शून्य आकाश पदवाच्यं। तैत्तिरीय उपनिषद् भाष्य-स्वामी दयानंद
4. देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत।

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1(2), No.2 (163-173) Jan.-June 2012

वैदिक गणित

कंवरभान सेतिया

प्राचीनकाल की बात है कि एक बार मुनि नारद सनत् कुमार के पास पहुंचे और उन्होंने 'ब्रह्म विद्या' का ज्ञान देने के लिये प्रार्थना की। सनत कुमार ने नारद से पूछा कि पहिले तुम यह बतलाओ कि तुमने क्या-क्या पढ़ा हुआ है जिससे कि मुझे पता लगे क्या-क्या सीखना शेष रह गया है। यह छान्दोग्योपनिषत् की कथा है। तब नारद ने धार्मिक और दार्शनिक साहित्य के अतिरिक्त अनेक प्रकार के विज्ञान व कलाओं को, जिनका उन्होंने अध्ययन किया था, गिनाया। उन्होंने कहा, हे "महाभाग! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, व्याकरण, कर्मकांडीय विज्ञान (The Science of Religion), राशि विद्या (The Science of Numbers), दैवविद्या (Natural Science), कालक्रम विद्या (Chronology), वाक्-विद्या (The Science of logic), नागरिकशास्त्र (The Science of Polity), निरुक्त (The Science of Etymology), शिक्षा, कल्प आदि (The Sciences Cognate to the Vedas) अध्यात्म विद्या (The Science of Spirits), धनुर्विद्या (Aachary), नक्षत्रविद्या (The Science of Artionomy), सर्पविद्या (The Science of Antidotes), देवजन विद्या (Fine Arts) का अध्ययन किया है।

कुछ अन्तर के साथ यही कहानी महाभारत में भी आती है। यहां बृहस्पति मुनि ने अपने गुरु (Preceptor) से पूछा, "ब्रह्माण्ड का मूल कारण क्या है? ज्ञान की परिणति किसमें है? क्या कोई ऐसा विषय है जो वेदों में न हो?" इत्यादि। उन्होंने यह भी पूछा कि उसके लिए प्रश्नों के सन्तोषजनक समाधान के लिए उन्होंने क्या-क्या अध्ययन किया है? छान्दोग्योपनिषद् में दी गई सूची से यह सूची बहुत छोटी है। तो भी इसमें नक्षत्रविद्या का गणन है। यह प्राचीन कथा भीष्म ने युधिष्ठिर को कही थी।

इन कहानियों से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि प्राचीन काल में लोग गणितशास्त्र अथवा ज्ञान की किसी अन्य शाखा को आध्यात्मिक ज्ञान में बाधक नहीं समझते थे। वास्तव में मुण्डकोपनिषद् में अपराविद्या को पराविद्या, अर्थात् वह विद्या जो सत्य से भी सत्य अर्थात् परमसत्य है, का सहायक स्वीकार किया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् में गिनायी गयी विषय सूची इस बात की स्पष्ट द्योतक है कि प्राचीन आर्यों ने आर्ट्स व विज्ञान के किन-किन विषयों में खोज की थी। इनमें गणितशास्त्र को उत्कृष्ट शास्त्र समझा जाता था। यह कहा जाता था कि मोर के सिर पर जो स्थान कलगी तथा सांप के सिर पर जो स्थान मुक्ता का है वही स्थान 'वेदांग' में गणित का है। उस सुदूर काल में ज्यामिति को छोड़कर गणित में ज्योतिष (Astronomy), अंकगणित (Arithmetic) और बीजगणित (Algebra) सम्मिलित थे। रेखागणित उस समय विभिन्न समुदाय - 'कल्प' से

सम्बन्ध रखता था। वैदिक काल के आर्य गणित की दो शाखाओं 'ज्यामिति' (शुल्व) और ज्योतिष में विशेष रुचि रखते थे। वे हमेशा प्रत्येक कार्य में अत्यधिक पारंगत, निष्णात तथा यथार्थ होते थे। 'यज्ञ' वैदिक काल में आर्यों का परम धार्मिक कृत्य हुआ करता था। यज्ञ के लिए विभिन्न आकार व परिमाण की वेदी हुआ करती थी। वे इस विषय में बहुत कट्टर थे। उनका विश्वास था कि वेदी के परिमाण में जरा-सी अनियमितता से न केवल सम्पूर्ण धार्मिक कृत्य का उद्देश्य नष्ट हो जाता है, अपितु उसका उल्टा प्रभाव होता है, अतः वेदी के आकार, प्रकार व निर्माण में अत्यधिक सावधानी बरती जाती थी। इस प्रकार ज्यामिति शास्त्र की उत्पत्ति हुई। ज्योतिष भी इसी प्रकार यज्ञ करने के काल व अवधि की आवश्यकता अनुभव करते हुए और यह जानने के लिए कि यज्ञ किस समय किया जाना चाहिए से प्रारम्भ हुआ था। शास्त्रों का इस प्रकार से उद्भव, चाहे वह धार्मिक कृत्यों को दृष्टिकोण में रखकर ही हुआ था, अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि किसी भी देश में और किसी भी काल में किसी नवीन ज्ञान का अनुभव किन्हीं विशेष कारणों से ही होता है। वैदिक काल में इस प्रकार का कारण धार्मिक था। और एक बार उदित होकर इस प्रकार का शास्त्रीय विज्ञान समय के प्रभाव के साथ अपने में पल्लवित होना प्रारंभ हो गया।

वैदिक गणित शास्त्र के प्राप्य क्षेत्र जिनसे उनकी जानकारी हो बहुत ही कम है। इस विषय पर किया गया कार्य प्रायः नष्ट हो चुका है। वर्तमान समय में केवल वैदिक ज्योतिष शास्त्र पर लिखा गया अल्प-सा साहित्य तीन रूपों में मिलता है आर्च ज्योतिष, याजुष् ज्योतिष, आथर्व ज्योतिष। वैदिक ज्यामिति पर वेद के छः अंगों का उल्लेख मिलता है। अतः वैदिक गणित को जानने के लिए इसी साहित्य पर निर्भर करना पड़ता है।

ज्योतिष विद्या

वैदिक संहिताओं में ज्योतिष सम्बन्धी साहित्य पर्याप्त मात्रा में प्राप्य है। लेकिन यह सब इतने रहस्यपूर्ण व आलंकारिक ढंग से लिखा गया है कि आज के युग में उस पद्धति को जानना व समझना अत्यधिक कठिन है। और अब यदि उन पूर्वजों द्वारा आविष्कृत ज्योतिष सम्बन्धी उपलब्धियों पर आज के विद्वान् एक मत नहीं होते तो आश्चर्य की बात नहीं है। तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि ब्राह्मणकाल में इतनी प्रगति हो चुकी थी कि ज्योतिष को एक पृथक् विज्ञान मान लिया गया था, जिसे नक्षत्र विद्या कहा जाता था।

ऋग्वेद में (1/115/1,2/40/4) विश्व तीन लोकों में विभक्त किया गया है–**पृथ्वी, अंतरिक्ष (आकाश** अर्थात् तारों के नीचे का क्षेत्र) तथा **द्यौः** इसके पश्चात् पुनः प्रत्येक के तीन भाग किये गये हैं। (4/53/3) आकाश का सम्बन्ध बादल, विद्युत्, वायु से है। तथा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और तारों का सम्बन्ध द्युलोक से है। पृथ्वी की द्युलोक से दूरी अलग-अलग ग्रंथों में अलग-अलग ढंग से बताई गई है।

'ऋग्वेद' में पृथ्वी का आकार वर्तुलाकार (1/33/8) कहा गया है और बताया गया है कि पृथ्वी अपने आप हवा में स्वतन्त्र रूप से विद्यमान है (4/53/3)। शतपथ ब्राह्मण ने इसे स्पष्टरूप से **'परिमण्डल'** संज्ञा दी है। पृथ्वी

के विस्तार के विषय में भी कल्पना की गई है (1/23)। प्रो० तारकेश्वर भट्टाचार्य तथा डॉ० एकेन्द्र नाथ घोष का मत है कि वेद में पृथ्वी की दोनों गतियों पृथ्वी की अपनी धुरी पर तथा सूर्य के चारों ओर कक्षा-गति (Axial Rotation, orbtital rotation) के प्रमाण हैं। ये गतियां सूर्य के कारण उत्पन्न हुई हैं। लुडविग ने बहुत पहिले ध्यान आकर्षित करते हुए बताया था कि ऋग्वेद में इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूम रही है।

ऋग्वेद में लिखा है (7/58/2) कि सूर्य ही दिन, रात, संध्या, मास और वर्ष का बनाने वाला है। ऋतुओं का जनक भी यही है (1/95/3) इसकी रश्मियां सात हैं। सूर्य की किरणों में सात रंग होते हैं। वायु चलाने वाला भी सूर्य ही है (ऐतरेय ब्राह्मण 2/7)। वहां यह भी लिखा है कि सूर्य न उदय होता है और न अस्त।

ऋग्वेद में वर्णन है कि वरुण ने सूर्य के लिए मार्ग निर्मित किया है जिसे ऋत (1/41/4) कहते हैं।

स्पष्ट रूप से यह राशिचक्र सम्बन्धी पट्टी (Zoadical Belt) का उल्लेख है, लुडविग का विचार है कि ऋग्वेद में रविमार्ग का पृथ्वी की भू-मध्य रेखा (1/110/2) तथा धुरी (10/86/4) के साथ सम्बन्ध का वर्णन है। मोटे तौर पर सूर्य की वार्षिक गति दो अर्द्धभागों उत्तरायण और दक्षिणायन में विभाजित है। रविमार्ग (Ecliptic) बारह भागों में या बारह राशिचक्रों में विभाजित है। परिणामस्वरुप एक वर्ष में बारह महीने होते हैं। सूर्य प्रत्येक महीने में पृथक्-पृथक् राशि से गुजरता है। प्रत्येक राशि से गुजरता हुआ सूर्य पृथक्-पृथक् नामों से पुकारा जाता है जिससे 12 आदित्यों की परिकल्पना की गई है।

ऋग्वेद (9/71/9,9/76/4) में आता है कि चन्द्रमा सूर्य की रोशनी से चमकता है। चन्द्रमा की कलाओं तथा उसका सूर्य के साथ सम्बन्ध को वे अच्छी तरह जानते थे। ग्रहों के विषय में भी उन्हें ज्ञान था।

तैत्तरीय ब्राह्मण से (1/5/2/1) प्रतीत होता है कि वैदिक काल के ज्योतिषियों ने बिना क़िसी यंत्र की सहायता से अपनी नंगी आंखों से सूर्य के साथ उदित तथा अस्त होने वाले तारों की सहायता से सूर्य की गति का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। जैसा कि इससे पहले तिलक ने भी उद्धृत किया था "यह पद्य बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें प्राचीन काल में आकाशीय निरीक्षण की विधि का वर्णन है।" ऋग्वेद में अनेक सूर्य-ग्रहणों के निरीक्षणों का उल्लेख है। ऋग्वेद में (5/40/5-9) उल्लेख है कि अत्रि ने 'तुरीय' उपकरण की सहायता से स्वर्भानु द्वारा सूर्य के पूर्ण ग्रहण का निरीक्षण किया था। वे सूर्य ग्रहण के प्रारम्भ, अवधि तथा समाप्ति काल की गणना कर सकते थे। उनकी वंश परम्परा को भी सूर्य-ग्रहण के गणन-क्रम का ज्ञान था। अथर्ववेद में (19/9/10) लिखा है कि सूर्य ग्रहण राहु द्वारा लगा करता है। ऋग्वेद के काल में लोगों को इस बात का भली प्रकार ज्ञान था कि सूर्य ग्रहण का कारण चन्द्रमा होता है। वहां चन्द्रग्रहण का भी उल्लेख है।

संहिता में एक वर्ष में पांच ऋतुओं का उल्लेख आता है वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद,

हेमन्त-शिशिर। कभी-कभी हेमन्त और शिशिर को पृथक्-पृथक् भी गिना गया है जिससे एक वर्ष में छः ऋतुएं हो जाती हैं। कदाचित् सात ऋतुओं का उल्लेख पाया जाता है। सातवीं ऋतु मलमास में गिनी जाती है जिसे 'एकमासिक' (Single Born) कहा जाता है, जबकि प्रत्येक ऋतु के दो महीने होते हैं। वैदिक काल के आर्य ऋतुओं का आरम्भ सूर्य द्वारा तीन तारों के एक विशेष समूह (Asterism) में प्रवेश द्वारा मानते थे। बहुत समय पश्चात् यह देखा गया कि वही ऋतु सूर्य द्वारा तारों के एक पृथक्-पृथक् समूह में प्रवेश करने पर प्रारम्भ होती है। वसन्त ऋतु ऋतुओं में सबसे पृथक् समझी जाती थी और वर्ष का आरम्भ इसी से होता था। तैत्तरीय संहिता तथा ऐतरेय ब्राह्मण की कथा के अनुसार **पुनर्वसु नक्षत्र** के देवता **अदिति** को यह वरदान है कि सम्पूर्ण यज्ञों का आरम्भ उसी से होगा। यह स्पष्टतः पुनर्वसु सम्पात (जब रात और दिन समान होते हैं) की ओर संकेत करता है।

ज्यामिति (रेखागणित)

दि थ्योरम ऑफ स्क्वेयर ऑफ दि डॉयगनल (The theorem of square of the Diagonal) का जनक ग्रीक का पाइथागोरस (540 ई०पू०) माना जाता है, यद्यपि सर टी० हीथ इसका खण्डन कर चुके हैं और उन्होंने स्वीकार किया है कि "इस बात का कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है कि इस प्रमेय (theorem) का आविष्कारक पाइथागोरस है।" वास्तव में पाइथागोरस के नाम के साथ इस सिद्धान्त का सम्बन्ध उसके जन्म के पांच शताब्दी पश्चात् जुड़ा है और इसके अतिरिक्त उसने कोई अन्य ज्यामितिक आविष्कार भी नहीं किया। इसके विपरीत बौद्धायन के शुल्व (Geometry) में इस प्रकार के सिद्धान्त का उल्लेख पाते हैं जो पाइथागोरस से कहीं पहले ईसा से 800 वर्ष पूर्व हुआ था। इस सिद्धान्त के क्रियात्मक प्रयोग के उदाहरण **बौद्धायन श्रौत** तथा **शतपथ ब्राह्मण** में (2000 ई०पू०) मिलते हैं और यह मानते हैं कि इस सिद्धान्त की जानकारी उससे भी कहीं पूर्व तैत्तिरीय तथा अन्य संहिताओं के काल में भी थी।

यह निर्विवाद है कि पूर्व काल में The Theorem of the Square Diagonal की ज्यामितिक सिद्धि जानते थे। शुल्व अर्थात् ज्यामिति में इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। ग्रीक के वैज्ञानिक पाइथागोरस के साथ जिस 'प्रमेय' (The Theorem of the Square of the Diagonal) का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, वह इस प्रकार है–

"एक समकोण त्रिभुज में कर्ण का वर्ग आधार लम्ब के वर्गों के जोड़ के बराबर होता है।"

इसकी सिद्धि ज्यामितिक ढंग से (चित्र 1) पर देखें। त्रिभुज क ख ग में क ग कर्ण है, क ख लम्ब है तथा ख ग आधार है।

कर्ण क ग पर बने वर्गों की संख्या 25 (पच्चीस) है। लम्ब क ख पर बने वर्गों की संख्या 9 है तथा आधार ख ग पर बने वर्गों की संख्या 16 है।

इनका जोड़ (16+9) पच्चीस बनता है जो कि कर्ण क ग पर बने वर्गों के बराबर है।

इसी प्रमेय (Theorem) को बौद्धायन

ने इस प्रकार दिया है–"आयत के विकर्ण का वर्ग उसकी भुजाओं (लम्बाई तथा चौड़ाई) के वर्ग के जोड़ के बराबर है।" और यह स्वाभाविक है कि इस प्रमेय से पूर्व 'वर्ग के विकर्ण के वर्गों के प्रमेय' के सिद्धान्त का आविष्कार पहले हुआ हो कि "वर्ग के विकर्ण का वर्ग भुजा के वर्ग का दुगुना होता है" और प्रतीत होता है कि पहले पहल

चित्र : १
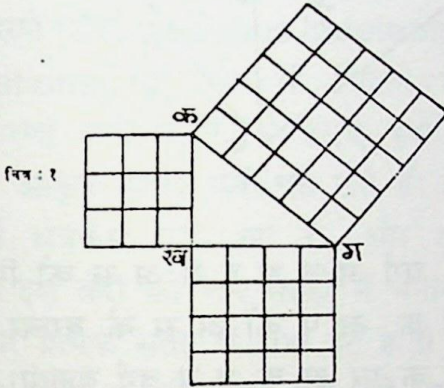
'पैत्तृकी वेदी' के सम्बन्ध में यह प्रमेय आविष्कृत हुआ था। प्रमेय की सिद्धि इस प्रकार है–
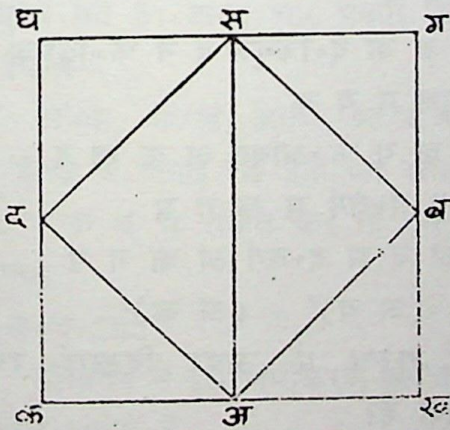
चित्र - 2

क ख ग घ वर्ग की भुजाओं के मध्य बिन्दुओं को मिलाने से एक वर्ग अ ब स द बनाया। इस वर्ग का अ स एक विकर्ण है और यह विकर्ण अ स पहले वाले वर्ग क ख ग घ की भुजा के बराबर है। वर्ग क ख ग घ का क्षेत्रफल वर्ग अ ब स द से दुगुना है। अतः वर्ग क ख ग घ का क्षेत्रफल अ स के वर्ग के बराबर है और यह अ ब स द का विकर्ण है। अतः कर्ण अ स का वर्ग, अ ब स द के वर्ग से दुगुना हुआ।

पाइथागोरस के प्रमेय का प्रमाण इस प्रकार है–
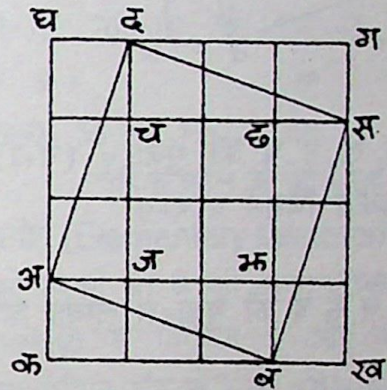
चित्र : ३

यह प्रमाण कात्यायन शुल्व से लिया गया है। ऊपर के चित्र में वर्ग अ ब स द (10) दस एलिमेण्टरी वर्गों के बराबर है। इनमें चार तो आन्तरिक वर्ग च घ ज झ बनाते हैं, शेष छः उन चार आयतों के आधे हैं जिनसे वर्ग च छ ज झ घिरा हुआ है। चार आयतें इस प्रकार हैं– अ ज द घ, द ग स च, छ स ख ब और ब झ अ क, इनको आगे फिर दो भागों में बांटा जा सकता है–

एक भाग में नौ एलिमेण्टरी वर्ग हैं जो कि च स पर बने वर्ग के बराबर है। दूसरे भाग में अकेला वर्ग भुजा च द पर है। इस प्रकार

वर्ग अ ब स द का क्षेत्रफल च स और च द पर बने वर्ग के क्षेत्रफल के बराबर हैं। अतः
(द स) = $(च स)^2$ + $(च द)^2$
इसी परिणाम का एक प्रमाण इस प्रकार भी है–
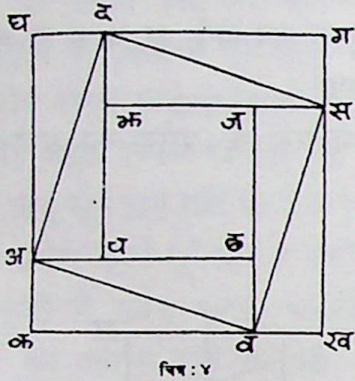
चित्र : ४

माना वर्ग क ख ग घ की भुजा = (य+र) लम्बाई की इकाई जिसमें घ द=य
द ग=र
माना वर्ग अ ब स द की भुजा=ल लम्बाई की इकाई
वर्ग अ ब स द का क्षेत्रफल=$ल^2$
=वर्ग च छ ज झ का क्षेत्रफल+चार समान क्षेत्रफल वाली त्रिभुजें जैसे– अ च द, अ ब छ, ब स ज, द झ स
झ ज=झ स –ज स
=द ग–घ द
=र –य
वर्ग अ ब स द का क्षेत्रफल
$ल^2=(र-य)^2+4\times\frac{1}{2}(य\ र)$
$य^2+र^2-2य\ र+2य\ र$
$ल=य^2+र^2$
अतः $(द\ स)^2=(झ\ स)^2 + (झ\ द)^2$

इस प्रमेय–Theorem of the Square of the Diagonal की सिद्धि इस प्रकार भी की जा सकती है–
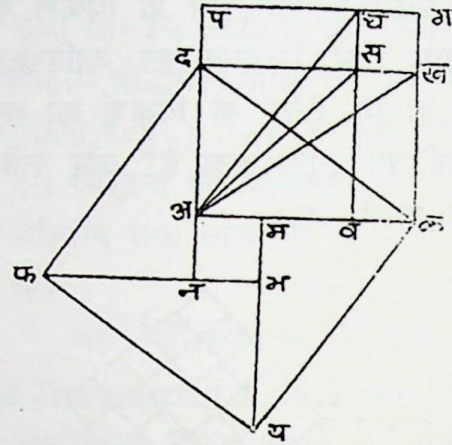
चित्र : ५

वर्ग अ ब स द में अ स को मिलाया तथा अ क, अ प को अ स के बराबर काटा और अ क पर अ क ग प वर्ग बनाया। द क को मिलाते हुए एक वर्ग द क ब फ बनाया। शेष रचना चित्र में दिखाये अनुसार की।
वर्ग द क य फ=(चार त्रिभुज अ ब द) + वर्ग अ म भ न
त्रिभुज अ क द=त्रिभुज द न फ=त्रिभुज फ भ य=त्रिभुज म य क
वर्ग द क य फ=आयत अ क ख द + आयत अ ब ध प+वर्ग स ख ग घ
=वर्ग अ ब स द+वर्ग अ क ग प
$द\ क^2 = (अ\ य)^2 + (अ\ क)^2$

शुल्व में ऊपर दिखाई रचनाएं आवश्यक है।

किसी भी वेदी की रचना में इस प्रकार की आकृतियों (Figures) जैसे–वर्ग, आयत, त्रिभुज को जोड़ना और घटाना आवश्यक था। नियत वर्गों को मिलाकर उपयुक्त परिणाम

पर पहुंचने के लिए The Theorem of the Square of the Diagonal का प्रयोग आवश्यक था लेकिन दूसरी आकृतियों के लिए पहले उन्हें वर्ग बनाने आवश्यक थे जिससे इस प्रमेय का प्रयोग कर सकते और तब वर्गों को सम्मिलित कर अपनी इच्छानुरूप आकृति निर्मित कर सकते थे। एक 'वर्ग' को 'आयत' में परिणत की शुल्व की विधि बहुत ही वैज्ञानिक है।

'शुल्व' में साथ एक अनिश्चित समीकरणें (Simultanious Indeterminate Equations) के हल भी मिलते हैं। इन समीकरणों को देखने के लिए हम **'श्येन चित्'** आकृति वाली वेदी को लेते हैं। इस का सम्पूर्ण क्षेत्रफल 7½ $अ^2$ है, और **अ=एक पुरुष**। इस वेदी को चार सतहों में बनाना होता है, और प्रत्येक सतह में 200 ईंटें होती हैं और प्रत्येक सतह के बीच की ईंटों की दरार एक जैसी नहीं होनी चाहिए। बौद्धायन द्वारा बताये गये एक प्रकार में चार प्रकार की वर्गाकार ईंटें लगाई गई हैं और दूसरे प्रकार में उसने आयताकार ईंटें प्रयुक्त की हैं। अगर चार प्रकार की ईंटों का क्षेत्रफल–

$अ^2/क$, $अ^2/ख$, $अ^2/ग$, $अ^2/घ$ हो और प्रत्येक सतह में लगाई गई ईंटों की संख्या को क्रमशः प फ ब भ संकेत करे तो इस प्रकार हमारे पास

प+फ+ब+भ=200

बौधायन ने इस समीकरण के चार हल इस प्रकार बताये हैं–

(1) क=16, ख=25, ग=36, घ=100

(1.1) प=24, फ=120, ब=36, भ=20

अथवा (1.2) प=12, फ=125, ब=63, भ=0

(2) क=25, ख=50, ग=50/3, घ=100

(2.1) प=160, फ=30, ब=8, भ=2

अथवा (2.2) प=165, फ=25, ब=6, भ=4

आपस्तम्ब ने इसी के निर्माणार्थ चार सतहें लीं–

$$\frac{\text{प}}{\text{क}}+\frac{\text{फ}}{\text{ख}}+\frac{\text{ब}}{\text{ग}}+\frac{\text{भ}}{\text{घ}}+\frac{\text{म}}{\text{ङ}}=7\frac{1}{2}$$

प+फ+ब+भ+म=200

इन समीकरणों के पांच हल इस प्रकार हैं–

क=16, ख=25, ग=64, घ=100, ङ=144

प=67, 74, 77, फ=58, 45, 42, ब=48, 52, 40, भ=18, 20, 32, म=9, 9, 9

क=16, ख=25, ग=36, घ=64, ङ=100

प=12, 70, 10, फ=157, 45, 159, ब=9, 9, 9

भ=0, 56, 8, म=22, 20, 14

वैदिक काल के आर्य सर्द के प्रारम्भिक प्रयोग (Elementary treatment of Surds) को जानते थे। वे की अननुपातिकता (Irrationality) से परिचित थे और जानते थे कि ज्यामितिक ढंग से का सूक्ष्म से सूक्ष्म मूल्य कैसे निकाला जाता है–

$$\sqrt{2} = 1+\frac{1}{3}+\frac{1}{3.4}-\frac{1}{3.4.34}$$

दो वर्ग जिनकी भुजा एक इकाई बनाये। दूसरे वर्ग को तीन बराबर भागों

चित्र-6
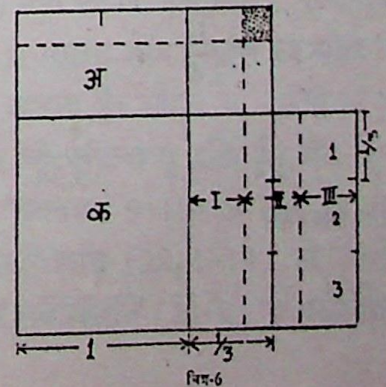
में बांटा। आखिरी भाग को पुनः तीन बराबर भागों में बांट लिया। अब दूसरे वर्ग के बीच वाले भाग को तथा आखिरी भाग के एक वर्ग को उठा कर पहले वर्ग स के ऊपर वाले हिस्से में रखा जाय। इस प्रकार एक वर्ग बन जाएगा जिसकी भुजा 1+1/3 है।

शेष दो वर्ग (2) और (3) हैं। इनमें प्रत्येक को चार भागों में बांट कर वर्ग (1+1/3) भुजा वाले के ऊपर तथा दाईं ओर रखा। इस प्रकार एक अन्य वर्ग जिसकी भुजा (1-1/3+1/3.4) है बन जाएगा।

इस वर्ग का क्षेत्रफल पहले वाले दो वर्गों के क्षेत्रफल से $(1/3.4)^2$ अधिक है तथा इसका क्षेत्र छायांकित वर्ग के क्षेत्रफल के बराबर है।

माना कि पतली पट्टी की चौड़ाई 'क' है

तो $2\text{क}\left(1+\frac{1}{3}+\frac{1}{3.4}\right) - \text{क}2 = \left(\frac{1}{3.4}\right)^2$

क्योंकि क^2 बहुत ही छोटी मात्रा है अतः उपेक्षित होने के पश्चात् बचेगा–

$$2\text{क}\left(\frac{12+4+1}{3.4}\right)=\left(\frac{1}{3.4}\right)^2$$

$$2\text{क}\ \frac{17}{3.4} = \left(\frac{1}{3.4}\right)^2$$

$$2\text{क}\times 17 = \frac{1}{3.4}$$

$$\text{क} = \frac{1}{3.4}\times\frac{1}{3.4}=\frac{1}{3.4.34}$$

परिणामस्वरूप

$$\sqrt{2} = 1+\frac{1}{3}+\frac{1}{3.4}-\frac{1}{3.4.34}\text{ लगभग}$$

अंकगणित Arithmetic

वैदिक अंकगणित की सम्पूर्ण सामग्री समय चक्र में समाप्त हो चुकी है और जो कुछ क्षीण सी सामग्री प्राप्य है वह भी दूसरे क्रम की साक्षी पर आधारित है। अतः वैदिक अंकगणित के विषय में विचार विमर्श की सीमाएं सीमित सी हो गई हैं।

वैदिक काल के आर्यों का ध्यान विभाजन की एक समस्या पर बहुत अधिक गया था, और वह थी एक हजार को तीन बराबर भागों में बांटना। केवल इन्द्र और विष्णु ही इसे हल करने में समर्थ हो सके थे और इस कारण वैदिक साहित्य में उनकी बहुत प्रशंसा की गई है। इस सम्बन्ध में इन्द्र और विष्णु का सबसे प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है (ऋक् 6.69.8)। अन्य साहित्य में भी यह प्राप्य है (अथर्व० 3.44.1)। यह जानना अत्यधिक कठिन है कि उन्होंने इसका हल कैसे निकाला था, क्योंकि 1000 को 3 से भाग देने पर एक शेष रह जाता है।

लेकिन शतपथ ब्राह्मण (111/3.1.13) में उल्लेख आता है कि जब इन्द्र और विष्णु ने 1000 को तीन बराबर भागों में बांटा तो एक शेष रह गया, और उन्होंने पुनः उसे तीन भागों में बांटा, यही कारण है कि अब भी यदि कोई 1000 को तीन से भाग देता है तो एक शेष रह जाता है। यह निश्चित रुप से अंकगणितीय उपलब्धि है।

वैदिक आर्यों ने गिनती की उच्चस्तरीय पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण कर रखा था। ग्रीक लोग गिनती की अधिक से अधिक दस हजार की संख्या (10^4) तक जानते थे। और

जिसका प्रयोग ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ। रोमन लोग तो केवल एक हजार (10^3) पर जाकर ही रुक गये। लेकिन प्राचीन काल में आर्य ईसा से हजारों वर्षों पूर्व **परार्ध** (10^{14}) अर्थात् 100000000000000 अंक तक बिना किसी कठिनाई के गिन सकते थे और उनके पास इसके लिए उच्चकोटि की पारिभाषिक शब्दावली भी थी। इस विषय में उनका ढंग बहुत ही वैज्ञानिक था।

वैदिक काल से ही गिनती में दशमलव का प्रयोग होने लग गया था और उन्होंने तत्सम्बन्धित अंकीय वृद्धि को पृथक्-पृथक् संज्ञाओं से अभिहित किया हुआ था और कोई संख्या कितनी भी बड़ी क्यों न हो वे उसे आसानी से व्यक्त कर सकते थे। एक हजार से ऊपर की संख्याओं की वृद्धि अथवा घटती की वे सैन्टेसिमल स्केल से सूचित किया करते थे, जैसे-षष्ठिम् सहस्राणि (=60,000), पंचशत सहस्राणि (=50,000) द्वासप्तति: सहस्राणि (=72,000)। उस काल में सौ अंक को आधार मानकर बड़ी-से-बड़ी संख्या को व्यक्त करने की प्रणाली थी, जैसे षष्ठि शत (6,000)। यद्यपि वैदिक साहित्य में छ: अंकों तक की संख्या के लिए 'नियुत' शब्द है, लेकिन फिर भी अनेकों बार इसे **'शत सहस्र'** कहा गया है। यह इस बात का द्योतक है कि भारत में गिनने के लिए सौ की संख्या का आधार बहुत प्राचीन काल से है। प्राकृत में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं, यद्यपि संस्कृत भाषी आर्यों ने इससे अधिक सुविधाजनक 'दस' को आधार मान लिया था। हिंदी आदि आधुनिक अन्य भाषाओं में आज भी दस हजार तथा दस लाख का आधार 'दस' ही है। उन संख्याओं के लिये अलग से कोई अन्य शब्द नहीं है।

किसी परिमाण को मापने के लिए प्राचीन काल में आर्य विभिन्न पैमाना प्रयुक्त करते थे। उदाहरण के लिये **शतपथ** ब्राह्मण में समय को 15 का आधार मानकर सूक्ष्मत: विभक्त किया गया है। समय की सबसे छोटी इकाई 'प्राण' दिन का $1/15^5$ भाग कहा गया है।

वैदिक काल के आर्यों ने सम्पूर्ण अंकों की शब्दावली को तीन वर्गों में बांटा हुआ था–
अ–एक, द्वि, त्रि, चतुर, पञ्च, षट्, सप्त, अष्ट, नव;
ब–दस, विंशति, त्रिंशत्, चत्वरिंशत्, पंचाशत्, षष्ठि, सप्तति, अष्टति, नवति;
स–शत, सहस्र, अयुत, नियुत, कोटि, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त, परार्ध।

अ वर्ग में गिनती का क्रम एक अंक की वृद्धि से बढ़ता चला गया है। ब में पूर्व अंक से 10 अंक की वृद्धि से बढ़ता चला गया है। स में गिनती का क्रम पूर्व से दस गुना वृद्धि से बढ़ता चला गया है। सौ से नीचे की संख्या का कोई भी समस्त शब्द अ तथा ब वर्ग के शब्दों के संयोग से बनता है। प्राय: अ वर्ग का शब्द ब वर्ग से प्रथम आता है, जैसे-एक दस (ग्यारह), सप्त विंशति (सत्ताईस), अष्ट-विंशति (अठाइस)। समस्त शब्द निर्माण का मोटा नियम दोनों को जोड़ना है। जोड़ने के अतिरिक्त घटाने का नियम भी दृष्टिगोचर होता है; जैसे–उन्नीस के लिए **'नवदश'** 9+10=19 शब्द है। लेकिन इसे **एकोनविंशति** (20-1=19) भी कहते हैं। इसी प्रकार **नवविंशति** (20+9) या **एकोनत्रिंशत्**

(30-1); **नवनवति** (9+90) या **एकोनशत** (100-1)=99 घटाने का नियम वैदिक युग से पाया जाता है। परवर्ती युग में 'एकन्यून' के स्थान पर 'एकोन' उपसर्ग प्रयुक्त होने लगा और यही प्रचलित है, जैसे एकोनविंशत्, एकोनत्रिंशत् आदि।

अत: कैजोरी का अपनी पुस्तक 'हिस्टरी ऑफ मैथमेटिक्स' में यह कथन कि इटली खे ईट्ररिया के लोगों को छोड़कर शब्दावली के निर्माण में घटाने का नियम कोई अन्य जाति लागू नहीं करती थी, गलत सिद्ध होता है। प्राचीन काल के भारतीय उनसे कम से कम 2,000 वर्ष पूर्व घटाने की प्रक्रिया के लिए शब्द निर्माण आरम्भ कर चुके थे।

ग, वर्ग की सौ की संख्या के ऊपर की संख्या का शब्द निर्माण **'गुणा'** तथा **'जोड़'** द्वारा किया जाता था। यदि किसी संख्या शब्द से पूर्व कोई छोटी संख्या रखी जाती है तो उसे बड़ी के साथ गुणा करना होता है और यदि बाद में रखी जाती है तो उसे जोड़ना होता है जैसे ऋग्वेद (1.164.11) में **सप्तशतानिविंशति**=720, सहस्राणि शतदस=1110 षष्टि सहस्र नवतिनव =60,099। कहीं-कहीं इस नियम का अपवाद मिलता है।

जहां तक वैदिक काल में संख्याओं का दिग्दर्शन कराने वाले संकेत-चिन्हों का सम्बन्ध है निश्चित रुप से कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन कुछ प्रमाणों से यह अवश्य पता चलता है कि वैदिक युग में संकेत चिन्ह थे अवश्य। ऋग्वेद (10.62.7) में गौओं के एक समुदाय को दूसरों से पृथक् दर्शाने के लिए **'अष्टकर्णी'** शब्द आया है। इससे स्पष्ट है कि उन गौओं के कान पर आठ का चिन्ह होगा। इसी प्रकार यजुर्वेद में सोने के सिक्के के लिए **'अष्टा मृदम् हिरण्यम्'** (काठक संहिता 13. 10) का अर्थ यही है कि सोने के उस सिक्के पर आठ का चिन्ह खुदा हुआ होगा। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैदिक युग में लोग संख्या-चिन्हों से परिचित थे।

मोहन जोदड़ो की खुदाई से प्राप्त होने वाली मोहरों से सिद्ध हो चुका है कि ईसा से 4,000 वर्ष पूर्व की सिन्धु घाटी की सभ्यता में लोग संख्याओं को संकेत-चिन्हों से प्रकट करते थे और यह निश्चित है कि वैदिक युग में बड़ी-बड़ी संख्याओं को यहां तक कि 10^{14} जैसी संख्याओं को अभिव्यक्त करने वाले लघु-संकेत-चिन्ह व सूत्र जान चुके थे। यदि उपनिषदों में आने वाले उद्दालक श्वेतकेतु, अष्टावक्र, तथा जनक से सम्बन्धित आख्यानों पर कुछ भी विश्वास किया जाये तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ब्राह्मण काल में दशमलव लगाने की पद्धति का आविष्कार हो चुका था।

पाणिनि (ई०पू० 700) की व्याकरण में इस प्रकार का प्रमाण है कि उस समय अंकों को अक्षरों द्वारा अभिव्यक्त करने की प्रणाली चल चुकी थी। वैदिक काल में अंकों का स्थायी रुप से सुरक्षित रिकार्ड रखने के लिए तत्सम्बन्धित वस्तुओं के नाम व शब्दों द्वारा चाहे वे पारस्परिक व अन्य किसी प्रकार से जुड़े हुए थे, प्रयुक्त हुआ करते थे। प्राचीन संहिताओं में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। अंकों को इस प्रकार अक्षर व शब्दों के रूप में प्रयोग की प्रणाली विशेष रूप से ज्योतिषियों तथा गणितज्ञों

में सर्वप्रिय थी और इस प्रणाली के जन्म का मुख्य श्रेय उस काल के लोगों का पद्य-काव्य से प्रेम व आकर्षण था और अंकों को पद्य में प्रयोग करने के लिए कई प्रकार अपेक्षित होते थे।

वेदकालीन आर्यों ने अंकों को युग्म तथा अयुग्म दो वर्गों में बांटा हुआ था श्री विभूति विभूषण दत्त का यह विचार अथर्ववेद के दो मंत्रों (19.22.3) पर आधारित था। में शून्य तथा नैगेटिव नम्बर का उल्लेख है। **'शून्य'** को **'क्षुद्र'** कहा गया है। नैगेटिव नम्बर को वहां 'अनृच' तथा पॉजिटिव नम्बर को 'ऋच' कहा गया है। परवर्तीकाल में यही 'ऋण' तथा 'धन' में परिवर्तित हो गया।

वैदिक काल में आर्य अंकों को शृंखलित करने में तत्पर दिखाई देते हैं। तैत्तरीय संहिता (7.2.12=7) में इस प्रकार के निम्नलिखित अंकगणितीय शृंखला वाले पद्य प्राप्त होते हैं–

1, 3, 5............19, 29, 39...99

2, 4, 6............20

4, 8, 12.........20

5, 10, 15..........100

10, 20, 30.........100

ये अंकगणितीय शृंखलायें युग्म और अयुग्म में बंटी हुई हैं।

पंचविंश ब्राह्मण (18.3) में गुणोत्तर श्रेणी (Geometrical series) को भी जानते थे–

24, 48, 96, 192..........491252, 98304, 196608, 393216

इस श्रेणी को योग करने का प्रकार भी वे जानते थे। अर्थमेटिकल प्रोग्रेशन जिसकी पहली वृत्ति (Term) 24 और सामान्य अन्तर (Common difference) 4 है और वृत्ति की संख्या 7 हो तो उसके जोड़ का तीन गुना 756 के बराबर है यह तथ्य वे जानते थे।

उपर्युक्त संदर्भ में बौद्धायन द्वारा किसी वर्ग की रेखागणितीय जोड़ (Addition of gnomons) द्वारा वर्ग का बड़ा करने के प्रकार से यह स्पष्ट है कि वे यह तरीका जानते थे।

$1+3+5....+(2क+1)=(क+1)^2$

वैदिक आर्य भिन्नों के अंकगणितीय घटा, गुण, योग तथा भाग करना भी जानते थे।

'शुल्व' से हम यह उदाहरण लेते हैं–

$$7\frac{1}{2}+\frac{1}{25}=187\frac{1}{2}$$

$$\left(2\frac{2}{7}\right)^2+\left(\frac{1}{2}+\frac{1}{12}\right)\left(1-\frac{1}{3}\right)=7\frac{1}{2}$$

$$\sqrt{7\frac{1}{9}}=2\frac{2}{3}$$

- श्री विभूति विभूषण दत्त

द्वारा लिखित लेख पर आधारित

(Cultural Heritage of India) से साभार

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1(2), No.2 (174-179) Jan.-June 2012

वैदिकपदार्थावबोधे स्वराणामुपादेयत्वम्

रवीन्द्र कुमार
गुरुकुल पौंधा, देहरादून (उत्तराखण्ड) भारत

वेदाङ्गानां प्रणयनप्रयोजनं तु वेदार्थज्ञानायैवेति सर्वेषामपि विदुषां सम्मतम्। वेदाङ्गपदस्य व्युत्पत्तावेव उच्यते यत् "**अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते वेदा अमीभिरीति वेदाङ्गानि।** निरुक्तकारेण यास्काचार्येणापि स्वशास्त्रे प्रोक्तं यत् "**साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशेन ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि च।** (निरुक्तम् 1/1)। अनेन शास्त्रवचनेन प्रमाणीभवति यद् वेदाङ्गानां निर्माणं सर्वथा श्रुतिप्रतिपत्तये एवाभवत्। एतेषां सर्वेषामपि वेदाङ्गानां वेदाङ्गत्वं शिक्षायामेवमुदीरितम्-

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।
(पाणिनीय शिक्षा 41/42)

अनेन शिक्षाशास्त्रश्लोकेनापि व्यक्तमिदमेव भवति यद् वेदपुरुषस्य कस्य कस्याङ्गस्य केन केन शास्त्रेण ज्ञानं भवति। एवं वेदपुरुषस्य साङ्गं ज्ञानं विधाय वेदार्थालोको भवति। एतेषु षट्सु वेदाङ्गशास्त्रेषु व्याकरणमेव प्रामुख्यं भजते। महावैयाकरणः पतञ्जलिर्ऋषिरपि प्राह यत् "**प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्।** (महाभाष्यम् 1/1 अ01)। व्याकरणशास्त्रे तदवयवभूतं स्वरशास्त्रं वेदार्थाय वेदस्य सूक्ष्मतमाभिप्रायव्यक्ताय अधि कतमं सहायकम्। स्वरशास्त्रमवलम्ब्यैव वेदार्थविविक्षुर्न केवलं पथस्खलनाद् विरमति, अपितु स्वरशास्त्रेण वैदिकपदानां सूक्ष्मतमं रहस्यमपि सहसैवावगच्छति। ऋग्भाष्यकारः स्वरमर्मज्ञो वेङ्कटमाधवोऽपि स्वरानुक्रमण्यां लिखति यद् -

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति।।
(1/8)

अयमेव वेङ्कटमाधवस्स्वविरचिते द्वादशविधानुक्रमणीनामुपोद्घातारम्भे पदार्थज्ञानहेतुषु स्वराणां निर्देशं कुर्वाणो लिखति यत्- **नामाख्यातविभागश्च स्वरादेवागम्यते।** (ऋग्वेदानुक्रमणी परिशिष्टे)। यथा स कर्ता। स कर्ता। इत्येतयोर्वाक्ययोः प्रथमं कर्तेतिपदं तृन्नन्तम् आद्युदात्तत्वात् नाम वर्तते, यतोहि "**ञ्नित्यादिर्नित्यम्**" (अष्टा0 6/1/197) इत्यनेन सूत्रेण प्रत्ययस्य नित्वादाद्युदातत्वं भवति। द्वितीयं कर्तेति पदं तिङन्तं लुटि वर्तते। तत्र "**न लुट्**" (अष्टा0 8/1/29) इत्यनेन सूत्रेण लुडन्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति, अत्र प्रतिषेधे सति" "**तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङो**" (अष्टा0 6/1/180) इत्यनेन सूत्रेण लसार्वधातुकप्रत्ययस्यानुदात्तो विहितः। पुनश्च प्रक्रियायां सत्यामन्ते टिभागलोपत्वाद् उदात्तनिवृत्तिस्वरेण कर्तेत्यत्र "ता" इति पदमुदात्तः। तदनन्तरं "**अनुदात्तं पदमेकवर्जम्**" (अष्टा0 6/1/158) इत्यनेन सूत्रेण उदात्तपदं वर्जयित्वाऽन्यत्रानुदात्तविधाने

सति कर्ता इति लुङन्तं पदं सिध्यति। एवमेव तृच्प्रत्ययान्तमपि कर्तेति पदं भवति, तत्पदं तृच्प्रत्ययस्य चित्वात्तु **''चित:''** (अष्टा0 6/1/163) इत्यनेन सूत्रेणान्त उदात्तो भवति। एवं कर्ता (तृन्नन्तम्), कर्ता (लुङन्तम्), कर्ता (तृजन्तम्) इति पदत्रयाणामपि स्वरूपेण साम्यता वर्तते। एतेषु पदेषु स्वराभावे न वयं विज्ञातुं सक्षमा यत् कस्य पदस्य कोऽर्थ: कश्च प्रत्ययोऽत्र विधीयते। अत एव स्वरविज्ञानादेव शब्दानामर्था: स्फुटा भवन्ति तथा च नामाख्यातविभागपरिज्ञानमपि झटिति भवति।

व्याकरणमहाभाष्ये व्याकरणप्रयोजनानि निर्दिशन् महावैयाकरणो भगवान् पतञ्जलि: प्राह यत् **''रक्षोहागमलघ्वसन्देहा: प्रयोजनम्''**। (महा0 पस्पशाह्निकम्) तत्रैवान्तिमस्य प्रयोजनस्य व्याख्यां कुर्वाणोऽयं ब्रूते यद् **असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्**। याज्ञिका: पठन्ति - स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनडवाहीमालभेतेति। तस्यां सन्देह: स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्या: सा स्थूलपृषतीति। तां नावैयाकरण: स्वतोऽध्यवस्तीति।'' अत्र हि स्थूला चासौ पृषती च इति विग्रहे सति **''समासस्य''** (अष्टा0 6/1/217) इत्यनेन सूत्रेण समासान्तान्तोदातत्वविधानात्तथा शेषाणाञ्चानुदत्तत्वे सति (अष्टा0 6/1/158) स्थूलपृषती इति पदं सिध्यति। अत्रोत्तरपदप्रधानत्वात् समानाधि करणतत्पुरुषस्य पृषतीति पदस्य प्राधान्यं भवति। अत्र स्थूलानि पृषन्ति यस्या: सा इति विग्रहे सति **''बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्''** (अष्टा0 6/2/1) इत्यनेन सूत्रेण पूर्वपदप्रकृतिस्वरो भवति। अत्र स्थूलपदं **''स्थूल परिबृंहणे''** (धातु चुरादि0 325) इत्यस्माद् धातो: **''नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच:''** (अष्टा0 3/1/134) इत्यनेन सूत्रेण अचि विहिते सिध्यति। प्रत्ययस्य चित्वात्तु (अष्टा0 6/1/163) इत्यनेन सूत्रेणान्त उदात्ते सति (अष्टा0 6/1/158) इत्यनेन शेषाणाञ्चानुदात्ते सति (स्थूलपृषती) इत्येतस्यां दशायां पुन: **''उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित:''** (अष्टा0 8/4/65) इत्यनेन स्वरिते कृते (स्थूलपृषती) तदनन्तरं **''स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्''** (अष्टा0 1/2/39) इत्यनेन सूत्रेणैकशेषे सति स्थूलपृषतीति पदं सिध्यति। अत्र बहुव्रीहिसमासाद् अन्यपदस्य प्राधान्यं लक्ष्यते। अत्रोदाहरणद्वारा महाभाष्यकारो निर्दिशति यद् व्याकरणज्ञानादृते न स्वरावगमो भवति, तथा हि स्वरावबोधाभावात्तु न पदार्थप्रतिपत्तिस्साधुत्वेन प्रतिभाति।

अस्मिन्नेव प्रथम आह्निके व्याकरणाध्ययनप्रयोजनेषु भगवान् पतञ्जलि: प्राह यत्-

दुष्ट: शब्द: स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति,
यथेन्द्रशत्रु: स्वरतोऽपराधादिति।।

(महा० पस्पश०)

अत्रापि इन्द्रशत्रुरित्यस्य पदस्य तत्पुरुषसमासत्वाद् बहुब्रीहिसमासत्वाच्चार्थद्वयं भवति। यथा- इन्द्रस्य शत्रुरिति तत्पुरुष:। इन्द्रोऽस्य शत्रुरिति बहुव्रीहि:। अत्रापि स्थूलपृषतीपदवदेव तत्पुरुषे समासस्वरकारणाद् इन्द्रशत्रुरिति स्वर: सम्पद्यते। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरेण इन्द्रशत्रुरिति स्वरो भवति, यतोहि इन्द्रपदमुणादौ **''ऋजेन्द्राग्रवज्रविप्र०''** (उणादि 2/29) इत्यनेन

रन्प्रत्यये कृते व्युत्पन्नम्। प्रत्ययस्य नित्वात् (अष्टा. 6/1/197) आद्युदात्तत्वं सिद्धमेव। एवं स्वरैरेव झटिति "इन्द्रशत्रुः" इत्यत्र भेदस्य ज्ञानं भवति यदत्र बहुव्रीहिरुत तत्पुरुषः।

मीमांसायां शबरस्वामी लिखति यत् "**अथ त्रैस्वर्यादीनां कथं समाम्नानमिति।** उच्यते, अर्थावबोधनार्थं भविष्यति।" (9/2/31)। एवमेव महाविद्वान् भर्तृहरिरनेकार्थकपदेष्वर्थनियमानायानेकानि प्रयोजनानि समुल्लिखन् व्याचष्टे यत्-

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

(वाक्य 2/317)

अत्र व्यक्तवाचा हरिणा व्याहृतं यत् शब्दार्थनिश्चयाय उदात्तादीनां स्वराणां बोधोऽपरिहार्यः। महालङ्कारिकः साहित्यदर्पणकारो विश्वनाथोऽपि वेदार्थे स्वरावबोधोपयोगित्वं स्वीकुर्वन् कथयति यत् "**स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृत्**"। (साहित्य० परि० 3) समाजसुधारक आर्यसमाजसंस्थापको वेदभाष्यकारः स्वामिदयानन्दोऽपि स्वीयायाम् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां लिखति यत् - "**वेदार्थोपयोगितायाः सङ्क्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते**"। (पृष्ठम् 374 तृतीयसंस्करणम्)। एवं प्राचीनैरर्वाचीनैश्चाचार्यैः सर्वत्र वैदिके लौकिके च वाङ्मये स्वरैर्वेदार्थे स्वरोपयोगत्वं मुक्तवचसोक्तम्।

वेदार्थे स्वरावगमस्य महत्त्वम् - साम्प्रतं कानिचन वैदिकानि उदाहरणानि प्रस्तूयन्ते, येषु स्वरावबोधाभावान्न सत्यार्थनिर्णयः स्यात्। यथा - **भ्रातृव्यस्य वधाय।** (माध्य. सं. यजु. 1/18) अस्मिन् मन्त्रे भ्रातृव्यपदं वर्तते। अस्य पदस्य लौकिकभाषायां भ्रातुः पुत्रः, शत्रुश्चेत्यर्थद्वयं प्रसिद्धम्। सम्प्रति शङ्कापङ्कास्पदं समुत्पद्यते यदत्रैतयोरर्थयोः कतरोऽर्थो ग्राह्यः। तदानीं स्वरशास्त्रमेव सत्यार्थप्रतिपत्यर्थं शक्तम्। कथमिति? चेत्तदा स्वरप्रक्रियां कृत्वाऽवलोकनं कुर्याम्, यत्केन प्रकारेण स्वरज्ञानात् सत्वरमर्थनिर्णयो भवति। तद्यथा भ्रातृव्य इति पदाय पाणिनीयाष्टके "**भ्रातुर्व्यच्च**" (अष्टा० 4/1/144) इत्यनेन सूत्रेण भ्रातुरपत्यार्थे व्यत्प्रत्ययो भवति। व्यत्प्रत्ययस्य तित्वात् "**तित्स्वरितम्**" (अष्टा० 6/1/179) अनेन सूत्रेण तित्प्रत्ययस्य स्वरितत्वात् शेषाणाञ्च (6/1/158) सर्वेषाम् अनुदात्तत्वे सति (भ्रातृव्यः) इति स्वरो भवति। द्वितीयेऽर्थे च तत्रैव लिखितेन "**व्यन्सपत्ने**" (अष्टा० 4/1/145) इत्यनेन सूत्रेण भ्रातृपदात् सपत्नेऽमित्रार्थे व्यन्प्रत्ययो भवति। व्यनि कृतेऽपि भ्रातृव्य इति पदं निष्पन्नम्। अत्र प्रत्ययस्य नित्वात् (अष्टा० 6/1/197) इत्यनेनाद्युदात्तत्वं कृत्वा शेषाणाञ्च सर्वेषां (अष्टा० 6/1/158) इत्यनेनानुदात्ते सति (भ्रातृव्यः) (अष्टा० 8/4/65) इत्यनेन सूत्रेणोदात्तादनुदात्तस्य स्वरिते कृते (भ्रातृव्यः) तदनु (अष्टा० 1/2/39) इत्यनेन स्वरितात् संहितायामनुदात्तस्य एकश्रुतिविधानाद् "**भ्रातृव्यः**" इति स्वरो भवति। अधुना वेदवाक्यं वीक्ष्य ध्यायन्तु यत्तत्र कः स्वरः? तत्राद्युदात्त एव भ्रातृव्यशब्दः। आद्युदात्तत्वादेव शत्रुरर्थः। "**भ्रातृव्यस्य वधाय**" इति वेदवाक्ये स्वराज्ञो न साध्वर्थं निश्चेतुं समर्थः।

"**न तस्य प्रतिमा अस्ति**" (माध्य० सं० यजु० 32/2) इत्येतस्या ऋचोऽप्यर्थद्वयं प्रतिभाति। तद्यथा - भक्तान् प्रति नतस्य प्रभोः प्रतिमाऽर्थान्मूर्तिर्भवति। द्वितीयोऽर्थोऽस्ति यत् पूर्वनिर्दिष्टस्य तस्येश्वरस्य मूर्तिर्नहि विद्यते। एतस्यां

दशायां कोऽर्थस्समुचितस्स्यादिति स्वरादेव विज्ञेयम्। कश्चिद् यद्यत्रैवं ब्रूयाद् वेदे तु न तस्य प्रतिमा अस्ति इति पृथक् पृथक् पदानि सन्ति। तदा तु स्वयमेव पदानां पार्थक्येन शङ्केयं विस्खलिता, परञ्च नैवं भवति। वेदमन्त्राणां संहितापाठ एव प्रामाणिको न च विच्छेदान्वितः। तदास्यास्समस्यायास्समाधानं स्वरशास्त्रेण प्रकाशयामः। "नतस्य" इति पदे प्रथमतयेदं ध्येयं यदत्रोदात्तद्वयं भवति। तद्यथा विमर्शनं विदध्महे - स्वरशास्त्रानुसारेण यदि कश्चिद् शब्दः आद्युदात्तश्चेत्तदा (अष्टा0 6/1/158) इत्यनेन शेषास्सर्वेऽनुदात्ताः। यदि कश्चिद् मध्योदात्तश्चेत् (अष्टा: 6/1/158) इत्यनेन पुनः सर्वे शिष्टा अनुदात्ताः। उदात्तादनुदात्तस्य (अष्टा0 8/4/65) स्वरितो भवति। स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम् (अष्टा0 1/2/39) एकश्रुति भवति। अतो निश्चयेन वक्तुं समर्था यन्नैकपदे उदात्तद्वयसम्भावनम्। तदा "नतस्य" इत्येतस्मिन् पदेऽपि स्पष्टतया प्रतीयते यन्नेदमेकपदम्, अपितु (न तस्य) इति पृथक्त्वेन वर्तते। तद्यथा प्रक्रियां प्रकृत्य पश्यामः। नञ् इति **"हलन्त्यम्"** (अष्टा0 1/3/2) इत्यनेन ञकारस्यानुबन्धे सति **"चादयोऽसत्वे"** (अष्टा0 1/4/57) इत्यनेन लक्षणेन चादित्वान्निपातसंज्ञायां सत्याम् **"निपाता आद्युदात्ताः"** (फिट्0 4/2) इत्यनेनाद्युदात्तः सिद्ध एव। पाणिनिरपि स्वरादिगणे (अष्टा0 1/1/37) लिखति य़द् **"एतेऽपि ह्रस्प्रभृतयोऽन्तोदात्ताः पठ्यन्ते"** अनेन वचनेनापि नपदस्योदातत्वं सिद्धम्। आद्युदात्तविधानेऽन्तोदात्तविधाने न विशेषः, यतोहि **"आद्यन्तवदेकस्मिन्"** (अष्टा0 1/1/21) इत्यनेनैकस्मिन्नपि आदौ इवान्त इव च कार्यं भवति। तस्येतिपदस्य मूलशब्दस्तद्। **"त्यजितनियजिभ्यो डित्"** (उणादि0 1/132) इत्यनेनादिप्रत्यये कृते तत्पदं सिद्धम्। स्वाद्युत्पतिं कृत्वा षष्ठ्यां ङस्प्रत्यये कृते (तद्+ङस्) इत्येतस्यां स्थितौ **"आद्युदात्तः"** (अष्टा0 3/1/3) इत्यनेन प्रत्ययस्वरेण तदुदात्तः। ङसिति तु **"अनुदात्तौ सुप्पितौ"** (अष्टा0 3/1/4) इत्यनेनानुदात्ते कृते (तद्+ङ्स) इत्येतस्यां स्थितौ **"टाङसिङसामिनात्स्याः"** (अष्टा0 7/1/12) इत्यनेन सूत्रेण ङ्सः स्थाने स्यादेशे **"स्थानिवदादेशः०"** (अष्टा0 1/1/55) इत्यनेन स्थानिवत्कृते सति (तद्+स्य) पुनश्च **"त्यदादीनामः"** (अष्टा0 7/2/02) इत्यनेनाकारादेशे कृते (तअ+स्य) इत्येतस्यां दशायाम् **"अतो गुणे"** (अष्टा0 6/1/95) इत्यनेन पररूपे सति (तस्य) उदात्तादनुदात्तस्य (अष्टा0 8/4/65) स्वरिते सति **"न तस्य"** इति सुतरां सिध्यति यदत्र न तस्य इति पृथक्त्वेन पठितम्। पुनश्चार्थकरणे सम्यक् प्रतिभाति यदत्र तस्येश्वरस्य मूर्तिर्निहि विद्यते। वैमत्यमिदमर्थे स्वरप्रतिपत्तित एव प्रस्फुटम्।

क्षयपदस्य नैकेऽर्थास्सन्ति। तद्यथामरेणोक्तम् - **"संवर्तः प्रलयः कल्पः क्षयः कल्पान्तः इत्यपि"** (अमरको0 1/4/22)। **"क्षयः शोषश्च यक्ष्मा च"** (अमरको0 2/6/51)। **"क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम्"** (अमरको0 2/8/99) **"क्षये क्षिया"** (अमरको0 3/2/7) **"क्षि निवासगत्योः"** (धातु0 तुदादि0 116) इत्यस्माद् धातोः **"पुंसि संज्ञायां०"** (अष्टा0 3/3/118) इत्यनेन घप्रत्यये कृतेऽपि क्षयशब्दो निष्पद्यते।

यौगिकत्वात्तु क्षयशब्दस्य निवासोऽप्यर्थो भवति। एतेषु सर्वेष्वर्थेषु सत्सु **"क्षये जागृहि प्रपश्यन्"** (ऋक् 10/118/1) इत्येतस्मिन् मन्त्रे क्षयपदस्य कोऽर्थ इति सन्देहे स्वरशास्त्रमस्मान् पन्थानं शास्ति यद् **"क्षयो निवासे"** (अष्टा0 6/1/195) इत्यनेन सूत्रेण निवासेऽभिधेये क्षयशब्द आद्युदात्तः। क्षकारस्योदात्तत्वात् (अष्टा0 6/1/153) शिष्टो यकारोऽनुदात्तः। (क्षय) उदात्तादनुदात्तस्य स्वरिते (अष्टा0 8/4/65) इत्यनेन स्वरिते कृते क्षयः। अत एव **"क्षये जागृहि प्रपश्यन्"** इति मन्त्रे निवास एवार्थः।

"हनो वृत्रं जया अपः" (ऋक् 1/80/3) **"जयो मे सव्य आहितः"** (अथर्व0 7/52/8) इत्येतयोर्मन्त्रयोर्जयपदं वर्तते। प्रथमो जयशब्द आद्युदात्तः। द्वितीयो जयशब्दोऽन्तोदात्तः। स्वरभेदादपि किमेतयोरेक एवार्थः? नैवं शक्यम्। आद्युदात्तो जयशब्दो द्विधा सिध्यति। लेट्लकारस्य मध्यमपुरुषे एकवचने करणेऽर्थे **"पुंसि संज्ञायाम्०"** (अष्टा0 3/3/118) इत्यनेन घकृतेऽपि च प्रसिध्यति। **"जयः करणम्"** (अष्टा0 6/1/202) इत्यनेन सूत्रेण करणे व्युत्पन्नौ जयशब्दोऽप्याद्युदात्तः। प्रथमे मन्त्रेऽस्मिन् करणवाचि-जयशब्दस्य बहुवचनस्य रूपस्यार्थो न सम्भवति। पारिशेष्यात्तु लेट एव सिद्धम्। द्वितीये मन्त्रे जयशब्दोऽन्तोदात्तः। अत्र **"जि जये"** (भ्वादि0 378) इत्यस्माद् धातोः **"एरच्"** (अष्टा0 3/3/56) इत्यनेन योगेनाचिविहिते जयशब्दो निष्पन्नः। प्रत्ययस्य चित्वात् **"चितः"** (अष्टा0 6/1/158) इत्यनेनान्तोदात्ते कृते शिष्टो जकारस्तु (अष्टा0 621/153) इत्यनेनानुदात्त एव सति जयः शब्दस्सिद्धः। अतो द्वितीये मन्त्रे भावार्थको जयशब्दो वर्तते इति स्वरबोधात् प्रसिद्धम्। **"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।"** (यजु. 26/2)

अस्मिन्मन्त्रेऽर्यपदं विराजते। अर्यशब्दस्य विषयेऽमरो ब्रूते - **"ऊरव्या ऊरुजा अर्या वैश्या भूमिस्पृशो विशः"** (अमरको0 2/9/1)। **"योऽर्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान् करोति सोऽर्यमा"** (सत्यार्थ 1) इति दयानन्दः। **"अर्यः स्वामिवैश्ययोः"** (अष्टा0 3/1/03) इति पाणिनिः। एतेषु सत्स्वर्थेषु मन्त्रे कोऽर्थः स्यादिति शङ्कायामुत्पन्नायां स्वरप्रक्रियया निश्चयं कुर्मः। तद्यथा अर्यशब्दो यत्प्रत्ययान्तः (अष्टा0 3/1/103)। **"यतोऽनावः"** (अष्टा0 6/1/207) इत्यनेनाद्युदात्ते विहिते शिष्टोऽनुदात्तः (अष्टा0 6/1/153)। (अर्यः) उदात्तादनुदात्तस्य स्वरिते (अष्टा0 8/4/65) अर्यः सिद्धः। अस्मिन्नेव (अष्टा0 3/1/103) सूत्रे कात्यायनोक्तिर्वर्तते यत् **"स्वामिन्यन्तोदात्तत्वं च वक्तव्यम्"**। अनेन वक्तव्येन स्वाम्यर्थेऽर्यशब्दोऽन्तोदात्तः (अर्यः) इदमेव प्रमाणीभवति **"अर्यस्य स्वाम्याख्या चेत्"** (फिट्0 1/17) इत्यनेन फिट्सूत्रवचनेन। साम्प्रतमिदं सिद्धं यद् अर्यशब्दो वैश्यार्थे त्वाद्युदात्तः। स्वाम्यर्थे चान्तोदात्तः। याजुषे मन्त्रेऽस्मिन् अर्यपदस्याद्युदात्तत्वाद् वैश्योऽर्थ इति निश्चयः। **"मा मा हिंसीः"** (यजु. 3/63) इति पदं यजुर्वेदे बहुत्र मन्त्रेषु दरीदृश्यते। अत्र मा इति पदद्वयं वर्तते। अत्रैतयोः पदयोः कोऽर्थः इति शङ्कायां स्वरशास्त्रेण सपदि ज्ञानं भवति। तद्यथा **"माङ्"** इति पदं **"चादयोऽसत्वे"** (अष्टा0 1/4/57) इत्यनेन

निपातसंज्ञायां कृतायां **"निपाता आद्युदात्ता"** इति आद्युदात्तत्वं सिद्धम्। अनेन सिध्यति यत्प्रतिषेध ार्थको माशब्द आद्युदात्त:। द्वितीयं मापदं **"त्वामौ द्वितीयाया:"**(अष्टा0 8/1/23) इत्यनेन योगेनास्मद: स्थाने विधीयते। प्रकृतेऽस्मिन् सूत्रे उपरिष्टादनुदात्तमनुवर्तते। अत एवास्मद: स्थाने यो मादेश:, सोऽनुदात्त:। अनेन स्वरशास्त्रेण प्रसिद्धं यन्माशब्दो यद्याद्युदात्तस्तर्हि प्रतिषेधकार्थ:। अस्मद: स्थाने चेदनुदात्तो भवति। एवं बहुत्र वयं वीक्षितुं शक्या यत्स्वरविज्ञानाभावे न सुतरामर्थनिश्चयो भवति। वैदिकपदार्थज्ञानाय तु स्वरज्ञानमपरिहार्यम्।

लौकिकेषु प्रयोगेष्वपि पाणिनि: सूक्ष्मेक्षिकया स्वरशास्त्रविधानादर्थविशेषप्रतिपत्तिं कारयति। स्वामिदयानन्दोऽपि स्वरशास्त्रस्य सौवरस्य भूमिकायां लिखान्ति यत् **"स्वरैर्लौकिक-वैदिकपदानां नियतार्थास्तु झटित्येव वेदितव्या भवन्ति।"** तद्यथा- **"वीरपुरुषो ग्राम:।"** अत्र **"पूर्वापरप्रथमचरम०"** (अष्टा0 2/1/58) इत्यनेन तत्पुरुषे समासे सति उत्तरपदप्रधानो वीरपुरुषशब्द:। **"अनेकमन्यपदार्थे"** (अष्टा0 2/2/24) इत्यनेन बहुव्रीहिसमासे कृतेऽन्यपदार्थप्रध ानो वीरपुरुषशब्द:। एवं क्व कोऽर्थ इति निश्चयाय स्वरशास्त्रमपि सहायकमेव। अत्र पूर्वोक्तपदस्थूलपृषतीवत्स्वरो वेदनीय:। यथा तत्पुरुषे वीरपुरुष:। बहुव्रीहो वीरपुरुष:। स्वरेण स्पष्टतयेदमवगम्यते यत् कुत्र क: समास:? पाणिनिर्निर्दिशति यत् **"उदक् च विपाश:"** (अष्टा0 4/2/74) इत्यनेन योगेन विपाशो नद्या उत्तरदेशे (कूले) ये कूपास्तेष्वभिधेयेषु अञ्प्रत्ययो भवति। दत्तेन निवृत्त: कूप: दात्त:। दक्षिणदेशे ये कूपास्तेष्वभिधेयेषु तु औत्सर्गिकोऽणेव भूत्वा दत्तेन चाण् विधीयते। अत्राञ्कृते **"ञ्नित्यादिर्नित्यम्"** (अष्टा0 6/1/191) इत्यनेनाद्युदात्ते गौप्त: इति स्वरो भवति। अण्कृते (अष्टा0 3/1/3) प्रत्ययस्वरेणोदात्ते कृते गौप्त: इति स्वरो भवति। अनेन परिचीयते यत्तदानीं लौकिकेऽपि स्वरव्यवहारो भवति स्म। पाणिनिनाऽत्र स्वरमात्रं सन्ध्यायैव प्रत्ययभिन्नता कृताऽन्यथा निष्पन्नशब्दे न भिन्नताऽस्ति।

अत एवात्रहर्षाश्चर्यातिरेकेण मोमुद्यमानो जयादित्योऽस्मिन् सूत्रे लिखति यत् **"महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य"**। एवं **"एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ"** (अष्टा0 1/2/33); **"प्रत्यभिवादेऽशूद्रे"** (अष्टा0 8/2/83) **"दूराद् धूते च"** (अष्टा0 1/2/84), इत्यादिभिर्बहुभि: सूत्रैरिदं सिध्यति यल्लौकिके व्यवहारेऽपि स्वरपद्धतिरासीत्।

साम्प्रतं केषाञ्चिद् वेदविदुषामशेषशेमुषीजुषां मतमिदं यन्न स्वरशास्त्रस्यावश्यकता। नैवं युक्तमिति उपर्युक्तप्रमाणै: सिद्धम्। पाणिनिना स्वव्याकरणेऽपरिहार्यत्वादेव स्वरशास्त्रस्य विधानं कृतम्। नव्या वैयाकरणास्तु स्वरप्रकरणं त्याज्यमिति मत्वैव न पठन्ति पाठयन्ति च। अनेनास्य महतश्शास्त्रस्य लोपो भविष्यति। अस्य शास्त्रस्य रक्षायै प्राचीनैरर्वाचीनैस्सम्मेल्य प्रयत्नो विधेय:। अस्मिन् लेखे विस्तारभिया कानिचनोदाहरणानि एव प्रदत्तानि। एवं बहुधाऽन्वेषणीयम्।

●●●

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351
Vol. 1(2), No.2 (181-189) Jan.-June 2012

वैदिकवाङ्मये सृष्टितत्त्वविमर्शः

सत्यप्रकाश दुबे
संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान) भारत

वैदिकवाङ्मयस्य दार्शनिकभागस्य प्रतिपाद्यः विषयः 'सृष्टिविद्या' अस्ति। अत्रत्यं नासदीयसूक्तमेवंविधमेव सूक्तमस्ति। अस्मिन् सूक्ते इदं विवेचनमुपलभ्यते यत् सृष्टेः मूलं कारणं 'आभुः' कथ्यते। आ समन्तात् भवतीति आभुः। आभुरित्यस्य या शक्तिः सृष्ट्युत्पत्तौ प्रधानभूता सा शक्ति 'अभ्वः' इति नाम्ना प्रथिताऽस्ति। भूतवाऽपि न भवतीति अभ्वशब्दार्थः। एकस्मिन् क्षणे विद्यमानः सत् अपरस्मिन् क्षणे न भवतीति अभ्वः। सृष्टौ जायमानानां सर्वेषां पदार्थानां नामरूपाणां परिवर्तनशीलत्वादेते सर्वे 'अभ्व' नाम्ना अवबुध्यन्ते। यथाहि शतपथश्रुतिः -**द्वे हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे मनसा हि वेद इदं रूपमिति वाचा हि नाम गृह्णाति**[1]। ऐते नामरूपे यक्षरूपेण प्रथिजे स्तः। यक्षशब्दः आश्चर्यपरकार्थकः। वस्तुत एतदाश्चर्यकरं यत् यद् ब्रह्म नामरूपविरहितं तन्नारूणात्मकं सृष्टिजातं कथं रचयति। तद् ब्रह्म आत्मनः शक्तिविशेषेण सृष्टिमुत्पादयति। यतः सा शक्तिरज्ञातरूपा अतएव 'माया' नाम्ना प्रकीर्त्यते विद्वद्भिः। सेयं माया अनवगम्येति विजानन्तोऽप्येनामवगन्तुमवगमयितुं च सततं सायासाः सन्ति शास्त्रविदः। अस्येदं कारणं यत् यावदियं मायाऽनवगम्या तावत सृष्टिविद्याऽपि बोध गम्या नास्ति। सृष्टिविद्यायाः विबोधनमेव शास्त्रस्यापि मुख्यं प्रयोजनम्।

विद्यावाचस्पतिः पण्डितमधुसूदन ओझामहोदयः सृष्टिविद्यायाः मूलमवगन्तुं सायासः दृश्यते। स विचारयति यत् -

यदेव किञ्चित् क्वचिदत्र दृश्यते किं तस्य मूलं किं वा वयोऽस्य। का तस्य संस्था गतिरस्य कीदृशीत्येवं बुभुत्सा स्वत एव जायते[2]॥

ओझामहोदयस्यैतस्याः जिज्ञासायाः प्रशमनं ऋग्वेदस्य नासदीये सूक्ते भवति यत्र सृष्ट्युत्पत्तिविषयकानि विविधानि मतानि प्रदर्शितानि सन्ति-

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नभः किमासीद् गहनं गभीरम्॥ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव॥[3]

एतेषु मन्त्रेष्वन्तर्हितानि सृष्ट्युत्पत्तिसम्बन्धीनि प्राच्यमतानि पण्डित श्री ओझा महोदयेन दशधा व्यवस्थापितानि यथाहि-

श्रुतः श्रुतिभ्यः सदसत्प्रवादो रजः प्रवादश्च बहु प्रसिद्धः। व्योमापरावावरणप्रवादश्चाम्भः प्रवादोऽमृतमृत्युवादः॥ वादस्त्वहोरात्रकृतश्च दैवः सन्देहवादोऽश्च विनिर्णयात्मा। सिद्धान्तवादश्च तदन्तरन्येऽप्यनेकवादा इति तान् वदामः॥[4]

अर्थात् 1. सदसद्वादः, 2. रजोवादः 3. व्योमवादः, 4. अपरवादः, 5. आवरणवादः, 6. अम्भोवादः, 7. अमृतमृत्युवादः, 8. अहोरात्रवादः, 9. दैववादः, 10. संशयवादश्चेति दशवादाः ऋषिभिः स्वीकृताः सन्ति। अत्र ओझामहोदयेनेदं स्पष्टीकृतं यत् यानीमानि लोकायतादि षड् दर्शनानि

प्रसिद्धानि सन्ति तानि साम्प्रतिकविचारकैराचार्यैः सस्वरूपं विशदं निरूपितानि सन्ति। किन्त्वेतानि दशवादरूपाणि दशविज्ञानानि अतिपुरातननानि यानि साक्षात्कृतधर्मभिः ऋषिभिः वेदेषु सम्यक् व्यवस्थापितानि-

इह तु वयं यद् ब्रूमो दशविज्ञानं पुरातनं तच्च। स्वर्गे देवैर्दृष्टं वेदग्रन्थेऽवतारितं धन्यम्॥[5]

के चैते दशवादाः किं स्वरूपं चैतेषां किमस्त्येतेषां रहस्यमित्येतत्सर्वमधिकृत्योपस्थाप्यत अधस्तात् -

1. **सदसद्वादः** - नासदीयसूक्ते सर्वप्रथममुपस्थापितस्य सदसद्वादस्य स्वरूपत्रयमुपलभ्यते - सद्वादः असद्वादः सदसद्वादश्च।

इहास्तिनास्तिप्रतिपत्तिरेवासाधारणी तेन समस्तमेतत्। सच्चाप्यसच्चोभयतद्विरुद्धं शक्यं न वक्तुं न च वावगन्तुम्॥[6]

अत्र सद्वादानुसारेण कार्यरूपायाः सृष्टेः सद्रूपत्वात् अस्याः कारणमपि सद्रूपमेव स्यात्, असत्पदार्थस्य सतः कारणत्वाभावात्। एतेन निश्चीयते यत् मतमिदं सांख्यदर्शनाभिमतस्य सत्कार्यवादस्याधारभूमिः। संहिताग्रन्थेषु एतद् वादमधिकृत्योपलभ्यते प्रमाणम्। यथाहि-

सतो अभ्या सज्जजान (तै. सं. 4/6/2/3) असद्वादानुसारेण एतद् विश्वसम्बन्धीनि सर्वाण्यपि पदार्थजातानि क्षणिकान्यसद्रूपाणि वा। फलतः असतः मूलं कारणमसद्मेवेति निश्चेतव्यम्। यथाहि श्रुतिः **असदिते विभु प्रभु** (ऋ.सं. 1/9/5) सदसद्वादः इति तृतीयं मतम्। एतेन विजातीयैः तत्त्वैः विनिर्मितेयं सृष्टिरित्यस्याः मूलं कारणद्वयम्। सृष्टिरियं विपरिणमनरूपा क्षणिका फलतोऽस्य विश्वप्रपञ्चस्य कारणं सदसदुभयम् - **'सतश्च योनिमसतश्च विवः'** (यजु. 13/3) इति श्रुतिवचनात्। अत्र पण्डित ओझा महोदयेनेदं विचारितं यत् विनाशशीलाः पदार्थाः असद्रूपाः शाश्वतिकाश्च सद्रूपाः सन्ति। पूर्वमसत एव स्थितिरासीत् तत एव समग्रं सञ्जातम् इति केचन विद्वासः समामनन्ति किन्त्वपरे पूर्वं सतः स्वरूपमङ्गीकुर्वन्ति, असतः सदुत्पत्तेरभावात्। याज्ञवल्क्यः तदनुयायिनश्चात्रेत्थं विचारयन्ति यत् सृष्टिरुत्पत्तिकाले सदसतोः पार्थक्यासम्भवात् पूर्व यत् सत् तदेवासत् रूपमप्यासीत् -

विनाश्यसत् स्यादविनाशि सत् स्यादसत् यदुक्तं परिवर्तते यत्।यदेकरूपं स्थितमेव नित्यं भवेत्तदुक्तं सदिति प्रवीणैः॥ तत्रासदेवेदमिहाग्र आसीदथा सतोऽजायत सत् समग्रम्। स्वतोऽकरोत् सत् सुकृतं ततः स्यादित्थं विदुः केचन तैत्तिरीयाः॥ अथासतः सत् कथमुद्भवेत्तत् सर्वं सदेवेदमिहाग्र आसीत्। सदस्तु सर्वं सदिदं प्रजज्ञे तदेतदाहुर्मतमारुणेयाः॥ सदेव नाग्रेऽप्यसदेव नाग्रे तत् सत्पुरासीद् यदसत् तदासीत्।असच्च सच्चेति न भिद्यतेऽर्थस्तदित्थमाहुः किल याज्ञवल्क्याः॥[7]

अस्य वादस्य सप्तावान्तरभेदाः तदन्तर्गतमन्येऽपि भेदप्रभेदाः सन्तीत्येकविंशतिविकल्पनां विस्तृतं विवेचनं पण्डितश्री ओझा महोदयेन **दशवादरहस्यम्** नामके ग्रन्थे कृतम्। यथाहि -

अथेह तावत् सदसद्विवादे सप्त प्रसिद्ध्यन्ति विमर्शकल्पाः। यः प्रत्ययो या प्रकृतिस्तयोरप्यद्वैतकल्पो च तदात्मता च॥ अथाभिकार्यं च गुणश्च सामञ्जस्यं

तथैवाक्षरमित्यमीषु। कल्पेषु दृष्टा अपरे विकल्पयास्त्रयः पुरोक्ताश्च मिथो विरुद्धाः॥[8]

अर्थात् सदसद्वादविषये प्रसिद्धाः विकल्पाः सप्तधा, सदसतोः भिन्नार्थाङ्गीकारात् ते च - 1. प्रत्ययाद्वैतवादः, 2. प्रकृत्यद्वैतवादः, 3. तादात्मयवादः, 4. अभिकार्यवादः, 5. गुणवादः, 6. सामञ्जस्यवादः, 7. अक्षरवादश्च। एतस्मिन् समग्रेऽपि विश्वे दृश्यमानं तत्त्वमेकमेवास्ति, तदपि ज्ञानमेव। अस्यैव ज्ञानात्मकस्य तत्त्वस्य स्वरूपद्वयं द्रष्टृरूपं दृश्यरूपञ्च। अनयोः द्रष्टुः प्राधान्यम्, तस्मादेव सर्वस्यापि जगतः जायमानत्वात्। एतत्सर्वं प्रात्ययिकं प्रत्ययजन्यमेव। तदेवैकम्।

दृश्यं मुख्यम् तद्भिन्नः कश्चिदपि द्रष्टा नास्ति यतः। दृश्यमानत्वात् द्रष्टाऽपि दृश्यरूपमेवेत्यपरः पक्षः॥

द्रष्टा दृश्यञ्चेति पृथक्-पृथक् पदार्थद्वयम्। द्वयोः सम्मेलनेन जायमानं ज्ञानमेकं प्रत्ययरूपम्। अस्मिन् सम्प्रत्यये पक्षत्रयम्। एषां पक्षाणां प्रत्ययाद्वैतवादः प्रथमः विकल्पः अस्ति -

द्रष्टा च दृश्यञ्च पृथक् पदार्थौ ताभ्यां पुनः प्रत्यय एष युक्तः। सम्प्रत्ययेऽस्मिन् प्रभवन्ति पक्षास्त्रयो विकल्पं प्रथमं तमाहुः॥[9]

कर्म (क्रियारूपं) असदेवास्ति पूर्वमप्येतदसदेवासीत्, न किमपि वस्तु सद्रूपम् दृश्यमानं सद्वस्तु भ्रमात्मकमेव। ब्रह्म अर्थात् ज्ञानं सद्रूपम्। एतत् समग्रं सृष्टिजातं ज्ञानरूपमेव। न किमप्येततिरिक्तम्। कर्म असत्-न कदाचितासीन्न चाप्यस्ति न क्वापि भविष्यतीत्यसदर्थः। कर्म असत् एवञ्च ब्रह्म सत्, लोके उभयोरनुभवात्। कर्म त्वसत् किन्तु ब्रह्म, एकेन बिना अन्यस्य सत्ता नास्ति, अन्योन्याश्रयत्वात्। फलतः असतः बिना सतः सतः विना चासतः स्थितिरसम्भवा इत्येषः प्रकृत्यद्वैतविकल्पः।

कर्मत्वसद् ब्रह्म सदित्थमेतद्द्वयं प्रपश्यामि समस्तमेतत्। एकेन चान्यन्न न बिना कृतं स्यादित्थं विकल्पोऽभिमतो द्वितीयः॥[10]

कर्म असदेवास्ति। सृष्ट्यग्रे असदेवासीत्। यद् ब्रह्म तद् सद्रूपम्, सृष्ट्यग्रे तन्नासीत्। असतः एव सज्जातम् अतः असतः (कर्मणः) अतिरिक्तं भिन्नं वा सत् (ब्रह्म) नास्ति। यद् ब्रह्म तदेव सत्, सृष्ट्यग्रे सत् एवासीत्। कर्म असत्, सृष्ट्यग्रे तन्नासीत्। अस्मात् सत एव असत् कर्म जातम्। अतः सद् (ब्रह्म) व्यतिरिक्तं किमप्यसत् (कर्म) नास्ति।

यद् ब्रह्म तत् सत् यदसत् तत्कर्म, ब्रह्म (ज्ञान) कर्मणोः सदसतोः सह स्थितत्वात्। एतयोः न किमप्येकमेव तत्त्वं सृष्ट्यग्र आसीत्। तेन तुच्छ्येन, अभ्वेन कर्मणा वा आभु ब्रह्म आवृतमासीदिति तादात्म्यविकल्पः।

यद् ब्रह्म सद् यत्त्वसदन्न कर्मद्वयं सहासीन्न पुरैकमासीत्। तुच्छ्येन तेनावृतमेव चाभु ब्रह्मैतदासीदिति वा विकल्पः॥[11]

ब्रह्म सत् तत् कदापि नासत्। कर्म पूर्वमसत् पश्चाच्च सत्। इत्थं कर्म सदसदिति दृष्ट्या द्विविधं कथितम्, ताभ्यां नानाविधविकल्पाः समुत्पद्यन्ते। केषाञ्चिन्मते कर्म रूपसमदेव सृष्ट्यग्र आसीत् तस्मादेव स्वयमेव सदजायत। किन्त्वन्येषां केषाञ्चिदाचार्याणां मते सदसतोरुभयोरेव स्थितिरासीत्, केवलमसतः सद्भावोऽसम्भवः

तृतीयमतानुरोधेन यथा ब्रह्म स्वभावसत् तथैव कर्मापि स्वभावतः सदसद्रूपम्। लोके यतः प्रत्येकस्य वस्तुनः अस्ति-नास्ति इत्युभयविधं रूपं पश्यामो वयम् फलतः कर्मणः सत्-असत् इत्युभयविधः स्वभावः स्वीकरणीय इति चतुर्थः विकल्पः।

अथापि वा ब्रह्म यथा सदुक्तं तत् कर्म तद्वत् सदसन्निरुक्तम्। तदस्ति नास्तीति हि कर्मरूपं स्वाभाविकं स्यादिति वा विकल्पः॥[12]

सृष्ट्यग्रे असत्, सत्, सदसत्, एषां त्रयाणामपि स्थितिरासीदिति याज्ञवल्क्याभिमतम्। कुत्रचित् प्रागसदासीत्, कुत्रचित् सदसदुभयं कुत्रचिच्च सत् इत्येते पौर्वापर्य्यरूपेण वाचि मनसि च विद्यमानाः आसन्। इत्थं सृष्टिस्वरूपाधायकं तत्त्वं गुणत्रयम्-वाक् प्राण मनांसि च। वाक् सत् प्राण असत् मनश्च सदसत्।

प्राणतत्त्वतः मनसः वाचश्चोत्पत्तिरिति धिया सृष्ट्यग्र असदेवासीत्। मनसः प्राणस्य वाचश्चोत्पत्तिरिति धिया सृष्ट्यग्र सदसतोः स्थितिः एवञ्च वाचः मनसः प्राणस्य चोत्पत्तिरिति धिया सृष्ट्यग्र सत् एवासीत्-इत्येषः पञ्चमो विकल्पः।

प्राणात् तु सृष्टावसदग्र आसीत् सृष्टौ मनस्तः सदसत् पुरासीत्। वाचः प्रसृष्टो तु सदग्र आसीत् मूलं पृथक् पञ्चम एष कल्पः॥[13]

अस्मिन् जगतीतले दृश्यमानः कश्चिदपि पदार्थः पूर्वं नासीत्। एतदतिरिक्तस्य कस्यचित् पदार्थस्य सत्ताऽऽसीत् येनास्य जगत उत्पत्तिर्जाता। यच्चेदानीं विद्यमानं तत् पूर्वमविद्यमानमासीत्। इत्थं सृष्ट्यग्रे निखिलमिदं सदसद्रूपमासीत्। भेदप्रतीतिदशायां सर्वे भावा अभावाश्च समञ्जसाः भवन्ति सम्यगौचित्येन व्यवस्थिताः भवन्तीत्यर्थः। इत्थं यत् सत् तदेवासत्। एतदुभयं मिथोऽविरुद्धम्। एतयोः सामञ्जस्यमेव सृष्टिरिति षष्ठः विकल्पः।

भेदप्रतीताविह सर्वभावा भवन्त्यभावाश्च समञ्जसेन। यत् सत् तदेवासदिति प्रतीमोऽविरुद्धमित्यस्ति परो विकल्पः॥[14]

सांख्यमते मूलप्रकृतिः प्रधानमव्यक्तमीति प्रसिद्धम्। एतदेवासत्। केषाञ्चिन्मते एतदक्षरमुक्थं वेति। अक्षरं ब्रह्म तदेव सृष्टिकारणम् तदेवाव्यक्तमिति स्वीकुर्वन्ति विद्वांसः। अस्यां सृष्टौ सदसतोरुभयोः कारणता दृश्यते। भिन्नरूपेण वा कस्याप्येकस्य जगतः निर्मितौ हेतुत्वम्। अथवा विद्याविद्ये जगतः कारणमिति पक्षो सप्तमोऽक्षरविकल्पः।

इत्थं सदसद्वादमधिकृत्य भेदप्रभेदपुरस्सरमेकविंशतिविकल्पानां सविस्तरं विवेचनमोझा महोदयेन प्रस्तुतीकृतम्। एतत्सर्वं सारतो विवेचनदृशा तेनेदं स्पष्टीकृतं यत् -

तदित्थमुक्तः सदसद्प्रवादो विमर्शभेदैरिह सप्तकल्पः। एकैककल्पे च पुनर्विकल्पैरेकाधिका विंशतिरत्र कल्पाः॥[15]

2. **रजोवादः** - द्वितीयः वादः रजोवादः। एतन्मते रजः अणुस्तत्त्वमेव सृष्टिमूलम्। **य पार्थिवानि विममे रजांसि, एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना** (ऋक् 1/164/6)। इदं रजस्तत्त्वं परक्रियस्वक्रियभेदेन द्विविधम्। अत्र भूतः परक्रियः देवश्च स्वक्रियः। एतदुभयमन्योन्यसम्पृक्तम्। एतयोः रजोरूपस्य भूततत्त्वस्य देवभावस्य च सप्तावस्थाः याश्च भूः भुवः स्वः इत्येवंरूपेण विश्रुताः सप्तलोकाः। एत एव पृथिवी, द्यौरन्तरिक्षनामभिः लोकत्रयरूपेण प्रसिद्धाः सन्ति। एतेषां मूलं यत् रजस्तत्त्वं तदपि त्रिविधम्-स्थूलं

सूक्ष्ममतिसूक्ष्मञ्च। सर्वमिदं जगत् रजस एवैषामवस्थानां स्वरूपम्। इदं रजस्तत्त्वं गति-स्थित्याधारभेदेनापि द्विविधम्। एकं स्वाभाविकरूपेण गतितम् सत् प्रभावान्तरेण स्थितिरूपतां प्राप्नोति। अन्यच्च स्वाभाविकतया स्थितियुक्तं यदा कदाचित् पारतन्त्र्यात् गतिं करोति-

रजो द्विधेदं गतिमत्तु किञ्चित् स्थितिं प्रयाति क्व च पारतन्त्र्यात्। किञ्चित् स्वभावात् स्थितिमत्तदेतत् गतिं प्रयाति क्व च पारतन्त्र्यात्।।[16]

अत्र गतिप्रकृतिकं रजस्तत्त्वमग्निः स्थितिप्रकृतिकं रजस्तत्वं सोमः। अनयोः द्वयोरेवाग्नीषोमयोरन्योन्यप्रक्रियया सृष्टिः भवति। अत एवेदं सुविदितम् - **अग्नीषोमात्मकं जगत्।**

3. **व्योमवादः** - पाञ्चभौतिकी सृष्टिरियम्। पृथ्वीजलादि पञ्चमहाभूतेषु सूक्ष्मतम आकाश एव। आकाशस्यापरं नाम व्योम अस्ति। विशेषेण विविधरूपेण अवति व्याप्नोति सर्वमिदमिति व्योम, विशेषेण अवति वर्धते इति व्योम, विशेषेण अवन्ति प्रविशन्ति देवा यस्मिन् तद् व्योम विशेषेण अवन्ति आददति देवा आश्रय त्वेन यत् तद् व्योम इत्येताभिः व्युत्पत्तीभिः निष्पद्यते व्योम शब्दः। इत्थमाकाशः व्योम एव सृष्टेः कारणम् - **परमे व्योमन्न अधारद्रोदशी सुदंसाः** (ऋक् 1/62/7) इति श्रुतिवचनात्।

अयमाशयः यत् पञ्चमहाभूतेष पृथिव्याः गतिः जलम्, जलस्याग्निः, अग्ने, वायुः वायोश्चाकाशः इत्थं सकलपदार्थानां मूलमाकाशमेवास्ति -

गतिः पृथिव्याः जलमस्य तेजस्तस्यापि वायुर्विद्यदस्य वायोः। यदस्ति किञ्चिद्ध्रुवमस्य सर्वस्याकाशमेवास्ति परायणं तत्।।[17]

एवमेव प्रमाणान्तरेणाणि व्योमतत्वस्योत्कृष्टता सिद्धा भवति। यथाहि -

पृथ्वी प्रतिष्ठा द्युरिदं प्रतिष्ठं तयोः प्रतिष्ठास्ति समुद्र एषः। तेषां च वेदत्रितयं प्रतिष्ठा तद् व्योम तद् व्योम परा प्रतिष्ठा।।[18]

एतेनेदं विदितं भवति यत् एकं परमं व्योम यदमृतरूपम् अपरं च अपरव्योम यद् मर्त्यम्। अनयोः परमं व्योम देवानामुत्पत्तिस्थानम्। अपरं व्योम च भूतानामुत्पत्तिस्थानाम्। इत्थं देवो भूतश्च सर्वमप्याकाशमेव नान्यत् किञ्चिदेतदिरिक्तम् -

देवाश्च भूतानि च सर्वमेतन्नातः परं किञ्चिदिहास्ति नाम।[19]

व्योमतत्त्वं सृष्टेः मूलमिति प्रमाणयन्ति श्रुतयोऽपि।। यथाहि - **परमे व्योमन्नधारयद्रोदसी सुदसांः** (ऋ. 1/62/7)

4. **अपरवाद** - पर शब्दः आत्मा वाचकः अपरशब्दश्च प्रकृतिबोधकः। भौतिकप्रपञ्चस्य प्राकृतिकत्वात् अस्योद्भवः प्रकृतेरेव स्वीक्रियते। प्रकृतेरेवापरं नामत स्वभावः। अतएव प्रकृतिः स्वभावो वा सृष्टेः कारणमित्यपरवादिनः। तन्मते पृथिवी जलम् तेजः वायुः एतानतिरिच्य नान्यत् किमपि तत्त्वम्। एषां चतुर्ण्णां संयोगे-वियोगे च मूलं कारणं स्वभाव एव। इत्थञ्च स्वभाव एव सर्व इति।

वायुश्च तेजश्च जलं च पृथ्वी चत्वारि तत्त्वानि न चान्यदस्ति। तेषां च संयोगवियोगहेतुः स्वभाव एवास्त्यखिलं स्वभावात्।।[20]

स्वभाव एव परिणाम इति कतिपये आचार्याः, यदृच्छा नियतिः इत्यपरे पौरुषी प्रकृतिरिति च केचन आमनन्ति। एषः स्वभाववादः चतुर्धा गतिं करोति। प्रथमतः परिणामवादाधिकरणे पण्डित ओझामहोदयेनेदं स्पष्टीकृतं यदग्नौ तापः, प्रकाशः, जले शैत्यं, अन्नेन जलेन च संतृप्तिः स्वभावेनैव भवति। कण्टकेषु तैक्ष्ण्यं, पशुपक्षिणां चेष्टाः हंसानां शुक्लिमा शुकानां हरितवर्णता मयूराणां च चित्रत्वं सर्वमिदं स्वभावकारणादेव भवति। यथा हि-

को वात्र हंसान् प्रकरोति शुक्लान् शुकाश्च को वा हरितः करोति। को वा मयूरान् प्रकरोति चित्रान् स्वभावतः सर्वमिदं प्रजायते।।[21]

इत्थं पूर्वकाले पराशराद्याचार्यैः पौरुषवादस्य प्रत्याख्यानपूर्वकं परिणामवादस्य स्थापना कृता किन्त्वेतदतिरिक्ता अन्येऽप्येवंविधाः विचारकाः सन्ति येषां मते सर्वमिदं जायमानमाकस्मिकम् अतएव यदृच्छारूपम्। एतन्मते न कापि नियतिः न च हेतुः हेतुमानपि नास्ति कश्चित्। अपितु सर्वमिदं यदृच्छारूपम् -

अथो यदृच्छानभिसन्धिपूर्वा विनार्थप्राप्तिर्नियतिर्हि नास्ति। हेतुर्न वाहेतुमदस्ति किञ्चाप्याकस्मिकं सर्वत एव सर्वम्।। व्योम्नि प्रसन्ने प्रभवन्ति मेघा मेघे प्रसन्ने तडितोऽप्यकस्मात्। अस्त्यद्य निर्वातमथ प्रवातं लौहाश्म सर्पा अपि खात् पतन्ति।। न कारणं कार्यमिहास्ति तस्मादिदं कुतो नेति न शंकनीयम्। अतर्कितं भावय यद्यथेदं यदृच्छयैवेदमुदेति सर्वम्।।[22]

नियतिवादसमर्थकैः पूरणादिभिराचार्यैः विविधाभिर्युक्तिभिः यदृच्छावादं प्रत्याख्याय नियतिरेव विश्वप्रपञ्चस्य मूलं कारणमिति तैः सप्रमाणं प्रतिपादितम्। तन्मते -

यदैव यद्यावदथो यतो वा तदैव तत्तावदथो ततो वा। प्रजायतेऽस्मिन्नियतं नियत्याक्रान्तं हि पश्याम इदं समस्तम्।। रूपेण सर्वे नियतेन भावा भवन्ति तस्मान्नियतिं पृथग्वत्। मन्यामहे कारणमीश्वरो वाऽणुर्वेतरे वा नियतेर्वशे स्युः।।[23]

एतदधिकरणत्र्यं सम्यक् विविच्य प्रकृतिवादाधिकरणे ओझामहोदयेन प्रकृति-वादिनामाचार्याणां मतानि सप्रमाणमुपस्थाप्य प्रकृतेः मूलकारणत्वं सम्यक्निरूपितम्। अत्र प्रकृतिस्वभावौ समानार्थकौ। यथाहि ओझामहोदयः ब्रह्मसिद्धान्ते प्रकृत्यधिकरणे-

कृतेस्तु रूपं प्रथमं रसे यत् स्थितं स भावोऽस्ति तदात्मनः स्वः। तेनास्य भोक्तुः पुरुषस्य लग्नं बलं तदाहुः प्रकृतिं स्वभावम्।।

प्रकृतिवादिनः आसुरि पंचशिखाचार्याः। पुरुषस्य गुणानांचायुतसिद्धः सम्बन्धा इत्येषामभिमतम्। कर्तृत्वं तु गुणविशिष्टे पुरुषे भवति। याथार्थ्यतस्तु प्रकृतावेव न तु पुरुषे। पुरुषस्त्वहंकारवशात् स्वस्मिन् कर्तृत्वं मनुते। सत्त्वगुणो नाम स्थितिहेतुः। रजोगुणः प्रवृत्तिहेतुः तमोगुणश्च निवृत्तिहेतुः। यावदिमे गुणाः साम्यावस्थापन्नाः तावदेते प्रकृतिरूपाः, वैषम्यात् एते महत्तत्वरूपाः। महतः अहंकार उत्पद्यते। अहंकृतावपि अंशत्र्यम्-द्रव्यं क्रिया ज्ञान्च। अहंकृतितः त्रिविधा सृष्टिः भवति। रजोगुणत इन्द्रियस्य तेजसः प्राणानां वा, तमोगुणतः भूतानां सतोगुणतश्च देवसृष्टिः भवति शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च भूतसृष्टिः।

वाक्‌पाणिपादवायूपस्थ - श्रोत्रत्वक्‌चक्षुर्जिह्वाघ्राणमित्येतेषु पंचकर्मेन्द्रियाणि पंच ज्ञानेन्द्रियाणि च। एतेषां समेषां स्वतन्त्रः देवाः सन्ति।

5. **आवरणवादः** - आवरणं नामाच्छादनम्, पदार्थस्य बाह्यरूपम्। सजातीयेन कारणेन सजातीयस्य कार्यस्योत्पत्तिरिति सुप्रथितत्वात् आवरणरूपायाः सृष्टेः कारणमावरणमेवेति विज्ञेयम्। इदमावरणं वेदे 'वयुन' नाम्ना अभिहितमस्ति। 'वयुन' इत्यनेन चावृतः पदार्थः 'वयोनाधाः' तत्स्थश्च प्राणो वयः। अतएव 'वयः' आयुरिति कथ्यते -

अस्ति त्विदं वस्त्विति रूपतो यद् विज्ञायते तद् वयुनं वदामः। विज्ञानमेतद् वयुनं तदन्तर् वयो वयोनाधा इमे तु सत्ते॥ यदस्ति किंचिद् वयुनं तदेतत् सर्व प्रतीयादपृथक् पृथग् वा। यदन्यदन्यद् भवति स्वरूपं सर्व तदेतत् वयुनं प्रतीयात्॥[25] **वयोन्नमारम्भणमर्थकुक्षिगं द्रव्यं वयोनाधा इहान्नसंवृतिः। न चान्यदन्येन विनाकृतं भवेत् परस्पराक्रान्तमिदं परस्परम्॥**[26] **प्राणो वयोनाधा इदं वयश्च प्राणो न तस्माद् वयुनं विभिन्नम्। द्विधाभवन् प्राणमिदं समस्तं स आवरीवर्ति तदेव तत्त्वम्॥**[27]

6. **अम्भोवादः** - एतत् सिद्धान्तानुसारेण प्राणिनां शरीरे किं वा सम्पूर्णेऽपि सृष्टिजातपदार्थे आपस्तत्वस्य प्राचुर्यमस्ति सर्वमापोमयं भूतम्। अतएव सृष्टेः मूलमापस्तत्त्वम्। यथाहि - **आप एतेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यमसृज्यन्त सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिम्, प्रजापतिर्देवान् ते देवाः सत्यमित्युपासते।** (शतपथब्राह्मणम् 14-9-1)

पण्डित ओझामहोदयेन आपस्तत्त्वस्य ब्रह्मत्ववादिनामाचार्याणां मतानि स्पष्टीकुर्वता प्रतिपादितं यत् -

आपो हि भूयिष्ठतमाः पृथिव्यामापो हि भूमिष्ठतराः शरीरे। भूयः प्रवर्षेण च भूयसान्नं ततो जगद् ब्रह्म निरूप्यतेऽम्भः॥[28]

वस्तुतः सृष्टेः प्राक् यत् सर्वथा अव्यक्तं सत्यमासीत् तदेव शास्त्रेषु ब्रह्मरूपेण प्रसि)मस्ति। तस्मादेव सत्यब्रह्मणः अम्भः मरः मरीचिः आपः इत्येते लोका समजायन्त-

सत्यं यदव्यक्ततरं पुराऽऽसीत् तद् ब्रूमहे ब्रह्म ततः पुरस्तात्। लोकाश्चतुर्धा प्रबभूवुरम्भो मरोमरीचिः पुनराप एताः॥[29] **समुद्र एव त्वभवत् पुरस्तादापोमयं सर्वजगत् पुरासीत्। तप्त्वा तपोगर्भमिमा अधार्यत सोऽग्निः स आदित्य उदैत पृथग्वत्॥**[30]

आपो हि सृष्टिः प्रबभूव सर्वा सर्वं यदाप्नोत् तत आप एताः। यतोऽवृणोत् सर्वमतश्च तद् वारतो वदन्त्यावरणात् प्रसृष्टिम्॥[31]

वेदेषु ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि सृष्टेः मूलम् अप्तत्त्वमेवेति पौनः पुन्येन निरूपितमस्ति। यथाहि - प्र सु व आपो महिमानमुत्तम।[32]

प्रजापतेः चत्वारि मुखानि प्राणः आपः वाक्, अन्नादः। एषु चतुर्षु द्वितीयं मुखमापोमुखम्। तत एव लोकसृष्टिः भवति। अतएव आपः सप्तषु लोकेषु व्याप्तमस्ति। शरीरस्य निर्मितिः शुक्रेण भवति। शुक्रमपि जलरूपमेव। बृहदारण्यकोपनिषदि एतत् स्पष्टमस्ति यत् पंचम्यामाहुतौ जलं पुरुषः कथ्यते - पंम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति। ताः पंच आहुतयः सन्ति- द्यौः पर्जन्यम्, पृथिवी,

पुरुषः, योषा च। अत्र स्त्रीपुरुषयोः सन्दर्भे जलं योषा अग्निश्च वृषा अस्ति। योषा स्त्री वृषा च पुरुषः। स्त्रीपुरुषयोः विद्यमानः प्राण एव योषा वृषा। एतयोरभावे सन्तत्युत्पत्तिः नैव भवितुमर्हति। एतेन विपरीतमपि योषा-वृषा प्राणयोः एकीभावे स्त्रीपुरुषसम्बन्धां विनाऽपि सृष्टिःसम्भवा। एतयोरधिकारेणैव पूर्वं विश्वामित्रः त्रिशंकवे अभिनवां सृष्टिं कर्तुं प्रायतत।

गोपथब्राह्मणमपि आपस्तत्वोत्पत्तिविषयकं वचनमुपस्थापयति यत् ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् स्वयन्त्वेकमेव। तदभ्यश्राम्यत समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य, सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहः। यदार्द्रम् अजायत् तेनानन्दत्। सुवेदोऽभवत्। तं वा एतं 'सुवेदं' सन्तं स्वेद इत्याचक्षते। स भूयः समतपत्। तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्यः पृथग् स्वेदधारा: प्रास्यन्दत।

7. **अमृतमृत्युवादः** - अमृतमृत्युवादसिद्धान्तानुसारेणामृतं मृत्युश्चेति सृष्टेः मूलम्। अनयोरविनाशि शाश्वतं स्थितिस्वरूपममृतं गतिशीलः नश्वरश्च मृत्युः। यथाहि शतपथब्राह्मणे - **अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति।**[34] एतेन सिद्ध्यति यदमृतं मृत्युश्चेत्युभयेऽपि सृष्टिकारणभूते स्तः। यजुःसंहिताप्येतद्विषये निरूपयति-**निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।**[35] अनयोरमृतं सोमः। असौ रसः नित्यः। तस्मादेव नित्यतत्त्वतः जायमानं बलं मृत्युः। इत्थमत्र समस्तममृतं रसप्रधानं मृत्युश्च बलप्रधानः। अमृतं सुखरूपम् मृत्युश्च दुःखरूपम्। उभयोः मधये अविनाभावसम्बन्धाः, फलतः तत्त्वद्वयस्य विद्यमानेघपि वास्तविकी सत्ता त्वेकैव। यथाहि दशवादरहस्ये ब्रह्मसिद्धान्ते च-

रसो बलं चेत्यमृतं च मृत्यू रसप्रधानान्यमृतानि सृष्ट्याम्। बलप्रधानास्त्विह मृत्यवः स्युर्न मृत्यवः सन्त्यमृतातिरेकात्।।[36]

रसोघ्मृतं नाम बलन्तु मृत्युर्बलं न चेत्स्याद् रस एव किं स्यात्। रसो न चेत्स्यात् क्व बलं नु तिष्ठेत् तस्मादिमौ नित्ययुतौ हि धार्मौ।।[37]

8. **अहोरात्रवादः** - अहश्च रात्रिश्च क्रमशः तेजसः स्नेहस्य च प्रतीकभूतौ स्तः। तेजः शुष्कं स्नेहश्चार्द्रः। तेजो अहः स्नेहश्च रात्रिः। तेजोघ्ग्निः स्नेहश्च सोमः।। दिवसे सूर्यः अग्निस्वरूपः, रात्रै चन्द्रः सोमस्वरूपः। एतयोः द्वयोरेव सम्मिश्रणेन भवति सृष्टिः। **अग्मीषोमात्मकं जगत्।**[38] अग्निः योनिः सोमः रेतः। एतयोः समष्टिरेव यज्ञः, यज् धातोः संगतिकरणार्थत्वात्।

अहोरात्रम् कालरूपम्। कालात् सृष्टिरिति वदतां मते अहोरात्रमेव सृष्टेः कारणम्। कालः परमदेव इत्यथर्ववेदः- **कालः स ईयते परमो देवः।**[39]

रात्रिः प्रकृतिः अहः विकृतिः। शुक्लकृष्णयोः प्रकाशान्धाकारयोरप्यहोरात्रत्वमस्ति। एवमेव भावाभावयोः सृष्टिप्रलययोः द्यावापृथिव्योः तेजस्स्नेहयोरप्यहोरात्त्वं शास्त्रेषु ख्यातमस्ति।

पण्डित श्रीमधुसूदनओझामते अहोरात्रः सप्तविधाः। स च-

अभावभावौ प्रलयप्रसर्गौ द्यावापृथिव्यौ द्युरथाग्निसोमौ। अबोधाबोधौ तिमिरप्रकाशौ सितासितौ यज्ञविकल्पनाश्च।।[40]

एते सर्वे अहोरात्रभावाः शाश्वता अनन्ताश्च। अत्र प्रकाशरूपमहः भावः तमश्चाभावः। तम एव रात्रिः सा च नित्या एव्च

महारात्रि नाम्ना प्रसिद्धा। इत्थं द्वयोस्तत्त्वयोः संसृष्टिरियं सृष्टिः।

9. **दैववादः** - एतत् सिद्धान्तवादिनां मते दैवानां प्राणशक्तीनां च मिथः योगेन यत्किमपि जातं तत्सर्व जगत्रूपेण दृश्यमानमस्ति। वस्तुतः असंख्यैः भावैः युक्ताया अस्याः सृष्टेरसंख्यानि कारणानि सन्ति। प्राणानां देवानां वा असंख्यत्वात् ते एव सृष्टिकारणभूताः-

यदस्ति किञ्चित् सकलं हि दैवाधीनं सदाकस्मिकमेव मन्ये। भवन्ति जीवन्ति तथा म्रियन्ते दैवादिति प्राग् वृहदुक्थ ऊचे॥

दैवं सर्व बहवो हि देवाः सूर्यांशुचन्द्रांशुमयाः समेताः। त एव सर्वे सह वायवःस्युस्ता एव चापश्च मृदोऽग्नयश्च॥ विलक्षणाः सन्ति तु दैवशक्तयस्तासां मिथो योगवशादनेकधा।

ये ये विकारा प्रभवन्ति यत्र वा तदेव पश्यन्ति जगद्विजृम्भितम्॥[41]

10. **संशयवादः** - उपर्युक्तानामेषां वादानां विवादेषु सृष्टेः मूलं संशयात्मकम्। यथा हि श्रुतिः-

न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥[42]

कीदृशोऽयं कश्चायं संशय इत्यत्र विद्यावाचस्पतिः पण्डित ओझा महोदयः -

कुतः कदा कुत्र कथं कियन्मितं कीदृग्विधां विश्वमिदं बभूव ह। क्वासीदिहागात् कुत एतदीदृशं रूपं यदेतत् परितोऽनुलक्ष्यते॥

प्रश्ना इमेऽनेकविधा पुरायुगाद् दैवात् सहस्रावधिावर्षपूगतः।

आरभ्य नोऽद्यापि निवृत्तिमागता जिज्ञास्यतेऽद्यापि तथैव सर्वतः॥ सदाहुरेके त्वसदाहुरेके, रजो विदुर्व्योम विदुस्तथान्यत्। अम्भस्तथैवावरणं च मृत्युं प्रोचेऽमृतं केचिदहश्च रात्रिम्॥ दैवं च केचिज्जगतः प्रसृष्टौ मूलं विदुः किन्तु मतानि तेषाम्। परस्परव्याहृतभाषितानि नाद्यापि सन्तोषकराणि सन्ति॥ आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥[43]

नासदीयसूक्तस्थे षष्ठे सप्तमे च मन्त्रे संशयवाद एव प्रामुख्येन विचारितः वर्तते 'योऽस्याध्यक्ष परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद।'

वेदेषु एवंविधा अनेके प्रसंगा दृश्यन्ते यत्र सृष्टेः किं मूलमित्यत्र संशय उत्थापितः वर्तते। आत्मा परमात्मा परलोक-कर्मफलम् इत्यादिष्वनेकदार्शनिकविषयेष्वद्यापि संशयः वर्तते।

एतान् वादानतिरिच्य पण्डितमधुसूदन-ओझा महोदयस्यान्तेवासिना पण्डित मोतीलालशास्त्रिणा विज्ञानेतिवृत्तवादविषयेऽपि चर्चा कृताऽस्ति। यत्र पूर्वाचार्याणा- मिदमभिमतं यद् विज्ञानबलेन सर्वेषां पदार्थानां निर्मितिः सुकरा। फलतः विज्ञाने-त्रिवृत्तवादमप्यत्रांगीकरणीयम्। यथाहि श्रुतिः - अहं ता विश्वा चकरम्।

वस्तुतः एतेषां समेषां वादानां तावदपूर्णतैव लक्ष्यते यावदेतैः सार्धा ब्रह्मवादोऽपि न स्वीक्रियते। कश्चायं ब्रह्मवाद इत्येतस्मिन् विषये पण्डितौझा महोदयेन 'ब्रह्मसिद्धान्त' नामके ग्रन्थे सविस्तरं

विवेचनं कृतम्। तन्मते ब्रह्मतत्त्वं विश्वतः पृथक्भूतोऽपि विश्वव्यापक एवाऽस्ति। तस्य पादचतुष्टयम्-परात्परः, अव्ययम्, अक्षरः क्षरश्च। सृष्टिरचनायां परात्परः सर्वभावरहितः। अव्ययं तु सृष्टिसाक्षिभूतम्। अक्षरं निमित्तं कारणं क्षरश्चोपादानकारणम्। इत्थं ब्रह्मतत्त्वस्यास्यां व्यापकावधारणायां सर्वे वादाः सुसमाविष्टाः भवन्ति।

इत्थं विद्यावाचस्पति पण्डितमधुसूदनओझामहोदयेन नासदोयसूक्तान्तर्गता सूत्ररूपेण निबद्धाः सृष्ट्युत्पत्तिविषयकाः विचाराः दशवादरहस्यम्, ब्रह्मसिद्धान्तादि ग्रन्थेषु सन्निरूप्य स्वतन्त्ररूपेणापि रचितेषु ग्रन्थेषु तस्य सयुक्तिकं सविस्तरं विवेचनं कृतम्। पण्डित ओझामहोदयस्येदं वैशिष्ट्यं यत् तेनात्र श्रुतिरहस्यं सतर्कं समुद्घाटितम्। अत्र तेन यासामवधारणानां उद्भावना कृता ताः सर्वाः नूतना एव। तस्य एवंविधं यत्नं नैवास्ति शास्त्रविरुद्धं यतः शास्त्राण्यपि वेदसम्मतं तर्कमनुसन्धातुमादिशन्ति-

श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्।

पाद-टिप्पणियाँ

1. शतपथब्राह्मणम् 11/2/3-5
2. दशवादरहस्यम्, पण्डित मधुसूदन ओझा प्रतिज्ञावचन 1, पण्डित मधुसूदनओझा शोधप्रकोष्ठः, संस्कृत विभागः जयनारायण व्यास विश्वविद्यालयः, जोधपुरम्
3. ऋग्वेदः - नासदीयसूक्तम्
4. दशवादरहस्यम्, प्रतिज्ञावचन, 3-4
5. तदेव, दशविज्ञानोत्कर्ष-2, पृष्ठ 48
6. तदेव पृष्ठ 49
7. तदेव श्लोक 13-16 पृष्ठ 52
8. तदेव श्लोक 13-16 पृष्ठ 52
9. तदेव पृष्ठ 53
10. तदेव पृष्ठ 54
11. तदेव पृष्ठ 55
12. तदेव पृष्ठ 55
13. तदेव पृष्ठ 56
14. तदेव पृष्ठ 56
15. तदेव पृष्ठ 57
16. तदेव पृष्ठ 59
17. तदेव पृष्ठ 64
18. तदेव पृष्ठ 59
19. तदेव पृष्ठ 65
20. अपरवादः 2 पृष्ठ 1
21. अपरवादः, परिणामवादाधिकरणम् - 4
22. तदेव यदृच्छावादाधिकरणम् 1,4-5 पृष्ठ 3,4
23. तदेव नियतिवादाधिकरणम् 2-3 पृष्ठ 5
24. तदेव ब्रह्मसिद्धान्तः प्रकृत्यधिकरणम्- 65
25. आवरणवादः 1-2, पृष्ठ 1
26. आवरणवादः 1-2, पृष्ठ 2
27. तदेव - 1, पृष्ठ 3
28. दशवादरहस्यम् अम्भोवादः 11 पृष्ठ 74
29. अम्भोवादः पृष्ठ 11
30. अम्भोवादः पृष्ठ 53
31. अम्भोवादः पृष्ठ 56
32. ऋक् संहिता, 10/75/1, अन्यदपि 6/15/7, 1/110/1, शतपथ ब्राह्मणम् 11/1/6/1, 1/1/1/14, 6/1/8, 10/5/4/15, 10/5/4/15, 10/5/4/14, 4/5/2/14
33. गोपथ ब्राह्मणम् 1/1/2
34. शतपथ ब्राह्मणम् 10.5.2.4
35. यजुः संहिता 34/31
36. दशवादरहस्यम् अमृतमृत्युवादः 11, पृष्ठ 76
37. ब्रह्मसिद्धान्तः, संज्ञाधिकरणम्, 19 पृष्ठ 33
38. बृहज्जाबालोपनिषद् 2.4
39. अथर्ववेदः 19.5.4.5
40. दशवादरहस्यम् अहोरात्रवादः, 1 पृष्ठ 74
41. तदेव पृष्ठ 79-80
42. ऋग्वेद 8/3/17
43. दशवादरहस्यम् पृष्ठ 80-82
44. ऋक् संहिता 10.129
45. ऋक् संहिता 4/42/6

Vaidika Jyotih
ISSN 2277-4351

Vol. 1(2), No.2 (190-200) Jan.-June 2012

THREE ELEMENTARY PROGENY OF CREATION

Ujagar Patel
Dept. of Mathematics, G.M. College Sambalpur-
768004, Orissa, INDIA

In *Rigveda* (8/101/14) mantra comes as-

प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे।
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पतमानो हरित आ विवेश।।

The same hymn with light variation comes in Atharva veda (10/8/3)

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्यन्या अर्कमभितोऽविशन्त।
बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणिराविवेश।।

Both the hymns start with प्रजा ह तिस्रा..... ' three प्रजा, Who are these three Prajas? Different commentator has different view. Some says ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य. Some says Electron, Proton, Neutron; others as Jyoti, Indra or mitra, varun and aryama and like this.

Before going to the main topic I want to give some introduction, so that general public can understand easily and comfortably cooperate with me in my talk. I am giving some introduction about scientific facts in Veda and facts about creation that lies not only on Veda but also in Vedic literature. Now let us start the introduction.

Vedas are recognised to be the most ancient and oldest scriptures available to mankind. And they have been preserved in their original form through the efforts of countless generations of Vedic Pandits learning them by heart and reciting them to their disciples. The high esteem and reverence with which they have been held from the earliest of times and the great perseverence with which they have been preserved, is proof enough to show that the Vedas contain truth of unsurparsable value and significance to the human race. From time immemorial, they have been regarded as the fountain-head of all kinds of true knowledge wordly, scientific, spiritual and the root of all '*Dharma*'.

Traditionally they have been regarded as of divine origin and not the creation of human mind. They are known as '*Shruti*', which means 'the divine message heard by the great seers. Since Vedic knowledge is of divine origin, it is all true knowledge, true for all time and places like axiom or postulates in Mathematics. The colossal building of Mathematics stands on these axioms and some undefined terms like point, line, plane. If we accept axioms and do not question about the existance of point, line and similar undefined terms, then why shall we not accept Veda as of divine origin and of true knowledge. Since the creator knows the best about his creation, it is perfect knowledge in contrast to scientific

knowledge, which is imperfect, growing and being refind everyday by scientific researches. In the case of Vedic knowledge, our understanding of it only needs to be refind by a fully developed methodology of scientific interpretation.

Some say that there are real scientific facts in Vedas but are very propaedeutic. But it has no force. Propaedeutic facts of science have also the sceientific value. Without them higher study can not be prosecuted. Be these facts propaedeutic or ultimate but the idea that Vedas contain the germs of science is valid.

Thus Vedas contain in them all the true sciences ar they are not the scripture of mere rituals and sacraments. They are the repository of all true knowledge.

Vedas were revealed to the Vedic Rishies at that point of time in human history, when the spirituality of human society was at its maximum. That is, it is such a society where great spiritual masters who could have a great direct vision of the Divine being are there. Therefore they reveal the exact science of the universe.

To make our arguments more convincing we place them in following way.

Vedic Samhitas are four in number. There are six limbs of the Vedas known as Vedangas, namely : Shiksha, Kalpa, Vyakarana, Nirukta, Chhandas and Jyotisha. Had the Vedas not possessed the science of these system, they would not have emerged from them.

Not only these, there are four Upavedas, namely - Ayurveda, Dhanurveda, Arthaveda and Gandharvaveda. And these are treatise of systematic sciences. Where there not scientific knowledge in the Vedas, these Upavedas would not have come into existance.

Next Brahmanas are commentaries of the Vedas and some Brahmanas directly refer to various departments of Sciences. The *Shatapath Brahmana* has a direct reference to science in एतदु विज्ञानम्. Scientifice references from the Brahamanas are quoted in the Nirukt and Kalp Sutras as इति विज्ञायते. The exponents of the Brahmanas had vast and comprehensive knowledge of Deva-Vidya which expressed in their works helps to understand the form of the universe prior to its creation as well as the stages in its formation. If there was no scientific idea in the original Vedic Texts the commentaries thereof would not have exposed them in such a way.

Six schools of Indian Philosophy are known as the six Upangas of the Veda. They have profound respect for the Vedas. These philosophical systems show that

human mind soared to highest peak of the imagination. Had there been absence of science and philosophy in the Vedas such system of philosophy would not have originated and developed.

Upanishads which deal with the spiritual science as well as physical science in some cases are the offshoots of the Vedas. Had there been no scientific thought in the Vedas, they would not have gained their ground.

Since the time immemorial till the great war of Mahabharata the scholars treated the Vedas as the repository of all true knowledge and interpreted them accordingly. If Vedas have not possessed science the various scientific development would not have taken place.

Then, what sort of intellectual consciousness may be capable of grasping such esoteric ideas enclosed in Vedic hymns?

General form of knowledge are known between two : the experience and intuition. To the great extent the experience is based on the empirical knowledge. Intution is natural and free from empirical observations. The field of empirical knowledge is limited, while intuition plays a very comprehensive and important role. Vedic hymns cannot be completely grasped through empiricism.

Patanjali analysed the various states of highly attained intellectual consciousness of man. Apart from the empirical knowledge he described *Ritambhara prajna*, the truths bearing intellect; Pratibham, the intuitive knowledge; Vivekaja jnana, intuitional discrimination; Taraka Vivekaja jnana, simultaneous, immediate and omni-objective knowledge. Our Rishies attained the highest empirical knowledge as well as the intuitional knowledge of there categories. Therefore they are known as Mantra Drishta or seer. They had a direct vision of reality. They were capable of penetrating the mystery of the Vedas and to search out in them the various branches of science.

The process of creation described in the Vedas is the same as actually occured in nature billions of years ago, as we have already said Vedic knowledge is the knowledge of a direct vision of reality.

Hence those scientific facts and phenomena which are unknown even to modern science, which modern science is yet uncertain are clearly given in Vedas. But many modern scholars show a lack of faith in the divine origin of the Vedas. The evidence of the methods of revelation as are found in the Vedas are being dismissed by those as a mere style of description. However the evidence of accuracy of scientific facts and the secrets of creation mentioned in Vedas could not have been obtained

by any human intellect in those early days of human civilization. And in the absence of any scientific instruments or experimental instrument could not be studied. For such kind of knowledge, a divine origin of the Vedas has to be per force admitted.

With this in view Dr. M.L. Gupta, a nuclear and elementary particle research scholar has taken some venture. I want to mention a portion of his research about creation of elementary particles and universe which is related to my topic.

The famous *Nasadiya Sukta* of the Rigveda describes the state before the beginning of creation and how the whole creation started from the point when nothing reality existed and all was dark and void.

नासदासीन्नो सदासीन्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥
(Rik. 10.129.1)

[Then (in the beginning), there was neither 'asat' (non-existent) nor 'Sat' (existent). There was no realm of air, no sky beyond. What covered in, and where? and what gave shelter? Was 'Ambh' (unmanifested energy) there, unfathomable depth of 'Ambh'?]

The hymn says that at that time there was nothing existent or non-existent, i.e. something which does not yet actually exist, but which has in itself the latent potentiality of existance.

The first transformation of the conscious being occurs by his 'Tapah' on strong resolve.

तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना
जायतैकम्॥ (Rik. 10.129.3)

(In the beginning there was darkness covered by darkness. It was an unrecognizable waving substance prevading throughout. All that existed, was covered by void. By the power of '*Tapah*' (deep concentration or resolve) was born that one in *Tapas*.)

It is clear from this mantra that by the power of deep concentration or resolve of the Supreme Being, called '*Tapah*' in the mantra, the first transformation of consciousness into '*Tapas*' occured in a very large volume of infinite space.

This '*Tapas*' was an unrecognizable waing substance permeating all this volume. It was neither matter nor energy. It was thus not a true substance, i.e., it was not '*Sat*', and hence may be called 'Asat', from which '*Sat*' came into existance after further transformations. It may howerver be regarded as the first step towards materialization of consciousness, which was like void emptiness in comparison.

Then what on the transformations of this '*Tapas*'

ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः॥
(Rik. 10.190.1)

(From the concentrated '*Tapas*', '*Rit*' and '*Satya*' were born. From that same, 'Ratri' was born and

thence the foaming ocean came into existence.)

'*Rit*' is derived from the root 'ऋ' meaning 'to move' is somekind of tension, pressure, twist, torsion, shearing etc., which is the generator of motion.

'*Satya*' is connected with '*Sat*' which means 'existing". Hence '*Satya*' is the quality of existence and stability.

'*Ratri*' : meaning 'night' which is characterized by darkness or '*Tamas*' (inertia). So '*Ratri*' is the property of mass of inertia.

Thus *Rit, Satya* and *Ratri* are the qualities which are the generators of motion, stability & unertion & these are produced in concentrated 'Tapas' by the supreme will of the divine being.

These three qualities together produce the foaming ocean of energy known as cosmic energy, named '*Aditi*' in Veda. Aditi literally means 'indestructible', when describing its maternal qualities, since it gives birth to eight children, the eight elementary particles. It is also named as '*Brahma Tattva*', when describing its paternal attributes, like sustaining vast system such as galaxies, solar system within it and maintaining all kinds of motion of waves and particles.

The Rigveda Mantra (Rig 10.72.8) shows the eight sons were born of Aditi.

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि।
देवां उपप्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्।।

(Eight are the sons of Aditi, who from her body sprang to life all around. With the seven, she attained the proximity of the Gods; she cast Martanda far away.)

The eight sons of Aditi or Adityas have been identified with eight elementary particles of modern Physics as below :

Vedic Name		**Scientific Name**
1-	Mitra	Electron
2-	Varun	Proton
3-	Aryaman	Neutron
4-	Bhag	π^+ meson
5-	Daksh	π^0 meson
6-	Ansh	r meson
7-	Tuvijat	Neutrino
8-	Martand	Photon

How the cosmic Yajna proceeds further after the formation of unmanifested energy is described in the second mantra of the *Aghmarshan Sukta* (Rig. 10.190.2), which is as follows -

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत्।
अहोरात्राणि विद्धद्विश्वस्य मिषतो वशी।।

From the foaming ocean, the year (Time) was afterwards produced. Lord of the blinking (oceanic) universe created the day (particles or quanta of light the photon) and nights (particles of matter).

The mantra says that after the formation of the ocean of unmanifested energy, the year i.e. Time was produced. This means that time did not exist before, since there

was no rhythmic movement by which Time could be experienced. Hence, the mantra means that rhythmic movements of vibration started at all points inside the ocean of unmanifested energy and elementary particles born. And the creation went on.

Now starts our topic. The Rigveda Mantra (8.101.14) and Atharva Veda Mantra (10.8.3) say that out of this vibration in three stages three types or three groups of '*Praja*' (elementary particles) were born. We are going to find these three 'prajas'.

We have already stated the Mantras. Now we are going to explain it with the help of Brahmans, which are the commentaries of Vedas and which claim themselves as book of science 'etadu Vijnanam', as they elaborate the 'adhi daivika' contents i.e. the subjects related to the nature and physical forces and powers. So the key for the understanding of physical science lies embedded in the Brahmanas.

The commentaries of these mantras are in *Madhyandina Shatapatha*, *Kanva Shatapatha* and *Aitareya Aranyaka*.

In *Aitareya Aranyaka* the commentary goes like this -

प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुरिति या वै ता इमाः प्रजास्तिस्रो अत्यायमायस्तानीमानि वयांसि वङ्गावगधाश्चेरपादाः इति।

न्यन्या अर्कमभितो विविश्र इति ता इमाः प्रजा अर्कमभितो निविष्टा इममेवाग्निम् इति।

बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तरित्यद उ एव बृहद्भुवनेष्वन्तरसावादित्य इति।

पवमानो हरित आ विवेशेति वायुरेव पवमानो दिशो हरित आविष्ट इति।। ऐ.आ. 2.1.1

While in Shatpatha it has been explained in the following way :

प्रजापतिर्ह वाहइदमग्र एक एवास स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुस्तानीमानि वयाꣳसि, पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठं द्विपाद्वा अयं पुरुषस्तस्माद् द्विपादो वयाꣳसि।।1।।

स ऐक्षत प्रजापतिः। यथान्वेव पुरैकोऽभूवमेवमुन्वेवाप्येतर्ह्येक एवास्मीति स द्वितीयाः सस्रजे ता अस्य परैव बभूवुस्तदिदं क्षुद्रꣳसरीसृपं यदन्यत्सर्पेभ्यस्तृतीयाः ससृजऽइत्याहुस्ता अस्य परैव बभूवुस्तऽइमे सर्पा एता ह न्वेव द्वयीर्याज्ञवल्क्य उवाच त्रयीरुतु पुनर्ऋचा।।2।।

सोऽर्धर्चगम्यन्प्रजापतिरीक्षांचक्रे। कथं नु प्रजाः सृष्टाः पराभवन्तीति स द्वैतदेव ददर्शानशनतया वै मे प्रजाः पराभवन्तीति स आत्मन एवाग्रे स्तनयोः पय आप्याययान्चक्रे स प्रजा असृजत ता अस्य प्रजाः स्रुष्टाः स्तनावेवाभिपद्य तास्ततः सम्बभूवुस्ता इमा अपराभूताः।।3।।

तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्। प्रजा ह तिस्रोऽअत्यायमीयुरिति तद्याः पराभूतास्ता रावैतदभ्यनूवतं न्यन्या अर्कमभितो विविश्रऽइत्यग्निर्वाऽअर्कस्तद्या इमाः प्रजाः अपराभूतास्ता अग्निमभितो निविष्टास्ता एवैटदभ्यनूक्तम्।।4।।

महद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तरिति प्रजापतिमेवैतदभ्यनूक्तं पवमानो हरित आविवेशेति

दिशो वै हरितस्ता अयं वायुः पवमान आविष्टस्ता एवैषऽर्गभ्यनुक्ता ता इमाः प्रजास्तथैव प्रजायन्ते यथैव प्रजापतिः प्रजा असृजत॥5॥ शत०ब्रा० 2/5/1/1-5

Here it has been mentioned that by the '*Tapah*' (deep concentration or resolve or strong will) of Prajapati three '*Prajah*' were born. These three 'prajah' & three progeny of creation are वयांसि, वङ्गावगधाः and इरपादाः according to *Aitereya Aranyak* and are 'Vayansi, Kshudram Sarisrupam and Sarpa' by *Shatapatha*. But they are first unstable. So Prajapatih created पयः in his स्तनयोः, then only they became stable.

Then who are these three प्रजाः and पयः and what are the scientifical terms for these, we are analysing below.

वयांसि - वेतीति वयः, who moves, spreeds up, produces, enlightens, throws and eats. वयांसि is the plural form of वयः. Ordinarily वयांसि means bird but here it is different. About its origin *Shatapath* says -

धूमो वा अस्य अग्नेः श्रवो वयः। SB 7/3/1/29

It is nothing but धूमकण of अग्नि. But what is this 'agni'. Agni is a collection of electrically charge particles, as referred to Rig 10.140.1

By analysing more in Vedic literature we can say that in modern scientifical language वयांसि is nothing but 'hadron particles'. What is hadron?

According to their properties all the subatomic particles are classified into different groups. The most basic groups are according to interaction strength. One group which takes part into strong nuclear interaction is called 'hadron' and which takes part into weak interaction is called 'lepton'.

Hadrons interact a great deal when its members are near one another through a force called 'strong force'. This strong force keeps proton and neutron on the nucleus. Examples of hadrons are proton, neutron, pions, kaons, psi, eta, hyperons etc. They are all electric charge particles of different categories. These hadrons are the वयांसि.

How these वयांसि (hadrons) are formed?

इन्द्रो वै त्रिशिरसं त्वाष्ट्रमहन्। तां.ब्रा. 17.5.1

According to Tandya Brahman they are born when त्वष्ट्रा इन्द्र (Agni) beheaded त्रिशीर्षा त्वाष्ट्र वायु. three headed त्वाष्ट्र वायु is the three quarks, namely up, down, strange. Quarks are more elementary constituents of the hadrons particles. Hadrons are believed to be made up of quarks but leptons are not. Proton is made up of two 'up' quarks and one 'down' quarks and the neutron with two 'down' quarks and one 'up' quarks. So on all the

hadron particles are made up of different combination of these quarks. In other words, when the quarks (त्वाष्ट्र वायु) is beheaded different portions combine and form the hadrons (वयांसि) particles.

There are other properties of वयांसि. वयांसि are of 'द्विपाद' befooted.
द्वौ पादौ प्रापणे उपलब्धो यस्य स द्विपाद्।

They are termed द्विपाद् because they are of two catagories namely - baryons and mesons, according to their spin. Baryons have fractional spin just like proton and neutron have half-integral spin; while mesons has integral spin just like pions has zero spin while psi-prime has one. Every baryons is made up of three quarks while every meson is of a quark and an antiquark.

Another property of वयांसि is "पशवो वै वयांसि" S.B. 9.3.3.7 But what is this 'पशु'?

प्राण: पशव:, (T.B. 3.2.8.9)
स (प्रजापति:) प्राणेभ्य: एवाधि पशुव निरमिभीत, (S.B. 7.5.2.6)
आग्नेया: वै पशव: (K.K.S 38.1)
आग्नेया: पशव: (T.B. 1.1.4.3)

So पशु are energy particles, which imbibe the energy from रुद्र, who is the disintergrating and reintegrating energy particle causing violent tempests and producing howling and roaring sounds in the regions. Therefore, रुद्र is known as पशुपति. Its real significance has been lost and शिव is now called as पशुपति and रुद्र. The conveyer of रुद्र is आखु, another highly charged energy particles or one quark.

Thus we have analysed and termed वयांसि as hadron which is classified into two groups - baryon and meson (द्विपाद्). Baryons are made up of three quarks while meson of one quark and another antiquarks.

वङ्गाऽवगधा:– वङ्गन्ति गच्छन्तीति वङ्गा:। अवगच्छन्ति दूरतमं गच्छन्ति वोर्यैर्गच्छन्तीति अवगा:, तान् धारयन्तीति अवगधा:। वङ्गाश्च अवगधाश्च इति वङ्गावगधा:।

That is which is moving like reptiles or moving wave like or flowing in a stream is called वङ्गाऽवगधा:. Therefore in Shatapatha it is termed as सरीसृप.

In scientifical terminology it is Lepton. Leptons have spin ½ (half-intergral). They do not undergo strong interactions. Because of this weak interactions, they are controlled by others and flowing like stream, or moving round any strong interactions agent, just like electron moving round the nucleus, which is constituent of strong interaction agents like protons and neutrons.

Again due to its half-spin their movement is like reptiles सरीस्रप. Therefore they are called as सरीसृप in Satpath.

Some examples of leptons are

electron, muon, tan and their associated neutrions.

Thus वङ्गावगधा: is lepton with half spin movements, so they are also called as सरीसृप।

इरपादा: – 'इरा उदकम्, इराया: उदकस्य पाद: प्रापण येषां कर्म इति इरपादा:।'

इरपाद is liquid carrying agent and these are the the मरुत्, rays of आप: particles. आप: is energy, so marutas are the flashing particles of energy or the rays of energy. They are born by the intermingling of आप: in space and अग्नि on earth. They are moving in waves just like the waves of the sea, rise and fall. Similar is the movement of the rays of fire and sun.

The *marutas* have energy within themselves and this within energy give them a white coloured nagnetic field in the atmosphere, and extend their sway to the earth as well. They have a flame-tongue as mentioned in the *Rigveda* (1.45.14). These influence different directions with great force, and control their waves and guide their circulation.

Different properties of '*marutas*' are

आपो वै मरुत: (AB 6.30)

अप्सु वै मरुत: (KB 5.4)

मरुतो रश्मय: (TMB 14.12.9)

मरीचयो विस्फुलिङ्गा, (JB 1.45)

सप्त सप्त द्वि मरुतां गणा: (SB 9.31.25)

मरुत्स्तोमा वा एष: यानि क्षुद्राणि छन्दांसि तानि मरुताम् (TMB 17.1.3)

Considering all the properties of मरुत:, we can translate it in scientific terminology as 'electro magnetic radiations'. The most familiar kind of radiation is visible light, which makes it possible for us to see the world around us. This light acts as if it were a stream of tiny corpuscles of energy called photons. A photon is the smallest amount of light energy possible. So we may call it unit of light energy.

There are other invisible rays like universal force of gravitation, the force due to which the universe is balanced. This is the attractional force between each and every planetory body. Its unit is known as graviton.

Proton, graviton are classified as 'Boson'. And इरपादा: is this Boson. They are seven in numbers according to *Shatapath Brahman* (9.3.1.25)

Other proposed particle is tachyon. Unlike ordinary particles, tachyons would always travel faster than light. Experiments have not yet been successful in efforts to detect techyon.

The resonances are another group of particles. They exist for such tiny fraction of a second that they cannot be detected directly.

The W-and Z-bosons have been product of high-energy collision between protons and antiprotons. They are all 'marutas'. Their movement

is wave like, therefore they are named as 'सर्प'.

The mantras Rig. 8.101.14 and Atharva 10.8.3 say that these three progeny of creation hadron, lepton and boson, which were born in three stages, were first unstable, did not exist for long i.e. got अनश्नता = न अश्नता. Now also the resonance, pion, kaon are like that, still unstable, exist for a fraction.

So Prajapati created पय: out of his स्तनयो: and absorbing this पय: the three progeny of creation (प्रजा) became stable. Then, next, we have to analyse this पय:

पय:– It comes from the root 'पा पाने' by 'रपरत एच्च' उणादि 4/190-with असुन् प्रत्यय पीयते यत् तद् पय:, उदकं दुग्धं वा।
आपो हि पय:, (गो०ब्रा० 2.1.22)

पय: is that water or liquid which save three progeney of creation (प्रजा) from decaying. In otherwords 'पय:' liquid is that bond force which save the three प्रजा: from destruction.

By scientifical interpretation, पय: is 'gluon'. It is believed that quarks can exist or become stable only when bound together into hadrons. The force responsible for this bonding is carried by hypothetical particles called 'gluons'. This is alalogous to photons. The name is due to its role as 'glue' - that keeps the structures together. It is this glucon and its strong force that keeps the proton and neutron together.

When this gluon (पय:) entered in आप: (ether), then movement took place and creation began. It means to this stage the 'apah' had no movement.

यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽछिद्यत। तस्य रसो द्रत्वाप: प्रविवेश। तेनैवैतद् रसेन आप: स्पन्दन्ते।(SB 3.9.2.1)

In *Taittiriya Brahmana* (2.2.9.1) it is said that cosmology begins with these '*apah*'. This could be considered as '*ether*'. Ether is homogenous, simple in essence, it is the same and invariable through and always. Particles of ether are analogous of gas atoms. These particles resemble ordinary atoms but many times smaller. They usually obeyed the same laws that were obeyed by the atoms of ordinary substances.

Only remains one word 'स्तनयो:'

स्तनयो:– The word स्तन is formed from 'ष्टन शब्दे' and 'देव शब्दे' 'अच् प्रत्ययान्त' Prajapati's स्तन are द्यौ and पृथिवी, उधस् and अन्तरिक्ष Sky and earth as told in Tandya Brahmana (24.1.6)

अथर्वा अन्तरिक्षम् द्यावापृथिव्याख्यौ स्तनौ अभित: अनेन (पृथिवी रूपेण) स्तनेन वा एष देवेभ्य: दुग्धे, अमुना (द्युलोकरूपेण) स्तनेन प्रजाभ्य:।

<u>Interpretation of the Mantras</u> :-

Thus we interpret the mantra of Rigveda like this -

प्रजा ह तिस्रः= Three progeny of creation
अत्यायमीयुः= अतिक्रम्य आयं गमनम् ईयुः, Getting movement they spread in the universe (नि अन्या= Another progeny, hadron)
भुवनेषु अन्तः= In the midst of stars, planets and atoms.
बृहत्= (आदित्यो बृहद् A.B. 5.30) Suns
तस्थै= inhibited
विविश्रे= Entered, (Hadrons entered suns atoms)
(नि अन्या Another progeny electrically charged, lepton).
अर्कम्= (अयं वा अग्नि अर्कः S.B. 8.6.2.19) Agni an electrically charged particles.
अभितः विविश्रे= Got surrounded. Entered the electrically chared particles.
(नि अन्या= Another progeny, boron)
हरितः आ विवेश पवमानः= (अयं वायु पवमानः S.B. 2.5.1.5) Ether in space.
विविश्रे= Entered,

that is, boson entered in the all - prevading ether and spread out in each direction. Three progeny of creations, hadron, lepton and boson getting movement entered into atoms, Suns, stars and planets, electrically charged particles entered and scattered round the nucleus and spread out in each direction.

Similarly we can translate the Atharva mantra as -
तिस्रः= Three,
प्रजाः= Progeny [Material substances elemntary particles].
अत्यायम्= movement (To & fro movement)
आयन्= got
अन्याः= another (material cause)
अर्कम् अभि= Nearer to Prajapatih
नि अविशन्त= inhibiting
रजसः= of the universe
बृहन् ह= big or larger
विमानः= different measures
तस्थौ= stand up
हरितः= Vanishing of sorrow
हरिणीः= in the directions
आ विवेश= entered in all direction

Three progenies of creation after getting movement spread out the universe, taking different measures entered in all directions and all the sorrows vanished.

If one can not analyse the mantra, the mantra will not do anything for him. So try to find out the secrets of the hymns.

●●●